# सम्बोधि

आचार्य महाप्रज्ञ

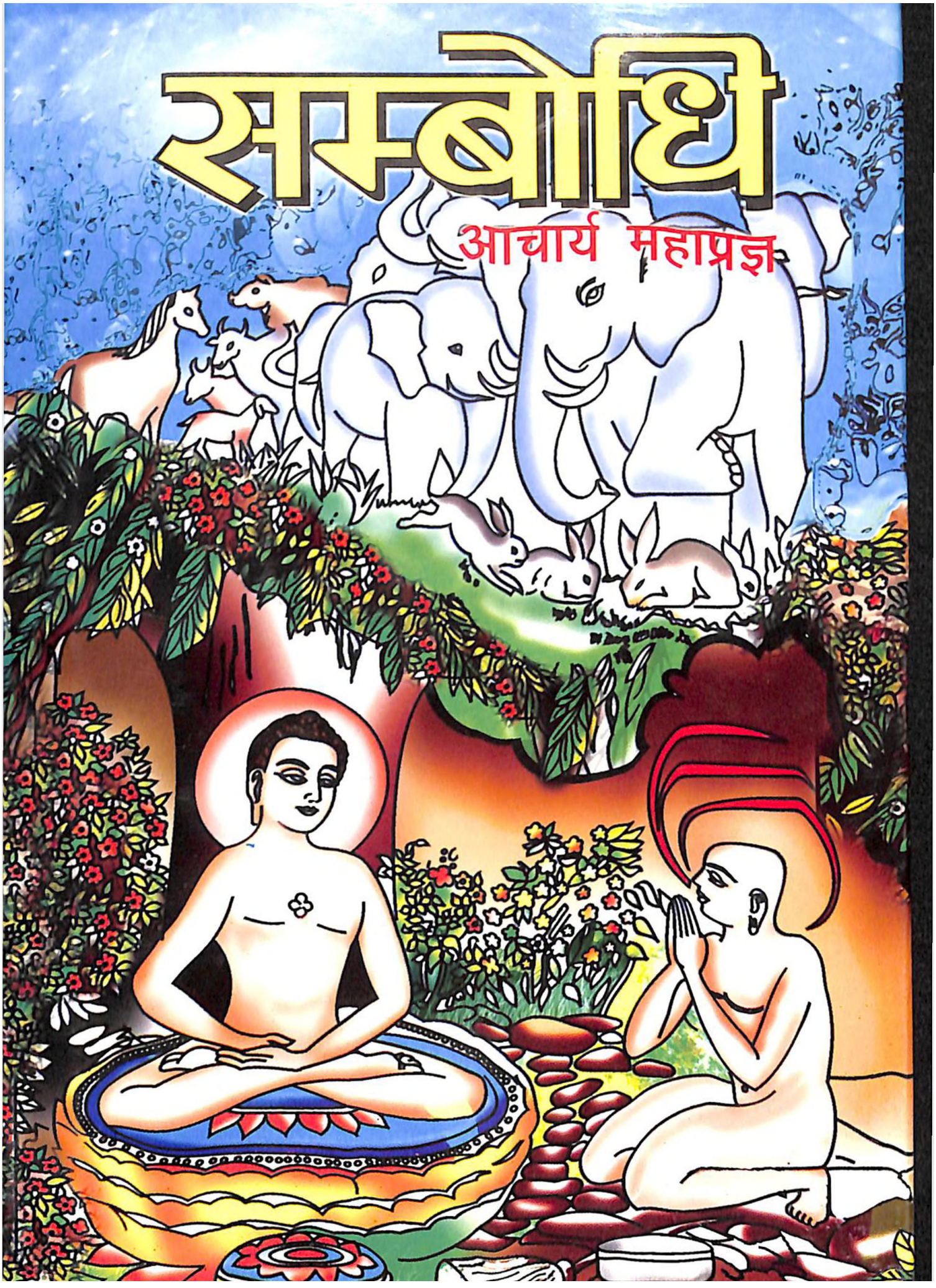

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# संबोधि

अभिवर्द्धित व्याख्या के साथ
संस्करण प्रथम सन् २००५
द्वितीय संस्करण २००७

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन विश्व भारती प्रकाशन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# संबोधि

रचयिता
**आचार्य महाप्रज्ञ**

व्याख्याता :
मुनि शुभकरण

संपादक :
आगम मनीषी मुनि दुलहराज

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं-३४१३०६

© प्रकाशकाधीन

संपादक : आगम मनीषी मुनि दुलहराज

चतुर्थ संस्करण : 2013

मूल्य : ₹ 200 (दो सौ रूपये मात्र)

मुद्रक : श्री वर्धमान प्रेस, नवीन शाहदरा दिल्ली -32

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# आशीर्वचन

प्रागैतिहासिक काल की घटना है। जैन धर्म के आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभ इस धरती पर थे। एक दिन उनके अट्ठानवें पुत्र मिलकर आए। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की—'भरत ने हम सबके राज्य छीन लिए हैं। हम अपना राज्य पाने की आशा लिए आपकी शरण में आए हैं।'

भगवान् ने कहा—'मैं तुम्हें वह राज्य तो नहीं दे सकता किन्तु ऐसा राज्य दे सकता हूं, जिसे कोई छीन न सके।'

पुत्रों ने पूछा—'वह राज्य क्या है?'

भगवान् ने कहा—'वह राज्य है—आत्मा की उपलब्धि।'

पुत्रों ने पूछा—'वह कैसे प्राप्त हो सकती है?'

तब भगवान् ने कहा—

**'सबुज्झह किं न बुज्झह, संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।**
**नो हू वणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं॥'**

—'संबोधि को प्राप्त करो। तुम संबोधि को प्राप्त क्यों नहीं कर रहे हो? बीती रात लौटकर नहीं आती। यह मनुष्य जीवन भी बार-बार सुलभ नहीं है।

इस प्रकार जैन-धर्म के साथ संबोधि का प्रागैतिहासिक संबंध है। संबोधि क्या है? वह है—आत्म-मुक्ति का मार्ग। वे सग मार्ग जो हमें आत्मा की संपूर्ण स्वाधीनता की ओर ले जाते हैं, एक शब्द में 'संबोधि' कहलाते हैं। बोधि के तीन प्रकार हैं :[1]

१. ज्ञान-बोधि

२. दर्शन-बोधि

३. चारित्र-बोधि

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तीन प्रकार के बुद्ध होते हैं :

१. ज्ञान-बुद्ध

२. दर्शन-बुद्ध

३. चारित्र-बद्ध

जैन दर्शन का यह अभिमत है कि हम कोरे ज्ञान से आत्म-मुक्ति को नहीं पा सकते, कोरे दर्शन और कोरे चारित्र से भी उसे नहीं पा सकते। उसकी प्राप्ति तीनों के समवाय से अर्थात् अविकल संबोधि से हो सकती है। जैन धर्म वस्तुतः प्राचीन धर्म है। उसके बाईस तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में हुए हैं। पार्श्व और महावीर ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। जैन-धर्म के मुख्य सिद्धांत हैं–

१. आत्मा है।

२. उसका पुनर्जन्म होता है।

३. वह कर्म की कर्त्ता है।

४. वह कृत-कर्म के फल का भोक्ता है।

५. बंधन है और उसके हेतु हैं।

६. मोक्ष है और हेतु हैं।

जैन दर्शन के अनुसार मुक्त जीव ही परमात्मा होते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार हर आत्मा में परमात्मा होने की क्षमता है। काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि का उचित योग मिलने पर आत्मा परमात्मा हो जाती है, बंधन से मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में प्रकट हो जाती है। जैन दर्शन आदि से अंत तक आध्यात्मिक दर्शन है। उसका समग्र चित्र आत्म-कर्तृत्व की रेखाओं से निर्मित है।

ईश्वर-कर्तृत्व की अपेक्षा आत्म-कर्तृत्व से हमारा निकट का संबंध है। हम अपने कर्तृत्व को इष्ट दिशा की ओर मोड़ सकते हैं। किन्तु उसके कर्तृत्व को इष्ट दिशा की ओर नहीं मोड़ सकते जिसका हमसे सीधा संबंध नहीं है। इस लिए जीवन के निर्माण और विकास में आत्म-कर्तृत्व के सिद्धांत का बहुत बड़ा योग है। 'संबोधि' में आदि से अंत तक उसी का व्यावहारिक संकलन है।

इसका रचना-क्रम श्रीमद्भगवद्गीता जैसा है। योगिराज कृष्ण की तरह इसके उपदेशक तीर्थंकर महावीर हैं। 'संबोधि' का अर्जुन भंभासार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार है। इसकी संवादात्मक शैली शिक्षित और अल्प-शिक्षित सभी लोगों के लिए समान रूप से उपयोगी होगी।

धवल-समारोह पर 'मनोनुशासनम्' लोगों के सामने आया। उसमें जैन-दर्शन के आधार पर योग-प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है। उसके प्रकाश में आने के बाद मुझे यह आवश्यकता प्रतीत हो रही थी कि उस प्रक्रिया को विस्तृत और विश्लेषणपूर्वक समझाने वाले किसी ग्रंथ की रचना अवश्य हो। 'संबोधि' को देख मेरी वह भावना बहुत अंशों में साकार हुई।

मुझे तब बहुत आश्चर्य हुआ, जब शिष्य मुनि नथमल (अब आचार्य महाप्रज्ञ) ने मेरे बिना किसी पूर्व इंगित के यह कार्य सम्पन्न कर मेरे समक्ष रखा। यद्यपि उसके पश्चात् इसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन भी किया गया किंतु प्रारंभ की 'संबोधि' स्वयं संबुद्ध ही थी।

संबोधि शब्द सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र को अपने में समेटे हुए है। सम्यग् दर्शन के बिना ज्ञान अज्ञान बना रहता है और चारित्र के अभाव में ज्ञान और दर्शन निष्क्रिय रह जाते हैं। आत्म-दर्शन के लिए इन तीनों का समान और अपरिहार्य महत्त्व है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए इसका नाम 'संबोधि' रखा गया है।

लेखक ने अपनी प्रतिपादन-पद्धति में समयानुसार कितना परिवर्तन कर लिया है, यह इनके पिछले और वर्तमान साहित्य को देखने से ही पता लग जाता है। 'संबोधि' के पद जहां सरल और रोचक बन पड़े हैं, वहां उतनी ही सफलतापूर्वक गहराई में पैठे हैं। उनकी सरलता और मौलिकता का एक कारण यह भी है कि वे भगवान् महावीर की मूलभूत वाणी पर आधारित हैं। बहुत सारे पद्य तो अनूदित हैं। पर उसका संयोजन सर्वथा नवीन शैली लिए हुए है। आशा है अध्यात्म-जिज्ञासु व्यक्तियों को यह ग्रंथ एक अच्छी खुराक देगा।

मुझे गौरव है कि मेरे साधु-समुदाय ने मौलिक साहित्य-सर्जन की दिशा में प्रगति की है और कर रहा है। मैं चाहता हूं कि लेखक अपनी साधना, चिंतन और अभिव्यक्ति में उत्तरोत्तर सफल हो।

—आचार्य तुलसी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम्।
संस्पृशन्नात्मनात्मानं परमात्मा भविष्यसि॥

इन्द्रियों का संयम कर, चित्त का निग्रह कर, आत्मा से आत्मा का स्पर्श कर। इस प्रकार तू परमात्मा बन जाएगा।

—संबोधि : १६/१८

संबोधि दिशा-बोध है, गति नहीं है। विश्व का महान् से महान् ग्रंथ दिशा-बोध दे सकता है, गति नहीं दे सकता। गति अपने समाहित पुरुषार्थ से लब्ध होती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# प्रस्तुति

यह स्याद्वाद ही तो है कि कोई नया ही नहीं होता और कोई पुराना ही नहीं होता। एक समय आता है, पुराना नया बन जाता है और एक समय आता है, नया पुराना बन जाता है। यह ग्रंथ न नया है और न पुराना। पुराना इसलिए नहीं है कि इसकी भाषा अर्धमागधी नहीं है, भगवान् की भाषा में नहीं है। नया इसलिए नहीं है कि भावना और तत्त्वज्ञान मेरा अपना नहीं है। जो भगवान् ने कहा, उसी का अनुवाद है। पुष्पों की सुरभि में मालाकार का क्या होता है? उसके लिए इतना भी बहुत है कि वह उसका चयन करे और एक धागे में गूंथ दे। आचार्यश्री तुलसी ने मुझे प्रोत्साहित किया और मैं सहसा मालाकार बनने को चल पड़ा।

मालाकार का कार्य सर्वथा मौलिक नहीं है तो सर्वथा सहज भी नहीं है। योजना निर्माण से कम कठिन नहीं होती। उचित स्थान और समय पर योजित करने की दृष्टि सूक्ष्म चाहिए, पैनी चाहिए। मैं अपनी दृष्टि को सूक्ष्म या पैनी मानूं या न मानूं, ये दोनों ही गौण प्रश्न हैं। प्रधान बात इतनी है कि एक निमित्त मिला और यह संकलन हो गया।

अनेक लोगों ने कहा—एक स्वाध्याय ग्रंथ की अपेक्षा है, जो न बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा; जिसमें जीवन की व्याख्या हो, जीवन का दर्शन हो। मैं स्वयं अनुभव करता था कि जैन परम्परा के आधुनिक काल में तत्त्वज्ञान के अध्ययन की ओर जितना ध्यान है, उतना जीवन-दर्शन के प्रति नहीं है। इसका परिणाम जितना चाहिए, उतना इष्ट नहीं होता। जीवन-शोधन के लिए आग्रह नहीं होता, उस स्थिति में तत्त्वज्ञान का आग्रह कहीं-कहीं दुराग्रह का रूप ले लेता है। अनाग्रह स्याद्वाद का मूल मंत्र है, पर जीवन-शोधन के बिना वह विकसित नहीं होता। विकार जो है, वह सब मोह की परिणति है। दृष्टिमोह से दर्शन विकृत होता है और चारित्र-मोह से आचार विकृत होता है। दृष्टि का विकार बना रहे, उस स्थिति में तत्त्वज्ञान आए तो क्या और न आए तो क्या? इसलिए भगवान् ने कहा—'दृष्टि

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सम्यक् हो (मोह क्षीण हो) तो ज्ञान सम्यक् होता है, दृष्टि सम्यक् नहीं होती (मोह क्षीण नहीं होता) तो ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता। फलित की भाषा यह है कि ज्ञान के आलोक में दृष्टि सम्यक् नहीं होती, दृष्टि के आलोक में ज्ञान सम्यक् होता है।

संक्षेप में इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य इतना ही है। विस्तार-दृष्टि से इसके १६ अध्याय हैं और ७८६ श्लोक। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशाश्रुतस्कंध आदि आगमों से सार संगृहीत कर मैंने इसका प्रणयन किया है। गीता-दर्शन में ईश्वरार्पण की जो महिमा है, वही महिमा जैन-दर्शन में आत्मार्पण की है। जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर है। सभी आत्मवादी दर्शनों में ध्येय की समानता है। मोक्ष या परमात्मपद में चरम परिणति आत्मवाद का चरम लक्ष्य है। साधनों के विस्तार में जैन-दर्शन समता को सर्वोपरि स्थान देता है। संयम, अहिंसा, सत्य आदि उसी के अंगोपांग हैं।

'गीता' का अर्जुन कुरुक्षेत्र के समरांगण में क्लीव होता है तो 'संबोधि' का मेघकुमार साधना की समरभूमि में क्लीव बनता है। 'गीता' के गायक योगिराज कृष्ण हैं और 'संबोधि' के गायक हैं भगवान् महावीर।

अर्जुन का पौरुष जाग उठा कृष्ण का उपदेश सुनकर और महावीर की वाणी सुन मेघकुमार की आत्मा चैतन्य से जगमगा उठी। दीपक से दीपक जलता है। एक का प्रश्न दूसरे को प्रकाशित करता है। मेघ ने जो प्रकाश पाया, वही प्रकाश यहां व्यापक रूप में है। कभी-कभी ज्योति का एक कण भी जीवन को ज्योतिर्मय बना देता है।

भगवान् का दृष्टिकोण बहुत ही सहज है, पर जो जितना सहज होता है वह उतना ही गहन बन जाता है। यह गहराई उसका सहज रूप है, तैरनेवाले को भले वह असहज लगे। गहराई को नापने के लिए विशद व्याख्या की अपेक्षा है। उसकी आंशिक पूर्ति मुनि शुभकरणजी द्वारा कृत इस व्याख्या से होती है। वे अध्येता और व्याख्याता हैं। वर्तमान में वे 'संबोधि उपवन' (मेवाड़) में ध्यान-योग साधना में संलग्न हैं। मुनि दुलहराज ने इसका संपादन कर इसे जनभोग्य बनाया है। ये दोनों मेरे पास अध्ययनरत रहे हैं। मैं चाहता हूं ये और अधिक विकास कर अपनी उपयोगिता बनाये रखें।

मैं सरल संस्कृत लिखने का अभ्यासी नहीं हूं, पर इसके भाषा-

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सारल्य पर आचार्यश्री ने मुझे साश्चर्य आशीर्वाद दिया, इसे मैं अपने जीवन की सफलता का प्रकाश-स्तंभ मानता हूं। इसके आठ अध्याय मैंने आचार्यश्री की बंबई यात्रा (सन् १९५३-५४) के समय बनाए थे और आठ अध्याय बनाए कोलकाता यात्रा के समय (सन् १९५९-६०)। इस प्रकार दो महान् यात्राओं के आलोक में इसकी रचना हुई है।

भगवान् की वाणी से मैंने जो पाया, उसे भगवान् की भावना में ही प्रस्तुत कर मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूं।

**आचार्य महाप्रज्ञ**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

## दो शब्द

- काल अनन्त है। सत्य अनन्त है।
- सत्य के साक्षात्कार का प्रयास अनन्त काल से चल रहा है।
- अनन्त व्यक्ति ने सत्य को खोजा और पाया।
- अनन्त व्यक्तियों उसे खोजेंगे और पाएंगे।
- अनगिन व्यक्ति उसे खोज रहे हैं, कुछ पा रहे हैं, कुछ भटक रहे हैं।
- अनन्त अतीत, अनन्त भविष्य और क्षणिक वर्तमान की यह अमर कहानी है।
- सत्य अनन्त है इसीलिए वह अमर है।
- कहते हैं, सत्य तक पहुंचने के अनन्त मार्ग हैं।
- नहीं; यह सही नहीं है।
- सत्य एक है और उसकी उपलब्धि का मार्ग भी एक है। वह मार्ग है 'संबोधि'।
- महावीर ने कहा–**'संबुज्झह, किं न बुज्झह।'**

  'संबुद्ध बनो। बोधि को प्राप्त क्यों नहीं कर रहे हो?'
- **'संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा'**–संबोधि का अवसर प्राप्त है। उसका उपयोग करो। आगे संबोधि दुर्लभ है।
- अस्ति-नास्ति, अमरत्व-मृत्यु, ज्ञान-अज्ञान, स्थिति-गति, क्रिया-अक्रिया, ध्रुव-परिणामी–इन द्वंद्वों में मत फंसो।
- इन द्वंद्वों की कुहेलिका को विदीर्ण करो। सारा अंतःकरण जगमगा उठेगा।
- स्वयं को जानो। 'स्वयं' अनन्त है। जो अनन्त को जानता है वह अनन्त हो जाता है।
- 'संबोधि' अनन्त के यात्रा-पथ का मार्ग-दीप है। वह जलाया नहीं जाता, वह जलता ही रहता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

- वह बनाया नहीं जाता, वह स्वयंभू है।
- वह न निर्माता है और न निर्मित।
- वह न कर्ता है और न कृति।
- वह न स्रष्टा है और न सृष्टि।
- वह केवल 'है', वह है केवल 'अस्ति'।
- महाप्रज्ञ ने कहा–हम जो पाना चाहते हैं, वह हमारे पास है। बाहर से हमें कुछ भी नहीं लेना है। हमें खाली हो जाना है।
- 'संबोधि' का संगान खाली होना सिखाता है, विजातीय का उच्छेद सिखाता है।
- खाली होते ही सत्ता अनावृत हो जाती है। वह अनन्त है। वह अनिर्वचनीय है।
- 'संबोधि' सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का दिशा-बोध है। वह गति भी है और गन्तव्य भी है। वह साधन भी है और सिद्धि भी है। वह पूर्णता भी है और रिक्तता भी है।
- 'संबोधि' अप्रतिबद्ध होती है। जो अप्रतिबद्ध है वही अनन्त है।
- यह शब्द और वाद के उस पार की स्थिति है जहां सारे शब्द निःसार और वाद निष्प्राण हो जाते हैं। यह अशब्द और अवाद है इसलिए अनन्त है।
- महाप्रज्ञ स्वयं संबुद्ध हैं। उन्होंने संबोधि को स्वयं जीया है और आज भी जी रहे हैं। कहते हैं–महावीर को जानना है तो महावीर बनकर जानो। महावीर जैसे चलते थे वैसे चलो, जैसे बैठते थे वैसे बैठो, जैसे बोलते थे वैसे बोलो, जैसे खाते थे वैसे खाओ, जैसे सोते थे वैसे सोओ, जैसे ध्यान करते थे वैसे ध्यान करो; ऐसा करना ही महावीर को जानना है। ऐसा करना ही महावीर बनना है। यही ऊर्ध्वारोहण है, चेतना का साक्षात्करण है। मैंने यत्-किंचित् प्रयास किया और महावीर बनने की दिशा स्पष्ट हो गई।
- महाप्रज्ञ ने यह रहस्योद्घाटन किया महावीर की पचीससौवीं जन्म जयन्ती के अवसर पर।
- हमने भी यही समझा है। यही एकमात्र कार्य है हमारे लिए करणीय। जो इस दिशा में प्रस्थित है हम उसे शत-शत प्रणाम करते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

- 'संबोधि' के संगान को व्याख्यायित करना सरल है, पर उसका जीना कठिन है। कठिन तब तक जब तक उसको जीया न जाए। हम उसे जीने लगें तो वह सहज-सरल हो जाती है, यह हमारा अपना अनुभव है।
- इस 'संबोधि' के संगान से व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय की घुंडी खुलेगी और तब उस आध्यात्मिक संगीत के सरगम से संबोधि कल्पायित ही नहीं, जीवन्त बनकर जीवन को अनवरत आनंद में निमग्न कर देगी।

**—मुनि शुभकरण**
**—मुनि दुलहराज**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १ : स्थिरीकरण (श्लोक ४४)

१-३. ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए भगवान महावीर का राजगृह में समवसरण।

४. प्रवचन-श्रवण के लिए लोगों का आगमन।

५. मगध के सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघ द्वारा दीक्षा ग्रहण।

६-७. रात्रिशयन से उत्पन्न अरति के तीन कारणों से मानसिक विक्षेप।

८-९. सूर्योदय होते ही घर जाने की उत्कंठा से महावीर के पास मेघकुमार का आगमन और मौन पर्युपासना।

१०-११. महावीर द्वारा मेघकुमार को पूर्वजन्म के कष्टों की स्मृति दिलाना।

१२. मेघकुमार द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासा।

१३. जातिस्मृति ज्ञान के बिना पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं होती।

१४. ईहा, अपोह और मानसिक एकाग्रता के बिना जातिस्मृतिज्ञान का निषेध।

१५-३०. महावीर द्वारा मेघकुमार के पूर्वभव का विस्तार से कथन और वर्तमान जन्म में राजकुमार होने की सार्थकता का निदर्शन।

३१. समभाव की दुर्लभता।

३२. शरीर में उत्पन्न कष्ट को (समभावपूर्वक) सहना महान् फल का हेतु।

३३-३४. मेघकुमार को कष्टों में अधीर न होने के लिए तर्कयुक्त बात कहना।

३५-३६. मेघकुमार द्वारा श्रमण धर्म की दुश्चरता का कथन।

३७-३८. महावीर द्वारा मन को निश्चल बनाने का उपदेश।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३९. मेघकुमार का श्रामण्य में पुनः स्थिरीकरण।
४०. पूर्वजन्म का साक्षात् दर्शन।
४१. संदेह-निवृत्ति के लिए पुनः जिज्ञासा।
४२. मेघकुमार को द्विगुणित संवेग की अनुभूति।
४३. मेघकुमार की निर्ग्रंथों की सेवा में संपूर्ण समर्पण की भावाभिव्यक्ति।
४४. कृतज्ञता के स्वर।

**अध्याय २ : सुख-दुःख मीमांसा** (श्लोक ७४)

१. प्राप्त सुखों को छोड़ अप्राप्त सुखों के लिए कष्ट क्यों?
२-३. सुखासक्ति के दो दोष।
४. सुख स्वाभाविक है, फिर दुःख क्यों सहा जाए?
५. पुद्गलजनित सुख वास्तव में दुःख है।
६. मोह क्या है? उसका मूल और विपाक क्या है?
७. तीनों प्रश्नों का उत्तर।
८-९. दृष्टिमूढ और चारित्रमूढ़ व्यक्ति का भवभ्रमण।
१०. तृष्णा और मोह का पौर्वापर्य।
११. जन्म-मरण का उपादान।
१२. दुःख, तृष्णा, मोह और लोभ का नाश कैसे?
१३. मोह और दुःख के उन्मूलन की जिज्ञासा।
१४. भगवान् का प्रतिवचन।
१५. रसों (घी, दूध आदि) के अतिसेवन से कामवासना की वृद्धि।
१६. अतिभोजन अब्रह्मचर्य का हेतु।
१७. राग-विजय के तीन उपाय।
१८. शारीरिक और मानसिक दुःख का हेतु है—विषयगृद्धि।
१९. समाधि—मानसिक स्वास्थ्य किसको?
२०. वीतराग कौन?
२१. स्रोत क्या? उनका निरोध कैसे?
२२-२३. इन्द्रियां, विषय और उनका प्रवर्तक मन।
२४. विषय नहीं, विषयासक्ति का निरोध संभव।
२५-२७. मन की अशांति के तीन हेतु।
२८. एक मूढ़ता से दूसरी मूढ़ता।
२९. उत्पाद-नाश, संग्रह-व्यय, क्रिया-प्रतिक्रिया—तीन युगल।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३०. अतृप्त व्यक्ति और अतृप्ति से पीड़ित व्यक्ति में अन्तर।
३१. माया और मृषा का संवर्धन किसके? उसका परिणाम।
३२. माया और मृषा का चक्रव्यूह।
३३. अलिप्त कौन?
३५. दुःखी कौन—रागी या वीतरागी?
३६. विकार का हेतु आसक्ति।
३७. मोह का दुष्परिणाम।
३८. दया का पात्र है मूढ़ात्मा।
३९-४०. दुःख न चाहते हुए भी दुःख क्यों होता है?
४१. वीतराग के लिए विषय न मनोज्ञ और न अमनोज्ञ।
४२. कामासक्ति का वर्धन और समापन।
४३-४४. वीतराग का स्वरूप और मोक्ष।
४५-४६. मेघ ने पूछा—धर्म सुख का हेतु और अधर्म दुःख का हेतु—यह कर्म-सिद्धांत संगत नहीं।
४७. भगवान् का उत्तर।
४८-४९. दो प्रकार का धर्म—संवर और निर्जरा और उनका स्वरूप।
५०. अधर्म का कार्य।
५१. संस्कारों का विलय और संचय कैसे?
५२. पुण्य और पाप का मुख्य परिणाम।
५३. पुण्य और पाप के उदय में हेतुभूत तथ्य।
५४. क्या अर्थ की संपन्नता या विपन्नता का हेतु धर्म या अधर्म है?
५५-५६. धर्म का मुख्य फल।
५७. आत्म-तुलावाद सम्मत क्यों?
५८-६१. आत्म-तुलावाद की स्वीकृति के हेतु।
६२. अहमिन्द्र की स्थापना से कर्मवाद का विघटन।
६३-७०. व्यवस्थाकृत और कर्मकृत संबंधों तथा विधियों की भिन्नता का दिग्दर्शन।
७१. स्वगुणात्मिक योग्यता का उपादान।
७२-७३. स्वतंत्रता और परतंत्रता का मूल।
७४. मेघ का संशय-निवारण।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**अध्याय ३ : आत्मकर्तृत्ववाद (श्लोक ५५)**

१. कष्टों में धृति और अधृति के कारणों की जिज्ञासा।
२-३. कृतकर्मों का भोग अवश्यंभावी।
४. कष्टों को आमंत्रण क्यों?
५. कष्ट-साध्य और अकष्ट-साध्य मार्ग की फलश्रुति।
६. धर्म की आराधना का विवेक।
७. तपस्या की आराधना का विवेक।
८-१०. कष्टों में अधीर कौन?
११-१२. सुख-दुःख कर्त्ता-भोक्ता कौन?
१३. आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता-भोक्ता।
१४. तीन प्रकार की आत्मा और उसका स्वरूप।
१५-१८. सकर्मात्मा का स्वरूप और कार्य।
१९-२०. आत्मा की विकृति का मूल हेतु है—मोहकर्म। अज्ञान और अदर्शन विकार के हेतु नहीं।
२१-२६. मोहनीय कर्म की प्रधानता। मोहनीय के क्षय होने पर अन्य कर्मों के क्षय की अनिवार्यता।
२७-२८. मोह-क्षय का फल।
२९. विशुद्ध दर्शन का हेतु और परिणाम।
३०. स्थिरता से निर्वाण।
३१. निर्मल चित्तवाले को आत्मदर्शन।
३२. कैसे साधक को देव-दर्शन।
३३. यथार्थ स्वप्नद्रष्टा कौन? उसका परिणाम।
३४. अवधिज्ञान किसको?
३५. जीवलोक के प्रति कर्त्तृत्व किसका?
३६. साश्रव चेतना कर्माकर्षक होती हैं।
३७. भाव और व्यवहार का सेतु।
३८. चेतना का विकास और ह्रास।
३९. बाह्य विकास और ह्रास का कारण।
४०. आवारक, विकारक और संवेदनाकारक कर्म।
४१. कर्म की परिभाषा।
४२. कर्म-विपाक का परिणाम।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४३. पूर्ण नैष्कर्म योग कब-कहां?
४४. अपूर्ण नैष्कर्म योग का परिणाम।
४५. सत्कर्मा-आत्मा का स्वरूप।
४६. शुभ कर्मों के उदय का परिणाम।
४७. आत्मस्वरूप की संप्राप्ति में कर्म बाधक।
४८. पुण्य से मुक्ति नहीं मिलती।
४९. संवर की फलश्रुति।
५०. अक्रिया से बंधन नहीं।
५१-५२. कर्मबद्ध जीव का ही निरंतर भवभ्रमण।
५३. इच्छा की नहीं कर्म की प्रधानता।
५४. मेघ को आत्म-पुरुषार्थ का उपदेश।
५५. अकर्मात्मा का स्वरूप और तदर्थ प्रेरणा।

**अध्याय ४ : सहजानंद मीमांसा** (श्लोक ३०)

१-५. निर्वाण में शरीर, वाणी और इन्द्रियों का अभाव, चिंतन-शून्यता, फिर आनंद कैसे?
६. कायिक, वाचिक और मानसिक सुख यथार्थ नहीं।
७. चेतना का आनंद यथार्थ और उसकी प्राप्ति का उपाय।
८. आत्म-साक्षात्कार कब?
९. अतीन्द्रियज्ञान कब?
१०. एक वर्ष के संयमी जीवन की महान् फलश्रुति।
११. सबाध और निर्बाध सुख।
१२-१४. मुक्त आत्माओं के सुख की तुलना।
१५-१७. आनंद की अवाच्यता।
१८. अनिर्वचनीयभाव असीम, बुद्धिवाद ससीम।
१९. दो प्रकार के पदार्थ—तर्कगम्य और अतर्कगम्य।
२०. तर्क की सीमा।
२१. सम्यग्दृष्टि कौन?
२२. अतीन्द्रिय पदार्थों के जानने के दो हेतु।
२३. सहज आनंद की स्फुरणा के बाधक तत्त्व।
२४-२८. आत्मिक आनंद के आवारक तथ्य।
२९. महावीर द्वारा साक्षात् अनुभूति का कथन।
३०. सहजानंद का उपदेश।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**अध्याय ५ : मोक्ष-साधन मीमांसा** (श्लोक ४५)

१-२. मोक्ष-सुख के साधनों की जिज्ञासा और समाधान।
३. धर्म के दो लक्षणों का निरूपण। अहिंसा का साधक कौन?
४. जीवों का हनन कौन करता है? कौन नहीं?
५-८. अहिंसक के स्वरूप का प्रतिपादन।
९. अहिंसा और अभय।
१०. भय किसको और किसको नहीं?
११. डरो मत, डरो मत का उपदेश क्यों?
१२. अभय से अहिंसा की सिद्धि।
१३. अहिंसा और भय का सहावस्थान नहीं।
१४. अहिंसक कौन?
१५. अभय कौन?
१६. अहिंसा की सिद्धि के सूत्र।
१७. अहिंसा से ही स्वरूप का संरक्षण।
१८. हिंसा और आसक्ति का एकत्व।
१९. 'पर' का संरक्षण अहिंसा से नहीं।
२०. अहिंसा की शाश्वत अनुश्रुति।
२१-२२. धर्म के एक, दो, तीन आदि अंग।
२३. वैषम्य हिंसा और साम्य अहिंसा।
२४-२५. सत्य आदि अहिंसा के उपजीवी तथा सेतुभूत।
२६. अहिंसा परम धर्म है—यह नयसापेक्ष वचन है। हिंसा का मूल है परिग्रह।
२७. अपरिग्रह परमधर्म है। जहां अपरिग्रह वहां अहिंसा।
२८. धर्म का प्रथम सोपान क्या?
२९. आत्मा से पुद्गल भिन्न—यह कैसे? क्यों?
३०-३२. अवैराग्य अर्थात् मोह का चक्रव्यूह।
३३. भोगों का मूल और योगों का मूल।
३४-३५. वैराग्य की फलश्रुति।
३६. परम प्रकाशित कब?
३७. वीतरागता की भावना की फलश्रुति।
३८-४०. आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४१-४२. ग्रंथिभेद कैसे? उसकी परिणति।
४३. अनगार कौन बनता है?
४४-४५. शाश्वत की उपासना और प्राप्ति।

**अध्याय ६ : क्रियाक्रियावाद** (श्लोक २७)

१. विभिन्न रुचियों का प्रतिफलन।
२-३. अनात्मदर्शी की शंका और मान्यता।
४-७. अनात्मवादी क्या प्राप्त करते हैं?
८-१०. आत्मवादी गृहस्थ की धर्मोन्मुखता का प्रतिपादन।
११-१६. संयम की श्रेष्ठता और उसकी फलश्रुति।
१७. श्रामण्य का फल।
१८-२०. लाभ और हानि का विवेक।
२१-२३. गृहवास में संयम-पालन से होने वाली उपलब्धि की इयत्ता।
२४. गृहवास अन्ततो त्याज्य है।
२५. प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म।
२६. बाल, बाल-पंडित और पंडित।
२७. मेघ का अवबोध।

**अध्याय ७ : आज्ञावाद** (श्लोक ४६)

१. आज्ञा में धर्म का कथन।
२. आज्ञा की परिभाषा।
३. वीतरागी ही यथार्थवादी।
४-७. आज्ञा की आराधना और विराधना।
८. मेधावी कौन?
९. जीवन और मरण में संयम-असंयम।
१०. असंयम क्या है?
११-१२. पूर्ण-अपूर्ण संयम और उसका आराधक।
१३. अर्हत् का उपदेश क्यों? क्या है हिंसा और अहिंसा?
१४-१७. हिंसा के तीन हेतु और उसके तीन प्रकार।
१८. मुनि के लिए हिंसा सर्वथा त्याज्य।
१९. श्रावक के लिए हिंसा का विवेक।
२०. मुनि की दो प्रकार की वृत्ति।
२१-२३. श्रावके के लिए अहिंसा का विवेक।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२४-२५. दो प्रकार का गृहस्थ-धर्म।
२६-२७. मुनि और गृहस्थ का आत्मधर्म एक, पालन की तरतमता।
२८-३३. तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्म का स्वरूप।
३४-३५. अहिंसा और आज्ञा की आराधना समान।
३६. अहिंसा धर्म की श्रेष्ठता।
३७. सत्य की महिमा।
३८. अचौर्य व्रत के लाभ।
३९. ब्रह्मचर्य के अंग।
४०. अपरिग्रह की फलश्रुति।
४१. धर्म क्या? क्यों? क्या लाभ?
४२. धर्म की परिभाषा, उसका प्रथम सोपान और साधना के हेतु।
४३. आसक्ति का हेतु, मूल समस्या का निर्देश।
४४. आसक्ति, भावात्मक तनाव और मानसिक दुःख।
४५-४६. अनासक्ति, भावात्मक प्रसन्नता, मानसिक निर्मलता।

**अध्याय ८ : बन्धमोक्षवाद** (श्लोक ३१)

१-२. बंध और मोक्ष क्या है? समाधान।
३. प्रवृत्ति और निवृत्ति।
४-१२. प्रवृत्ति के पांच प्रकारों का विवरण।
१३-१६. चार प्रकार की क्रियाएं और उनका कार्य।
१७. पुद्गल-मुक्ति की अवस्था।
१८-२४. निवृत्ति के पांच प्रकारों का विवरण।
२५-२६. आध्यात्मिक विकास की दो कोटियां, उनका विवरण।
२७. दुःख की उत्पत्ति और निरोध का ज्ञाता एक।
२८. योग का संक्षेप स्वरूप।
२९-३१. मेघकुमार का पुनः श्रामण्य स्वीकार और मनोमालिन्य की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार की प्रार्थना।

**अध्याय ९ : मिथ्या-सम्यग्-ज्ञान मीमांसा** (श्लोक ५५)

१. ज्ञान में मिथ्या और सम्यग् का विभाग क्यों?
२-५. ज्ञान का आवरण और उसका परिणाम।
६. आत्मा में अनन्तज्ञान का कथन।
७. आवरण के आधार पर तारतम्य।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

८-९. संशयज्ञान और मिथ्याज्ञान का विवेक।
१०. मिथ्यादृष्टि कौन?
११. प्रमाण की परिभाषा।
१२. सम्यग्दृष्टि की परिभाषा।
१३. सम्यग्ज्ञान क्या है?
१४. द्रव्य और उसके सामान्य और विशेष धर्म।
१५-१७. संग्रह, व्यवहार आदि नय।
१८. सकलादेश की परिभाषा।
१९. अनेकांत और स्याद्वाद।
२०. स्थितात्मा कौन?
२१-२४. ज्ञानप्राप्ति के चार प्रयोग।
२५-२६. धर्म की फलश्रुति।
२७. धर्म का प्रवचन क्यों?
२८. प्रमादी भव-भ्रमण करता है।
२९. अप्रमादी की मुक्ति।
३०-४१. संयमी के सुख और देवताओं के सुख की तुलना।
४२. मुनि की मुक्त अवस्था।
४३-५४. मोक्ष-प्राप्ति का क्रम।
५५. साधक के लिए कल्याणकारी गुणों का कथन।

अध्याय १० : संयतचर्या (श्लोक ४३)

१. साधक-चर्या की जिज्ञासा।
२. साधक-चर्या का ध्रुव बिन्दु।
३-४. आस्रव-निरोध से कर्म-निरोध।
५. भोजन क्यों करें?
६-१०. भोजन करने और न करने के कारणों का प्रतिपादन।
११. मितभोजी कौन?
१२-१४. स्वादविजय की प्रक्रिया और परिणाम।
१५. कब न खायें?
१६-१८. जीना श्रेयस्कर या मरना? समाधान।
१९. अकाममरण और सकाममरण।
२०-२१. मरण का विवेक।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२२-२४. पुरुषों की तीन-तीन कोटियां।
२५. समाधि : मुक्ति का द्वार।
२६. चारों गतियों में गमन का कारण कर्म। नरक और स्वर्ग परोक्ष।
२७. नरक-स्वर्ग नहीं हैं—ऐसा न मानें।
२८. नरकगमन के चार हेतु।
२९. स्वर्गगमन के चार हेतु।
३०. मनुष्य जन्म की प्राप्ति के चार हेतु।
३१. तिर्यंच योनि की प्राप्ति के चार हेतु।
३२. भवभ्रमण किसका और किसका नहीं।
३३. अबोधि और बोधि की फलश्रुति।
३४. बोधिप्राप्त व्यक्तियों की श्रेणियां।
३५. रुचिभेद के कारण साधना-मार्गों का भेद।
३६. उपदेश देनेवाले और न देनेवाले साधक।
३७. मुक्त होने की इयत्ता—वीतरागभाव।
३८. मुनिवेश को धारण करने के तीन प्रयोजन।
३९. मोक्ष के साधक तत्त्व।
४०. जिज्ञासा की फलश्रुति।
४१. साधकों के तीन प्रकार।
४२. सम्यक् और मौन की सहावस्थिति।
४३. विशुद्ध बोधि की प्रार्थना।

अध्याय ११ : आत्ममूलकधर्म प्रतिपादन (श्लोक ५१)

१. आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व।
२. संसार क्या है?
३. जीव विभिन्न योनियों में क्यों?
४-८. चार दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति और परिणाम।
९. सरल ही विशुद्ध हो सकता है।
१०. विशद विचारणा की प्राप्ति कब?
११. दुःख मुक्ति की जिज्ञासा से मार्ग की प्राप्ति।
१२. सूक्ष्म सत्य का अधिकारी कौन?
१३-१४. सत्यद्रष्टा का चिंतन।
१५. परिग्रह-मुक्ति से शांति।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१६-१८. ज्ञानवाद त्राण नहीं होता।
१९. मोक्षमार्ग का दर्शन।
२०-२२. दुःखमुक्ति का क्रम।
२३. संवृतात्मा अकर्मी होता है।
२४. दर्शनावरण कर्म के अंत की फलश्रुति।
२५. ज्ञान का विकास कब?
२६-२७. मैत्री भावना।
२८. मनुष्यों का नेत्र कौन?
२९-३१. संबोधि का स्वरूप और दुर्लभता।
३२. शल्य दुःख है।
३३. पंडित कौन?
३४. एकत्व भावना।
३५. समाधि का अधिकारी।
३६. असंवृत व्यक्ति की मनोदशा।
३७. बोधि-अबोधि का परिणाम।
३८. हिंसा के परिणाम और द्रष्टा बनने का उपदेश।
३९. मूढ़ कौन?
४०. सत्य को देखना ही देखना है।
४१-४२. सत्य के अनेक अर्थ।
४३. पाप से बचो।
४४. धर्म की ग्लानि से आत्मबल की ग्लानि।
४५. धर्म के प्रति ग्लानि क्यों?
४६-४७. धर्म की वृद्धि और हानि कब? क्यों?
४८-५०. कोरा क्रियाकांड धर्म नहीं।
५१. यम गौण और नियम प्रधान तब धर्म की ग्लानि।

अध्याय **१२** : **ज्ञेय-हेय-उपादेय** (श्लोक ९२)

१. हेय, उपादेय और ज्ञेय की जिज्ञासा।
२-४. ज्ञेयदृष्टि का निरूपण।
५. हेयदृष्टि का निरूपण।
६. उपादेयदृष्टि का निरूपण।
७-९. योग क्या है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१०-१२. बाह्य तप के प्रकार।
१३. धर्म में कष्ट सहन क्यों, एक जिज्ञासा।
१४. धर्म को जानो।
१५. धर्म शरीर को सताने के लिए नहीं, सत्य की उपलब्धि के लिए।
१६. अहिंसक चेतना का विकास।
१७. विषय-भोग अच्छे लगते हैं, क्यों?
१८. आत्मसाम्य और अहिंसा।
१९. शरीर केवल शरीर है।
२०. शरीर को कृश क्यों?
२१. शरीर का योग-क्षेम करणीय क्यों?
२२. देह का संतुलन।
२३. इन्द्रियों के उपशमन का लाभ।
२४. उपवास और आहार—दोनों क्यों?
२५. अहिंसा धर्म घोर क्यों?
२६. कौन-सा तप विहित है?
२७. प्रतिसंलीनता की परिभाषा।
२८-३१. आभ्यन्तर तप के प्रकार।
३२. स्वाध्याय के पांच प्रकार।
३३. ध्यान।
३४-४१. धर्मध्यान के चार प्रकार और उनका लाभ।
४२-४३. शुक्लध्यान।
४४. छद्मस्थ के ध्यान का कालमान।
४५. ध्यान के चार अंगों की संख्या।
४६. ध्यान दुःख-मुक्ति के लिए। मनुष्य को दुःख क्यों होता है?
४७-४८. दुःख के आठ हेतु।
४९. सुख के हेतु।
५०. आरोग्य को बढ़ाने के उपाय।
५१. मन दुर्बल क्यों? मन सबल कैसे?
५२. मन की दुर्बलता के हेतु।
५३-५४. मनोबल बढ़ाने के उपाय।
५५. धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

५६. आधि, व्याधि और उपाधि के अतिक्रमण से समाधि।
५७. काया की स्थिरता।
५८. निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि।
५९. चैतन्य की भूमिकाएं।
६०. चित्त का प्रवर्तक कौन? क्या?
६१. मन, भाव, लेश्या और अध्यवसाय की शुद्धि।
६२. कायसिद्धि और मन की सिद्धि।
६३. भाग्यहीन का परिणाम।
६४. शरीर बहुरत्न वाला कैसे?
६५. व्युत्सर्ग की परिभाषा।
६६. भावना से भावित चित्त।
६७. प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा और भावना।
६८-७०. बारह भावनाएं।
७१. मैत्री आदि चार भावनाएं।
७२. इन भावनाओं का परिणाम।
७३. मोह-संवलित भावनाओं का परिणाम।
७४. भावना का उत्कृष्ट परिणाम।
७५. भावनायोग से शुद्धात्मा की परिणति।
७६. सच्छिद्र और निश्छिद्र नौका।
७७. समाधि किसको?
७८-७९. सम्यग्दृष्टि के लक्षण।
८०. व्रतसंपन्न योगी की परिणति।
८१. जीवों की अवस्थिति। जीव अजीव नहीं और अजीव जीव नहीं बनता।
८२. द्रव्य के दो अंश।
८३. मेघ के कुछ प्रश्न।
८४. चित्त की तीन अवस्थाएं और उनका परिणाम।
८५. चित्त की तीन अवस्थाओं का हेतु क्या है?
८६. तीनों अवस्थाओं का मूल कारण।
८७-८८. बुद्धिमान् और पंडित का कर्त्तव्य।
८९. पापों के समाहार में कूर्म का दृष्टांत।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

९०. मेघावी पुरुष भी दोषों का समाहार करे।
९१. पापों का अनुमोदन नहीं।
९२. भगवान् की वाणी के लाभ।

अध्याय **१३ : साध्य-साधन संज्ञान** (श्लोक ४१)

१. साध्य-साधन विषयक जिज्ञासा।
२. रुचिभिन्नता के कारण साध्य की अनेकता।
३-७. साध्य के लिए कौन प्रयत्न नहीं करता और कौन प्रयत्न करता है?
८. साध्य क्या है?
९. संयम है यथार्थ साधन।
१०. साध्य को कौन पाता है?
११. आत्मा ही परमात्मा।
१२-१३. मुक्ति में बाधक है शरीर।
१४. संयम की साधना कैसे?
१५-१६. संयम की साधना के उपाय।
१७-१८. चार प्रकार के पुरुष।
१९. सम्यक् असम्यक् क्या?
२०. कर्म का स्रोत सर्वत्र।
२१. बंधन और मुक्ति के कारण समान।
२२. परम साध्य है आत्मा। उसका स्वरूप।
२३. साधना के लिए उपयुक्त क्षेत्र।
२४-२६. श्रमण, ब्राह्मण आदि का यथार्थ स्वरूप।
२७. जाति और वर्ण की व्यवस्था कब से?
२८-२९. मनुष्य जाति एक। जाति अतात्विक।
३०-३१. आत्म-तुला का दर्शन।
३२. मन की स्थिरता कैसे प्राप्त हो?
३३-३८. कौन मनुष्य सन्मार्ग से च्युत नहीं होता?
३९. आत्म-विजेता ही विश्व विजेता।
४०. दृष्ट और अदृष्ट का विवेक।
४१. आत्म-साधक कौन?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १४ : गृहस्थ-धर्म प्रबोधन (श्लोक ४३)

१. गृहस्थ मोक्ष की आराधना कैसे कर सकता है?
२. अनासक्त गृहस्थ मोक्ष का अधिकारी।
३. साधना का मूल है आशा का त्याग।
४. त्याग का अधिकारी।
५. यथार्थ त्यागी।
६. पदार्थों का सर्वथा त्याग असंभव, आसक्ति का सर्वथा त्याग संभव।
७. अगार धर्म का आदि बिन्दु।
८. रत्नत्रयी का पौवापर्य।
९. धर्म के विभागों का हेतु।
१०. अनगार धर्म और अगार धर्म।
११. गृहस्थ धर्म का अधिकारी कैसे, एक प्रश्न।
१२. मुमुक्षा भाव के बिना श्रामण्य नहीं।
१३. गृहस्थ भी धर्म का अधिकारी—एक समाधान।
१४. शक्ति के दो प्रकार—लब्धिवीर्य और करणवीर्य।
१५. करणवीर्य के तीन प्रकार।
१६. कर्म के एकार्थक शब्द।
१७. सत् और असत् कर्म की निवृत्ति से मोक्ष।
१८. क्रिया के पूर्ण निरोध का अभाव।
१९. कर्म का मूल हेतु शरीर। करणीय का उपदेश।
२०. गृहस्थ सत् प्रवृत्ति कैसे कर सकता है?
२१-२४. हिंसा के दो प्रकार, उनकी परिभाषा।
२५. हिंसा कभी निर्दोष नहीं।
२६. सम्यग्दृष्टि का कार्य।
२७. अनासक्त मन से दृढ़ लेप नहीं।
२८. बंधन के दो प्रकार—अविरति और प्रवृत्ति।
२९. अहिंसक वह जो अविरति का त्याग करे।
३०. साधु कौन?
३१. दिग्विरति व्रत।
३२. भोगोपभोग-परिमाण व्रत।
३३. अनर्थदंड-विरति व्रत।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३४. सामायिक व्रत।
३५. देशावकाशिक व्रत।
३६. पौषध व्रत।
३७. अतिथि-संविभाग व्रत।
३८. संलेखना का स्वरूप।
३९-४२. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं।
४३. महान् दुःख-सुख क्या है?

अध्याय **१५ : गृहीधर्मचर्या** (श्लोक ६०)

१-२. जब तक शरीर तब तक आत्मसाधना।
३. आत्मनिरीक्षण करना।
४. सामायिक आदि क्रियाएं।
५. सम्यक्त्व के पांच भूषण।
६-९. श्रमणोपासक के चार विश्राम-स्थल।
१०. श्रावक के तीन मनोरथ।
११-१३. उपासना के दस फल।
१४. आसक्त कौन नहीं होता?
१५. अज्ञानकष्ट बंधन का हेतु।
१६. क्रियाकांड सें मुक्ति नहीं।
१७. घृणा महामोह का हेतु।
१८. उच्चगोत्र और नीचगोत्र अवास्तविक।
१९. जाति या कुल शरण नहीं।
२०-२२. आत्मा का स्वरूप।
२३. पुनर्जन्म।
२४. द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से आत्मा।
२५. शरीर की विभिन्न अवस्थाएं।
२६. आत्मवादी कौन?
२७. क्या हिंसा का मानदंड जीवों के छोटे-बड़े शरीरों के आधार पर?
२८. हिंसा में सदृश दोष कहने का निषेध।
२९-३१. वास्तविक हिंसा क्या और किसकी?
३२. संसार परिणमनशील आदि।
३३. आत्मा शाश्वत और शरीर अशाश्वत क्यों?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३४. आत्मा और पुद्गल शाश्वत-अशाश्वत—दोनों।
३५-३६. आत्मा दृश्य क्यों नहीं का उत्तर।
३७. आत्मविद् कौन?
३८. मोक्ष का अधिकारी।
३९. ज्ञानवान् और आचारवान्।
४०. मुक्ति किसकी?
४१. सर्वथा आराधक तथा सर्वथा विराधक कौन?
४२. सद्गति का आराधक-विराधक कौन?
४३-४७. कांदर्पी आदि पांच भावनाएं।
४८. बोधि की दुर्बलता।
४९. बोधि की सुलभता।
५०-५३. कुंभ की उपमा से उपमित चार प्रकार के पुरुष।
५४. आहारसंज्ञा के चार कारण।
५५. भयसंज्ञा के चार कारण।
५६. मैथुन संज्ञा के चार कारण।
५७. परिग्रहसंज्ञा (ममत्व) के चार कारण।
५८-५९. दान के दस प्रकार।
६०. धर्म के दस प्रकार।

अध्याय १६ : मनःप्रसाद (श्लोक ४९)

१. मानसिक प्रसन्नता और प्रमाद-मुक्ति की जिज्ञासा।
२-१६. मानसिक स्वास्थ्य के विभिन्न उपायों का प्रतिपादन।
१७. वीतराग की स्मृति से लाभ।
१८. परमात्मा बनने की प्रक्रिया।
१९. प्रतिपल आत्म-स्मृति की सार्थकता।
२०. आयुष्य का बंधन कब?
२१. आत्म-विशुद्धि की सार्थकता।
२२. छह लेश्याओं का कथन।
२३-२५. तीन पाप लेश्याओं का कथन।
२६-२८. तीन धर्म लेश्याओं का वर्णन।
२९. पाप लेश्याएं त्याज्य, धर्म लेश्याएं स्वीकार्य।
३०. क्षमा करने के पांच हेतु।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३१. सत्य क्या है?
३२-३३. मुनि की चार दुःख-शय्यायें (आश्रय-स्थान)।
३४-३५. मुनि की चार सुख-शय्यायें।
३६. दुःसंज्ञाप्य व्यक्ति के प्रकार।
३७. पंडितमानी व्यक्ति का कार्य।
३८-४७. संबोधि का प्रवचन सुन मेघ द्वारा महावीर की स्तुति और कृतज्ञता ज्ञापन।
४८-४९. संबोधि ग्रंथ के पठन से लाभ।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# आमुख

पच्चीस सौ वर्ष पुरानी बात है। मगध सम्राट् श्रेणिक की यशोगाथा दिग्-दिगंत में व्याप्त थी। उनकी पट्टरानी का नाम धारिणी था। एक बार वह अपने सुसज्जित शयनागार में सो रही थी। अपररात्रि की वेला में उसको एक स्वप्न आया। उसने देखा—'एक विशालकाय हाथी लीला करता हुआ उसके मुख में प्रवेश कर रहा है।' स्वप्न को देख वह उठी। महाराज श्रेणिक को निवेदन कर बोली—'प्रभो! इसका क्या फल होगा?' महाराज श्रेणिक ने स्वप्न-पाठकों को बुलाकर स्वप्नफल पूछा। उन्होंने कहा—'राजन्! रानी ने उत्तम स्वप्न देखा है। इसके फलस्वरूप आपको अर्थलाभ होगा, पुत्रलाभ होगा, राज्यलाभ होगा और भोगसामग्री की प्राप्ति होगी।' राजा और रानी बहुत प्रसन्न हुए।

समय बीता। महारानी ने गर्भ धारण किया। दो महीने व्यतीत हुए। तीसरा महीना चल रहा था। रानी के मन में अकाल में मेघों के उमड़ने और उनमें क्रीड़ा करने का दोहद उत्पन्न हुआ। उसने सोचा—'वे माता-पिता धन्य हैं जो मेघ ऋतु में बरसती हुई वर्षा में, यत्र-तत्र घूमकर आनंदित होते हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं भी हाथी पर बैठकर झीनी-झीनी वर्षा में जंगल की सैर कर अपना दोहद पूरा करती?' रानी ने इस दोहद की चर्चा राजा श्रेणिक से की। उस सतय वर्षा ऋतु नहीं थी। मेघ के बरसने की बात अत्यंत दुरूह थी। राजा चिंतित हो उठा। उसने अपने महामात्य अभयकुमार को सारी बात कही। महामात्य राजा-रानी को आश्वस्त कर दोहदपूर्ति की योजना बनाने लगा।

अभयकुमार ने देवता की आराधना करने के लिए एक अनुष्ठान प्रारंभ किया। तेले की तपस्या कर, वह मंत्र-विशेष की आराधना में लग गया। तीन दिन पूरे हुए। देवता ने प्रत्यक्ष होकर आराधना का प्रयोजन जानना चाहा। अभयकुमार ने धारिणी के मन में उत्पन्न अकालमेघवर्षा में भ्रमण की बात कह सुनाई। देवता ने कहा—'अभय! तुम विश्वस्त रहो। मैं दोहदपूर्ति कर दूंगा।'

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कुछ समय बीता। एक दिन अचानक आकाश में मेघ उमड़ आये। सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया! बिजलियां चमकने लगीं। मेघ का भयंकर गर्जारव होने लगा। वर्षा होने लगी। मेघ ऋतु का आभास होने लगा। रानी धारिणी अपने परिवारजनों से परिवृत होकर, हाथी पर आरूढ़ हो वन-क्रीड़ा करने निकली। अपनी इच्छा के अनुसार क्रीड़ा सम्पन्न कर वह महलों में लौट आयी। उसका दोहद पूरा हो गया।

नौ मास और नौ दिन बीते। रानी ने एक पुत्र-रत्न का प्रसव किया। गर्भकाल में मेघ का दोहद उत्पन्न होने के कारण सद्यःजात शिशु का नाम मेघकुमार रखा गया। वैभवपूर्ण लालन-पालन से बढ़ते हुए शिशु मेघकुमार ने आठ वर्ष पूरे कर नौवें वर्ष में प्रवेश किया। माता-पिता ने उसको सर्वकला निपुण बनाने के उद्देश्य से कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा। वह धीरे-धीरे बहत्तर कलाओं में पारंगत हो गया।

मेघकुमार ने यौवन में प्रवेश किया। आठ सुन्दर राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह नगर में आए। मेघकुमार गवाक्ष में बैठा-बैठा नगर की शोभा देख रहा था। उसने देखा—नगर के हजारों नर-नारी एक ही दिशा की ओर जा रहे हैं। उसके मन में जिज्ञासा हुई। उसने अपने परिचायकों से पूछा। उन्होंने भगवान् के समवसरण की बात कही। मेघ का मन भगवान् के उपपात में जाने के लिए उत्सुक हो उठा। अश्व पर आरुढ़ होकर वह भगवान् के समवसरण में गया। भगवान् की अमोघ वाणी सुनकर वह अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसका वैराग्य-बीज अंकुरित हो गया। पूर्वसंचित कर्मों की लघुता से उसके मन में प्रव्रज्या की भावना उत्पन्न हुई।

वह घर आया। माता-पिता से कहा—'मैं प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उत्सुक हूं।' यह विचार सुन महारानी धारिणी आकुल-व्याकुल हो गईं। वह अपने पुत्र का वियोग नहीं चाहती थीं। माता धारिणी और पुत्र मेघ के बीच लंबा संवाद चला। माता ने उसे समझाने का पूरा प्रयत्न किया। मेघ का मन मोक्षाभिमुख हो चुका था। माता की बातों का उस पर कोई असर नहीं हुआ। उसने माता को संसार की असारता और दुःख-प्रचुरता से अवगत कराया। माता ने अंत में कहा—'पुत्र! तुम प्रव्रजित होना ही चाहते हो, हम सब से बिछुड़ना ही चाहते हो तो जाओ, सुखपूर्वक प्रव्रजित हो जाओ। किन्तु वत्स! एक बात हमारी भी मानो। हम तुम्हें अपनी आंखों से एक बार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

राजा के रूप में देखना चाहते हैं। तुम एक दिन के लिए ही राजा बन जाओ। फिर जैसा तुम चाहो, वैसा कर लेना।' मेघकुमार ने एक दिन के लिए राजा बनना स्वीकार कर लिया।

मेघकुमार के राज्याभिषेक की तैयारियां हुई। शुभ मुहूर्त्त में राज्याभिषेक की विधि संपन्न हुई। मेघकुमार राजा बन गया। सभी ने उसे बधाइयों से वर्धापित किया। राज्य-संपदा मेघकुमार को लुभा नहीं पाई।

एक दिन बीत गया। मेघकुमार की दीक्षा की तैयारियां होने लगीं। आवश्यक उपकरण लाये गए। परिवार और नगरजनों से परिवृत होकर मेघकुमार भगवान् महावीर के पास आया। माता-पिता ने भगवान् से निवेदन करते हुए कहा—'देव! हमारा यह पुत्र मेघ आपके चरणों में प्रव्रजित होना चाहता है। यह नवनीत-सा कोमल है। यह प्रचुर काम-भोगों के बीच पला-पुसा है, फिर भी काम-रजों से स्पृष्ट नहीं है, भोगों में आसक्त नहीं है। पंक में उत्पन्न होने वाला पंकज पंक से लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह कुमार भोगों से निर्लिप्त है। आप इसे अपना शिष्य बनाकर हमें कृतार्थ करें।'

भगवान् ने मेघ को प्रव्रजित होने की आज्ञा दी। मेघकुमार अपने आभूषण उतारने लगा। यह दृश्य देख मां का मन विह्वल हो उठा। वह अपने पुत्र को एक अकिंचन भिक्षु के रूप में घर-घर भिक्षा के लिए भटकता देखना नहीं चाहती थी। उसका मन रोने लगा। हृदय फटने लगा, पर·····।

भगवान् महावीर ने स्वयं मेघकुमार को प्रव्रजित किया, उसका केश लुंचन किया। भगवान् ने स्वयं उसे साधुचर्या की जानकारी देते हुए कहा—'वत्स! अब तुम मुनि बन गए हो। अब तुम्हारे जीवन की दिशा बदल गयी है। अब तुम्हें यतनापूर्वक चलना है, यतनापूर्वक बैठना है, यतनापूर्वक सोना है, यतनापूर्वक खड़े रहना है, यतनापूर्वक बोलना है और यतनापूर्वक ही भोजन करना है। इस चर्या में लेशमात्र भी प्रमाद न हो। यतना संयम है, मोक्ष है। अयतना असंयम है, बंधन है।'

पहला दिन बीता। रात आयी। विधि के अनुसार सभी श्रमणों का शयन-स्थान निश्चित हुआ। मुनि मेघकुमार एक दिन का दीक्षित मुनि था। उसका शयन-स्थान सबसे अंत में आया। वह स्थान द्वार के पास था। शताधिक मुनि स्वाध्याय आदि के लिए रात्रि में बाहर आने-जाने लगे। कुछ मुनि प्रस्रवण के लिए बाहर निकले। उस समय द्वार के पास सोये मुनि मेघकुमार की नींद उचट गयी। सर्वत्र अंधकार व्याप्त था। स्पष्ट कुछ भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नहीं दिख रहा था। बाहर आते-जाते मुनियों के पैर-स्पर्श से मुनि मेघ विचलित हो गया। शरीर धूलिमय हो गया। उसने नींद लेने का बहुत प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। उसने सोचा—'मैं राजकुमार था। कितने सुख में पला-पुषा! सब प्रकार की सुविधाएं मुझे उपलब्ध थीं। सारे श्रमण मुझसे बात करते, मेरा आदर-सम्मान करते। मुझसे मीठी-मीठी बातें करते और मुझे नाना प्रकार के रहस्य समझाते। आज मैं प्रव्रजित हो गया। उनकी मंडली में आ मिला। अब कोई भी श्रमण न मुझसे बात करता है और न मेरा आदर-सम्मान ही करता है। वे सब मुझे ठोकरें लगा रहे हैं, नींद भी नहीं ले पा रहा हूं। इस अनपेक्षित मुनि जीवन से अच्छा है कि मैं पुनः गृहवास में चला जाऊं। वहां मेरा पूर्ववत् ठाटबाट रहेगा। सूर्योदय होते ही मैं भगवान् महावीर को पूछकर घर चला जाऊंगा।'

इस मानसिक दुविधा के जाल में फंसे हुए मुनि मेघकुमार की रात बहुत लंबी हो गयी। ज्यों-त्यों रात बीती। सूर्योदय हुआ। मुनि मेघकुमार भगवान् के पास आया, वंदना-नमस्कार कर मौन होकर बैठ गया।

भगवान् ने उसकी मनःस्थिति को ताड़ते हुए कहा—'मेघ! तुम रात्रि के इन स्वल्प कष्टों से विचलित होकर घर जाने की तैयार कर रहे हो?'

मुनि मेघ ने कहा—'भंते! आप यथार्थ कह रहे हैं। मेरा मन विचलित हो गया है।'

भगवान् अतीन्द्रिय-द्रष्टा थे। वे सब-कुछ जानते थे—जो घटित हो चुका है, घटित हो रहा है और घटित होगा। उनका ज्ञान निरावरण था; कालातीत और क्षेत्रातीत था। मेघकुमार को पूर्वभव का वृत्तांत बताते हुए भगवान् बोले—'मेघ! सुनो, मैं तुम्हार पूर्वभव का वृत्तांत बता रहा हूं। आज के इस राजकुमार के भव से तीन जन्म पूर्व तुम वैताढ्य पर्वत की तलहटी के सघन जंगल में हाथी थे। तुम्हारा नाम 'सुमेरुप्रभ' था। तुम यूथपति थे। तुम्हारे परिवार में अनेक हाथी और अनेक हथिनियां थीं। तुम आनंदपूर्वक अपने दिन बिता रहे थे। सर्वत्र तुम निर्भयता से घूमते थे। एक बार ग्रीष्म ऋतु का समय था। जेठ का महीना। चिलचिलाती धूप। वेगवान तूफान। वृक्षों के संघट्टन से जंगल में दावानल सुलग गया। चारों ओर पशु दौड़-धूप करने लगे। तुम उस समय बूढ़े हो गये थे। तुम्हारा शरीर जर्जरित था। बल क्षीण हो चुका था। सारा यूथ इधर-उधर बिखर गया। तुम अकेले रह गए। प्यास के कारण पानी की खोज में जा रहे थे। एक सरोवर देखा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसमें पानी कम और कीचड़ अधिक था। तुम पानी पीने की तृष्णा से उसमें घुसे और कीचड़ में धंस गए। उस समय एक युवा हाथी ने तुम्हें देखा। उसको पूर्व वैर की स्मृति हो आयी। वह क्रोध से अरुण होकर चीत्कार करता हुआ तुम्हारे पास आया और अपने दंत-मूसल से तुम पर प्रहार करने लगा। तुम शक्तिहीन थे। प्रतिरोध नहीं कर सके। तुम्हें मरणासन्न कर वह युवा हाथी बहुत प्रसन्न हुआ। वैर का प्रतिशोध ले सकने की प्रसन्नता से वह फूला नहीं समाया। चिंतातुर अवस्था में तुम्हारी मृत्यु हो गयी। वहां से तुम विंध्याचल पर्वत की तलहटी में गंगा नदी के दक्षिण तट पर फिर हाथी के रूप में उत्पन्न हुए। तुम युवा हुए। हस्तियूथ के स्वामी बने। तुम्हारा यूथ बहुत विशाल था। एक बार तुमने दावाग्नि को देखा। मन एकाग्र हुआ। पूर्व की स्मृति हो आयी। दावाग्नि से उत्पन्न कष्ट साक्षात् हो गए। तुमने अपनी सुरक्षा के लिए एक योजन भूमि को समतल बनाया जिससे कि दावानल की आपत्ति से बचा जा सके। एक बार अचानक वन में आग लगी। सभी वन्य-पशु भयभीत होकर जीवन की सुरक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ने लगे। तुम भी अपने परिवार के साथ सुरक्षित मंडल में आ गए। और भी अनेक वन्य-पशु वहां पहुंच गए थे। वहां अग्नि का भय नहीं था, क्योंकि वहां घास-फूस, वृक्ष-लताएं थीं ही नहीं। सारा समतल मैदान था। तुमने शरीर को खुजलाने के लिए अपना एक पैर उठाया। शरीर को खुजलाकर तुमने अपना पैर नीचे रखना चाहा। तुमने देखा कि पैर के उस भू-भाग पर एक खरगोश प्राण-रक्षा के लिए बैठा है। पैर रखने पर वह मर न जाये, इस आशंका से तुमने अपने एक पैर को अधर आकाश में लटकाये रखा। एक दिन बीता। दो दिन बीते। अभी भी दावानल सुलग रहा था। तीसरे दिन का पूर्वाह्न भी बीत गया। अब आग शांत हुई। सब पशु अपने-अपने सुरक्षित स्थान को लौट गए। तुम्हारा हस्ति-परिवार भी चला गया। वह खरगोश भी भाग गया। तुमने पैर नीचे रखना चाहा। पैर अकड़ गया था। वह नीचे नहीं सरका। तुम्हारा भारी-भरकम शरीर लड़खड़ा गया। तीन दिन के भूखे-प्यासे और तीन पैरों पर इतने लंबे समय तक खड़े रहने के कारण तुम्हारी शक्ति क्षीण हो गयी थी। तुम धड़ाम से नीचे गिर पड़े। उस समय तुम्हारा आयुष्य सौ वर्ष का था। तुम्हारी तत्काल मृत्यु हो गयी। वहां से तुम श्रेणिक के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए।

पशु की उस योनि में तुम सम्यक् दर्शन से समन्वित नहीं थे, फिर भी तुमने उस विकराल और असामान्य वेदना को समभावपूर्वक सहा। उस

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अपूर्व तितिक्षा से ही तुम्हें मनुष्य-जन्म मिला है। आज तुम सम्यक्-दर्शन संपन्न मुनि हो। आज एक रात के इन तुच्छ शारीरिक कष्टों से विचलित हो गए? तुम इतने अधीर हो गए? घर जाने की मनःस्थिति बना ली? तुम अपने पूर्व-जन्म की स्मृति करो और देखो कि उन कष्टों की तुलना में ये क्या कष्ट हैं? कहां मेरु कहां राई?

मेघ का सोया हुआ चैतन्य जाग गया। उसके मन में एक नयी सिहरन दौड़ गयी। चित्त एकाग्र हो गया। पूर्वजन्म की स्मृति ताजा हुई और उसके सामने चलचित्र की भांति अतीत का सारा दृश्य आने लगा। उसने पूरी घटना का साक्षात्कार किया। भगवान् महावीर ने जैसा कहा, वैसा अक्षरशः सामने आ गया।

पूर्वजन्म की घटना को साक्षात् कर वह गद्‌गद हो उठा। उसका संवेग दुगुना हो गया। आंखों से आनंद के आंसू टपकने लगे। हृदय हर्षान्वित हो उठा। सारा शरीर रोमांचित हो गया। वह तत्काल भगवान् को वंदना-नमस्कार कर बोला—'भगवन्! आज से दो आंखें मेरी अपनी रहेंगी, शेष सारा शरीर इन निग्रंथों के लिए समर्पित रहेगा। भंते! आपने मुझे पुनः संयम में स्थिर किया है। आप मुझे पुनः संयम जीवन दें और कृतार्थ करें।'

भगवान् ने उसे पुनः संयम में आरूढ़ किया।

अब निर्ग्रंथ मेघ मुनिचर्या का अप्रमत्तभाव से पालन करता हुआ विहरण करने लगा। उसने पांच समितियों और तीन गुप्तियों को जीवनगत कर लिया। सारी लेश्याएं आत्माभिमुख कर वह जनपद-विहार करने लगा। संवेग वृद्धिंगत होता गया। उसने अपने आपको संयम के लिए समर्पित कर तपोयोग की साधना में लीन कर डाला। भगवान् महावीर की अनुज्ञा प्राप्त कर उसने भिक्षु की बारह प्रतिमाओं की एक-एक कर आराधना की। 'गुणरत्न संवत्सर' नामक तपायोग से आत्मा को भावित करता हुआ वह एक बार राजगृह नगर में आया। वहां गुणशील नामक उद्यान में ठहरा। रात्रि में वह धर्मजागरिका कर रहा था। उसके मन में एक विकल्प उठा—'मेरा तपोयोग सानंद चल रहा है। मेरा सारा शरीर तपस्या से कृश हो चुका है। मुझमें अभी भी शक्ति अवशिष्ट है। जब तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम विद्यमान है, तब तक मुझे संयम में विशेष पराक्रम करना है। प्रातःकाल होते ही मैं भगवान् महावीर से अनुज्ञा प्राप्त कर, गणधर, गौतम आदि श्रमणों तथा श्रमणियों से क्षमायाचना कर विपुल पर्वत पर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

धीरे-धीरे आरोहण कर, वहां पृथ्वी शिलापट्ट पर प्रायोपगमनअनशन स्वीकार कर लूंगा।'

प्रातःकाल हुआ। वह भगवान् महावीर के पास आया। वंदना-नमस्कार कर, हाथ जोड़ एक ओर मौन रूप से उपासना में बैठ गया। भगवान् ने उसके मन की बात अभिव्यक्त करते हुए कहा–'मेघ! जो तुमने सोचा है, वैसा करना ही श्रेयस्कर है। विलंब मत करो।' मेघ ने अनशन स्वीकार कर लिया। अनेक निर्ग्रंथ अग्लानभाव से उसकी परिचर्या करने लगे।

मुनि मेघ ग्यारह अंग पढ़ चुका था। उसके संयम-पर्याय का बारहवां वर्ष पूरा हो रहा था। एक मास का अनशन पूरा कर मुनि मेघकुमार मृत्यु को प्राप्त हो गया। परिचर्या में नियुक्त श्रमण उसके भंडोपकरण लेकर भगवान् के पास आये और बोले–'भंते! ये भंडोपकरण अनगार मेघ के हैं। भंते! मेघ यहां से मरकर कहां उत्पन्न हुआ है? भगवान् ने कहा–'वह यहां से मरकर 'विजय' नामक महाविमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। उसका आयुष्य तेतीस सागर का है। आयुष्य पूरा होने पर वह महाविदेह में उत्पन्न होगा और वहां समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जायेगा।'

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय-१

# आमुख

भगवान् महावीर राजगृह में पधारे। परिषद् वंदना के लिए गई। भगवान् ने प्रवचन किया। सबने सुना। सम्राट् श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार समवसरण में उपस्थित था। उसने केवल सुना नहीं, प्रवचन को हृदयंगम कर लिया। उसके अंतर्मन में वैराग्य का अंकुर फूट पड़ा। माता-पिता से अनुमति प्राप्त की और भगवान् के पास दीक्षित हुआ। श्रमण बना। दीक्षा की प्रथम रात्रि में जो कुछ बीता, उससे वह विचलित हो गया। उस विचलन को मिटाने के लिए भगवान् ने अतीन्द्रिय शैली का प्रयोग किया। उसे पूर्वजन्म की स्मृति का गुर दे दिया। ऐसे प्रसंगों में भगवान् इस शैली का बहुत उपयोग करते थे। वह शैली इस प्रसंग में भी बहुत सार्थक हुई। मेघकुमार की संबोधि दृढ़ हो गई। आदिनाथ भगवान् ऋषभ ने अपने अट्ठनवें पुत्रों को संबोधि का उपदेश दिया था–

संबुज्झह किं न बुज्झह
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

वे संबुद्ध हो गए। मेघकुमार की घटना उसी संबोधि की पुनरावृत्ति जैसी प्रतीत हो रही है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

## स्थिरीकरण

१. ऐं ॐ स्वर्भूर्भुवस्त्रय्यास्त्राता तीर्थंकरो महान्।
वर्धमानो वर्धमानो, ज्ञान-दर्शन-सम्पदा॥

२. अहिंसामाचरन् धर्मं, सहमानः परीषहान्।
वीर इत्याख्यया ख्यातः, परान् सत्त्वानपीडयन्॥

३. अहिंसातीर्थमास्थाप्य, तारयन् जनमण्डलम्।
चरन् ग्राममनुग्रामं, राजगृहमुपेयिवान्॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

त्रिलोकी (स्वर्ग, भूमि और रसातल) के त्राता महान् तीर्थंकर वर्धमान अहिंसातीर्थ की स्थापना कर जन-जन को तारते हुए, एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए, राजगृह में आए। वे ज्ञान और दर्शन की सम्पदा से वर्धमान हो रहे थे। उनका आचार था अहिंसा धर्म। वे किसी भी प्राणी को पीडित नहीं करते थे और अहिंसा की अनुपालना के लिए परीषहों को सहन करते थे, इसलिए वे वीर (महावीर) नाम से प्रख्यात हुए।

ऐं ओं—ये बीजाक्षर हैं, विद्या और आत्म-ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा भी आज अक्षरों की शक्ति सिद्ध है। अक्षरों के पुनः-पुनः उच्चारण से उठने वाली तरंगों से मानस अप्रत्याशित रूप से प्रभावित होता है।

**तीर्थंकर**—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका—इस चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने वाले धर्म-संस्थापक, धर्म-प्रचारक और आगामों के उपदेष्टा तीर्थंकर कहलाते हैं।

**वर्धमान**—यह महावीर का जन्मकालीन नाम है। भगवान् जब गर्भ में आए, तब सब प्रकार से ऋद्धि की वृद्धि होती गई। अतः एव वे वर्धमान कहलाए।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**वीर**—यह भगवान् महावीर की अनन्त आत्म-शक्ति का द्योतक है। देवकृत, मनुष्यकृत और पशुकृत कष्टों में वे सदा पर्वत की भांति अटल रहे। उन्होंने अहिंसा पर कहीं भी आंच नहीं आने दी। इसलिए वे वीर और महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए। संबोधि के व्याख्याता भगवान् महावीर ही हैं।

**चरन् ग्राममनुग्रामम्**—एक गांव से दूसरे गांव की ओर विहार करते हुए—यह साधु जीवन की चर्या का प्रतीक है। मुनि पादचारी और अनियतवासी होते हैं। वे वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान में रहते हैं और शेष आठ महीनों में सदा विहार रहते हैं।

**राजगृह**—यह मगध देश की राजधानी थी। इसकी गणना दस प्रमुख राजधानियों में की जाती थी। वर्तमान बिहार में स्थित राजगिर नाम से प्रसिद्ध स्थान प्राचीन काल का राजगृह है।

यह भगवान् महावीर का प्रमुख विहार-स्थल था। यहां भगवान् ने चौदह चतुर्मास बिताए थे। एक बार भगवान् महावीर अपने श्वेत संघ के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यहां आए।

**४. नानासंतापसंतप्ताः, तापोन्मूलनतत्पराः।**
**तमाजग्मुर्जना भूयः, सुचिरां शांतिमिच्छवः॥**

**जो विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक सन्तापों से संतप्त थे किंतु उनका उन्मूलन करना चाहते थे और जो चिरशांति के इच्छुक थे, वे लोग बार-बार भगवान् के पास आए।**

दुःख के तीन रूप हैं : शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख और आध्यात्मिक दुःख। शारीरिक और मानसिक दुःखों से कोई भी व्यक्ति अपरिचित नहीं है। जीवन के साथ ये गहरे संयुक्त हैं। मन शरीर का सूक्ष्म तत्त्व है। उसकी रुग्णता शरीर पर उतरती है। अधिकांश बीमारियां मानसिक होती हैं, ऐसा आधुनिक मनो-विश्लेषक स्वीकार करते हैं। मन की स्वस्थता अत्यंत अपेक्षित है। मन में जैसे ही बीमारी का भाव उठता है, शरीर उसे तत्काल स्वीकार कर लेता है। किन्तु साधक के लिए शरीर और मन ही सब कुछ नहीं है। वह और भीतर गहराई में उतरकर उसके कारणों की खोज करता है तब उसे दिखाई देता है कि दुःखों का कारण है—कार्मण शरीर जो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा के साथ अनादिकालीन है। क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, राग, द्वेष, मोह, लोभ आदि समस्त वृत्तियों का वह मूल-केन्द्र है। साधक उसे पकड़ता है और उससे मुक्त होने की दिशा में प्रयत्नशील होता है।

भगवान् कुशल चिकित्सक थे। उनकी दृष्टि में शारीरिक और मानसिक दुःख की जड़ आध्यात्मिक दुःख था। वे चाहते थे दुःख का मूलोच्छेद करना। उनके मार्गदर्शन से लाखों व्यक्ति दुःख से मुक्त हुए। आध्यात्मिक दुःख के उन्मूलन से शारीरिक और मानसिक दुःखों का भी उन्मूलन हुआ। वे मुक्त बने। इसलिए भगवान् जहां जाते, वहीं लोगों का तांता बंध जाता। राजगृह की जनता भी दुःख-मुक्ति के लिए भगवान् के चरणों में उपस्थित हुई।

**५. श्रेणिकस्यात्मजो मेघो, भव्यात्माल्परजोमलः।**
**श्रुत्वा भगवतो भाषां, विरक्तो दीक्षितः क्रमात्॥**

**महाराज श्रेणिक का पुत्र 'मेघ' भगवान् के पास आया। उसके कर्म और आश्रव स्वल्प थे। वह भव्य 'मोक्षगामी' था। उसने भगवान् की वाणी सुनी, विरक्त हुआ और अपने माता-पिता की स्वीकृति पाकर दीक्षित हो गया।**

**६. कठोरो भूतलस्पर्शः, स्थानं निर्ग्रन्थसंकुलम्।**
**मध्येमार्गं शयानस्य, विक्षेपं निन्यतुर्मनः॥**

**पहली रात की घटना है। तीन बातों ने उसके मन को चंचल बना दिया—**

**पहली बात—भूमि का स्पर्श कठोर था।**

**दूसरी बात—उस स्थान में बहुत बड़ी संख्या में निर्ग्रंथ थे।**

**तीसरी बात—वह मार्ग के बीच में सो रहा था। आते-जाते हुए निर्ग्रंथों के स्पर्श से उसकी नींद में बाधा पड़ रही थी।**

**७. त्रियामा शतयामाऽभूत्, नानासंकल्पशालिनः।**
**निस्पृहत्वं मुनीनां तं, प्रतिक्षणमपीडयत्॥**

**उसके मन में भांति-भांति के संकल्प उत्पन्न होने लगे। उसके लिए वह त्रियामा—तीन प्रहर की रात शतयामा—सौ प्रहर जितनी हो गई। विशेषतः साधुओं का निस्पृह-भाव उसे प्रतिक्षण अखरने लगा।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मेघ के लिए प्रव्रज्या का पथ बिलकुल नया था। उसकी दृष्टि अभी तक बाहर से पूर्णतया हटी नहीं थी। बाह्य असुविधाएं खड़ी होते ही वह विचलित हो उठा। 'दुःख-सुख का कारण मैं स्वयं हूं, और कोई नहीं'—यह शाश्वत स्वर स्मृति से ओझल हो चला। दूसरों की उपेक्षा उसे खलने लगी।

८. चिरं प्रतीक्षितो रश्मिः, रवेरुदयमासदत्।
महावीरस्य सान्निध्यमभजत् सोऽपि चञ्चलः॥

चिर प्रतीक्षित सूर्य की पहली किरण प्रकट हुई। वह अस्थिर विचारों को लेकर भगवान् महावीर के पास पहुंचा।

९. विधाय वन्दनां नम्रः, विदधत् पर्युपासनाम्।
विनयावनतस्तस्थौ, विवक्षुरपि मौनभाक्॥

वह विनयावनत हो भगवान् को वंदना कर उनकी पर्युपासना में बैठ गया। वह बोलना चाहता था, फिर भी संकोचवश मौन रहा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

१०. कोमलं भगवान् प्राह, मेघ! वैराग्यवानपि।
इयता स्वल्पकष्टेन, कातरस्त्वमियानभूः॥

भगवान् ने कोमल स्वर में कहा—मेघ! तू विरक्त होते हुए भी इतने थोड़े से कष्ट से इतना अधीर हो गया?

११. पश्य स्तिमितया दृष्ट्या, कष्टं तत्पौर्वदेहिकम्।
असम्यक्त्वदशायाञ्च, वत्स! सोढं त्वया हि यत्॥

वत्स! तू अपने मन को एकाग्र बना और स्थिर-शांत दृष्टि से अपने पूर्वजन्म के कष्ट को देख। उस समय तू सम्यक्-दृष्टि नहीं था, फिर भी तूने अपार कष्ट सहा था।

असम्यक्त्व-दशा ऐसी है जिस में शरीर और चेतना की भेद-बुद्धि अभिव्यक्त नहीं होती।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

'मैं शरीर हूं' यह अनंत जन्मों का गहरा संस्कार है। प्राणी इससे जकड़ा हुआ है। जब तक व्यक्ति इस संस्कार से मुक्त नहीं होता तब तक सत्य का दर्शन कठिन है। 'मैं शरीर नहीं, आत्मा हूं'– इसकी अनुभूति से उस संस्कार की नामशेषता स्वतः ही हो जाती है या इस नए संस्कार का निर्माण कर पुराने संस्कार की व्यर्थता का बोध कर लिया जाता है।

मेघः प्राह

१२. कथं मयाऽथ किं कष्टं, स्वीकृतं ब्रूहि तत् प्रभो!
न स्मरामि न जानामीत्यस्मि बोद्धुं समुत्सुकः॥

मेघ बोला–प्रभो! मैंने क्या कष्ट सहा और कैसे सहा? वह न मुझे याद है और न मैं उसे जानता ही हूं। प्रभो! मैं उसे जानने को उत्सुक हूं। आप मुझे बताएं।

भगवान् प्राह

१३. भगवान् प्राह सत्योद्यं, घटना पौर्वदेहिकी।
जातिस्मृतिं विना वत्स! बोद्धुं शक्या न जन्तुभिः॥

भगवान् ने कहा–वत्स! तू सच कहता है। जातिस्मृति ज्ञान (वह ज्ञान जिससे पूर्वजन्म की स्मृति हो सके) के बिना कोई भी प्राणी पूर्वजन्म की घटना जान नहीं सकता।

१४. ईहापोहं तथैकाग्र्यं, विना सा नैव जायते।
संस्काराः सञ्चिता गूढाः, प्रादुःस्युर्यत् प्रयत्नतः॥

ईहा (वितर्क), अपोह (निश्चय) और मन की एकाग्रता के बिना जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। जो संस्कार गहरे में संचित होते हैं, वे गहन प्रयत्न से ही प्रकट होते हैं।

जातिस्मृति-ज्ञान का अर्थ है–अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान। यहां 'जाति' शब्द का अर्थ जन्म है। यह जैन दर्शन द्वारा सम्मत पांच ज्ञानों के अंतर्गत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मतिज्ञान में समाविष्ट होता है। यह प्रत्येक प्राणी को नहीं होता। जो व्यक्ति मन को अत्यंत एकाग्र कर वस्तु की तह तक पहुंचता है, उसे ही यह प्राप्त होता है। सर्वप्रथम किसी एक दृश्य, घटना, व्यक्ति या वस्तु को देखकर दर्शक के मन में ईहा उत्पन्न होती है। उसका मन आंदोलित हो उठता है कि यह क्या है? क्यों है? कैसे है? मेरा इससे क्या संबंध है? आदि आदि तर्क उसके मन में उत्पन्न होते हैं और वह एक-एक कर सबको समाहित करता हुआ और गहराई में जाता है। अब वह अपोह–निर्णय की स्थिति पर पहुंचता है। फिर वह मार्गणा और गवेषणा करता है–उसी विषय की अंतिम गहराई तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। उसके तर्क प्रबल होते जाते हैं और जब वह उस वस्तु में अत्यंत एकाग्र बन जाता है, तब उसे पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त होता है और उस जन्म की सारी घटनाएं एक-एक कर सामने आने लगती हैं। जैन दर्शन में इसे जातिस्मृति-ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान के बल से व्यक्ति अपने नौ पूर्वजन्मों को जान जाता है।

जाति-स्मरण के और भी अनेक कारण हैं–मन और बुद्धि की निर्मलता, शास्त्र-बोध, धार्मिक विचार, ऋजुता, पूर्वजन्म में संसेवित विषयों का श्रवण और दर्शन, स्वप्न, आश्चर्य और तत्सदृश अनुमान आदि। मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? आदि सूत्रों के मनन और ध्यान से भी जाति-स्मरण की प्राप्ति होती है। ध्यान की गहराई में जब व्यक्ति मननपूर्वक पीछे लौटता है तो स्वयं के पूर्वजन्म को देख लेता है।

**१५. मेरुप्रभाऽभिदो हस्ती, त्वमासीः पूर्वजन्मनि।**
**विन्ध्यस्योपत्यकाचारी, विहारी स्वेच्छया वने॥**

**मेघ! तू पूर्वजन्म में 'मेरुप्रभ' नाम का हाथी था। तू विन्ध्य पर्वत की तलहटी के वन में स्वच्छन्दता से विहार करता था।**

**१६. व्यधा भयाद् वनवह्नेः, मण्डलं योजनप्रमम्।**
**लब्धपूर्वानुभूतिस्त्वं, दीर्घकालिकसंज्ञितः॥**

**उस समय तू समनस्क था। तुझे पूर्वजन्म की स्मृति हुई। तूने दावानल से बचने के लिए चार कोस का स्थल बनाया।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१७. घासा उत्पाटिताः सर्वे, लता वृक्षाश्च गुल्मकाः।
अकारीभैः सप्तशतैः, स्थलं हस्ततलोपमम्॥

तूने सात सौ हाथियों का सहयोग पाकर सब घास, लता, पेड़ और पौधे उखाड़ डाले और उस स्थल को हथेली के तल जैसा साफ बना दिया।

१८. एकदा वह्निरुद्भूत, आरण्या पशवस्तदा।
निर्वैराः प्राविशंस्तत्र, हिंस्रास्तदितरे तथा॥

एक बार वहां दावानल सुलगा। उस समय जंगल के हिंस्र और अहिंस्र—सभी पशु आपस में वैर भूलकर उस स्थल में घुस आए।

१९. यथैकस्मिन् बिले शान्ता, निवसन्ति पिपीलिकाः।
अवात्सुः सकलास्तत्र, तथा वह्नेर्भयद्रुताः॥

जैसे एक ही बिल में चींटियां शांतभाव से रहती हैं, वैसे ही दावानल से डरे हुए पशु शांतरूप से उस स्थल में रहने लगे।

२०. मण्डलं स्वल्पकालेन, जातं जन्तुसमाकुलम्।
वितस्तिमात्रमप्यासीत्, न स्थानं रिक्तमद्भुतम्॥

थोड़े समय में वह स्थल वन्य पशुओं से खचाखच भर गया। यह आश्चर्य था कि वहां वितस्ति जितना भी स्थान खाली नहीं रहा।

२१. विधातुं गात्रकण्डूतिं, त्वया पाद उदञ्चितः।
स्थानं रिक्तं समालोक्य, शशकस्तत्र संस्थितः॥

तूने अपने शरीर को खुजलाने के लिए एक पांव को ऊंचा किया। तेरे उस पांव के स्थान को खाली देखकर एक खरगोश वहां आ बैठा।

२२. कृत्वा कण्डूयनं पादं, दधता भूतले पुनः।
शशको निम्नगोऽलोकि, त्वया तत्त्वं विजानता॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२३. तदानुकम्पिना तत्र, न हतः स्यादसौ मया।
इति चिन्तयता पादः, त्वया संधारितोऽन्तरा॥
(युग्मम्)

खुजलाने के बाद जब तू पांव नीचे रखने लगा तब तूने वहां पांव से खाली हुए स्थान में खरगोश को बैठा देखा। तू तत्त्व को जानता था।

तेरे चित्त में अनुकंपा—अहिंसा का भाव जागा। 'खरगोश मेरे पैर से कुचला न जाए'—यह सोच तूने पांव को बीच में ही थाम लिया।

२४. शुभेनाध्यवसायेन, लेश्यया च विशुद्धया।
संसारः स्वल्पतां नीतो, मनुष्यायुस्त्वयार्जितम्॥

शुभ अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या (भाव) से तूने संसार-भ्रमण—जन्म-मरण की संख्या को परिमित कर दिया और मनुष्य के आयुष्य का अर्जन किया।

२५. सार्द्धद्वयदिनेनाऽथ, दवः स्वयं शमं गतः।
निर्धूमं जातमाकाशं, अभया जन्तवोऽभवन्॥

ढाई दिन के बाद दावानल अपने आप शांत हुआ। आकाश निर्धूम हो गया और वे वन्य-पशु निर्भय हो गए।

२६. स्वच्छन्दं गहने शान्ते, विजहुः पशवस्तदा।
पलायितः शशकोऽपि, रिक्तं स्थानं त्वयेक्षितम्॥

तब वन्य-पशु उस शांत जंगल में स्वतंत्रतापूर्वक घूमने-फिरने लगे। वह खरगोश भी वहां से चला गया। पीछे तूने वह स्थान खाली देखा।

२७. पादं न्यस्तुं पुनर्भूमौ, सार्द्धद्वयदिनान्तरम्।
स्तम्भीभूतं जडीभूतं, त्वया प्रयतितं तदा॥

ढाई दिन के पश्चात् तूने उस खंभे की तरह अकड़े हुए निष्क्रिय पांव को पुनः भूमि पर रखने का प्रयत्न किया।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२८. स्थूलकायः क्षुधाक्षामः, जरसा जीर्णविग्रहः।
पादन्यासे न शक्तोऽभूः, भूतले पतितः स्वयम्॥

तेरा शरीर भारी-भरकम था। तू भूख से दुर्बल और बुढापे से जर्जरित था। इसलिए तू पैर को फिर से नीचे रखने में समर्थ नहीं हो सका। तू लड़खड़ाकर भूमि पर गिर पड़ा।

२९. विपुला वेदनोदीर्णा, घोरा घोरतमोज्ज्वला।
सहित्वा समवृत्तिस्तां, तत्र यावद् दिनत्रयम्॥

उस समय तुझे विपुल, घोर, घोरतम और उज्ज्वल वेदना हुई। तीन दिन तक तूने उसे समभावपूर्वक सहन किया।

३०. आयुरन्ते पूरयित्वा, जातस्त्वं श्रेणिकाङ्गजः।
अहिंसा साधिता सत्त्वे, कष्टे च समता श्रिता॥

तूने जीवों के प्रति अहिंसा की साधना की और कष्ट में समभाव रखा। अंत में आयुष्य पूरा कर तू श्रेणिक राजा का पुत्र हुआ।

इस श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण बातें दी गयी हैं—प्राणियों के प्रति अहिंसा का बर्ताव और कष्ट में समभाव। अहिंसक व्यक्ति के ये दो गुण सहज हैं। वह किसी भी प्राणी का उत्पीड़न नहीं करता, दुःख नहीं देता और न उन पर अनुशासन ही करता है। जिसके मन में आत्मौपम्य की भावना का विकास होता है, वही व्यक्ति दूसरों के उत्पीड़न आदि से बच सकता है। दूसरे को अपने तुल्य माने बिना अहिंसा का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

दूसरी बात है—कष्टों में समभाव रहना। यह हर एक के लिए साध्य नहीं है। जो अहिंसक और अभय होता है, जो आत्मलीन होता है, जो कष्ट को साधना की कसौटी मानता है, वह समता का आचरण कर सकता है। जिसके मन में द्वन्द्वों—राग-द्वेष, मान-अपमान, सुख-दुःख के प्रति हर्ष और विषाद का भाव होता है, वह समता का आचरण नहीं कर सकता।

३१. अवशा वेदयन्त्येके, कष्टमर्जितमात्मना।
विलपन्तो विषीदन्तः, समभावः सुदुर्लभः॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कुछ व्यक्ति पहले कष्ट–कर्म का अर्जन करते हैं फिर उसे विवश होकर भुगतते हैं। उसके वेदन-काल में विलाप और विषाद करते हैं क्योंकि समभाव हर किसी के लिए सुलभ नहीं है।

३२. उदीर्णां वेदनां यश्च, सहते समभावतः।
निर्जरां कुरुते कामं, देहे दुःखं महाफलम्॥

जो व्यक्ति कर्म के उदय से उत्पन्न वेदना समभाव से सहन करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है क्योंकि शरीर में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान् फल का हेतु है।

सुख और दुःख आत्मा की कर्म-जन्य अवस्थाएं हैं। ये वैभाविक हैं। शुद्ध आत्मा में ये नहीं होतीं। शरीर भी विकृति है। सुख और दुःख देह में उत्पन्न होते हैं। सुख सदा प्रिय है, दुःख सदा अप्रिय। सुख में हर्ष होता है और दुःख में विषाद, यह विषमता है। राग और द्वेष असंतुलित अवस्था में होते हैं। ये आत्मा के लिए बंधन हैं। समत्व मुक्ति है, निर्जरा है, आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता है। इसलिए इस पर बल दिया है कि शरीर में आने वाले सुख और दुःख दोनों को समभाव से सहन करो। यह महान् फल का हेतु है।

३३. असम्यक्त्वी तदा कष्टे, नाऽभवो वत्स! कातरः।
सम्यक्त्वी संयमीदानीं, क्लीवोऽभूः स्वल्पवेदने॥

वत्स! उस समय हाथी के भव में तू सम्यक्दृष्टि नहीं था, फिर भी कष्ट में कायर नहीं बना। इस समय तू सम्यक्दृष्टि और संयमी है फिर भी इतने थोड़े कष्ट में क्लीव–सत्त्वहीन बन गया?

३४. मुनीनां कायसंस्पर्शप्रमिलानाशमात्रतः।
अधीरो मामुपेतोसि, सद्यो गन्तुं पुनर्गृहम्॥

साधुओं के शरीर का स्पर्श होने से रात को तेरी नींद नष्ट हो गई। इतने मात्र से तू अधीर होकर घर लौट जाने के लिए सहसा मेरे पास आया है!

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३५. नाहं गन्तुं समर्थोस्मि, मुक्तिमार्गं सुदुश्चरम्।
यत्र कष्टानि सह्यानि, नानारूपाणि सन्ततम्॥

३६. सर्वे स्वार्थवशा एते, मुनयोऽन्यं न जानते।
भीमः सुदुश्चरो घोरो, निर्ग्रन्थानां तपोविधिः॥

३७. युक्तोऽयं किमभिप्रायः, मोहमूलं विजानतः?
देहे मुग्धा जना लोके, नानाकष्टेषु शेरते॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

तूने सोचा–मुक्ति का मार्ग सुदुश्चर है। उस पर चलने वाले को निरंतर नाना प्रकार के कष्ट सहन करने होते हैं। मैं उस पर चलने में समर्थ नहीं हूं।

ये सब साधु स्वार्थी हैं, दूसरे की चिंता नहीं करते। निर्ग्रंथों की तपस्या करने की विधि बड़ी भयंकर, सुदुश्चर और घोर है।

मोह के मूल को जानने वाले के लिए क्या ऐसा सोचना उचित है? क्या तू नहीं जानता कि शरीर में आसक्ति रखने वाले लोग नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं?

३८. युक्तं नैतत् तवायुष्मन्! तत्त्वं वेत्सि हिताहितम्।
पूर्वजन्मस्थितिं स्मृत्वा, निश्चलं कुरु मानसम्॥

आयुष्मन्! तेरे लिए ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्या हित है और क्या अहित–इस तत्त्व को तू जानता है। तू पिछले जन्म की घटना को याद करके अपने मन को निश्चल बना।

मेघः प्राह

३९. हन्त! हन्त! समर्थोऽयं, अर्थो यश्च त्वयोदितः।
मदीयो मानसो भावो, बुद्धो बुद्धेन सर्वथा॥

मेघ बोला–भगवन्! आपने जो कुछ कहा, वह बिलकुल सही है। आपने मेरे मन के सारे भाव जान लिये।

४०. ईहापोहं मार्गणाञ्च, गवेषणाञ्च कुर्वता।
तेन जातिस्मृतिर्लब्धा, पूर्वजन्म विलोकितम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से मेघ को पूर्वजन्म की स्मृति हुई और उसने अपना पिछला जन्म देखा।**

**४१. त्वदीया देशना सत्या, दृष्टा पूर्वस्थितिर्मया।**
**सन्देहानां विनोदाय, जिज्ञासामि च किञ्चन॥**

**मेघ बोला—भगवन्! आपका कथन सत्य है। मैंने पूर्वभव की घटनाएं देख लीं। मेरे मन में कुछ संदेह हैं। उन्हें दूर करने के लिए आपसे कुछ जानना चाहता हूं।**

मेघ का मन आलोक से भर गया। उसके पूर्वजन्म उसकी आंखों के सामने नाचने लगे। वह विस्मित-सा देखने लगा। 'मैं कहां चला गया? प्रभो! मैं जगकर भी सोने जा रहा था। आपने मुझे बोध देकर पुनः जागृत कर दिया। मेरे विषम मन में प्रसन्नता की लहर दौड़ चली। आप मार्ग-द्रष्टा हैं, जीवन-स्रष्टा और जीवन-निर्माता हैं।'

'अब मैं चाहता हूं तत्त्व-ज्ञान जिससे मेरा मन सदा संतुलित रहे, उतार-चढ़ाव की परेशानियों से उद्वेलित न हो। आप मेरी जिज्ञासा को शांत करें, मेरे संशय मिटाएं और मुझे अनंतशक्ति का साक्षात् कराएं।'

संशय सत्य के निकट पहुंचने का द्वार है। लेकिन वह अज्ञान और अश्रद्धा से समन्वित नहीं होना चाहिए। **'न हि संशयमनारुह्य, नरो भद्राणि पश्यति'** संशय पर आरूढ़ होने वाला व्यक्ति कल्याण को देख सकता है। गणधर गौतम के लिए 'जायसंसए, जायकोउहल्ले' प्रयुक्त विशेषण इसी के द्योतक हैं।

यह संशय ज्ञान की अनिर्णायकता का सूचक नहीं है। इसमें जिज्ञासा है। जहां जिज्ञासा है, वहां सत्य का दर्शन होता है।

संदेह ज्ञान की अनिर्णायकता का सूचक है। संदेह होने पर व्यक्ति जो है उससे अन्यथा ही मानता है। जहां संदेह है वहां सत्य की उपलब्धि नहीं होती। संशय और संदेह में यही अंतर है।

**४२. द्विगुणानीतसंवेगः, नीतः पूर्वभवस्मृतिम्।**
**आनन्दाश्रुप्रपूर्णास्यः, हर्षप्रफुल्लमानसः॥**

**भगवान् ने मेघ को पूर्वजन्म की स्मृति दिलाकर उसके संवेग—मोक्षाभिलाषा को द्विगुणित कर दिया। मेघकुमार का मुख आनन्दाश्रुओं से आप्लावित हो गया। उसका मन हर्षोत्फुल्ल हो गया।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**४३. उवाच मेघो देवार्य! मुक्त्वा द्वे चक्षुषी समः।**
**कायो निर्ग्रन्थसेवायां, अर्पयामि यथोचितम्॥**

**मेघ बोला–इन दो चक्षुओं को छोड़कर मैं पूरा शरीर निर्ग्रंथों कि सेवा के लिए समर्पित करता हूं। जैसा उचित समझें, वैसी सेवा मुझसे लें।**

**४४. कृतपुण्यः कृतज्ञोस्मि, दिशा मे दर्शिता नवा।**
**दृष्टिर्मे सुस्थिरा भूयाद्, प्रशस्तो मे पथो भवेत्॥**

**वह विनम्र स्वर में बोला–देवार्य! मैं कृतपुण्य हूं, कृतज्ञ हूं। आपने मुझे नई दिशा दिखा दी। मैं चाहता हूं–मेरी दृष्टि सुस्थिर बने और मेरा पथ प्रशस्त रहे।**

जातिस्मृतिज्ञान किसी के लिए वैराग्य का निमित्त वन जाता है और किसी के लिए मोह-संस्कार वर्धन का हेतु भी बन जाता है। उपयुक्त पात्र हो और उपयुक्त संयोग हो तो सहज ही व्यक्ति संवेग को प्राप्त हो जाता है। मेघ को भगवान महावीर का योग मिला और उसकी चेतना ने अध्यात्म की दिशा में अंगड़ाई ले ली। श्रीमद् राजचन्द्र के लिए जातिस्मरण ज्ञान आत्म-विकास का आधार बन गया। उनका चित्त संसार से विमुख हो गया, अज्ञान का आवरण शिथिल हो गया। ऐसा अनेक व्यक्तियों के हुआ है। ऐसे भी अनेक बच्चे देखे गए हैं जिनका ज्ञान मोहवृद्धि के लिए भी बना है। एक परिवार से नहीं दूसरे परिवार के साथ भी ममता बढ़ गई।

मेघ को अपने कृत्य पर पछतावा हुआ, मन में ग्लानि पैदा हुई। भविष्य में सावधान होते हुए उसने कहा–प्रभो! अब इस शरीर के प्रति मेरी कोई आसक्ति नहीं रही है। इस शरीर को जितना मैं धर्म में, सेवा में, सत्कर्म में लगा सकूं वैसा ही संकल्प करना है। अब इस पर मेरा अधिकार नहीं है, यह आपका है, आप इसे जिस किसी भी कार्य में नियोजित करेंगे, मैं तत्पर हूं।

मैं कृतपुण्य हूं, मुझे आपका सुयोग मिला है, जो कृत पुण्य–जिसका कर्म-मन पवित्र होता है वही व्यक्ति कृतज्ञ–उपकार को समझनेवाला हो सकता है। मैं आपके प्रति कृतज्ञ हूं। क्योंकि आपने मुझे दिव्यदृष्टि प्रदान की है, मेरी चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाया है। बस, मुझे आप ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें कि मेरी दृष्टि सदा स्थिर रहे और मेरा पथ सदा प्रशस्त रहे।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**मेघकुमारस्थिरीकरणनामा प्रथमोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय २

# आमुख

सुख क्या है और दुःख क्या है—यह शाश्वत प्रश्न है। मनुष्य पदार्थों के उपभोग में सुख की कामना करता है, वह अवास्तविक है। वास्तविक यह है कि सुख पदार्थों के उपभोग में नहीं, उनके त्याग में है।

मनुष्य प्रियता में सुख और अप्रियता में दुःख की कल्पना करता है। वह प्रियता और अप्रियता को पदार्थों से संबंधित मानता है। यह भ्रम है। प्रियता और अप्रियता पदार्थों में नहीं, मनुष्य के मन में होती है। जिन पदार्थों के प्रति मनुष्य का लगाव है, वहां वह प्रियता की और जहां लगाव नहीं है, वहां अप्रियता की कल्पना करता है। यह सारा दुःख है।

बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति रहते हुए विवेक का द्वार नहीं खुलता। विवेक वहीं जागृत होता है, जहां पदार्थासक्ति नहीं होती। मोह के रहते आसक्ति नहीं छूटती और इसका नाश हुए बिना वास्तविक सुख की अनुभूति नहीं होती।

इस अध्याय में वास्तविक सुख के स्वरूप और साधनों की चर्चा की गई है। साधक पदार्थों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, किन्तु वह पदार्थों के प्रति होनेवाली आसक्ति से मुक्त हो सकता है। यह मुक्ति साधना-सापेक्ष होती है। इस विमुक्त अवस्था का अनुभव ही वास्तविक सुख और आनंद है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# सुख-दुःख मीमांसा

**मेघः प्राह**

१. सुखानि पृष्ठतः कृत्वा, किमर्थं कष्टमुद्वहेत्।
जीवनं स्वल्पमेवैतत्, पुनर्लभ्यं न वाऽथवा॥

**मेघ बोला—सुखों को पीठ दिखाकर कष्ट क्यों सहा जाए, जबकि जीवन की अवधि स्वल्प है और कौन जाने, वह फिर प्राप्त होगा या नहीं?**

दो विचारधाराएं सदा से प्रचलित रही है—अनात्मवादी और आत्मवादी। अनात्मवादी विचारधारा के अनुसार जो कुछ दृश्य है, वही सब कुछ है। उसके आगे-पीछे कुछ भी नहीं है। जीवन दुर्लभ है, अतः इसमें जो कुछ सुख-भोग किया जाए वही सार है। इस विचारधारा ने मनुष्य को पौद्गलिक सुख की ओर प्रेरित किया और मनुष्य ने अपनी सारी शक्ति इसी को जुटाने में लगा दी। फलतः वह पौद्गलिक सुखों के उपभोग से जर्जर होता गया और अंत में उसने देखा कि उसकी अतृप्ति, जो वास्तव में ही दुःख-परंपरा की जननी है, बढ़ती ही चली जा रही है। एक अतृप्ति से अनेक अतृप्तियां बढ़ीं और मनुष्य उन्हीं में भटक गया।

दूसरी विचारधारा ने मनुष्य को आत्म-केन्द्रित बनाया और उसे पौद्गलिक सुखों से होनेवाली दुःख-परंपरा का बोध दिया। उसने सोचा—**'खणमेत्त सोक्खा, बहुकाल दुक्खा'**—इन्द्रियजन्य सुख क्षणमात्र स्थायी होता है। वह अनंत काल तक दुःखों को बढ़ाता रहता है। इस विवेकचक्षु ने उसमें पौद्गलिक सुखानुभूति के प्रति विराग पैदा किया और वास्तविक सुख जो आत्म-सापेक्ष है, की ओर प्रेरित किया।

मेघ साधक था, सिद्ध नहीं। अभी उसमें इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति आसक्ति थी। उसने सोचा—'प्राप्त का त्याग और अप्राप्त की आकांक्षा अवास्तविक है। जो प्रत्यक्ष है वह सत्य है, जो परोक्ष है उसमें सत्य का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आरोप मृगमरीचिका मात्र है। इसलिए प्रत्यक्ष सुखों को छोड़कर, परोक्ष सुखों की ओर दौड़ते जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। उसका संशयग्रस्त मन भगवान के चरणों में खुलता है। उसने कहा–'भगवन्! प्राप्त सुखों को छोड़कर अप्राप्त सुखों के लिए इतने कष्टों को सहन करने में कौन-कौन से साधक तत्त्व हैं?'

**भगवान् प्राह**

**२. सुखासक्तो मनुष्यो हि, कर्त्तव्याद् विमुखो भवेत्।**
**धर्मे न रुचिमाधत्ते, विलासाबद्धमानसः॥**

**भगवान् ने कहा–जो मनुष्य सुख में आसक्ति रखता है और विलास में रचा-पचा रहता है, उसकी धर्म में रुचि नहीं होती, वह कर्त्तव्य से भी विमुख हो जाता है।**

भगवान् ने कहा–पौद्गलिक सुखों का उपभोग अतृप्ति को बढ़ाता है। अतृप्त मन कामनाओं के जाल बुनता है। कामनाएं मोह पैदा करती हैं। मूढ़ व्यक्ति में धर्म का निवास नहीं होता क्योंकि उसका मन कामनाओं से अपवित्र बन जाता है। अपवित्र व्यक्ति में धर्म नहीं ठहरता। **'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'**–धर्म पवित्र व्यक्ति में ही ठहरता है। जहां धर्म नहीं रहता, वहां मोह की प्रबलता होती है। मूढ़ व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जानता। इस अविवेक से वह एक के बाद दूसरी मूढ़ता करता जाता है और अंत में विषादग्रस्त हो नष्ट हो जाता है।

**३. कर्त्तव्यञ्चाप्यकर्त्तव्यं, भोगासक्तो न शोचति।**
**कार्याकार्यमजानानो, लोकश्चान्ते विषीदति॥**

**भोग में आसक्त रहने वाला व्यक्ति कर्त्तव्य और कर्त्तव्य के बारे में सोच नहीं पाता। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं जानने वाला व्यक्ति अंत में–परिणाम काल में–विषाद को प्राप्त होता है।**

**मेघः प्राह**

**४. सुखं स्वाभाविकं भाति, दुःखमप्रियमङ्गिनाम्।**
**तत् किं दुःखं हि सोढव्यं, विहाय सुखमात्मनः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मेघ बोला—प्राणियों को सुख स्वाभाविक लगता है, प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय। तब अपने सुख को ठुकराकर दुःख क्यों सहा जाए?**

**भगवान् प्राह**

**५. यद् सौख्यं पुद्गलैः सृष्टं, दुःखं तद् वस्तुतो भवेत्।**
**मोहाविष्टो मनुष्यो हि, सद् तत्त्वं न हि विन्दति॥**

**भगवान् ने कहा—जो सुख पुद्गलजनित है, वह वस्तुतः दुःख है, किन्तु मोह से घिरा हुआ मनुष्य इस सही तत्त्व तक पहुंच नहीं पाता।**

वस्तु-जन्य सुख वास्तव में सुख नहीं, सुखाभास है। ज्यों-ज्यों उसका उपभोग किया जाता है, त्यों-त्यों उसके प्रति अनुराग बढ़ता है और उससे कामनाएं कभी तृप्त नहीं होतीं। इसलिए यह आपातभद्र है, परिणामभद्र नहीं। खुजली के रोगी को खुजलाने में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु वह परिणाम में सुखावह नहीं होती। वस्तुतः वह दुःखों को जन्म देती है। साधक में पौद्गलिक सुख और आत्मिक सुख के पार्थक्य का स्पष्ट विवेक होना चाहिए। वह न इनकी आकांक्षा करे और न इसमें फंसे। ये दुर्गति के चक्रव्यूह की रचना करते हैं।

जिस व्यक्ति में मोह प्रबल होता है, उसी में पौद्गलिक सुखों के प्रति आसक्ति रहती है। ज्यों-ज्यों मोह का विलय होता है, त्यों-त्यों आसक्ति भी विलीन होती जाती है। पदार्थों के प्रति आसक्ति से मोह बढ़ता है और मोह से पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़ती है, इस चक्रव्यूह को वही तोड़ सकता है, जो कामनाओं से विरत है।

**मेघः प्राह**

**६. को मोहः किञ्च तन्मूलं, को विपाको हि देहिषु।**
**इति विज्ञातुमिच्छामि, चक्षुरुन्मीलय प्रभो!॥**

**मेघ बोला—मोह क्या है? उसका मूल स्रोत क्या है? वह प्राणियों को क्या फल देता है? मैं यह जानना चाहता हूं। प्रभो! आप मेरे ज्ञानचक्षु को उद्घाटित करें।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**भगवान् प्राह**

**७. चिद्विकारकरो मोहः, अज्ञानं मूलमिष्यते।**
**सम्यक्त्वञ्चापि चारित्रं, विमोहयति संततम्॥**

**भगवान् ने कहा—मोह वह है, जो चेतना को विकृत बनाता है। उसका मूल है—अज्ञान। उसका विपाक है—सम्यक्त्व और चारित्र को सतत विमूढ बनाए रखना।**

चेतना को विकृत करने वाला कर्म है—मोह। उससे व्यक्ति पागल की भांति चेष्टा करता है। जैसे पागल व्यक्ति संज्ञा-शून्य होता है वैसे ही मोह-ग्रस्त व्यक्ति भी विवेकशून्य होता है। अहंकार और ममत्व ये मोह की ही अवस्थाएं हैं। इस मोह ने जगत को अंधा बना रखा है। 'न मैं और न मेरा' यह मंत्र हाथ लग जाए तो मोह का संसार उजड़ सकता है। यथार्थ 'मैं' अहं को भूलकर नकली 'मैं' को पकड़कर अपने आपको धोखा दिये जा रहा है। जो अपना नहीं है उसे अपना मानकर व्यर्थ संताप और यातना उठा रहा है। संयोग और वियोग के दुश्चक्र में कभी हंसता है, कभी रोता है, कभी कुछ करता है और कभी कुछ। यह सब मोह का प्रतिफल है।

अज्ञान—स्व-बोध के अभाव के कारण मोह की जड़े जमी हुई हैं। अज्ञान तम है। उसमें कुछ दिखाई नहीं देता। प्रकाश की किरण प्रस्फुटित होने पर ही तम का नाश होता है, वैसे ही ध्यान की प्रकाश रश्मियों से मोह का पर्दा हटता है। यथार्थ दृष्टि और यथार्थ आचरण—ये दोनों इसी मोह के कारण विकृत होते हैं।

अज्ञान से यहां ज्ञान का अभाव अभिप्रेत नहीं है, आत्मबोध का अभाव अभिप्रेत है।

**८. दृष्टिमोहेन मूढोऽयं, मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते।**
**मिथ्यात्वी घोरकर्माणि, सृजन् भ्राम्यति संसृतौ॥**

**दर्शनमोह से मूढ बना हुआ मनुष्य मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। मिथ्यात्वी घोर कर्मों का उपार्जन करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।**

**९. मूढश्चारित्रमोहेन, रज्यति द्वेष्टि च क्वचित्।**
**रागद्वेषौ च कर्माणि, स्रवतस्तेन संसृतिः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**चारित्र-मोह से मूढ बना हुआ मनुष्य किसी पर राग करता है और किसी पर द्वेष करता है। राग-द्वेष से कर्म का आत्मा में आस्रवण होता है और उससे संसार—जन्म-मरण की परंपरा चलती है।**

मोह-कर्म की वर्गणाएं आत्मा के सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र को प्रभावित करती हैं। उसकी प्रबल उदयावस्था में आत्मा में न सम्यग् दर्शन होता है और न सम्यग् चारित्र। अथवा मोह की सघनता में विचार और आचार पवित्र नहीं रह सकते। विचारों की अपवित्रता से असत्य के प्रति आग्रह बढ़ता है, सत्य में अविश्वास प्रबल हो उठता है। दुराग्रह से मिथ्यात्व प्रबल हो जाता है। उस व्यक्ति में अनेक प्रकार के मिथ्यात्व आविर्भूत होते हैं, जैसे—

१. एकांतिक मिथ्यात्व—आत्मा अनित्य ही है, आत्मा नित्य ही है, आदि-आदि।

२. सांशयिक मिथ्यात्व—आत्मा है या नहीं, स्वर्ग है या नहीं।

३. वैनयिक मिथ्यात्व—सभी धर्म समान हैं, दूध-दूध एक है—चाहे फिर वह आक का हो या गाय का।

४. पूर्वव्युत्ग्राहिक—जो स्वयं ने मान लिया, उसी को अंतिम सत्य मानना।

५. विपरीतता—चेतन को जड़ और जड़ को चेतन मानना।

६. निसर्ग मिथ्यात्व—जन्मान्ध की भांति तत्त्व-अतत्त्व से अपरिचित।

७. मूढ़ दृष्टि—सत्य और असत्य के निर्णय में असमर्थता।

राग-द्वेष की विनिवृत्ति चारित्र का अर्थ अपने में स्थित होना है। जहां किंचित् मात्र भी राग-द्वेष की अभिव्यक्ति है, वहां विशुद्ध आत्मा का परिज्ञान नहीं होता।

चारित्र-मोह का उदय आत्म-स्थिति का बाधक है। आत्म-स्थित व्यक्ति बाहरी पदार्थों पर न अनुराग करता है और न द्वेष। द्वेष का हेतु मोह है। मोहाविष्ट व्यक्ति सही तत्त्व को जानता हुआ भी उसका आचरण नहीं कर सकता। यह तथ्य ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की घटना से स्पष्ट होता है—

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मुनि चित्त के पास आया। मुनि ने सोचा—'यह भोगासक्त है। यह कर्तव्य-अकर्तव्य से विमुख ही नहीं, कर्तव्य-भ्रष्ट भी है। मैं इसे जागृत करूं।' मुनि ने उसे भोग-विरक्ति की प्रेरणा दी। ब्रह्मदत्त ने कहा—'प्रभो! मैं जानता हूं कि भोग अशाश्वत है। मनुष्य इनसे मुक्त नहीं हो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सकता। वह इनको बढ़ाता है और दुःख का संग्रह करता है। मेरा कैसा व्यामोह है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूर्च्छित हो रहा हूं।'

राग-द्वेष का प्रवाह कर्म की सृष्टि करता है। कर्म-युक्त आत्मा जन्म-मरण की परंपरा को छिन्न नहीं कर पाती।

**१०. यथा च अण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च।**
**एवञ्च मोहायतनं हि तृष्णा, मोहश्च तृष्णायतनं वदन्ति॥**

**जैसे बलाका अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।**

**११. रागश्च दोषोऽपि च कर्मबीजं, कर्माऽथ मोहप्रभवं वदन्ति।**
**कर्माऽपि जातेर्मरणस्य मूलं, दुःखं च जातिं मरणं वदन्ति॥**

**राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख कहा गया है।**

**१२. दुःखं हतं यस्य न चास्ति मोहो,मोहो हतो यस्य न चास्ति तृष्णा।**
**तृष्णा हता यस्य न चास्ति लोभो,लोभो हतो यस्य न किञ्चनास्ति॥**

**जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया और जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।**

'मोहायतन' का अर्थ है—मोह की उत्पत्ति का स्थान। मोह की जड़ तृष्णा है। तृष्णा का अर्थ है—प्राप्त के प्रति असंतोष और अप्राप्त की आकांक्षा। तृष्णा मोह को सदा हरा-भरा रखती है। संसार के सभी पदार्थों पर काल का प्रभाव पड़ता है, किन्तु तृष्णा सदा तरुण रहती है। वह कभी जर्जर नहीं होती। जिसने तृष्णा को जीत लिया, वह सर्वजित् है।

मोह और तृष्णा का अविनाभाव संबंध है। तृष्णा बढ़ती है, तब मोह बढ़ता है। जब मोह प्रबल होता है, तब तृष्णा भी प्रबल होती है। इसके साथ-साथ राग और द्वेष भी बढ़ते हैं। राग और द्वेष इसी के बीज हैं। सारे दुःखों की उत्पत्ति इनसे होती है। एक बार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—'पार्थिव! विश्व

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के सभी प्राणी इच्छा–राग और द्वेषवश संसार के आवर्त में फंसे पड़े हैं।' राग-द्वेष कर्म को उत्पन्न करते हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं। कर्म ही जन्म-मरण की परंपरा के मूल हैं। जन्म-मरण ही दुःख है। दुःखोत्पत्ति के कारणों की विद्यमानता में दुःख का अंत नहीं होता। दुःखों का अंत मोह के मूलोच्छेद से ही संभव हो सकता है।

मोह का सर्वथा नाश होने पर राग-द्वेष का मूलोच्छेद हो जाता है। तृष्णा नष्ट हो जाती है। तृष्णा के अभाव में दुःख नष्ट हो जाता है। तृष्णा का जन्मदाता लोभ है। लोभ सभी पापों का निमित्त और सद्गुणों का विनाशक है।

अलोभ का अर्थ है आकिंचनता। जिसका अपना कुछ भी नहीं वह अकिंचन है। आकिंचन्य की अवस्था में होनेवाला आनंद अनिर्वचनीय होता है। वह आत्म-गम्य है। एक योगी ने कहा है–

**अकिञ्चनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवित्।**
**योगिगम्यमिदं प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः॥**

अपने आपको अकिंचनता की अनुभूति में रख। तीन लोक का अधिपति हो जाएगा। यह परमात्मा का योगिगम्य रहस्य तुझे बताया गया है।

**मेघः प्राह**

**१३. ज्ञातो मोहप्रपञ्चोऽयं, ज्ञातं दुःखस्य कारणम्।**
**कथमुन्मूलितं तत् स्याद्, ज्ञातुमिच्छामि संप्रति॥**

**मेघ बोला–मैं मोह के प्रपंच को जान चुका हूं और दुःख का मूल कारण मोह है, यह भी जान चुका हूं। प्रभो! उसका उन्मूलन कैसे हो? अब मैं यह जानना चाहता हूं।**

किसी वस्तु-विषय को जान लेना अलग बात है किंतु उसका परिशोधन करना तथा व्यवहार में आचरण करना अलग बात है। ज्ञान और क्रिया दोनों की संगति होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। इसलिए कहा है–**'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः'** बंधन मुक्ति का ज्ञान और उस दिशा में कर्म करना ही मुक्ति का उपाय है। मेघ को मोह के विषय में जानकारी हो गई, वह समझ गया कि मोह का कितना फैलाव है और वह अपने जीवन को कैसे प्रभावित करता है, किन्तु उसका उन्मूलन कैसे किया जाए? इस प्रक्रिया से वह अनभिज्ञ है। अतः उसके नाश की प्रक्रिया के विषय में वह जानना चाहता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**भगवान् प्राह**

**१४. रागं च दोषं च तथैव मोहं, उद्धर्तुकामेन समूलजालम्।**
**ये ये ह्युपाया अभिसेवनीयाः, तान् कीर्त्तयिष्यामि यथानुपूर्वम्॥**

**भगवान् ने कहा—राग, द्वेष और मोह का मूलसहित उन्मूलन चाहने वाले मनुष्य को जिन-जिन उपायों का आलंबन लेना चाहिए, उन्हें मैं क्रमशः कहूंगा।**

**१५.रसाः प्रकामं न निषेवणीयाः, प्रायो रसा दृप्तिकरा नराणाम्।**
**दृप्तञ्च कामा समभिद्रवन्ति, द्रुमं यथा स्वादुफलं विहङ्गाः॥**

**रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्रायः मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएं उद्दीप्त होती हैं, उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।**

मोह का उन्मूलन अनेक साधनों से होता है। उसमें पहला साधन है—आहार-विजय।

स्वास्थ्य का संबंध मन और भोजन दोनों से है। कहा जाता है कि नब्बे-प्रतिशत बीमारियां मन में उत्पन्न होती हैं। चिंता, ईर्ष्या, भय, उद्वेग, क्रोध, अहंकार, प्रतिशोध आदि दूषणों से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इनसे आक्रांत मन दूषित रहता है। वह अनिष्ट कल्पनाओं का ताना-बाना बुनता रहता है। वह कहीं स्थिर नहीं रहता। मानसिक रोगी में विशुद्ध प्रेम और पवित्रता का अभाव रहता है।

अस्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का विकास निषिद्ध नहीं है किन्तु उत्कृष्ट साधना के लिए शारीरिक संस्थान भी अपेक्षित है। अस्वस्थ शरीर मन को भी अस्वस्थ बना देता है। एकाग्रता की साधना में स्वस्थ मन जितना अपेक्षित है, उतना ही स्वस्थ शरीर भी अपेक्षित है। यह ऐकांतिक सत्य नहीं है, फिर भी शरीर की स्वस्थता के लिए आहारविवेक परम आवश्यक है। 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'—इसमें बहुत कुछ सचाई है। आहार शरीर और मन दोनों को प्रभावित करता है। असात्त्विक आहार से उत्तेजना बढ़ती है और इससे मन भी प्रभावित होता है। खाद्य-संयम के तीन पहलू हैं :

१. खाने के पदार्थों की संख्या में कमी करना।
२. अति-आहार का वर्जन करना।
३. कामोद्दीपक पदार्थों के सेवन का वर्जन करना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**१६. यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने, समारुतो नोपशमं ह्युपैति।**
**एवं ह्रषीकाग्निरनल्पभुक्तेः, न शान्तिमाप्नोति कथञ्चनापि॥**

**जैसे प्रचुर ईंधन वाले वन में पवन के झोंकों के साथ लगा हुआ दावानल उपशांत नहीं होता, उसी प्रकार अतिमात्र खाने वाले की इंद्रियाग्नि—कामाग्नि शांत नहीं होती। इसलिए प्रकाम—अतिमात्र भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।**

इंद्रिय-संयम और आहार-संयम का घनिष्ठ संबंध है। आहार-संयम से इन्द्रिय-संयम फलित होता है। जिस व्यक्ति का आहार संयमित नहीं होता, उसे इन्द्रियों के विषय बहुत सताते हैं। अनियमित आहार, अति आहार या अत्यल्प आहार—ये तीनों शरीर के लिए हानिकारक हैं। अति आहार से सारे धातु विषम हो जाते हैं। इस विषम स्थिति में अनेक रोग शरीर को आक्रांत कर देते हैं।

व्यक्ति अति आहार करता है, इसके कई कारण हैं :

१. रसगृद्धि।

२. आहार-संज्ञा की प्रबलता।

३. भोजन संबंधी नियमों की अजानकारी।

४. झूठी भूख।

अति-आहार करनेवाला योग में प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें चंचलता का आधिक्य रहता है। गीता में लिखा है—**'नात्यर्थमश्नतो योगः'**—जो अधिक खाता है, वह योग की साधना नहीं कर सकता। योगी को सदा सूक्ष्म आहार करना चाहिए। सूक्ष्म आहार से इन्द्रियां शांत रहती हैं। इन्द्रियों की प्रशांत अवस्था में मन की एकाग्रता सधती है। आचार्य भिक्षु ने पेटू व्यक्ति की अवस्था का सुन्दर चित्र खींचा है—'जो ठूंस-ठूंसकर आहार करता है, वह प्यास लगने पर पानी भी नहीं पी सकता। पानी के अभाव में उसका खाया हुआ अन्न पचता नहीं। पेट फटने लगता है। उस व्यक्ति को क्षण-भर भी चैन नहीं होता, उसे नींद नहीं आती और वह पलभर भी शांत नहीं रह सकता। धीरे-धीरे अनेक रोग उसे घेर लेते हैं और अंत में वह बुरी तरह से मृत्यु को प्राप्त होता है।'

**१७. विविक्तशय्यासनयन्त्रितानां, अल्पाशनानां दमितेन्द्रियाणाम्।**
**रागो न वा धर्षयते हि चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधेन॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जो एकांत बस्ती और एकांत आसन से नियंत्रित हैं, जो कम खाते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं, उनके मन को राग-शत्रु वैसे ही आक्रांत नहीं कर सकता जैसे औषध से पराजित रोग देह को।**

एकांतवास–मन की एकांतता में एकांत है और अनेकांतता में अनेकांत। सब जगत् एकांत है और एकांत कहीं भी नहीं है। मन को एकांत करने के लिए भी निमित्तों का महत्त्व गौण नहीं होता। निमित्त की प्रतिकूलता में एकांत मन द्वैध में चला जाता है। अव्यक्त अवस्था में वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा कहना कठिन है। प्रबुद्ध मन पर उसका असर नहीं होता, यह कहा जा सकता है। मन की प्रबुद्धता के लिए वातावरण भी वैसा प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

जो अतीत की असत् प्रवृत्तियों की शुद्धि कर चुका है, वर्तमान में उनसे विरत है और भविष्य में असत् प्रवृत्ति न करने का जिसका संकल्प है, उस व्यक्ति के लिए सर्वत्र एकांत है। चाहे वह गांव में रहे या जंगल में, प्रगट में रहे या अप्रगट में, वह असत् चिंतन कर ही नहीं सकता। साधना का यह उत्कर्ष रूप है। साधक सीधा वहां नहीं पहुंच सकता। इसलिए प्रारंभ में एकांत वातावरण में मन को साधे और इन्द्रियों को साधे। मन और इन्द्रियों का साध लेने पर स्वप्न में भी उसका मन चलित नहीं हो सकता। एकांतवास का यह भी अर्थ है कि साधक समूह में रहता हुआ भी अकेला रहे, एकांत में रहे। इसका तात्पर्य यह है कि वह बाह्य वातावरण से प्रभावित न हो और 'एकोऽहम्' इस मंत्र को आत्मसात् करता हुआ चले। स्थान की एकांतता से भी मन की एकांतता का अधिक महत्त्व है।

**१८. कामानुगृद्धिप्रभवं हि दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवतस्य।**
**यत् कायिकं मानसिकञ्च किञ्चित्,तस्यान्तमाप्नोति च वीतरागः॥**

**सब जीवों के और क्या, देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अंत पा जाता है।**

कामना से जो मुक्त है, वह दुःख से मुक्त है। जो उससे अछूता नहीं है वह दुःख से भी अछूता नहीं है। यह समूचा विश्व उसी से पीड़ित हैं–**'काम कामी खलु अयं पुरिसे'**। जो इच्छाओं के वशवर्ती है वह शोक करता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परिताप करता है और सदा बेचैन रहता है। इससे मुक्त न देवता हैं, न मनुष्य और न पशु। मुक्त है केवल वीतराग। राग इच्छा का अभिन्न साथी है। कामना का फंदा स्वतः टूट जाता है जब हम राग से विमुक्त हो जाते हैं। अशाश्वत पदार्थों में जो अनुराग–प्रेम है वही राग है। शाश्वत सत्य में रति होने पर संसार विनश्वर प्रतीत होने लगता है। फिर साधक किससे प्रेम करे और किससे अप्रेम। वह मध्यस्थ हो जाता है। यह मध्यस्थता ही वीतरागता है।

१९. मनोज्ञेष्वमनोज्ञेषु, स्रोतसां विषयेषु यः।
न रज्यति न च द्वेष्टि, समाधिं सोऽधिगच्छति॥

**मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों में जो राग और द्वेष नहीं करता, वह समाधि–मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त होता है।**

२०. अमनोज्ञा द्वेषबीजं, रागबीजं मनोरमाः।
द्वयोरपि समः यः स्याद्, वीतरागः स उच्यते॥

**अमनोज्ञ विषय द्वेष के बीज हैं और मनोज्ञ विषय राग के बीज हैं। जो दोनों में सम रहता है, राग-द्वेष नहीं करता, वह वीतराग कहलाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मेघः प्राह

२१. कानि स्रोतांसि के वा स्युः, विषयाश्च प्रियाऽप्रियाः ?
कथं तेषां निरोधः स्याद्, इति श्रोतुं समुत्सुकः॥

**मेघ बोला—स्रोत कौन से हैं? प्रिय और अप्रिय विषय क्या हैं? उनका निरोध कैसे हो सकता है? मेरे मन में इन्हें जानने की उत्कंठा है।**

पांच इन्द्रियां स्रोत है। विषयों का प्रवेश इनके द्वारा होता है। विषय स्वयं न अच्छे हैं, न बुरे हैं। वे ग्राहक की मनःस्थिति के कारण अच्छे-बुरे, प्रिय या अप्रिय बनते हैं। प्रिय विषय प्राणी को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और अप्रिय विषय अपने से दूर करते है। प्रियता राग है और अप्रियता द्वेष है। दोनों ही चित्त-वृत्ति को चंचल करते हैं, मन को उद्विग्न करते हैं, आत्मा को अपने केन्द्र से विच्युत करते हैं। आत्मस्थ रहने के लिए साधक को कहा जाता है अपने मन को दोनों तरफ मत जाने दो, तटस्थ रहो। तटस्थता समता है, शांति है, और यही है वीतरागता। वीतरागता का अर्थ केवल राग से रहित होना ही नहीं है, द्वेष से भी मुक्त होना है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

२२. स्पर्शा रसास्तथा गन्धा, रूपाणि निनदा इमे।
विषया ग्राहकाण्येषां, इन्द्रियाणि यथाक्रमम्॥

२३. स्पर्शनं रसनं घ्राणं, चक्षुः श्रोत्रञ्च पञ्चमम्।
एषां प्रवर्तकं प्राहुः, सर्वार्थग्रहणं मनः॥
(युग्मम्)

**स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द—ये पांच विषय हैं और इनको ग्रहण करने वाली क्रमशः ये पांच इन्द्रियां हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पांच इन्द्रियों का प्रवर्तक और सब विषयों को ग्रहण करने वाला मन होता है।**

इन्द्रियों के विषय नियत हैं। इन्द्रियां अपने-अपने नियत विषयों को ग्रहण करती हैं। आंखें देख सकती हैं, सुन नहीं सकतीं। कान सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। मन भी इन्द्रिय है, किन्तु इसका विषय नियत नहीं है। वह पांचों इन्द्रियों का प्रवर्तक है, इसीलिए वह शक्तिशाली इन्द्रिय है। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर मनोविजय पर अधिक बल दिया गया है। वह इसीलिए कि मन को जीत लेने पर पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

ब्राह्मण के वेश में आए हुए इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—'आप अपने शत्रुओं को जीतकर प्रव्रजित हों तो अच्छा रहेगा।' नमि ने कहा—'बाह्य शत्रुओं को जीतने से क्या? जो एक मन को जीत लेता है, वह पांचों इन्द्रियों को जीत लेता है, वह समूचे विश्व पर विजय पा लेता है।' शंकराचार्य से पूछा गया—**'जितं जगत् केन'**—संसार को जीतनेवाला कौन है? उन्होंने कहा—**'मनो हि येन'**—जिसने मन को जीत लिया, उसने सारे संसार को जीत लिया।

कबीर ने कहा है—

**'मन सागर मनसा लहरी, बूड़े बहुत अचेत।**
**कहहि कबीर ते बांचि है, जिनके हृदय विवेक॥**
**मन गोरख मन गोविन्दो, मन ही औच्चड होइ।**
**जो मन राखे जतन करि, तो आपे करता होई॥'**

चंचल चित्त सागर की ऊर्मियां हैं तो शांत-मन अनंत सागर है। मन पर विजय पाने का एकमात्र सूत्र है—जागरूकता, विवेकी होना। मन जब जागरूक—सावधान होता है, तब वह अपनी चंचलता पर नियंत्रण कर लेता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। चंचलता रुकती है, तब मन का चेतना में विलय हो जाता है। वह सचेतन हो उठता है। बाहर भी मनुष्य को मन ले जाता है तो भीतर भी वही ले आता है। हम मन के चंचल पक्ष को ही न पकड़ें, उसके शांत पक्ष पर भी ध्यान दें। साधना का उद्देश्य है मन को शून्य करना।

मन पर विजय पाना कठिन अवश्य है किनतु असंभव नहीं। अभ्यास से यह सध सकता है। मन को इतना खुला भी मत छोड़ो कि वह नियंत्रण के बाहर हो जाए और उसका इतना दमन भी मत करो कि वह और अधिक चंचल बन जाए। उसका ठीक-ठीक नियंत्रण होना आवश्यक है। मन का नियंत्रण साधना-सापेक्ष होता है। प्रतिदिन उसका अभ्यास होना चाहिए। मन गतिशील है। उसको रोका नहीं जा सकता। उसकी गति बदली जा सकती है। जो मन असत् चिंतन या क्रिया में प्रवृत्त होता है, उसे साधना द्वारा सत् चिंतन या सत्क्रिया में प्रवृत्त किया जा सकता है। इसी का नाम है मन पर विजय।

कामनाओं का उत्स है मोह। मोह की सघनता से कामनाएं बढ़ती हैं। ज्यों-ज्यों मोह क्षीण होता है, कामनाएं क्षीण होती जाती हैं। वीतराग में मोह का पूर्ण विलय हो जाता है। अतः वे कामनाओं से मुक्त होते हैं।

**२४. न रोद्धुं विषयाः शक्याः, विशन्तो विषयिव्रजे,**
**सङ्गो व्यक्तोऽथवाऽव्यक्तो, रोद्धुं शक्योस्ति तद्गतः॥**

**इन्द्रिय-स्रोतों में आने वाले शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि विषयों को नहीं रोका जा सकता, किन्तु उनमें होने वाले व्यक्त या अव्यक्त संग—मूर्च्छा अथवा आसक्ति को रोका जा सकता है।**

इन्द्रियां केवल विषयों को ग्रहण करती हैं। विषयों के प्रति मनोज्ञता या अमनोज्ञता पदार्थों में नहीं, मन की आसक्ति में निहित है। जिस व्यक्ति में आसक्ति कम है वह पदार्थों का भोग करता हुआ भी चिकने कर्मों से नहीं बंधता।

जब तक शरीर है तब तक इन्द्रियों के विषयों को रोका नहीं जा सकता। कान न सुने, आंख न देखे—यह नहीं होता। सुनकर या देखकर उस पदार्थ के प्रति राग-द्वेष न लाना, यह व्यक्ति की साधना पर निर्भर है। साधना करते-करते पदार्थों के प्रति आसक्ति मिटाई जा सकती है। साधना का यह फलित है। मन आसक्ति का उत्स है। वह ज्यों-ज्यों बहिर्मुख होता है, त्यों-त्यों आसक्ति बढ़ती जाती है। अंतर्मुख मन आसक्ति का पार पा लेता है। जब

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मन आत्मा से सम्पर्क साध लेता है, तब बाह्य विषयों के प्रति आसक्ति मिट जाती है।

इसलिए साधक विषयों को रोकने का प्रयत्न न करे, किन्तु मन को इतना साधे कि उसमें राग-द्वेष आए ही नहीं।

मन को साधने का एक मार्ग है—पूर्व मान्यताओं का त्याग। मान्यता का संसार बड़ा विचित्र है। प्रियता और अप्रियता मन की मान्यता ही है। मान्यता को छोड़े बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता। दो चींटियां थीं। एक चीनी के ढेर पर रहती और दूसरी नमक के ढेर पर। एक बार नमक के ढेर पर रहनेवाली चींटी, दूसरी चींटी से मिलने गई। चीनी के ढेर पर रहनेवाली चींटी ने उसका स्वागत किया और चीनी का एक दाना खाने के लिए आग्रह किया। उसने एक दाना खाया और तत्काल बोल उठी—'अरे, यह भी खारा है'। चींटी ने कहा—'नहीं, चीनी मीठी होती है, खारी नहीं।' उसने कहा—'नहीं, मेरा मुंह खारा होता जा रहा है।' चीनी के ढेर पर रहनेवाली चींटी ने उसका मुंह देखा तो उसमें नमक का एक छोटा-सा कण दीखा। वह रहस्य को ताड़ गई। उसने कहा—'बहन! पहले इसको बाहर फेंक, तब तुझे चीनी मीठी लगेगी, अन्यथा नहीं।

मान्यताओं को छोड़े बिना यथार्थ का ज्ञान नहीं होता। स्व और पर के यथार्थ ज्ञान के अनन्तर जो आचरण होता है वह मान्यता नहीं रहती। मान्यता के अभाव में प्रियता और अप्रियता की कल्पना ही टूट जाती है।

**२५. विषयेषु यतो मोहस्तेषामुत्पादनं ततः।**
**ततो रक्षणचिन्ता च, सन्नियोगस्ततो भवेत्॥**

**संग (आसक्ति) से शब्द आदि विषयों में मोह होता है। मोह के कारण मनुष्य विषयों का उत्पादन करता है, फिर उनके संरक्षण की चिन्ता करता है, फिर उनका उपभोग करता है।**

**२६. भुञ्जतो विषयान् पुंसः प्रतिमोहोऽपि जायते।**
**ततो विषयसंप्राप्तेः, महेच्छा प्रस्फुटा भवेत्॥**

**२७. ततो द्रव्यार्जने शुद्धेः, विवेकोऽपि विलीयते।**
**विवेके विलयं याते, मनःशान्तिर्विलीयते॥**

**(युग्मम्)**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**विषयों का उपभोग करने वाले मनुष्य में प्रतिमोह–उनके प्रति फिर मोह पैदा होता है। उससे विषयों को पाने की उत्कट लालसा उत्पन्न हो जाती है। उससे धन के अर्जन में साधन-शुद्धि का विवेक विलीन हो जाता है। विवेक के विलीन होने पर मन की शांति विलीन हो जाती है।**

मृग शब्द-संगान की आसक्ति के कारण, पतंग–शलभ रूपासक्ति के कारण, भंवरा गंधासक्ति के कारण, मछली रसासक्ति के कारण और हाथी स्पर्शासक्ति के कारण बंधन, मृत्यु और पीड़ा को प्राप्त होते हैं। यह सब एक-एक इन्द्रिय की आसक्ति का फल है। जो व्यक्ति पांच इन्द्रियों के उपभोग में लीन होता है उसकी दशा का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। मनुष्य के पास इन्द्रियों का विकास है। इस विकास का उपयोग यदि वह विषय-संग में करता है तो वह अभिशाप बन जाता है और यही विकास यदि परम तत्त्व के साथ जुड़ जाता है तो वह अमरत्व प्रदान करने वाला बन जाता है। उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास मनुष्य की विषयासक्ति की तृप्ति के लिए न होकर उसकी अभिवृद्धि के लिए हो रहा है। विषयों का संग मोह–मूढ़ता को बढ़ाता है। मूढ़ता के कारण मनुष्य विषयों के उत्पादन, संग्रह, संरक्षण और उपभोग में डूबता है। इतना ही नहीं वह उपभोग में तन्मय बनकर मोह की नई शृंखला को निर्मित करता है। अपने हाथों उसमें आबद्ध हो जाता है। पदार्थों-विषयों की महेच्छा उसे धर्म से विमुख कर देती है। अर्थार्जन में शुचिता नहीं रहती। पदार्थ के लिए धन अपेक्षित रहता है। विशुद्ध अर्जन से उनकी पूर्ति नहीं होती तब निन्दनीय, अनाचरणीय, अनैतिक आदि अनेक दूषित वृत्तियों से अर्थ-संग्रह के प्रति प्रेरित होता है। विवेक चेतना विलुप्त हो जाती है और वह आगे-से-आगे तनाव, अशांति का शिकार बनता चला जाता है। मानसिक शांति उससे कोशों दूर चली जाती है। आदमी देख रहा है, अनुभव कर रहा है, फिर भी उस पथ से पीछे नहीं हटता, इससे बड़ी विमूढ़ता ओर क्या हो सकती है? विषयों का संग अशांति का ही जनक है।

**२८. विषयेष्वनुरक्तो हि, तदुत्पादनमिच्छति।**
**रक्षणं विनियोगश्च, भुञ्जंस्तान् प्रति मुह्यति॥**

**विषयों में जो अनुरक्त है, वह उनका उत्पादन चाहता है। उनके उत्पन्न होने के बाद वह उनकी सुरक्षा चाहता है और सुरक्षित विषयों का उपभोग**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**करता है। इस प्रकार उनका भोग करने वाला एक मूढता के बाद दूसरी मूढता का अर्जन कर लेता है।**

व्यक्ति में पहले पदार्थों के प्रति आकर्षण होता है। आकर्षण से प्रेरित होकर वह उन पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। ज्यों-त्यों उन्हें प्राप्त कर वह उन्हें सुरक्षित रखना चाहता है और लंबे समय तक उनका उपभोग करने की इच्छा करता है। उपभोग से आसक्ति बढ़ती है और पुनः वह इसी प्राप्ति, संरक्षण और उपभोग के आवर्त्त में फंस जाता है। यह आवर्त्त तब तक समाप्त नहीं होता जब तक कि व्यक्ति मोह के पाश से छूट नहीं जाता। एक मूढ़ता दूसरी मूढ़ता को जन्म देती है। इस क्रम में व्यक्ति अनंत मूढ़ताओं का शिकार बनकर नष्ट हो जाता है। अर्थ के अर्जन में दुःख है और अर्जित के संरक्षण में और भी अधिक दुःख है। अर्थ आता है तब भी दुःख देता है और जाता है तब भी कष्ट देता है।

**२९. उत्पादं प्रति नाशो हि, निधिं प्रति तथा व्ययः।**
**क्रियां प्रत्यक्रिया नाम, साशयं लघु धावति॥**

**उत्पादन के पीछे नाश, संग्रह के पीछे व्यय, क्रिया के पीछे अक्रिया—ये प्राकृतिक नियम से जुड़े हुए हैं।**

इस सचाई को समझे बिना व्यक्ति सत्य के प्रति समर्पित नहीं हो सकता। केवल ज्ञान से जान लेना एक बात है और अनुभूति के आधार पर उसे परखना भिन्न बात है। जो केवल जानता है, अनुभूति नहीं रखता, वह सत्य का आस्वादन नहीं कर पाता और न स्वयं को सुरक्षित भी रख पाता है। हमने सुनी है एक घटना। एक घर में चोर घुसे। कुछ आहट से श्रेष्ठी-पत्नी की नींद टूट गई। उसने पति से कहा—'कुछ आवाज आ रही है। लगता है, चोर घर में घुस आये हैं।' श्रेष्ठी ने कहा—'मैं जानता हूं।' चोर जहां खजाना था, वहां पहुंच गये। पत्नी के कहने पर श्रेष्ठी ने 'मैं जानता हूं' कह कर टाल दिया। धन की थैलियां बांध ली और चलने लगे, तब फिर पत्नी ने संकेत किया तो वही उत्तर मिला कि 'मैं जानता हूं'। परिणाम जो आना था वही आया। चोर सबकुछ लेकर चले गए।

उत्पत्ति विनाश से मुक्त नहीं हैं, संग्रह व्यय से शून्य नहीं है और क्रिया विश्राम से खाली नहीं है। केवल जान लेना बंधन से मुक्त नहीं करता। मुक्ति के लिए अंतर्बोध अपेक्षित है। जिस दिन मनुष्य के अंतःकरण में यह बोध हो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जाता है, उस दिन उसके कदम शाश्वत की दिशा में स्वतः उठने लग जाते हैं।

**३०. अतृप्तो नाम भोगानां, विगमेन विषीदति।**
**अतृप्त्या पीडितो लोक, आदत्तेऽदत्तमुच्छ्रयम्॥**

**अतृप्त व्यक्ति भोगों के विलय से विषाद को प्राप्त होता है और अतृप्ति से पीड़ित मनुष्य उन्मुक्त भाव से चोरी करता है।**

व्यक्ति स्वभावतः वर्तमान-द्रष्टा होता है, परिणाम-द्रष्टा नहीं। वह वर्तमान के आधार पर अपने विचार या कार्य को तोलता है, उसके परिणाम को नहीं देखता। जो व्यक्ति परिणाम-द्रष्टा होता है, उसे क्षणिक सुख लुभावने नहीं लगते। उसकी प्रत्येक क्रिया आत्माभिमुखी होती है। उसका प्रत्येक चरण शाश्वत सुख की उपलब्धि की ओर बढता है।

जो व्यक्ति वर्तमानदर्शी है उसे इन्द्रियजन्य सुख तृप्तिकर लगते हैं। वह उनमें इतना रचा-पचा रहता है कि वे उसे आगे से आगे आकर्षक लगने लगते हैं। इन्द्रियजन्य सुख से तृप्ति नहीं होती, अतृप्ति बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों विषयों का उपभोग होता है, अतृप्ति की वृद्धि होती है और व्यक्ति उसी में फंसा रह जाता है। तृप्ति वस्तुओं के उपभोग में नहीं, उनके त्याग में है। पदार्थ-त्याग से आसक्ति घटती है और आसक्ति की हानि से अतृप्ति सिमटती जाती है। ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता है, त्यों-त्यों तृप्ति बढ़ती है। ज्यों-ज्यों भोग बढ़ता है, अतृप्ति भी उसी अनुपात से बढ़ती जाती है।

अतृप्ति अनेक दोषों को उत्पन्न करती है। अतृप्त व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है और येनकेन प्रकारेण पदार्थ-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रवृत्ति-बहुलता का कहीं अंत नहीं होता। व्यक्ति इसी आवर्त में प्राण खो बैठता है।

'अतृप्त व्यक्ति चोरी करता है'—यह अतृप्ति का परिणाम है। डाका डालना ही चोरी नहीं है, किन्तु शोषण करना, मिलावट करना, दूसरों को ठगना—ये सब चोरी के प्रकार हैं। अतृप्त व्यक्ति इन सब दोषों का शिकार बन जाता है। संतुष्ट व्यक्ति इन सबसे अछूता रहता है। तृप्ति और अतृप्ति का केन्द्र मन है। मन संतुष्ट होने पर धनवान् और गरीब का भेद नहीं रहता। भर्तृहरि ने कहा है—

**'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।'**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एक कवि ने कहा है.....

'गोधन गजधन वाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूलि समान॥

सबसे बड़ा धन संतोष है—तृप्ति है।

३१.तृष्णया ह्यभिभूतस्य, अतृप्तस्य परिग्रहे।
माया मृषा च वर्धेते, तत्र दुःखान्न मुच्यते॥

जो तृष्णा से अभिभूत और परिग्रह से अतृप्त होता है, उसके माया और मृषा—दोनों बढते हैं। माया और मृषा के जाल में फंसा हुआ व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं होता।

३२. पूर्वं चिन्ता प्रयोगस्य, समये जायते भयम्।
पश्चात्तापो विपाके च, मायया अनृतस्य च॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जो माया और असत्य का आचरण करता है, उसे उनका प्रयोग करने से पहले चिन्ता होती है, प्रयोग करते समय भय और प्रयोग करने के बाद विपाक-काल में पश्चात्ताप होता है।**

माया और असत्य—ये दो बड़े दोष हैं। इनके आचरण में साहस और चातुर्य की अपेक्षा रहती है। हर कोई इनका आचरण नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति इनका आचरण करता है, उसके मन में पहले चिंता उत्पन्न होती है। वह अपने मन में सुनियोजित योजना तैयार करता है 'कि मुझे वहां किस प्रकार से माया और असत्य का कथन या आचरण करना है। फिर किस प्रकार उन्हें आगे बढ़ाना है; सामने वाले व्यक्ति का कैसे निग्रह करना है; माया और असत्य के कथन को सत्य साबित करने के लिए मुझे कौन-कौन-सी दूसरी माया और असत्य का सहारा लेना है'—आदि-आदि चिंताओं से वह ग्रस्त हो जाता है।

जब वह इनका आचरण कर चुकता है तब उसका मन भय से आक्रांत हो जाता है। उसमें यह भय रहता है कि कहीं मेरी माया और असत्य प्रकट न हो जाएं; कहीं मेरी प्रतिष्ठा नष्ट न हो जाए; कहीं मेरा बना-बनाया महल ढह न जाए। इस भय के कारण उसका मन अशांत हो जाता है और वह सुख की नींद सो नहीं सकता। इस प्रकार वह अशांति का शिकार हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जब वह अपने आचरण के परिणामों पर दृष्टिपात करता है तब उसका आंतरिक मन, दूसरे के दुःख के कारण, रो पड़ता है और कभी-कभी पश्चात्ताप की आग उसमें भड़क उठती है और वह उसमें तिल-तिल कर जलता है।

माया और असत्य मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के परम शत्रु हैं। एक माया और एक असत्य को सिद्ध करने के लिए प्रयोक्ता को हजार माया और हजार असत्य का सहारा लेना होता है।

३३. विषयेषु गतो द्वेषं, दुःखमाप्नोति शोकवान्।
द्विष्टचित्तो हि दुःखानां, कारणं चिनुते नवम्॥

जो विषयों से द्वेष करता है, वह शोकाकुल होकर दुःखी बन जाता है। द्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति दुःख के नए कारणों का संचय करता है।

३४. विषयेषु विरक्तो यः, स शोकं नाधिगच्छति।
न लिप्यते भवस्थोपि, भोगैश्च पद्मवज्जलैः॥

जो विषयों से विरक्त होता है, वह शोक को प्राप्त नहीं होता। वह संसार में रहता हुआ भी पानी में कमल की तरह भोगों से लिप्त नहीं होता।

३५. इन्द्रियार्था मनोर्थाश्च, रागिणो दुःखकारणम्।
न ते दुःखं वितन्वन्ति, वीतरागस्य किञ्चन॥

रागयुक्त मनुष्य के लिए इन्द्रिय और मन के विषय दुःख के कारण बनते हैं। किन्तु वीतराग को वे किंचित् मात्र भी दुःख नहीं दे सकते।

३६. विकारमविकारञ्च, न भोगा जनयन्त्यमी।
तेष्वासक्तो मनुष्यो हि, विकारमधिगच्छति॥

ये भोग—शब्द आदि विषय विकार या अविकार उत्पन्न नहीं करते, किन्तु जो मनुष्य उनमें आसक्त होता है, वह विकार को प्राप्त होता है।

३७. मोहेन प्रावृतो लोको, विकृतात्मापि शिक्षितः।
क्रोधं मानं तथा मायां, लोभं घृणां मुहुर्व्रजेत्॥

जिसका ज्ञान मोह से आच्छन्न है और जिसकी आत्मा—चेतना विकृत है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**वह पढ़ा-लिखा होने पर भी बार-बार क्रोध, मान, माया, लोभ और घृणा के आवेश में चला जाता है।**

मोह के मूल और उत्तर भेद अनेक हैं। मोह के मूल चार हैं–
१. क्रोध २. मान ३. माया ३. लोभ। प्रत्येक के चार-चार स्तर हैं।
क्रोध के चार स्तर–
१. चिरतम–पत्थर की रेखा के समान।
२. चिरतर–मिट्टी की रेखा के समान।
३. चिर–बालू की रेखा के समान।
४. क्षिप्र–पानी की रेखा के समान।
मान के चार स्तर–
१. कठोरतम–पत्थर के स्तंभ के समान।
२. कठोरतर–अस्थि के स्तंभ के समान।
३. कठोर–काष्ठ के स्तंभ के समान।
४. मदु–लता के स्तंभ के समान।
माया के चार स्तर–
१. वक्रतम–बांस की जड़ के समान।
२. वक्रतर–मेंढे के सींग के समान।
३. वक्र–चलते बैल की मूत्रधारा के समान।
४. प्रायःऋजु–छिलते बांस की छाल के समान।
लोभ के चार स्तर–
१. गाढ़तर–कृमि-रेशम के समान।
२. गाढ़तर–कीचड़ के समान।
३. गाढ़–खंजन के समान।
४. प्रतनु–हल्दी के रंग के समान।
मोह के उत्तर भेद–
हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा आदि।

**३८. अरतिञ्च रतिं हास्यं, भयं शोकञ्च मैथुनम्।**
**स्पृशन् भूयोऽपि मूढात्मा, भवेत् कारुण्यभाजनम्॥**

**जो मूढ़ अरति, रति, हास्य, भय, शोक और मैथुन का पुनः पुनः स्पर्श करता है, वह दया का पात्र बन जाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३९. प्रयोजनानि जायन्ते स्रोतसां वशवर्तिनः।
अनिच्छन्नपि दुःखानि, प्रार्थी तत्र निमज्जति॥

जो इन्द्रियों का वशवर्ती है, उसके सामने विभिन्न प्रकार के प्रयोजन—आवश्यकताएं और अपेक्षाएं उत्पन्न होती हैं। वह इन्द्रिय-विषयों का प्रार्थी दुःख को न चाहता हुआ भी दुःख में निमग्न हो जाता है।

४०. सुखानां लब्धये भूयो, दुःखानां विलयाय च।
संगृह्णन् विषयान् प्राज्यान्, सुखैषी दुःखमश्नुते॥

मनुष्य सुख पाने और दुःख से मुक्त होने के लिए प्रचुर विषयों का संग्रह करता है। वह सुख की इच्छा करता है किन्तु विषय-भोग की अति उसे दुःखी बना देती है।

४१. इन्द्रियार्था इमे सर्वे, विरक्तस्य च देहिनः।
मनोज्ञत्वाऽमनोज्ञत्वं, जनयन्ति न किञ्चन॥

इन्द्रियों के ये सारे विषय वीतराग पुरुष में मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव किंचित् भी उत्पन्न नहीं करते।

४२. कामान् संकल्पमानस्य, सङ्गो हि बलवत्तरः।
तानऽसंकल्पमानस्य, तस्य मूलं प्रणश्यति॥

जो काम-भोगों का संकल्प-विकल्प करता है, उस व्यक्ति की कामासक्ति बलवान् बन जाती है। जो काम-भोगों का संकल्प-विकल्प नहीं करता, उसकी कामासक्ति का मूल नष्ट हो जाता है।

'सर्वेन्द्रियप्रीतिः कामः'—जो समस्त इन्द्रियों को आह्लादित करता है वह काम है। मानसिक संकल्प काम (इच्छा) का उत्पादक है। मनु का कथन है कि सब इच्छाएं संकल्प से उत्पन्न होती हैं। संकल्प को रोक दो, काम रुक जाएगा। कामना का संकल्प न हो इसलिए उसे जानो और संकल्प करो—

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
नाहं संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

काम! मैं तेरे स्वरूप को जानता हूं। तू संकल्प से उत्पन्न होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा। तब तू मेरे कैसे हो सकेगा?

काम की जड़ को कुरेदने के लिए कितना स्वस्थ संकल्प है!

विष और विषय में अधिक अंतर न होते हुए भी विषय से भी विष अधिक भयंकर है। विष खाने पर व्यक्ति का विनाश करता है और विषय दर्शन से ही। विषय का चिंतन संक्रामक रोग है। उसका ध्यान करते ही वह चित्त को ग्रसित कर लेता है। आगे बढ़ता-बढ़ता वह इतना हानिकारक हो जाता है कि व्यक्तित्व का संपूर्ण विनाश कर देता है। गीता में कहा है—'हे अर्जुन! मन सहित इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण न होने से मन के द्वारा विषयों का चिंतन होता है। विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती हैं। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ भाव उत्पन्न होता है। अविवेक से स्मरण-शक्ति भ्रमित होती जाती है। स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है। बुद्धि के नाश होने से पुरुष अपने श्रेय-साधन से गिर जाता है।[५]

**४३. कृतकृत्यो वीतरागः, क्षीणावरणमोहनः।**
**निरन्तरायः शुद्धात्मा, सर्वं जानाति पश्यति॥**

**जिसके ज्ञान, दर्शन के आवरण तथा मोह और अंतराय क्षीण हो जाते हैं, वह वीतराग कृतकृत्य हो जाता है—उसके करणीय शेष नहीं रहते। वह शुद्धात्मा होने के कारण सब तत्त्वों को जानता-देखता है।**

**४४. भवोपग्राहिकं कर्म, क्षपयित्वायुषः क्षये।**
**सर्वदुःखप्रमोक्षं हि, मोक्षमेत्यव्ययं शिवम्॥**

**वह आयुष्य-क्षय के साथ शेष भवोपग्राही कर्मों को क्षीण कर मोक्ष को प्राप्त होता है, जो सब दुःखों से मुक्त, अव्यय और शिव है।**

आत्मा के मूल गुण आठ हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक आनंद, क्षायिक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्तत्व, अगुरुलघुपर्याय, निराबाध सुख। इनको आवृत करने वाले कर्म क्रमशः ये हैं :

१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयुष्य ६. नाम ७. गोत्र ८. अंतराय।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इन कर्मों का सम्पूर्ण विलय होने पर आत्मा के मूल गुण प्रकट होते हैं। जब तक ये कर्म रहते हैं, आत्मा जन्म-मरण के आवर्त में घूमता रहता है। इनका सर्वथा नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है। मुक्ति अर्थात् स्वतंत्रता। पूर्ण स्वतंत्र अवस्था की अनुभूति विभाव में नहीं होती, वह स्वभाव में होती है। आत्मा स्वभाव से कभी छूटता किन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह विभाव में फंसा रहता हैं। साधना के द्वारा उसके विभाव को नष्ट किया जा सकता है।

ऐसे तो आत्मा के मूल गुण चार हैं :

१. अनंत ज्ञान
२. अनंत दर्शन
३. अनंत चरित्र
४. अनंत बल

इस अनंत चतुष्टयी को आवृत करने वाले कर्मों को घातिकर्म कहा जाता है। वे भी चार हैं :

१. ज्ञानावरण
२. दर्शनावरण
३. मोहनीय
४. अंतराय

इनके संपूर्ण विलय से व्यक्ति वीतराग हो जाता है। उसमें राग-द्वेष आदि दोष नहीं होते। उसका ज्ञान और दर्शन निरावृत हो जाता है। वह तब शुक्ल ध्यान का अधिकारी होता है और अपने आयुष्य कर्म का क्षय होने पर वह पांचों भौतिक शरीरों से मुक्त होकर सिद्ध और परिनिर्वृत हो जाता है। यही परमात्मा-दशा है। यही मोक्ष है।

**मेघः प्राह**

**४५. धार्मिको धर्ममाचिन्वन्, सुखमाप्नोति सर्वदा।**
**दुष्कृती दुष्कृतं कुर्वन्, दुःखमाप्नोति सर्वदा॥**

**४६. न चैष कर्मसिद्धान्तः, लोके संगच्छते क्वचित्।**
**धार्मिकाः दुःखमापन्नाः, सुखिनो दुष्कृते रताः॥**
**(युग्मम्)**

**मेघ बोला—भगवन्! धार्मिक धर्म करता हुआ सदा सुख पाता है और अधार्मिक अधर्म करता हुआ सदा दुःख पाता है—कर्म का यह सिद्धांत लोक में संगत नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं धर्म का आचरण करने वाले दुःखी और अधर्म का आचरण करने वाले सुखी देखे जाते हैं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मेघ का यह तर्क नया नहीं है और व्यावहारिक धरातल पर असंगत भी नहीं है। किन्तु व्यवहार ही सब कुछ नहीं होता। इस दृष्टि से उसकी समझ सही नहीं है और उसको वास्तविक धर्म का अनुभव भी नहीं है। चीन के महान् संत लाओत्से के तीन सूत्र यहां मननीय हैं–

पहला सूत्र है–'सज्जन दुर्जन का गुरु है और दुर्जन सज्जन के लिए सबक है।'

दूसरा सूत्र है–'जो 'ताओ' (धर्म) का परित्याग करता है वह ताओ के अभाव से एकात्मक हो जाता है।'

तीसरा सूत्र है–'जो सद्गुण आपको आनंद न देता हो वह आपके लिए फोड़ा हो जाता है।'

धर्म और अधर्म के परिणामों की सूक्ष्म झांकी है इनमें।

'सज्जन दुर्जन का गुरु है'–पहले सूत्र का यह आधा भाग स्पष्ट बुद्धिगम्य है किन्तु अगला नहीं। अगले को समझाने के लिए आपको दुर्जन के भीतर झांकने की जरूरत होगी। दुर्जन व्यक्ति ऊपर से कितना ही हरा-भरा, फला-फूला दिखाई दे किन्तु भीतर उसके करुण क्रंदन, व्यथा और पीड़ा का स्वर गूंजता मिलेगा। क्योंकि वह अधर्म के पथ पर है। जो अधर्म में रत है उसे सुख कैसे मिलेगा? सुख स्वभाव में है, विभाव में नहीं। अनीति भय-मुक्त नहीं होती। जहां भय है वहां निःसंदेह संताप है।

२. दूसरे सूत्र में स्पष्ट है कि जो धर्म को छोड़ अधर्म के साथ एक होता है वह कैसे अधर्म के परिणाम से मुक्त हो सकेगा? अशांति की वर्षा उस पर अनिवार्य है।

३. तीसरे सूत्र की तुलना हम महावीर के इस सूत्र **'ऐसोऽवि धम्मो विसओवमो'**–धर्म भी विष तुल्य हो जाता है–से कर सकते हैं। जो सद्गुण–धर्म का आचरण स्वयं के आनंद के लिए न कर, कुछ पाने के लिए करता है तो वह 'फोड़ा' (विष) हो जाता है।

'मलिक बिन दींवान' नाम का एक महान् साधक हुआ है। वह संपन्न था। इच्छा हुई कि मस्जिद का व्यवस्थापक बनूं। सब कुछ छोड़कर मस्जिद में बैठ गया। लोग कहने लगे–'कितना धार्मिक व्यक्ति है। दिन-रात यहीं रहता है। खुदा का दीवाना हो गया है।' एक वर्ष बीत गया, किन्तु किसी ने मस्जिद के व्यवस्थापक बनाने की बात नहीं की। आखिर सोचा–व्यर्थ एक वर्ष खोया। यदि एक वर्ष खुदा के लिए देता तो न मालूम आज कहां होता। मस्जिद छोड़ जैसे ही वह बाहर आने लगा, लोगों ने सर्व सम्मति से व्यवस्थापक बनाने का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

निर्णय सुनाया। मलिक ने हंसते हुए कहा–'जब मैं बनने को तैयार था तुम नहीं बना रहे थे और अब मैं बनने की इच्छा त्याग चुका हूं तब तुम बनाने को तैयार हो। जाओ, मैं अब वासना छोड़ चुका हूं।

जैसे ही उसने वासना छोड़ी वह स्वधर्म में प्रतिष्ठित हो गया। जो सद्गुण फोड़ा था वही अब आनंद बन गया।

मनुष्य धर्म नहीं चाहता। वह चाहता है फल। धर्म का फल वस्तुतः भौतिक प्राप्ति नहीं है। उसका वास्तविक परिणाम है–स्वभाव में स्थिति। स्वभाव की स्थापना के लिए धर्म का जहां अभ्यास होता है वहां दीनता, दुःख, असंतोष जैसी वृत्तियों को जीवित रहने का अवकाश कहां रहता है?

आत्मा का स्वभाव धर्म है–इस मूल मंत्र को कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए। जो स्वभाव के लिए जीता है, मरता है, चलता है, बोलता है, सब क्रियाएं करता है वह कैसे स्वयं में दुःखी हो सकता है? दूसरों की दृष्टि में बाह्य अभाव से वह पीड़ित हो सकता है, किंतु स्वयं में वह कभी पीड़ित नहीं हो सकता। उसके लिए तो वह अभाव भी धन्यवादार्ह है। वह किसी भी स्थिति में अप्रसन्न नहीं रहता। उसकी दृष्टि प्रतिक्षण स्वयं के अंतर्दर्शन में निहित रहती है।

**भगवान् प्राह**

**४७. धर्माधर्मौ पुण्यपापे, अजानन् तत्र मुह्यति।**
**धर्माधर्मौ पुण्यपापे, विजानन् नात्र मुह्यति॥**

**भगवान् ने कहा–जो व्यक्ति धर्म-अधर्म तथा पुण्य-पाप को नहीं जानता, वही इस विषय में भ्रांत होता है। जो इनको जानता है, वह इस विषय में भ्रांत नहीं होता।**

**४८. द्विधा निरूपितो धर्मः, संवरो निर्जरा तथा।**
**निरोधः संवरस्यात्मा, निर्जरा तु विशोधनम्॥**

**धर्म की प्रज्ञापना के दो प्रकार हैं–संवर और निर्जरा। संवर का स्वरूप है–असत् और सत् प्रवृत्ति का निरोध। निर्जरा का स्वरूप है–विशोधन, कर्म का क्षय।**

**४९. सन्तोऽसन्तश्च संस्काराः, निरुद्ध्यन्ते हि सर्वथा।**
**क्षीयन्ते संचिताः पूर्वं, धर्मेणैतच्च तत्फलम्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संवर धर्म से असत् और सत् संस्कार सर्वथा निरुद्ध होते हैं तथा निर्जरा धर्म से पूर्व संचित संस्कार क्षीण होते हैं। धर्म का यही फल है।

५०. असन्तो नाम संस्काराः, संचीयन्ते नवाः नवाः।
अधर्मेणैतदेवास्ति, तत्फलं तत्त्वसम्मतम्॥

अधर्म से नए-नए असत् संस्कारों का संचय होता है। अधर्म का यही तत्त्वसम्मत फल है।

५१. संस्कारान् विलयं नीत्वा, चित्वा तानन्तरात्मनि।
क्रियामेतौ प्रकुर्वति, धर्माधर्मौ निरन्तरम्॥

धर्म और अधर्म अंतरात्मा में संस्कारों का विलय और संचय निरंतर करते रहते हैं।

५२. पुण्यपापे प्रजायेते, हेतुभूते प्रमुख्यतः।
सुखदुःखानुभूत्योश्च, सामग्र्यां नैव निश्चितिः॥

पुण्य मुख्यतः सुख—प्रिय संवेदन की अनुभूति का हेतु बनता है और पाप मुख्यतः दुःख—अप्रिय संवेदन की अनुभूति का हेतु बनता है। पुण्य और पाप सुख-दुःख की साधन-सामग्री में हेतु बनें, यह निश्चित नियम नहीं है।

५३. द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालः, व्यवस्था बुद्धिपौरुषे।
एतानि हेतुतां यान्ति, पुण्यपापोदये ध्रुवम्॥

पुण्य और पाप के उदय में द्रव्य, क्षेत्र, काल, व्यवस्था, बुद्धि और पौरुष—ये निश्चित हेतु बनते हैं।

५४. धार्मिको नार्थसंपन्नः, धनाढ्यः स्यादधार्मिकः।
नेति धर्मस्य वैफल्यं, फलं तस्यात्मनि स्थितम्॥

धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति अर्थ-संपन्न नहीं है और धर्म का आचरण न करने वाला अर्थ-संपन्न है, इसमें धर्म की विफलता नहीं है। धर्म का फल है आत्मोदय। वह आत्मा में ही स्थित है।

५५. अनावृतं भवेद् ज्ञानं, दर्शनं स्यादनावृतम्।
प्रस्फुरेत् सहजानंदः, वीर्यं स्यादपराजितम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**५६. प्रवर्धते परा शान्तिः, धृतिः संतुलनं क्षमा।**
**फलान्यमूनि धर्मस्य, फलं तस्यास्ति नो धनम्॥**
**(युग्मम्)**

**धर्म से ज्ञान और दर्शन अनावृत होते हैं, सहज आनंद स्फुरित होता है और वीर्य अपराजेय होता है।**

**धर्म से परम शांति, धृति, संतुलन और क्षमा—ये गुण बढ़ते हैं। ये सब धर्म के फल हैं। धन मिलना धर्म का फल नहीं है।**

जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द क्रिया वाचक नहीं है। वह आत्मा पर लगे सूक्ष्म पौद्गलिक द्रव्य का वाचक है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति से कर्म का आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण और निर्झरण। जब आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती है, तब वह परम आत्मा बन जाती है।

कर्म विषयक पारंपरिक धारणाओं के आधार पर यह माना जाता है कि आत्मिक या पौद्गलिक—सभी पदार्थों की प्राप्ति कर्मों के द्वारा ही होती है। यह धारणा एकांततः सत्य नहीं है।

कर्म आठ हैं :

१. ज्ञानावरणकर्म—ज्ञान के आवारक कर्म पुद्गल।
२. दर्शनावरणकर्म—सामान्य बोध के आवारक कर्म पुद्गल।
३. वेदनीयकर्म—सुख-दुःख की अनुभूति के निमित्त कर्म पुद्गल।
४. मोहनीयकर्म—आत्मा को मूढ़ या विकृत बनाने वाले कर्म पुद्गल।
५. आयुष्यकर्म—जीवन के निमित्तभूत कर्म पुद्गल।
६. नामकर्म—शरीर संबंधी विविध सामग्री के हेतुभूत कर्म पुद्गल।
७. गोत्रकर्म—सम्मान-असम्मान के हेतुभूत कर्म पुद्गल।
८. अंतरायकर्म—क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव डालने वाले कर्म पुद्गल।

इनमें—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—ये चार कर्म आत्मा के मूल गुणों के आवारक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। शेष चार कर्म शुभ-अशुभ पौद्गलिक दशा के निमित्त बनते हैं।

सुख-सुविधा की सामग्री की प्राप्ति केवल कर्म से नहीं होती। उनकी प्राप्ति में देश, काल, निमित्त, पुरुषार्थ आदि का भी पूरा योग रहता है। अमुक देश के वासी अशिक्षित हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनमें ज्ञानावरण कर्म का क्षय-क्षयोपशम नहीं है। किन्तु कुछ बाह्य परिस्थितियां ऐसी होती हैं कि वे उनके ज्ञान में बाधक बनती हैं। जब वे स्थितियां दूर हो जाती हैं, तब शिक्षा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के लिए अनुकूल वातावरण पैदा होता है और शत-प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित हो जाते हैं। अतः उनकी शिक्षा में बाह्य निमित्तों का भी पूरा-पूरा महत्त्व है। साम्यवादी देशों में अमुक-अमुक व्यवस्थाओं के कारण समाज की रचना एक भिन्न प्रकार से होती है। वहां उसकी रचना का कारण कर्म-जन्य नहीं हो सकता। वह व्यवस्था जन्य है।

धन की प्राप्ति किसी कर्म से होती है, ऐसा नहीं है। सम्मान, असम्मान की अनुभूति कर्म से हो सकती है और उसमें धन का भाव और अभाव भी निमित्त बन सकता है।

हम चिलचिलाती धूप में चलते हैं। दुःख का अनुभव होता है। चलते-चलते मार्ग में वृक्ष की छांह में बैठ जाते हैं। वहां सुख का अनुभव होता है। दुःख का अनुभव होना असातवेदनीय कर्म का कार्य है और सुख का अनुभव होना सातवेदनीय कर्म का। किन्तु चिलचिलाती धूप या छांह की प्राप्ति किसी कर्म से नहीं होती।

फलित यह है कि आत्मा की आंतरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से आंतरिक योग्यता आवृत या विकृत होती है। बाह्य व्यवस्थाएं या परिस्थितियां कर्म के उदय में निमित्त बन सकती हैं किन्तु वे आत्मा पर सीधा प्रभाव नहीं डाल सकतीं। कर्मों का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी; सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। द्रव्य, क्षेत्र, काल, व्यवस्था, बुद्धि, पौरुष आदि उदयानुकूल सामग्री को पाकर कर्म अपना फल देता है। इसीलिए कर्मफल की प्राप्ति में इतनी विविधताएं देखी जाती हैं।

प्रस्तुत श्लोकों में ये प्रश्न उपस्थित किए गए हैं कि—

१. धार्मिक दुःखी देखा जाता है और अधार्मिक सुखी।

२. धार्मिक दरिद्र देखा जाता है और अधार्मिक धनवान्।

इनका कारण कर्म है या और कोई? इन प्रश्नों के समाधान में बताया गया है कि धर्म आत्म-गुणों का पोषक है और अधर्म उनका विघातक। उनसे सुख-दुःख की अनुभूति देनेवाले पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती। इनकी प्राप्ति में द्रव्य, क्षेत्र आदि की अनुकूलता अपेक्षित होती है। दारिद्र्य और धनाढ्यता का धर्म से कोई संबंध नहीं है। एक अत्यंत दरिद्र रहते हुए भी महान् धार्मिक हो सकता है और एक धनाढ्य होकर भी महान् अधार्मिक हो सकता है। धन के अर्जन में धर्म की तरतमता काम नहीं करती। उसके अर्जन में बुद्धि, कौशल, काल, अवसर आदि प्रमुख रहते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

धर्म के फल ये हैं–ज्ञान का अनावरण, दर्शन का अनावरण, सहज आनंद की प्राप्ति, अपराजित शक्ति की प्राप्ति, शांति, धृति, संतुलन, क्षमा आदि गुणों की प्राप्ति।

**मेघः प्राह**

**५७. कथमात्मतुलावादः, भगवंस्तव सम्मतः।**
**भिन्नानि सन्ति कर्माणि, कृतानि प्राणिनामिह॥**

**मेघ ने पूछा–भगवन्! प्राणियों के अपने कृत कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मतुलावाद– आत्मौपम्यवाद का सिद्धांत आपको सम्मत क्यों है?**

शुकदेव स्वयं में संदिग्ध थे कि उन्हें आत्मबोध हुआ है या नहीं। वे महाराज जनक के पास पहुंचे। जनक उस समय के बोधि-प्राप्त व्यक्तियों में से एक थे। जनक ने पूछा–'आपने मार्ग में आते हुए क्या देखा? द्वार पर क्या देखा और यहां क्या देख रहे हैं?' शुकदेव का एक ही उत्तर था–'मिट्टी के खिलौने।' जनक ने कहा–'आप अप्राप्त को प्राप्त कर चुके हैं। भेद बाहर है, आकृतियों का है, चेतना में कोई भेद नहीं है।

महावीर जिस शिखर से मेघ से बात कर रहे हैं, वह मेघ की बुद्धि का स्पर्श कैसे करे? मेघ खड़ा है तलहटी में। उसे आत्मतुला का कोई अनुभव नहीं है। जो भेद ही देखता है और भेद में ही जीता है उसे अभेद का दर्शन कैसे हो? जिन्होंने भी शिखर का स्पर्श किया है उन्होंने शिखर की बात की है–

**'सजा का हाल सुनाये, जजा की बात करे**
**खुदा जिसे मिला हो, वह खुदा की बात करे।'**

महावीर ने जो देखा उसका प्रतिपादन किया। वे जानते हैं–भिन्नता क्यों है? लेकिन भिन्नता के पीछे खड़े उस अभिन्न से वे पूर्णतया परिचित हैं। इसलिए वे कहते हैं–प्रत्येक आत्मा स्वरूपतः एक है। स्वभाव में कोई अनेकत्व नहीं है। जिस दिन जो भी आत्मा स्वरूप को उपलब्ध होगी, उसे वही अनुभव होगा जो कि उसका धर्म–स्वभाव है। भिन्नता कर्मकृत है, सूक्ष्म-शरीर (कारण शरीर) कृत है। इसका जिसे स्पष्टतया बोध हो जाता है, वह फिर भेद-कृत अवस्थाओं के कारण बड़ा-छोटा, नीच-ऊंच, धनी-निर्धन आदि परिवर्तनों में उलझेगा नहीं और न उन्हें शाश्वत भी समझेगा।

तत्त्वज्ञान की कमी, तत्त्वज्ञान का न होना, अथवा उसके प्रति प्रमत्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होनेवाला व्यक्ति ही विषयों में भ्रांत होता है। जो जागृत है और तत्वज्ञ है वह भ्रांत नहीं होता है। पुण्य और पाप ये नव तत्त्वों में से दो है। पुण्य का साधन धर्म है सतोगुण है और पाप का हेतु अधर्म–रजोगुण, तमोगुण है। धर्म चेतना का स्वभाव है। उसके जितने भी साधन हैं वे धर्म ही हैं। अधर्म स्वभाव नहीं है, वह चेतना की बहिर्भावों में गति है। जब चेतना अपने से हटकर बाह्य पदार्थों, विषयों में लीन होती है तब उसके साथ असत् कर्म का उपचय होता है, यह असत् कर्म अधर्म है। धर्म चेतना की विकासोन्मुख अवस्था है। उसके साथ आनेवाला कर्म समूह पुण्य है। पुण्य का फल अच्छा है और पाप का फल बुरा। जिसे इस सचाई का ज्ञान है और उसके प्रति सचेत है वह सहज ही अधर्म मार्ग की ओर नहीं जाता। अज्ञानी व्यक्ति ही अधर्म, वासना, विषयों का मार्ग पकड़ता है।

चित्त शुद्धि या चेतना की निर्मलता के दो मार्ग हैं–संवर और निर्जरा। ये दोनों शब्द जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। नव तत्त्वों में इन दोनों का समावेश है। ये दोनों चेतना के निर्मलीकरण और पूर्ण विकास में अपनी विशिष्ट भूमिका रखते हैं। संवर का कार्य है आत्मा में आने वाले विजातीय तत्त्व के मार्ग का निरोध करना। संवर यानी द्वार को बंद कर देना। निर्जरा वह तत्त्व है जिससे आत्मा के साथ संपृक्त विजातीय तत्त्व को विलग करना, कर्म को आत्मा से पृथक् करना। जैसे-जैसे कर्म विलग होते जाते है वैसे-वैसे चेतना विशद होती जाती है। विशद चेतना में ही चेतन तत्त्व का स्फुरण होता है। संवर से नये कर्म का आगमन निरुद्ध होता है और निर्जरा से पुराने कर्मों का क्षय होता है। चेतना की विशुद्धि में इन दोनों का प्रधान दायित्व है।

धर्म का मुख्य फल न धन-वैभव है और न पद-प्रतिष्ठा है, न राज्य-प्राप्ति और न स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति है। ये सब प्रासंगिक फल हैं। मुख्य फल है–सत्, असत् आदि समस्त संस्कारों को क्षीण कर आत्मा को अपने मूलरूप में स्थापित करना। अधर्म की गति उल्टी है। वह नये-नये संस्कारों का संचय करता है और आत्मा को अपने स्वभाव से दूर ले जाता है। धर्म-अधर्म की यह क्रिया सतत चलती रहती है।

धर्म और अधर्म के बोध में व्यक्ति का विवेक स्पष्ट हो तो सहज ही अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाता है। जहां स्पष्ट बोध नहीं होता है वहां प्रश्न खड़े होते हैं। धार्मिक दुःखी देखा जाता है, अधार्मिक सुखी, अधार्मिक वैभववान है और धार्मिक वैभवहीन, धार्मिक के पास सुख-साधनों का अभाव

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है और अधार्मिक के पास प्रचुर साधन है आदि। यह सारा अस्वाभाविक चिंतन है।

धर्म का वास्तविक संबंध चेतना से है। वह चेतना पर पड़े हुए अज्ञान और अदर्शन के पर्दे को दूर करता है। आत्मा में निहित अतुल शक्ति और अमाप्य आनंद का प्रकटीकरण करना ही उसका कार्य है। धर्म से उत्कृष्ट शांति, धृति, क्षमा, सहजता, विनम्रता, सरलता, आत्मतोष आदि गुणों की प्राप्ति होती है। यह सब धर्म की ही देन है। अधर्म इस कार्य को नहीं कर सकता, अपितु वह तो इन पर पड़े हुए आवरण को और अधिक सघन बनाता है। जिसका जो कार्य है वह निश्चित रूप से करता है। इसलिए दोनों की अलग-अलग भूमिका को सदा सामने रखना चाहिए जिससे चित्त अभ्रांत बना रहे।

**भगवान् प्राह**

**५८. वत्स! तत्त्वं न विज्ञातं, साम्प्रतं तन्मयः शृणु।**
**समस्त्यात्मतुलावादः, सम्मतो मे स्वरूपतः॥**

**तुमने अभी सत्त्व को नहीं जाना। तन्मय होकर सुनो। मैंने आत्मा के मूल स्वरूप–निश्चय नय की दृष्टि से आत्मतुलावाद का प्रतिपादन किया है।**

**५९. अनन्तं नाम चैतन्यं, आनन्दश्चाप्यबाधितः।**
**अस्त्यप्रतिहता शक्तिः जीवमात्रे स्वरूपतः॥**

**प्राणी मात्र में अनंत चैतन्य, अनाबाध आनंद और अप्रतिहत शक्ति है। यह प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है।**

**६०. कर्मभिर्नैव जीवेषु, कृतो भेदः स्वरूपतः।**
**स्वरूपावरणे भेदः, मात्राभेदेन तैः कृतः॥**

**कर्म जीवों के स्वरूप में भेद नहीं कर पाते। उनके द्वारा जीव के स्वरूपावरण में भेद होता है। वह भेद सबमें समान नहीं होता किन्तु मात्राभेद से होता है।**

**६१. अस्तित्वं भिद्यते नैव, तेनात्मौपम्यमर्हति।**
**अभिव्यक्तावसौ भेदः नासौ भेदोस्ति वस्तुतः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कर्म आत्मा के अस्तित्व में भेद नहीं कर पाते, अतः आत्मौपम्य वास्तविक है। अस्तित्व की अभिव्यक्ति में भेद होता है। इसलिए यह भेद वास्तविक नहीं है।

मेघः प्राह

६२. कथं त्वयाऽहमिन्द्राणां, सिद्धान्तः प्रतिपादितः?
यद्येष घटते तर्हि, कर्मवादो विलीयते॥

मेघ ने कहा–भगवन्! आपने अहमिन्द्र के सिद्धांत का प्रतिपादन कैसे किया? यदि यह सही है तो कर्मवाद विघटित हो जाता है।

अहमिन्द्र–यह जैन परिभाषिक शब्द है। इसका शब्दार्थ है–मैं इन्द्र हूं। इसका तात्पर्य है–ऐसी व्यवस्था जहां सब समान हों, कोई छोटा-बड़ा न हो। सब अपने आपको एक-दूसरे के समान समझते हों।

जैन सिद्धांत में सबसे ऊंचे देवलोक का नाम है–'सर्वार्थसिद्ध'। वहां के सभी देव 'अहमिन्द्र' होते हैं। उनमें स्वामी-सेवक की व्यवस्था नहीं होती।

भगवान् प्राह

६३. स्वामिसेवकसंबंधः, व्यवस्थापादितो ध्रुवम्।
सामुदायिकसंबंधाः, सर्वे नो कर्मभिः कृताः॥

भगवान् ने कहा–मेघ! स्वामी-सेवक का संबंध व्यवस्था पर आधारित है। सभी सामुदायिक संबंध कर्मकृत नहीं होते।

६४. राजतंत्रे भवेद् राजा, गणतंत्रे गणाधिपः।
व्यवस्थामनुवर्तेत, विधिरेष न कर्मणः॥

राजतंत्र में राजा होता है और गणतंत्र में गणनायक। यह विधि कर्म के अनुसार नहीं, किन्तु व्यवस्था के अनुसार चलती है।

६५. दासप्रथा प्रवृत्तासौ, यदि कर्मकृता भवेत्।
तदा तस्या विरोधोऽपि, कथं कार्यो मया भवेत्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वत्स! यदि वर्तमान में प्रचलित दासप्रथा कर्मकृत हो तो मैं उसका विरोध कैसे कर सकता हूं?

६६. नासौ कर्मकृता वत्स!, व्यवस्थापादिता ध्रुवम्।
सामाजिक्या व्यवस्थायाः, परिवर्तोऽपि मे मतः॥

वत्स! यह दासप्रथा कर्मकृत नहीं है, किन्तु व्यवस्थाकृत है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन भी मुझे मान्य है।

६७. देहधारणसामग्री, मीनानां सुलभा जले।
न तत्र बाधते कर्म, किं बाधेत तदा नरान्?॥

मछलियों को अपने शरीर को धारण करने में सहायक सामग्री जल में सुलभ होती है। वहां कोई कर्म किसी को बाधित नहीं करता तो फिर मनुष्य के देह धारण की सामग्री मिलने में कर्म बाधक कैसे होगा?

६८. सर्वेषां च मनुष्याणां, सुलभा जीविका भवेत्।
औचित्येन व्यवस्थायाः, कर्मवादो न दुष्यति॥

उचित व्यवस्था होने पर सभी मनुष्यों को आजीविका सुलभ हो, तो इससे कर्मवाद के सिद्धांत में कोई दोष नहीं आता।

६९. दुर्वृत्तायां व्यवस्थायां, लोकः कष्टानि गच्छति।
सद्वृत्तायां व्यवस्थायां, लोको हि सुखमृच्छति॥

दुष्प्रवृत व्यवस्था में लोग दुःखी होते हैं और सत्प्रवृत्त व्यवस्था में वे सुखी होते हैं।

७०. सुखदुःखे व्यवस्थाप्ये, नारोप्ये कर्मसु क्वचित्।
सुखदुःखे च कर्माप्ये, व्यवस्थायाः शिरस्यपि॥

व्यवस्था से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख को कर्म पर आरोपित नहीं करना चाहिए और कर्म से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख का भार व्यवस्था के सिर पर नहीं डालना चाहिए।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

७१. प्रतिव्यक्तिविभिन्नास्ति, योग्यता स्वगुणात्मिका।
कर्मावरणमात्रायाः, तारतम्यविभेदतः॥

जैसे आत्मौपम्य का सिद्धांत मान्य है, वैसे ही व्यक्ति-व्यक्ति में स्वगुणात्मक योग्यता की भिन्नता का सिद्धांत भी मान्य है। उसका आधार है कर्म के आवरण की मात्रा का तारतम्य।

७२. उपशान्तो भवेत् क्रोधः, मानं माया प्रलोभनम्।
समीचीना व्यवस्था स्याद्, स्वातंत्र्यं स्यादबाधितम्॥

जब क्रोध, मान, माया और लोभ उपशांत होते हैं, तब व्यवस्था अच्छी होती है और सबकी स्वतंत्रता अबाधित रहती है।

७३. उत्तेजितो भवेत् क्रोधः, मानं माया प्रलोभनम्।
व्यवस्थाप्यसमीचीना, पारतंत्र्यं प्रवर्धते॥

जब क्रोध, मान, माया और लोभ उत्तेजित होते हैं, तब व्यवस्था अच्छी नहीं रहती और परतंत्रता बढती है।

मेघः प्राह

७४. धन्योस्म्यहं कृतार्थोऽस्मि, संशयो मे निराकृतः।
कर्मणश्च व्यवस्थायाः, स्पष्टो बोधोप्यजायत॥

मेघ बोला—भगवन्! मैं धन्य हो गया हूं, कृतार्थ हो गया हूं। आपने मेरे संशय का निवारण किया है। कर्मवाद और व्यवस्था का बोध भी मुझे स्पष्ट हुआ है।

कुछ स्थितियां व्यवस्थाजन्य होती हैं और कुछ कर्मजन्य होती हैं। इनका विवेक होना आवश्यक है। आज का व्यक्ति व्यवस्थाजन्य परिस्थितियों को कर्मजन्य मानकर उलझ जाता है, हताश होकर पुरुषार्थ से मुंह मोड़ लेता है। ऐसी स्थिति में वह अपने लिए नई समस्याएं पैदा कर लेता है। कुछ सुख-दुःख कर्म-जन्य होते हैं और कुछ व्यवस्थाजन्य। इनको एक-दूसरे पर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आरोपित नहीं करना चाहिए।

जब सामाजिक व्यवस्था अच्छी नहीं होती तब प्रत्येक व्यक्ति दुःख पाता है और जब वह सुधर जाती है तब सब सुख पाते हैं। यह व्यवस्थापादित सुख दुःख की बात है। इसी प्रकार जब व्यक्ति-व्यक्ति का आत्म-विकास प्रगति पर होता है, क्रोध आदि दुर्गुणों का ह्रास होता है तब वे अच्छे समाज की रचना कर सकते हैं। दुर्गुणों के नाश की बात कर्मजन्य है।

जब आंतरिक दोष कम होते हैं तब सामाजिक व्यवस्था अच्छी होती है और जब वे प्रबल होते हैं तब सामाजिक व्यवस्था बुरी हो जाती है।

यह स्पष्ट विवेक होना चाहिए कि क्रोध, मान, राग, द्वेष आदि कर्मजन्य दोष हैं। किन्तु उनकी अभिव्यक्ति स्थिति-सापेक्ष होती है, बाह्य परिस्थिति के आधार पर होती है। यदि अनुकूल स्थिति नहीं मिलती तो वे कर्मजन्य दोष व्यक्त नहीं होते, अव्यक्त रहकर ही टूट जाते हैं।

अतः हम सब कुछ कर्मजन्य न मानकर व्यवस्थाजन्य दोषों का परिहार करने के लिए उचित पुरुषार्थ करें।

समाहित मन और असमाहित मन दोनों की भिन्न-भिन्न स्थितियां होती हैं। असमाहित मन उद्विग्न, अशांत और उदास रहता है। समाहित मन शांत, प्रसन्न और स्थिर होता है। मेघ की आशंका दूर हुई। वह अपने आपमें धन्य हो गया उसे स्पष्ट बोध हो गया कि सबकुछ कर्मकृत नहीं है। व्यवस्थाओं का भी अपना बड़ा हाथ होता है। अनेक व्यक्तियों की जन्मकुंडली में राजयोग होता है, किंतु सब प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति नहीं बन सकते, बनते एक-एक ही है। परिस्थितियां किस समय कौन-सी करवट लेती है, पता नहीं चलता। जिसकी कल्पना नहीं होती, वह बन जाता है और जिसकी कल्पना होती है वह नहीं बन पाता। इन सब के पीछे व्यवस्था परिवर्तन का दर्शन स्पष्ट है। व्यवस्थाएं नियत नहीं होतीं।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**सुखदुःखमीमांसानामा द्वितीयः अध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ३

# आमुख

सुख और दुःख जीवन के सहचारी हैं। सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। दुःख नहीं चाहने पर भी होता है। कुछ उसमें खिन्न होते हैं और कुछ नहीं। ऐसा क्यों? दुःख कर्म-कृत है। वह कर्म का भोग है। जो यह जानता है, वह न दूसरों पर इसका आरोपण करता है और न खिन्न ही होता है।

कर्म के बीज हैं—राग और द्वेष। ये दोनों मोह-कर्म की शाखाएं हैं। मोह जीत लेने पर दोनों विजित हो जाते हैं। मोह के द्वारा होने वाली आत्म-विमूढता का इस अध्याय में स्पष्ट दिग्दर्शन है। मोह का उन्मूलन करने पर अन्य कर्मों की शक्ति स्वतः ही जर्जर हो जाती है। भगवान् महावीर इसीलिए मेघ को उस निर्द्वन्द्व आनंद की प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं—सारा संसार पौद्गलिक है, भौतिक है। सुख साबाध और क्षणिक है। आत्मा शाश्वत है। उसके लिए शाश्वत सुख ही अभीष्ट है। मोह से मूढ मनुष्य उस शाश्वत सुख से मुंह मोड़ बैठा है। वह अपने से अपरिचित है और अपरिचित है वास्तविक सुख से। मोह दुःख है और मोह-मुक्ति सुख। सुख-दुःख और कुछ नहीं, मोह—आसक्ति का विलय सुख है और उसकी अवस्थिति दुःख है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# आत्मकर्तृत्ववाद

मेघः प्राह

१. कष्टानि सहमानोऽपि, घोरं नैको विषीदति।
एकस्तल्लेशतो दीनस्तत्त्ववित्! तत्त्वमत्र किम्॥

मेघ बोला—एक व्यक्ति घोर कष्टों को सहन करता हुआ भी खिन्न नहीं होता और दूसरा व्यक्ति थोड़े से कष्ट में भी अधीर हो जाता है। हे महान् तत्त्ववेत्ता! इसका क्या कारण है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

२. कष्टं यो मन्यते स्पष्टं, परिणामं स्वकर्मणः।
श्रद्धत्ते यो विना भोगं, स्वकृतं नान्यथा भवेत्॥

३. स्वकृतं नाम भोक्तव्यं, अत्राऽमुत्र न संशयः।
आयातेष्वपि कष्टेषु, इति जानन् न खिद्यते॥
(युग्मम्)

भगवान् ने कहा—जो व्यक्ति कष्ट को निश्चित रूप से अपने किए हुए कर्म का परिणाम मानता है और यह श्रद्धा रखता है कि किए हुए कर्म को भोगे बिना उससे मुक्ति नहीं मिल सकती और जो यह निश्चित रूप से जानता है कि अपने किए हुए कर्म इस जन्म में या अगले जन्म में भुगतने ही पड़ते हैं, वह कष्ट के आ पड़ने पर भी खिन्न नहीं होता।

४. कष्टान्यामंत्रयेत् सोऽथ, कृतशुद्ध्यै यथाबलम्।
स्वीकृतस्याऽप्रच्यवार्थं, मोक्षमार्गस्य संततम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**कष्ट के रहस्य को जानने वाला व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कष्टों को आमंत्रित भी करता है। उसके दो हेतु हैं–**

**१. पूर्व-कृत कर्मों की शुद्धि–निर्जरा के लिए।**

**२. स्वीकृत मोक्षमार्ग में सतत संलग्न रहने के लिए।**

**५. अकष्टासादितो मार्गः, कष्टापाते प्रणश्यति।**
**कष्टेनापादितो मार्गः, कष्टेष्वपि न नश्यति॥**

**कष्ट सहे बिना जो मार्ग मिलता है, वह कष्ट आ पड़ने पर विनष्ट हो जाता है और कष्ट सहकर जो मार्ग प्राप्त किया जाता है, वह कष्टों के आ पड़ने पर भी विनष्ट नहीं होता।**

आस्तिक या अध्यात्मवादी व्यक्ति का दृष्टिकोण प्रारंभ से ही सत्य का स्पर्श किए चलता है। वह भौतिकवाद कुछ नहीं है, यह नहीं मानता। वह यह मानता है कि यह जीवन का साध्य नहीं है। सत्योन्मुखी दृष्टि के होने पर भौतिकवाद आत्मविकास का बाधक नहीं होता। अन्यथा व्यक्ति उसी के पीछे पागल बन जाता है, कष्टों से उकताकर धैर्य खो देता है और नये-नये दुःखों का अर्जन कर लेता है।

धार्मिक व्यक्ति दुःखों से कतराता नहीं। वह यह मानकर चलता है कि मैं हल्का–निर्भार हो रहा हूं। कष्टों में उसके धैर्य का बोध और अधिक सुदृढ़ होता है। **'विपदि धैर्यम्'**–विपत्ति में धीरज का होना महान् पुरुषों का लक्षण है। सोने की शुद्धि के लिए अग्निस्नान अपेक्षित है, वैसे ही आत्म-शुद्धि के लिए कष्टाग्नि की अपेक्षा है। अध्यात्मवादी समागत कष्टों को केवल झेलता ही नहीं किंतु अनागत दुःखों को निमंत्रित भी करता है। वह साधना में निखार लाने के लिए विविध तपों का अवलंबन लेता है।

**६. बलं वीर्यं च संप्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः।**
**क्षेत्रं कालञ्च विज्ञाय, तथात्मानं नियोजयेत्॥**

**अपने बल–शारीरिक सामर्थ्य, वीर्य–आत्मिक सामर्थ्य, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर तथा क्षेत्र और काल को जानकर व्यक्ति उसी के अनुसार अपनी आत्मा को नियोजित करे।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**७. तपस्तथा विधातव्यं, चित्तं नार्त्तं भजेद् यथा।**
**विवेकः प्रमुखो धर्मो, नाऽविवेको हि शुद्ध्यति॥**

**तप वैसा ही करना चाहिए, जिससे मन आर्त्त-ध्यान में न फंसे। क्योंकि सब धर्मों में विवेक प्रमुख धर्म है। विवेकशून्य व्यक्ति अपने को शुद्ध नहीं बना पाता।**

श्रमण परंपरा में तप की मुख्यता रही है।

तप ब्रह्मा है।

तप स्व-धर्म में प्रवृत्ति है।

तप इन्द्रिय और मन का वशीकरण है।

इन्द्रिय-विषय और कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का निग्रह कर स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा आत्म-संपर्क साधने का नाम तप है। केवल आहार-त्याग का ही नाम तप नहीं है। उसके साथ विषय और कषायों का परित्याग भी अपेक्षित है।

जैन धर्म का झुकाव तप की ओर अधिक रहा है। भगवान् महावीर ने स्वयं विविध कठिन तपों का अवलंबन लिया था। वे सत्य-साक्षात्कार के लिए व्यग्र थे। उनकी दैहिक, मानसिक और आत्मिक क्षमता भी अनन्य थी।

बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि महात्मा बुद्ध की तरह भगवान् महावीर मध्यममार्गी नहीं थे। वे शारीरिक उत्पीड़न पर बल देते थे। किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। भगवान् महावीर का विवेकवाद मध्यम मार्ग का ही एक रूप है। उन्होंने अविवेक को खतरनाक कहा है। उनका दर्शन था—प्रत्येक क्रिया विवेकयुक्त हो। अविवेकपूर्ण तप उनकी दृष्टि में सम्यक् नहीं था। जिस तप के द्वारा चित्त क्लिष्ट होता है, भावना की विशुद्धि नहीं रहती, वस्तुतः वह केवल काय-क्लेश है।

वे कहते है—अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल को पहले तोलो, अपनी क्षमता को क्रमशः बढ़ाओ, उसे वहीं तक सीमत मत रखो। जहां देखो कि तप से चित्त आर्त्त हो रहा है, वहीं रुक जाओ, चित्त को शांत करो और फिर आगे बढो। तप के प्रति यह उनका विवेकवाद था। (तप के विशेष विवरण के लिए देखें अध्याय १२)

**८. स्वकृतं नाम भोक्तव्यं, श्रद्धत्ते नेति यो जनः।**
**श्रद्दधानोपि यो नैव, स्वात्मवीर्यं समुन्नयेत्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**९. स कष्टाद् भयमाप्नोति, कष्टापाते विसीदति।**
**आशङ्कां प्राप्य कष्टानां, स्वीकृतं मार्गमुज्झति॥**
**(युग्मम्)**

**जो मनुष्य इस बात में श्रद्धा नहीं रखता कि अपना किया हुआ कर्म भुगतना पड़ता है या इसमें श्रद्धा रखता हुआ भी अपनी आत्मशक्ति को सत्कार्य में नहीं लगाता, वह कष्ट से कतराता है। वह कष्ट आ पड़ने पर खिन्न होता है और कष्टों के आने की आशंका से अपने स्वीकृत मार्ग को त्याग देता है।**

नास्तिक–भौतिकवादी व्यक्ति कष्ट सहने में समर्थ नहीं होते। किए हुए कर्मों को भोगना होता है–इसमें उनका विश्वास नहीं होता। इसलिए सत्कार्यों में उनकी अभिरुचि नहीं होती और न इसे वास्तविक भी मानते हैं। वे कष्टों में अधीर बन अपने सत्त्व को गंवा बैठते हैं।

नास्तिकों में अध्यात्म का सर्वथा अभाव रहता है, यह एकांततः नहीं कह सकते। आस्तिकता की मात्रा उनमें दबी रहती है। समय पाकर किसी-किसी में वह उद्‌बुद्ध भी हो जाती है। बहुत से व्यक्ति सुख में नास्तिक होते हैं, और दुःख में आस्तिकता की ओर झुक जाते है। उन्हें यह लगने लगता है कि दुःख भी एक तत्त्व है। व्यक्ति जैसा करता है, उसे उसका फल भी भोगना होता है। **'कृतस्य कर्मणो नूनं, परिणामो भविष्यति'**–किए हुए कर्म का फल अवश्य भुगतना होता है।' मैं कर्म करने में स्वतंत्र हूं किंतु भोगने में परतंत्र हूं। फल अवश्य भुगतना पड़ता है।' ये विचार आस्तिकता की ओर ले जानेवाले हैं।

**१०. मार्गोयं वीर्यहीनानां, वत्स! नैष हितावहः।**
**धीरः कष्टमकष्टञ्च, समं कृत्वा हितं व्रजेत्॥**

**वत्स! यह वीर्यहीन व्यक्तियों का मार्ग है। यह मुमुक्षु के लिए हितकर नहीं है। धीर पुरुष सुख-दुःख को समान मानकर अपने हित की ओर जाता है।**

द्वंद्वों (सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, मान-अपमान आदि) में अधीरता का होना यह प्रकट करता है कि अभी हम अविद्या और अज्ञान के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

घेरे में हैं। धीर व्यक्ति बाधाओं को चीरता हुआ निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है। स्वहित के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं देखता।

**मेघः प्राह**

**११. सुखास्वादाः समे जीवाः, सर्वे सन्ति प्रियायुषः।**
**अनिच्छंतोऽसुखं यान्ति, न यान्ति सुखमीप्सितम्॥**

**१२. कः कर्त्ता सुखदुःखानां,को भोक्ता कश्च घातकः।**
**सुखदो दुःखदः कोस्ति,स्याद्वादीश! प्रसाधि माम्॥**
**(युग्मम्)**

**मेघ बोला—सब जीव सुख चाहते हैं। सबको जीवन प्रिय है। वे दुःख नहीं चाहते, फिर भी वह मिलता है और वे सुख चाहते हैं, फिर भी वह नहीं मिलता। सुख-दुःख का कर्त्ता कौन है? भोक्ता कौन है? कौन है इनका अंत करने वाला? सुख-दुःख देनेवाला कौन है? हे स्याद्वादीश! आप मुझे समाधान दें।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मेघ ने यहां चार प्रश्न प्रस्तुत किए हैं :

१. सुख-दुःख का कर्ता कौन है?

२. सुख-दुःख का भोक्ता कौन है?

३. सुख-दुःख का नाश करने वाला कौन है?

४. सुख-दुःख देने वाला कौन है?

ये चार प्रश्न प्रायः सभी दार्शनिकों के समाने आते रहे हैं। सभी दर्शन इन्हीं की परिक्रमा लिए चलते हैं। ऋषि-मुनियों ने इन्हीं प्रश्नों को समाहित करने के लिए साधना की और अपने दिव्य ज्ञान और अनुभूति से लोक-मानस को आलोकित किया।

दार्शनिक जगत् में मूलतः दो मुख्य धाराएं रही हैं—ईश्वरवादी धारा और आत्मवादी धारा।

कुछ दर्शन ईश्वर को जगत् का कर्ता स्वीकार कर सारी व्यवस्था को ईश्वराधीन मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर ही सुख-दुःख का कर्ता और हर्ता है। सुख-दुःख का भोग व्यक्ति करता है। वह भी ईश्वर की इच्छा से,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अन्यथा नहीं। इस ईश्वरवादी मान्यता ने व्यक्ति के स्वतंत्र पुरुषार्थ को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया। व्यक्ति एक सर्वशक्तिमान् प्रभु के हाथ का खिलौना मात्र रह गया।

आत्मवादी परंपरा ने ईश्वर को सर्वशक्ति-संपन्न मानकर भी उसे केवल द्रष्टा मात्र स्वीकार किया है। प्रवृत्ति का हेतु कर्म है। 'ईश्वर निष्कर्म होते हैं। कारण के अभाव में कार्य की निष्पत्ति नहीं होती। आत्मा सकर्मा होता है। सभी प्रवृत्तियां का कर्ता वही है।

इस परंपरा ने चारों प्रश्नों का उत्तर इस भाषा में दिया—

१. सुख-दुःख का कर्ता आत्मा है।

२. सुख-दुःख का भोक्ता आत्मा है।

३. सुख-दुःख का नाश करनेवाला आत्मा है।

४. सुख-दुःख का दाता आत्मा है।

जैन दर्शन आत्म-कर्तृत्व का पोषक है। उसके अनुसार आत्मा सद्-असद् प्रवृत्ति के द्वारा पुद्गलों को आकृष्ट करती है। आकर्षण कषाय-सापेक्ष होता है। मंदता और तीव्रता का आधार भी यही है। ये आकृष्ट पुद्गल कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों के उदय से आत्मा वैभाविक प्रवृत्तियों में जाती है और इनके क्षय से आत्मा स्वभाव की ओर अग्रसर होती है। जब इनका संपूर्ण विलय हो जाता है तब आत्मा निर्वाण को प्राप्त होती है, परमात्मा बन जाती है।

**भगवान् प्राह**

**१३. आत्मा कर्ता स एवास्ति, भोक्ता सोऽपि च घातकः।**
**सुखदो दुःखदः सैष, निश्चयाभिमतं स्फुटम्॥**

**सुख-दुःख का कर्त्ता आत्मा है। वही भोक्ता है। वही सुख-दुःख का अंत करने वाला है और वही सुख-दुःख को देने वाला है। यह निश्चय नय का अभिमत है।**

**१४. शरीरप्रतिबद्धोऽसौ, आत्मा चरति संततम्।**
**सकर्मा क्वापि सत्कर्मा, निष्कर्मा क्वापि संवृतः॥**

**यह आत्मा शरीर में आबद्ध है—कर्म शरीर के द्वारा नियंत्रित है। कर्मों के**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

द्वारा ही यह सतत भव-भ्रमण करता है। यह कर्म-वर्गणा का आकर्षण करता है, इसलिए सकर्मा है। यह क्वचित् पुण्यकर्म भी करता है, इसलिए सत्कर्मा है। यह क्वचित् कर्म का निरोध भी करता है, इसलिए निष्कर्मा है।

१५. कुर्वन् कर्माणि मोहेन, सकर्मात्मा निगद्यते।
अर्जयेदशुभं कर्म, ज्ञानमाव्रियते ततः॥

मोह के उदय से जो व्यक्ति कर्म–प्रवृत्ति करता है, वह सकर्मात्मा कहलाता है। सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बंधन करता है और उससे ज्ञान आवृत होता है।

१६. आवृतं दर्शनं चापि, वीर्यं भवति बाधितम्।
पौद्गलिकाश्च संयोगाः, प्रतिकूलाः प्रसृत्वराः॥

अशुभ कर्म के बंधन से दर्शन आवृत होता है, वीर्य का हनन होता है और प्रसरणशील पौद्गलिक संयोगों की अनुकूलता नहीं रहती।

१७. उदयेन च तीव्रेण, ज्ञानावरणकर्मणः।
उदयो जायते तीव्रो, दर्शनावरणस्य च॥

१८. तस्य तीव्रोदयेन स्यात्, मिथ्यात्वमुदितं ततः।
अशुभानां पुद्गलानां, संग्रहो जायते महान्॥
(युग्मम्)

ज्ञानावरण कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरण कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से मिथ्यात्व–दृष्टि की विपरीतता का उदय होता है और उससे अशुभ कर्म-वर्गणा का महान् संग्रह होता है।

१९. मिथ्यात्वं मोह एवास्ति, तेनात्मा विकृतो भवेत्।
सुचिरं बद्ध्यते सैष, स्वल्पं चारित्रमोहतः॥

मोह का ही एक प्रकार है मिथ्यात्व। उससे आत्मा विकृत होता है। मिथ्यात्व-मोह–दर्शनमोह से आत्मा दीर्घकाल तक बद्ध होता है और चारित्रमोह से (मिथ्यात्व-मोह) की अपेक्षा अल्पकाल तक बद्ध होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**२०. अज्ञानञ्चादर्शनञ्च, विकुर्वति न वा जनम्।**
**विकाराणां च सर्वेषां, बीजं मोहोस्ति केवलम्॥**

**अज्ञान और दर्शन—ज्ञानावरण और दर्शनावरण आत्मा को विकृत नहीं बनाते। जितने विकार हैं, उन सबका बीज केवल मोह है।**

**२१. ते च तस्योत्तेजनाय, हेतुभूते पराण्यपि।**
**परिकरत्वं मोहस्य, कर्माणि दधते ततः॥**

**ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म तथा शेष सभी कर्म मोहकर्म को उत्तेजित करने में निमित्त बनते हैं। इसलिए मोहकर्म सबमें प्रधान है और शेष सब कर्म उसी के परिवार हैं।**

संसारी आत्मा शरीर में आबद्ध है। उसकी बहुमुखी प्रवृत्तियां हैं। उन सबका वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है—बहिर्मुखी प्रवृत्तियां और अंतर्मुखी प्रवृत्तियां। बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का कर्ता आत्मा—बहिरात्मा या सकर्मात्मा है। अंतर्मुखी प्रवृत्तियां दो धारा में प्रवाहित होती हैं। एक धारा सर्वथा निष्कर्मात्मा की है और दूसरी सत्कर्मात्मा की। सत्कर्म की तीव्र परिणति ही निष्कर्म अवस्था है, जिसे परमात्मा कहते हैं। इस प्रकार एक ही आत्मा के तीन रूप बन जाते हैं—बहिरात्मा (सकर्मा), अंतरात्मा (सत्कर्मा) और परमात्मा (पूर्ण निष्कर्मा)।

मोहाच्छन्न आत्मा सकर्मा है। उसका देहाभ्यास नहीं छूटता। पर-पदार्थों में वह स्व-दर्शन करता है। उन्हें अपना समझता है, इसे अविद्या कहते हैं। सैद्धांतिक भाषा में यह मिथ्यात्व है। मोह के दो रूप हैं। एक दर्शन-मोह और दूसरा चरित्र-मोह।

दर्शन-मोह मिथ्यात्व है। अ-स्व में स्वबुद्धि का होना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वी का संसार-भ्रमण कभी उच्छिन्न नहीं होता। वह मोहासक्त होकर अशुभ कर्मों का अर्जन करता है। उनसे दर्शन और ज्ञान आवृत होते हैं, आत्म-शक्ति का ह्रास होता है और आत्मा अनुकूल पदार्थों से वियुक्त होती है। ज्ञान के तीव्र उदय से दर्शन का भी तीव्र उदय होता है। दर्शन के तीव्र उदय से दृष्टि का मोह प्रबल होता है। उससे फिर अशुभ कर्म की ओर प्राणी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह संसार-चक्र क्रमशः बढ़ता रहता है।

आत्म-अहित का मूल मिथ्यात्व है। चरित्र-मोह भी अहितकारी है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लेकिन इतना नहीं जितना कि दर्शन-मोह। यह विपरीत मान्यताओं का घर है। अज्ञान और अदर्शन आत्मा को विकृत नहीं करते। विकृत केवल मोह ही करता है। अन्य कर्म मोह की उत्तेजना में सहायक हो सकते हैं, लेकिन स्वयं वे आत्मा को विकृत नहीं बनाते।

२२. मस्तकेषु यथा सूच्यां, हतायां हन्यते तलः।
एवं कर्माणि हन्यन्ते, मोहनीये क्षयं गते॥

जिस प्रकार ताड़ की सूची—अग्रभाग नष्ट होने पर ताड़ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

२३. सेनापतौ विनिहते, यथा सेना विनश्यति।
एवं कर्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षयं गते॥

जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सेना पलायन कर जाती है, उसी प्रकार मोहकर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२४. धूमहीनो यथा वह्निः, क्षीयतेऽसौ निरिन्धनः।
एवं कर्माणि क्षीयन्ते, मोहनीये क्षयं गते॥

जिस प्रकार धूम-हीन और इंधन-हीन अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार मोहकर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

२५. शुष्कमूलो यथा वृक्षः, सिच्यमानो न रोहति।
नैवं कर्माणि रोहन्ति, मोहनीये क्षयं गते॥

जिसकी जड़ सूख गई हो वह वृक्ष सींचने पर भी अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार मोहकर्म के क्षीण होने पर कर्म अंकुरित नहीं होते।

२६. न यथा दग्धबीजानां, जायन्ते पुनरंकुराः।
कर्मबीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवांकुराः॥

जिस प्रकार जले हुए बीजों से अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार कर्म-बीजों के जल जाने पर जन्म-मरण रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होते।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कबीर ने कहा है–

**'जो मरने से जग डरे, मो मन में आनंद।**
**कब मरिहो कब भेटि हों, पूरण परमानंद॥'**

'जगत् मरने से डरता है किन्तु मैं मरने में आनंद मानता हूं। मैं कब मरूं और कब उस पूर्ण परमानंद का साक्षात् करूं। वहां कोई विजातीय तत्त्व नहीं है। वहां न शरीर है, न मन है, न इन्द्रियां और न बुद्धि। बस सिर्फ चैतन्य है।

उपरोक्त श्लोकों (२० से २६) में यह स्पष्ट किया है जिसका जो मूल है उसका नाश होने पर शेष विनष्ट हो जाता है। आत्मा के पूर्णत्व की अभिव्यक्ति में बाधक हैं–कर्म। मोह कर्म उनमें मूल है। मोह के क्षीण होने पर शेष कर्म अवशेष हो जाते हैं। आठों ही कर्मों के विलय होने पर आत्मा के लिए कोई पारतंत्र्य नहीं रहता। वह विकृति से सर्वथा मुक्त होकर प्रकृति में अवस्थित हो जाती है।

**२७. विशुद्धया प्रतिमया, मोहनीये क्षयं गते।**
**सर्वलोकमलोकं च, वीक्षते सुसमाहितः॥**

**विशुद्ध प्रतिमा के द्वारा मोह-कर्म के क्षीण होने पर समाहित आत्मा समस्त लोक और अलोक को देख लेता है।**

**२८. सुसमाहितलेश्यस्य, अवितर्कस्य संयतेः।**
**सर्वतो विप्रमुक्तस्य, आत्मा जानाति पर्यवान्॥**

**जिसकी लेश्या–भावधारा समाहित होती है, जो सुख-सुविधा की तर्कणा–ताक में नहीं रहता और जो बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों अथवा संबंधों से सर्वथा मुक्त है, उस संयमी की आत्मा लोक-अलोक के नाना पर्यवों–अवस्थाओं को जान लेती है।**

**२९. तपोपहतलेश्यस्य, दर्शनं परिशुद्धयति।**
**काममूर्ध्वमधस्तिर्यक्, स सर्वमनुपश्यति॥**

**तपस्या के द्वारा जो कमहितुक लेश्याओं का विलय करता है, उसका दर्शन परिशुद्ध हो जाता है। शुद्ध दर्शन वाला व्यक्ति ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में अवस्थित सब पदार्थों को देखता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

योग का अंतिम अंग समाधि है। उसका अर्थ है—आत्मनिष्ठा, बहिर्भाव से सर्वथा विलग होना। यहां परमात्मा और स्वात्मा का पूर्ण सादृश्य प्रतीत ही नहीं, अनुभूत होने लगता है। आत्मा की मौन ध्वनि मुखरित हो उठती है। 'जो परमात्मा है वह मैं हूं और जो मैं हूं वह परमात्मा है'—यह सत्य समाधि की नीची अवस्थाओं में भी उसे प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः परम सत्य की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप अभिन्न है। भिन्नता व्यवहार में है। अभेद का उपासक भिन्नता के घेरे को लांघकर अभेद में चला जाता है। समाधि परमात्मस्थता का सर्वोच्च सोपान है। योगी वहां बहिःस्थता को सर्वथा भूल जाता है। वह क्या है? किसका है? कैसा है? कहां है? इन विकल्पों से अतीत हो जाता है? उसे अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं रहता। वह आत्म-चैतन्य और आत्मानंद में इतना खो जाता है कि बाहर उसे कुछ दिखाई नहीं देता।

समाधि अभेददृष्टि से परमात्मा के साथ एकीकरण है और भेद-दृष्टि से आत्मा का स्वयं परमात्मा होना है। अभेददृष्टा आत्मा का परमात्मा के साथ विलीनीकरण में व्यग्र रहते हैं। आत्मा का स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रकरान्तर से वहां स्वतः प्रस्फुट हो जाता है। आत्मा के एकत्व और अनेकत्व की दो दृष्टियों का समन्वय ही हमें पूर्णता का अनुभव करा सकता है।

समाधि कर्म-क्षय की सर्वोत्तम दशा है। मोह का आवरण यहां हट जाता है और आत्मा का स्वभाव प्रकट हो जाता है। शंकराचार्य का कथन है कि समाहित व्यक्ति को प्रबोध—ज्ञान की उपलब्धि होती है। जैन दर्शन की भाषा में यह केवल-ज्ञान दशा है। आत्मा इस अवस्था में सर्व पदार्थों की विविध दशाओं का साक्षात् ज्ञान कर लेती है। उसके लिए कोई अज्ञेय नहीं रहता।

**३०. ओजश्चित्तं समादाय, ध्यानं यस्य प्रजायते।**
**धर्मे स्थितः स्थिरचित्तो, निर्वाणमधिगच्छति॥**

**जो निर्मल अथवा राग-द्वेष मुक्त चेतना का आलंबन लेकर ध्यान करता है, वह धर्म में स्थित हो जाता है। वह स्थिरचित्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।**

ध्यान का अर्थ है—मन का आत्मा के साथ संयोजन। उसका पहला हेतु है मन की पवित्रता। मन की तह में छिपी हुई जो वासनाएं हैं उन्हें एक-एक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कर बाहर निकालना मन को पवित्र करना है। मन में असंख्य संस्कार हैं। राग, द्वेष, मद, मोह, ईर्ष्या, लोभ, ममत्व आदि विकार मन को मलिन करते हैं। साधना के द्वारा इन दोषों को उखाड़कर मैत्री, प्रमोद, सरलता, सद्भावना, अनाशंसा, विनम्रता, निर्ममत्व, आकिंचन्य आदि गुणों को स्थान देना सिद्धि की ओर अग्रसर होना है। मन को पवित्र करने का यही अर्थ है।

चेतना सतत प्रवहमान है। जो चेतना बाहर जाती है, उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व मन है। शरीर का अस्तित्व जैसे निरंतर है, वैसे मन का अस्तित्व निरंतर नहीं रहता। मन केवल मनन-काल में होता है।

वास्तव में मानसिक समता ही मनःशुद्धि है। सामान्यतः यह लोक-भाषा है कि मन चंचल है, उसमें विक्षेप होता है। परंतु यह तब तक होता है जब तक कि मन का इन्द्रियों के साथ गाढ़ संपर्क होता है। जब मन इनसे संबंध-विच्छेद कर आत्माभिमुख होता है, तब वह चंचल नहीं होता, धीरे-धीरे एकाग्र बन जाता है।

जिस व्यक्ति की चेतना का प्रवाह बाह्याभिमुख है, वह ध्यान नहीं कर सकता। जो अपनी चेतना को आत्माभिमुख करता है, वही ध्यान का अधिकारी होता है। मनः शुद्धिः और मनःएकाग्रता से आत्मा निर्वाण को प्राप्त करती है।

**३१. नेदं चित्तं समादाय, भूयो लोके स जायते।**
**संज्ञिज्ञानेन जानाति, विशुद्धं स्थानमात्मनः॥**

**निर्मल चित्तवाला व्यक्ति बार-बार संसार में जन्म नहीं लेता। वह संज्ञिज्ञान—जाति-स्मृति के द्वारा आत्मा के विशुद्ध स्थान को जानता है।**

भगवान् महावीर ने कहा—**'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'**—धर्म मानसिक विशुद्धि में निवास करता है। शुद्धि उसकी होती है जो सरल है। सरलता का अर्थ है—कथनी और करनी की समानता।

'सरलता वह प्रकाश-पुंज है, जिसे हम चारों ओर से देख सकते है।' सरलता चित्तशुद्धि का अनन्य उपाय है। जब तक मन पर अज्ञान, संदेह, माया और स्वार्थ का आवरण रहता है तब तक वह सरल नहीं होता। इन दोषों को दूर करने पर ही व्यक्ति का मन खुली पोथी जैसा हो सकता है, चाहे कोई भी व्यक्ति किसी भी समय में उसके मन को पढ़ सकता है। जब तक मन में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

छिपाव, घुमाव और अंधकार रहते हैं, तब तक मन की सरलता प्राप्त नहीं होती। असरल मन सदा मलिन रहता है। मलिन मन से विचार और आचार भी मलिन हो जाते हैं। अतः चित्त की निर्मलता से आत्म-स्वरूप का सहज परिज्ञान हो सकता है।

**३२. प्रान्तानि भजमानस्य, विविक्तं शयनासनम्।**
**अल्पाहारस्य दान्तस्य, दर्शयन्ति सुरा निजम्॥**

**जो निस्सार भोजन, एकांत वसति, एकांत आसन और अल्पाहार का सेवन करता है, जो इंद्रियों का दमन करता है, उसके सम्मुख देव अपने आप को प्रकट करते हैं।**

स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि देव मनुष्यलोक में चार कारणों से आते हैं। वे कारण ये हैं :

१. मुमुक्षु के दर्शन करने के लिए।
२. तपस्वी के दर्शन करने के लिए।
३. कुटुम्बियों से मिलने के लिए।
४. अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने मित्रों को प्रतिबोध देने के लिए।

इन कारणों में एक कारण है–मुमुक्षु के दर्शन करना। यह अन्यान्य कारणों में एक प्रमुख कारण है। देव स्वभावतः विलासप्रिय होते हैं। वहां का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विलास की ओर प्रेरित करता है। उनकी अपार ऋद्धि, वैभव और सुख-सुविधायें उन्हें विरति की ओर जाने के लिए कभी प्रेरित नहीं करतीं। ज्यों-ज्यों उपभोग सामग्री की अधिकता होती है, त्यों-त्यों लालसा भी बढ़ती है। पदार्थों के भोग से लालसा तृप्त नहीं होती, वह निरंतर बढ़ती है। यह एक सामान्य तथ्य है। परंतु ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं, देव वितृष्ण और निष्कषाय होते हैं। अपार संपत्ति, अटूटवैभव भी उन्हें अपने पाश में नहीं बांध सकता।

जो व्यक्ति निःसार भोजन करता है, एकांतवास का सेवन करता है, मिताहारी और दांत है, वह वास्तव में महान् तपस्वी है। तपस्या से आत्म-शक्ति को पोषण मिलता है और उसका तेज सारे वातावरण को प्रभावित करता है। तपस्या का अर्थ शरीर को तपाना ही नहीं; मन, वाणी और इन्द्रियों को तपाना है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है–'कोरा शरीर तपता है, तब अहं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बढ़ता है। शरीर और इन्द्रियां–दोनों तपते हैं, तब संयम बढ़ता है। शरीर, इन्द्रिय और मन–तीनों तपते हैं, तब आत्मा का द्वार खुलता है। शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि–चारों तपते हैं, तब आत्मा का साक्षात् होता है।' जो व्यक्ति ऐसी तपस्या में लीन है, वह देवों द्वारा नमस्कृत होता है। इस श्लोक में बताया गया है कि–'तपस्वी के पास देव अपने आपको प्रकट करते हैं'–इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि तपस्वीजीवन जीनेवाला व्यक्ति निःस्पृह और निस्तृष्ण होता है। उसका आत्म-तेज स्वयं-स्फूर्त हो जाता है। देव भी उस व्यक्ति की निःस्पृहता और निस्तृष्णा से प्रभावित होकर उसका सान्निध्य पाने का प्रयत्न करते हैं।

दूसरी बात है कि तप आसक्ति-निवारण और वैराग्य-वृद्धि का महान् हेतु है। ज्यों-ज्यों आसक्ति घटती है, वैराग्य बढ़ता है और ज्यों-ज्यों वैराग्य बढ़ता है मन, वाणी और इन्द्रियां पवित्र बनती हैं। इससे आत्माभिमुखता बढ़ती है और आवरण क्षीण होता जाता है। ऐसी स्थिति में आत्म-देव का साक्षात् होता है और तब तपस्वी अपूर्व आनंद का अनुभव करता है। उसमें देवत्व-आत्मत्व जाग उठता है और तब उनकी सारी क्रिया आत्मा की परिक्रमा किए चलती है। इस देवत्व को पाना ही मुमुक्षु का चरम लक्ष्य है।

**३३. अथो यथास्थितं स्वप्नं, क्षिप्रं पश्यति संवृतः।**
**सर्वं वा प्रतरत्योघं, दुःखाच्चापि विमुच्यते॥**

**संवृत आत्मा यथार्थ स्वप्न को देखता है, संसार के प्रवाह को तर जाता है और दुःख से मुक्त हो जाता है।**

इस श्लोक में संवृत आत्मा के गुणों का दिग्दर्शन कराया है। आत्म-क्रिया में सतत प्रयत्नशील और सावधान आत्मा को संवृत-आत्मा कहा जाता है। उसकी प्रत्येक क्रिया संयम से अनुस्यूत होती है। वह वास्तव में आत्म-द्रष्टा होता है। उसमें मोहजन्य दोष नहीं होते। वह जो कुछ देखता है, करता है, सुनता है, चखता है या चलता है–इन सब क्रियाओं में आत्माभिमुखता होती है। उसके लिए आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञेय है, ध्याता और ध्येय है। उसका देखना, सुनना या कहना अयथार्थ नहीं होता।

स्वप्न एक मानसिक क्रिया है। वह दृष्ट, श्रुत या अनुभूत वस्तु का ही आता है। जो कभी देखा, सुना या अनुभव नहीं किया, उसका कभी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्वप्न नहीं आता। स्वप्न संकलनात्मक ज्ञान है। वह सबका यथार्थ नहीं होता। जिसके मन, वाणी और अध्यवसाय पवित्र हैं, जो संवृत आत्मा है, उसके स्वप्न सदा यथार्थ होते हैं। स्वप्न की अयथार्थता के अनेक हेतु हैं। उनमें प्रमुख ये हैं: दुश्चिन्ता, अनिद्रा, मानसिक मलिनता, आसक्ति, अस्वस्थता आदि।

पंचतंत्र में बताया है :

**व्याधितेन सशोकेन, चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना।**
**कामार्त्तेनाथ मत्तेन, दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः॥**

—रोगी, शोकाकुल, चिंताग्रस्त, कामार्त्त और मत्त व्यक्तियों के स्वप्न अयथार्थ होते हैं।

**३४. सर्वकामविरक्तस्य, क्षमतो भयभैरवम्।**
**अवधिर्जायते ज्ञानं, संयतस्य तपस्विनः॥**

**जो सब कामनाओं से विरक्त है, जो भयानक शब्दों, अट्टहासों और परीषहों को सहन करता है, जो संयत और तपस्वी है, उसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।**

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इनमें पहले दो ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष हैं और शेष तीन आत्मसापेक्ष। इनको परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहा जाता है। अवधिज्ञान आत्मसापेक्ष है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसका अर्थ है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन मर्यादाओं से रूपी द्रव्यों का ज्ञान करना। प्रज्ञापना सूत्र में इसके विविध प्रकारों का विस्तार से उल्लेख मिलता है।

**मेघः प्राह**

**३५. दृश्यते जीवलोकोऽयं, नानारूपे विभक्तिमान्।**
**नानाप्रवृत्तिं कुर्वाणः, कर्त्तृत्वं कस्य विद्यते॥**

**मेघ बोला—भगवन्! यह जीव-जगत् विभिन्न रूपों में विभाजित दिखाई दे रहा है और यह नाना प्रकार की प्रवृत्तियां करता है। इन सबके पीछे किसका कर्त्तृत्व है? यह मैं जानना चाहता हूं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

३६. विभक्तिः कर्मणा लोके, कर्मास्ति चेतनाकृतम्।
चेतना सास्रवा तेन, कर्माकर्षति संततम्॥

भगवान् ने कहा—यह सारा विभाजन कर्म के द्वारा निष्पन्न होता है। कर्म करने वाली है चेतना। यह आस्रवयुक्त होती है इसलिए कर्मों का आकर्षण सतत करती रहती है।

३७. यथा भावस्तथा कर्म, यथा कर्म तथा रसः।
विचारस्तादृगाचारो, व्यवहारोऽपि तादृशः॥

व्यक्ति का जैसा भाव—अंतश्चेतना का परिणाम होता है, वैसा कर्म होता है। कर्म के अनुसार उसका रस—विपाक होता है। रस के अनुसार विचार पैदा होते हैं। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही आचार होता है। आचार के अनुरूप व्यक्ति का व्यवहार फलित होता है।

३८. कर्माणि क्षीणतां यान्ति, विकासो जायते चिदः।
तानि प्रबलतां यान्ति, ह्रासस्तस्याः प्रजायते॥

कर्मों के क्षय होने से चेतना का विकास होता है और उनके प्रबल हो जाने से चेतना का ह्रास हो जाता है।

३९. सुचीर्णैः कर्मभिर्जीवाः, विकासं यान्ति बाह्यतः।
दुश्चीर्णैः कर्मभिर्जीवाः ह्रासं यान्ति बहिस्तनम्॥

सदाचरण से निष्पन्न कर्मों के द्वारा जीव का भौतिक विकास होता है और दुराचरण से निष्पन्न कर्मों के द्वारा उसका भौतिक ह्रास होता है।

यह जीव-जगत बहुत विविधता को लिए हुए हैं। इसे देखकर एक जिज्ञासु व्यक्ति के मन में जिज्ञासा होना असहज नहीं है। वह देखता है एक जीव कीट है, पतंग, चूहा, ऊंट है, गधा है, मनुष्य है, पशु-पक्षी, वनस्पति है—यह ऐसा विभाजन क्यों है? कौन इनको बनाने वाला है? इस सबका

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कारण क्या है? किसी के पास भौतिक संसाधनों की प्रचुरता है, किसी के पास नहीं है?

मेघ की आशंका का निर्मूलन करने के लिए भगवान् महावीर ने बड़े तथ्यपूर्ण और वास्तविक स्थिति का चित्रण करते हुए कहा—मेघ! इस सबका कारण कर्म है। आस्रव कर्म आगमन का मार्ग है। कर्म को आत्मा के साथ जोड़ने वाली कड़ी आस्रव है। आत्मा के शुभाशुभ भाव बाहर स्थित कर्म परमाणुओं को भीतर खींचते हैं। उन कर्मों के कारण ही यह सारी विविधता है। यह स्वयं जीवकृत है। जीव का जैसा भाव होता है वैसा ही कर्म का आकर्षण होता है। वे कर्म विपाक—फल रूप में जब प्रकट होते हैं तब गति, चिंतन, क्रिया-कलाप वैसा ही बन जाता है। कर्मों के क्षीण होने से चेतना का विकास होता है और कर्मों के उपचय से ह्रास होता है। सद्गति, दुर्गति का कारण कर्म ही है। अच्छे कर्मों का अच्छा फल है, उनके उदयकाल में व्यक्ति—जीव को अनुकूल सामग्री मिलती है। असत् कर्म के उदय काल में भौतिक ह्रास होता है। अन्य भी अनेक जटिलताएं, कुरूपता, सुरूपता, अनादेयता के पीछे भी शुभाशुभ कर्म का हाथ है।

**४०. आवारका अंतरायकारकाश्च विकारकाः।**
**प्रियाप्रियनिदानानि, पुद्गलाः कर्मसंज्ञिताः॥**

**कुछ कर्म-पुद्गल आत्मा के ज्ञान, दर्शन के आवारक हैं, कुछ आत्मशक्ति को प्रतिहत करते हैं, कुछ विकारक हैं—आत्मचेतना में विकृति उत्पन्न करते हैं और कुछ प्रिय-अप्रिय संवेदन के निमित्त बनते हैं।**

**४१. जीवस्य परिणामेन, अशुभेन शुभेन च।**
**संगृहीताः पुद्गला हि, कर्मरूपं भजन्त्यलम्॥**

**जीव के शुभ और अशुभ परिणाम से संगृहीत पुद्गल 'कर्म' रूप में परिणत होते हैं, कर्म कहलाते हैं।**

**४२. तेषामेव विपाकेन, जीवस्तथा प्रवर्तते।**
**नैष्कर्म्येण विना नैष, क्रमः क्वापि निरुद्ध्यते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**उन्हीं कर्मों के विपाक से जीव वैसे ही प्रवृत्त होता है जैसे उनका संग्रह करता है। नैष्कर्म्य के बिना यह क्रम कभी भी नहीं रुकता।**

**४३. पूर्णं नैष्कर्म्ययोगस्तु, शैलेश्यामेव जायते।**
**तं गतो कर्मभिर्जीवः क्षणादेव विमुच्यते॥**

**पूर्ण नैष्कर्म्य-योग शैलेशी अवस्था में होता है। यह अवस्था चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है। इसमें जीव मन, वाणी और शरीर से कर्म का निरोध कर शैलेश–मेरु पर्वत की भांति अकंप बन जाता है, इसलिए इसको शैलेशी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था के प्राप्त होने पर जीव क्षण में कर्म-मुक्त हो जाता है।**

**४४. अपूर्णं नाम नैष्कर्म्यं, तदधोपि प्रवर्तते।**
**नैष्कर्म्येण विना क्वापि, प्रवृत्तिर्न भवेच्छुभा॥**

**अपूर्ण नैष्कर्म्य-योग शैलेशी अवस्था से पहले भी होता है, क्योंकि नैष्कर्म्य के बिना कोई भी प्रवृत्ति शुभ नहीं होती।**

अर्थक्रियाकारित्व पदार्थ का लक्षण है। यदि अक्रिया को हम स्वीकार करें तो फिर वस्तु का उपरोक्त लक्षण कैसे घटित हो सकता है? गीता का कर्मयोग अनासक्त क्रिया–प्रवृत्ति को भी अकर्म का रूप देता है। शायद उसे भय है कि आत्मा फिर सर्वदा निष्क्रिय न हो जाए। लेकिन थोड़ी गहराई पर उतरने से ऐसा नहीं होता।

प्रवृत्तियां द्विमुखी होती हैं–बहिर्मुखी और अंतर्मुखी। अंतर्मुखी क्रिया का प्रवर्तन प्रतिक्षण चालू रहता है। वह आत्मा की पूर्ण शुद्धावस्था में भी रुकता नहीं। आत्मा बाहरी क्रियाओं से निष्क्रिय हो, अंतरंग में सक्रिय हो जाती है। वहां मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है। आनंद, ज्ञान, दर्शन और चरित्रात्मक क्रियाओं का द्वार खुल जाता है। संन्यास शब्द की भावना ही बहिर्भाव का परिवर्जन है। एक क्रिया से निवृत्त होने का अर्थ है दूसरी में प्रवृत्त होना। राग, द्वेष और मोह की निवृत्ति ही समत्व या अनासक्तता की प्रवृत्ति है। पूर्ण अनासक्ति राग-द्वेष के अभाव के बिना संभव नहीं होती। उसकी मात्रा में तारतम्य हो सकता है। अनासक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और मोह का मेल नहीं होता। जैन दर्शन की भाषा में वीतराग-दशा अनासक्त दशा है। वहां राग, द्वेष और मोहात्मक प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिए वह एकांततः सत्कर्म अवस्था है, अशुभ कर्म की सर्वथा निरोधात्मक स्थिति है। लेकिन सत्कर्म की क्रिया से पुण्य कर्म का बंधन वहां भी रहता है। अंतर इतना ही है कि वह बंधन द्वि-सामयिक होता है। सत्कर्म की निवृत्ति की स्थिति में आत्मा पूर्ण अकर्मा होती है। वहां किसी प्रकार का बंधन नहीं रहता। उस स्थिति की क्रिया चिदात्म-स्वरूप है। उस दशा में आत्मा शरीर से सर्वथा विमुक्त हो जाती है।

पूर्ण या अपूर्ण निष्क्रियता के बिना कर्म का प्रवाह विच्छिन्न नहीं होता। कर्म-निरोध के लिए सबसे पहले अशुद्ध भावों का निरोध नहीं चाहिए। अशुभ की निवृत्ति, शुभ की प्रवृत्ति—उससे पाप कर्म का बंधन नहीं होता। जितना भी दुःख है वह सब अशुभ भावों का है। महात्मा बुद्ध की दृष्टि में दुःखों की जनयित्री तृष्णा है। तृष्णा का उच्छेद दुःख का उच्छेद है। तृष्णा अशुभ संकल्पों को पैदा करती है। अशुभ संकल्प से कर्म का प्रवेश होता है और कर्म से दुःख। इस प्रकार ग्रंथिभेद नहीं होता।

अशुभ प्रवृत्तियों के अनन्तर शुभ प्रवृत्तियों का निरोध अपेक्षित है। उसका साधन है ध्यान। स्व-द्रव्य (चैतन्य) के अतिरिक्त 'पर' का स्पर्श नहीं करना ध्यान है। इसमें आत्मा के सिवाय और कुछ प्रतिभासित नहीं होता। कर्म-क्षय की यह उच्चतम अवस्था है। इसमें शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों की प्रबल मात्रा में क्षीणता होती है। कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर आत्मा स्वभावस्थ हो जाती है। वह पूर्ण निष्कर्मा बन जाती है।

लाओत्से कहता है—जो निष्क्रिय है उसे तुम सक्रियता के द्वारा कैसे पा सकोगे? सक्रियता सिर्फ थकाती है, जिससे कि व्यक्ति विश्राम में चला जाए। अंततोगत्वा व्यक्ति को अकर्म होना पड़ता है। वह कहता है—'कुछ मत करो, रुक जाओ।' जो खोजेगा वह खो देगा। अगर पाना है तो पाने की कोशिश मत करो, और जो भीतर ही है उसे पाने के लिए रुक जाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।' लेकिन सामान्यतया यह बात प्राथमिक साधक के हृदय में नहीं उतरती। वह 'न करने' की कल्पना भी नहीं कर सकता। मनुष्य का संस्कार कुछ न कुछ करने का है। निकम्मा रहना व्यावहारिक जगत् नहीं सिखाता। आध्यात्मिक जगत् में निकम्मा—निष्कर्मा होना महान् दुश्चर तप है। यह अपने आप में महान् सक्रियता है। योग के जितने प्रकार और जितनी विधियां हैं उनका अंतिम परिणाम निष्क्रियता—समाधि है, जहां स्वरूप के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अतिरिक्त कुछ अनुभूत नहीं होता।

निष्क्रियता का पहला चरण है--मन और इन्द्रियों की सक्रियता को देखो। उन्हें रोको मत। उनके साथ मत बहो। जैसे ही गति शुरू कर दोगे, अपने को भूल जाओगे, होश खो बैठोगे। वह आप पर सवार हो जाएगा, आप उस पर नहीं। समग्र साधना का सार है—स्वयं का मालिक स्वयं होना।

दूसरे चरण में सीखना है—तटस्थ होना। मन में उठने वाले अच्छे-बुरे विचारों—भावों के प्रति प्रतिक्रिया न कर तटस्थ (राग-द्वेष मुक्त) भाव से देखते रहना। सामान्यतया व्यक्ति तटस्थ नहीं रहता। जैसे ही इन्द्रिय विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, शब्द, कल्पना या मन का कार्य प्रारंभ हो जाता है। शान्ति—तटस्थता नहीं रहती। प्रतिक्रिया की मुक्ति के बिना निवृत्ति संभव नहीं है।

**४५. सत्यप्रवृत्तिं प्रकुर्वाणः, कर्म निर्जरयत्यघम्।**
**बध्यमानं शुभं तेन, सत्कर्मेत्यभिधीयते॥**

**जो जीव सत्प्रवृत्ति करता है, उसके पाप-कर्म की निर्जरा होती है और शुभ-कर्म का संग्रह होता है, इसलिए वह 'सत्कर्मा' कहलाता है।**

शुभ विकल्प-दशा में प्रवर्तमान आत्मा सत्कर्मा है। इसमें शुभ कर्म का संग्रह भी होता है और पूर्वबद्ध कर्मों का निर्जरण भी होता है। कर्म का प्रवाह उसी रूप में प्रवाहित रहे तो कर्म आत्मा से पृथक् नहीं होते। कर्मों की अपृथक्ता से भव-परंपरा का भी अंत नहीं होता। लेकिन सत्प्रवृत्ति में आत्मा की अपूर्व स्थिति बनती है। वहां बद्ध कर्म पृथक् होते हैं, नए कर्मों का प्रगाढ़ बंधन नहीं होता और न उनका लेप ही तीव्र होता है। ज्यों-ज्यों आत्मा उन्नति की ओर अग्रसर होती है त्यों-त्यों कर्म-क्षीणता अधिक होती है और संग्रह कम। इस प्रकार वह सर्वथा कर्म से छूट जाती है।

**४६. शुभं नाम शुभं गोत्रं, शुभमायुश्च लभ्यते।**
**वेदनीयं शुभं जीवः, शुभकर्मोदये सति॥**

**शुभ-कर्मों का उदय होने पर जीव को शुभ नाम, शुभ गोत्र, शुभ आयुष्य और शुभ वेदनीय की प्राप्ति होती है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४७. अशुभं वा शुभं वापि, कर्म जीवस्य बन्धनम्।
आत्मस्वरूपसंप्राप्तिः, बन्धे सति न जायते॥

**कर्म शुभ हो या अशुभ, आत्मा के लिए दोनों ही बंधन हैं। जब तक कोई भी बंधन रहता है तब तक आत्मा को अपने स्वरूप की संप्राप्ति नहीं होती।**

४८. सुखानुगामि यद् दुःखं, सुखमन्वेषयन् जनः।
दुःखमन्वेषयत्येव, पुण्यं तन्न विमुक्तये॥

**क्योंकि सुख के पीछे दुःख लगा हुआ है, अतः जो जीव पौद्गलिक सुख की खोज करता है, वह वस्तुतः दुःख की भी खोज करता है इसलिए पुण्य से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।**

पुण्य मुक्ति का साधन नहीं है। पुण्य का अर्जन करनेवाला छिपे रूप में सुख की चाह रखता है। उसे आत्म-सुख प्रिय नहीं है। वह चाहता है भोग। भोग की प्राप्ति बंधनों से विमुक्त नहीं कर सकती। 'पुण्य से वैभव, वैभव से मद, मद से मतिमूढ़ता और मतिमूढ़ता से व्यक्ति पाप में अवलिप्त हो जाता है। इस प्रकार पुण्य की परंपरा दुःख से आकीर्ण है। अतः आचार्य कहते हैं कि हमें पुण्य भी नहीं चाहिए।' जिसके द्वारा संसार परंपरा बढ़ती है, वह पुण्य कैसे पवित्र हो सकता है? पुण्य की इच्छा वे ही करते हैं जो परमार्थ से अनभिज्ञ हैं।

आचार्य भिक्षु की लेखनी ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–'जो पुण्य की इच्छा से तप करते हैं, वे अपनी क्रिया को गवांकर मनुष्य जीवन को हार जाते हैं। पुण्य तो चतुःस्पर्शी कर्म पुद्गल हैं। जो उसकी इच्छा करते हैं वे मूढ हैं। उन्होंने न धर्म को जाना है, न कर्म को। पुण्योदय से होनेवाले सुखों में जो प्रसन्न होता है, वह कर्म का संग्रह करता है, अनेक प्रकार के दुःखों में प्रवेश करता है और मुक्ति से दूर हटता है। पुण्य की इच्छा करनेवाला भोग की इच्छा करता है और भोगासक्त व्यक्ति अप्रकट रूप में नारकीय यातनाओं को ही चाहता है।

श्रीमद् जयाचार्य प्रारंभ ये यह प्रतिबोध देते हैं कि पुण्य की कामना मत करो। वह खुजली के रोग जैसा है, जो प्रारंभ में सुखद और परिणाम में भयावह है। स्वर्ग, चक्रवर्ती आदि के सुख भी नश्वर हैं। साधक की दृष्टि सदा मोक्ष या आत्म-सुख की ओर रहे।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आगम कहते हैं—इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो। यही बात वेदांत के आचार्यों ने कही हैं—'मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।' पुण्य और पाप के क्षय से मुक्ति मिलती है। गीता कहती है—बुद्धिमान् व्यक्ति को सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप)— दोनों का त्याग करना चाहिए।

४९. पुद्गलानां प्रवाहो हि, नैष्कर्म्येण निरुद्ध्यते।
त्रुट्यन्ति पापकर्माणि, नवं कर्म न कुर्वतः॥

कर्म पुद्गलों का जो प्रवाह आत्मा में प्रवाहित हो रहा है, वह नैष्कर्म्य—संवर से रुकता है। जो नए कर्म का संग्रह नहीं करता, उसके पूर्व संचित पाप-कर्म का बंधन टूट जाता है।

५०. अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्मबन्धनकारणम्।
नोत्पद्यते न म्रियते, यस्य नास्ति पुराकृतम्॥

जो क्रिया नहीं करता, संवृत हो जाता है, उसके लिए कर्मों के बंधन का कारण शेष नहीं रहता। जिसके पहले किए हुए कर्म नहीं हैं, वह न जन्म लेता है और न मरता है।

५१. शरीरं जायते बद्धजीवाद्, वीर्यं ततः स्फुरेत्।
ततो योगो हि योगाच्च, प्रमादो नाम जायते॥

कर्म-बद्ध जीव के शरीर होता है। शरीर में वीर्य स्फुरित होता है। वीर्य से योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति होती है और योग से प्रमाद उत्पन्न होता है।

५२. प्रमादेन च योगेन, जीवोऽसौ बध्यते पुनः।
बद्धकर्मोदयेनैव, सुखं दुःखञ्च लभ्यते॥

प्रमाद और योग से जीव पुनः कर्म से आबद्ध होता है और बंधे हुए कर्मों के उदय से ही वह सुख-दुःख पाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अकर्म से कर्म का ग्रहण नहीं होता। कर्म ही कर्म का संग्राहक है। तत्त्वतः आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है। कर्मजन्य परिणामों से आत्मा की प्रवृत्ति राग-द्वेष-मोहात्मक होती है। तब कर्म का प्रवेश होता है। राग, द्वेष और मोह—ये आत्मा की वैभाविक दशा हैं। स्वाभाविक दशा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। इनसे आत्मा बद्ध नहीं होती। विभाव ही विभाव को आकृष्ट करता हैं और फिर विभाव रूप में परिणत होता है। व्यवहार-दृष्टि से राग-द्वेष और मोह—ये जड़ नहीं हैं, चेतना की अशुद्ध परिणति है। चेतना आत्मा का धर्म है। अतः आत्मा कर्म का कर्ता है। अज्ञानासक्त आत्मा सुख-दुःख या जन्म और मृत्यु का जाल अपने ही हाथों से फैलाती है और उसी में फंस जाती है।

**५३. अनुभवन् स्वकर्माणि, जायते म्रियते जनः।**
**प्राधान्यं नेच्छितानां यत्, कृतं प्रधानमिष्यते॥**

**प्राणी अपने कर्मों का भोग करता हुआ जन्मता है, मरता है। कर्म-सिद्धांत के अनुसार इच्छा की प्रधानता नहीं है किन्तु कृत की प्रधानता है। अर्थात् मनुष्य जो चाहता है, वही नहीं होता, किन्तु उसे उसका फल भी भुगतना पड़ता है, जो उसने पहले किया है।**

मनुष्य क्या, छोटे-से-छोटे प्राणी में भी जिजीविषा है। सभी प्राणी अपनी स्थिति में संतुष्ट हैं। वे वहां से अन्यत्र रमण करना नहीं चाहते। इन्द्र और सूअर का वार्तालाप इसका प्रमाण है। इन्द्र ने सूअर से कहा—'देखो, तुम कितने दुःखी हो। कितना निकृष्ट भोजन करते हो। चलो, मैं तुम्हें स्वर्ग के महान् सुखों में ले चलूं। वहां सुख ही सुख है।' सूअर के मन में इन्द्र की बात जंच गई। वह जाने को भी प्रस्तुत हो गया।

उसने पूछा—'अच्छा, एक बात मुझे आप बताएं कि स्वर्ग में मुझे कैसा भोजन मिलेगा? जो मैं यहां खा रहा हूं वह मुझे वहां उपलब्ध होगा या नहीं?' इन्द्र ने कहा, 'नहीं।' तब वह बोला—'तो आपके स्वर्ग से मुझे क्या प्रयोजन?'

यदि इच्छा की प्रधानता होती तो संसार का कोई प्राणी न मरता, न दुःखी होता, न अस्वस्थ होता और न दीन होता। कर्म का कोई अस्तित्व नहीं रहता। लेकिन ऐसा होता नहीं। इच्छा की प्रधानता नहीं है, प्रधानता है अपने किए हुए कर्मों की। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, परंतु उसका फल भोगने में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परतंत्र है। उसे अपने कर्मों के अनुरूप ही फल उपलब्धि होती है। कर्म से मुक्त होने का एक ही उपाय है—भेद-विज्ञान। भेद-विज्ञान को जाननेवाला व्यक्ति कर्म की शृंखला को तोड़ फेंकता है। इसलिए आचार्य कहते हैं :

**विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,**
**स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।**
**हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्नधाम्नो,**
**ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः॥**

वत्स! शांत रह, व्यर्थ के कोलाहल से क्या होगा? तू अपने आप में शांत रहकर छह महीने तक लीन रह और हृदय-रूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न चेतना को देख। तुझे तब ज्ञात होगा कि तुझे क्या उपलब्ध नहीं हुआ है और अभी क्या उपलब्ध है।'

**५४. सुखानामपि दुःखानां, क्षयाय प्रयतो भव।**
**लप्स्यसे तेन निर्द्वन्द्वं, महानन्दमनुत्तरम्॥**

**मेघ! तू सुख और दुःख को क्षीण करने के लिए प्रयत्न कर। तू सब द्वंद्वों से मुक्त, सबसे प्रधान महान् आनंद—मोक्ष को प्राप्त होगा।**

मोक्ष समस्त द्वंद्वों से रहित है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जन्म-मृत्यु, मान-अपमान आदि-आदि द्वंद्व हैं। इनमें मन का संतुलन नहीं रहता। संतुलन के अभाव में आनंद की अनुभूति भी सहज और निर्विकार नहीं रहती।

मोक्ष का अर्थ है—बंधन-मुक्ति। बंधनों का सम्पूर्ण विलय चौदहवें गुणस्थान में होता है, किन्तु उनका आंशिक विलय दूसरें गुणस्थानों में भी होता है। ज्यों-ज्यों विलय होता है, आनंद की अनुभूति स्पष्ट, स्पष्टतर और स्पष्टतम होती जाती है। संपूर्ण आनंद की अनुभूति को मोक्ष कहा जाता है। वह सिद्धावस्था में तो होती ही है, किन्तु उसका आंशिक अनुभव यहां भी सुलभ है। आचार्य कहते हैं :

**निर्जितमदममदनानां, मनोवाक्कायविकाररहितानाम्।**
**विनिवृत्तपराशानां, इहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥**

'जिन्होंने अहंकार और काम पर विजय प्राप्त कर ली है, जिनकी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियां पवित्र हैं, जो बाह्य पदार्थों की आकांक्षाओं से निवृत्त हो चुके हैं, उन व्यक्तियों के लिए यहां मोक्ष है—अर्थात्

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वे इसी जीवन में अपूर्व आनंद की अनुभूति करने लगते है।'

५५. मननं जल्पनं नास्ति, कर्म किञ्चिन्न विद्यते।
विरज्यमानोऽकर्मात्मा, भवितुं प्रयतो भव॥

**मोक्ष में मन, वाणी और कर्म नहीं होते—न मनन किया जाता है, न भाषण किया जाता है और न किंचित् मात्र प्रवृत्ति की जाती है। वहां आत्मा 'अकर्मा' होती है। मेघ! तू विरक्त होकर 'अकर्मात्मा' बनने का प्रयत्न कर।**

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**आत्मकर्तृत्ववादनामा तृतीयोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ४

# आमुख

सुख मनुष्य का प्रथम या चरम लक्ष्य है। वह जो कुछ करता है उसके अग्र और पृष्ठ में सुख का चित्र अंकित रहता है। इंद्रियों को मनोज्ञ विषय मिलते हैं, सुख का संवेदन होता है। मन भी अपने मनोज्ञ विषयों को पाकर सुख की अनुभूति करता है। अमनोज्ञ का योग मिलते ही सुख, दुःख में बदल जाता है। उस दुःखानुभूति के क्षण में एक नई प्रेरणा जागती है—क्या सुख क्षणिक ही है? क्या सुख के बाद दुःख का आना उतना ही जरूरी है, जितना दिन के बाद रात का आना है? क्या सुख स्थायी भी हो सकता है? क्या ऐसे भूखंड की कल्पना की जा सकती है, जहां केवल दिन हो, रात न हो? इस खोज में मानवीय चेतना आगे बढी और उसे इस सत्य का साक्षात्कार हुआ—अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर सहज और निरपेक्ष सुख उपलब्ध है। वह स्थायी है, शाश्वत है। प्रस्तुत अध्याय में क्षणिक और शाश्वत—दो सुखानुभूतियों के बीच भेद-रेखा खींचने का एक विनम्र प्रयत्न है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

## सहजानंद-मीमांसा

मेघः प्राह

१. सुखानां नाम सर्वेषां, शरीरं साधनं प्रभो!
विद्यते तन्न निर्वाणे, तत्रानन्दः कथं स्फुरेत्॥

मेघ बोला—प्रभो! सब सुखों का साधन है शरीर। निर्वाण में वह नहीं रहता, फिर आनंद की अनुभूति कैसे होगी?

२. मानसानाञ्च भावानां, प्रकाशो वचसा भवेत्।
अवाचां कथमानन्दः, प्रोल्लसेद् ब्रूहि देव! मे॥

मन के भावों का प्रकाशन वाणी के द्वारा होता है। जहां वाणी न हो, वहां आनंद कैसे विकसित होगा? देव! आप बताएं।

३. चिन्तनेन नवीनानां, कल्पनानां समुद्भवः।
सदा चिन्तनशून्यानां, परितृप्तिः कथं भवेत्?

चिंतन से नई-नई कल्पनाएं उद्भूत होती हैं। जो सदा चिंतन से शून्य हैं, उन्हें परितृप्ति कैसे मिलेगी?

४. इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि, जनयन्ति मनःप्रियम्।
इन्द्रियेण विहीनानां, अनुभूतिसुखं कथम्?

इन्द्रियां जब अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं तब वे मानसिक प्रियता उत्पन्न करती हैं। जो इंद्रियों से विहीन हैं, उन्हें अनुभवजन्य सुख कैसे मिलेगा?

५. साधनेन विहीनेस्मिन्, पथि प्रेरयसि प्रजाः।
किमत्र कारणं ब्रूहि, देव! जिज्ञासुरस्म्यहम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**यह पथ साधन-विहीन है, जहां मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को रोकने का यत्न किया जाता है। आप उस पथ पर लोगों को चलने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा का कारण क्या है? देव! मैं यह जानना चाहता हूं।**

मेघ ने सुख का एक पक्ष देखा, वह विनश्वर सुख का पक्ष था। किन्तु उस विनश्वरता से भी वह सीख नहीं सका कि सुख का एक ऐसा भी पक्ष है जो विनश्वर नहीं है। इस सत्य की खोज में उसने चरणन्यास अवश्य किया किन्तु गहन अभीप्सा के साथ नहीं। अन्यथा वह महावीर के शब्दों में सशंकित नहीं होता। महावीर जिस आनन्द-सुख में निमज्जित हो रहे हैं, वह सुख और दुःख दोनों सापेक्ष शब्दों से भिन्न है। वे कोई तीसरे सुख की बात कर रहे हैं जो पदार्थ-निरपेक्ष है। साधारणतया मनुष्य का मन तरंगों की तरह है। लहर को सागर का कभी अनुभव नहीं होता, क्योंकि वह सिर्फ आती है, जाती है, रुकती नहीं। इसलिए किसी ने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य का मन घड़ी के 'पेंडुलम्' की भांति है।' मन को निर्विचार करना जिसे आ जाता है, वह इस आनंद का अनुभव कर सकता है।

आचार्य विनयविजय जी कहते हैं–

**'सकृदपि यदि समतालवं, हृदयेन लिहन्ति।**
**विदितरसास्तत इह रतिं, स्वत एव वहन्ति॥'**

जिसने संतुलन, समता या माध्यस्थ्य रस का हृदय से एक छोटा-सा कण भी चख लिया है, फिर वह स्वयं ही उस ओर अग्रसर होता जाएगा। उसे किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं रहेगी।

मेघ ने जो प्रश्न उपस्थित किए हैं, वे सब मन, वाणी, शरीर और कल्पना से संबंधित हैं। उसके लिए यह अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि वह उससे आगे कुछ देख ही नहीं सका। ये प्रश्न मेघ के ही नहीं हैं, मेघ जैसे अनेक लोगों के हैं। यह प्रश्न-परंपरा प्राचीन ही नहीं, अर्वाचीन भी है। आज भी ये प्रश्न उत्तरित होकर भी अनुत्तरित हैं। आगे भी बुद्धि उनका उत्तर खोज सके यह संभव नहीं है। क्योंकि बुद्धि की अपनी सीमा है। असीम के सामने बुद्धि निरुत्तर हो जाती है। उसके लिए सिर्फ अनुभूति पर्याप्त है।

मोक्ष आत्मा की विशुद्ध दशा है; विभाव की विमुक्ति और स्वभाव की प्राप्ति आत्म-रमणता है। वहां शरीर, मोह, द्वेष, मद, विस्मय, पीड़ा, भौतिक सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि क्लेशों का सर्वथा अंत है तथा मन, वाणी और इन्द्रियों का अभाव है। मेघ का मन इसलिए सशंक है कि सुख-दुःखात्मक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनुभूति के साधन हैं—मन, वाणी और इन्द्रियां। निर्वाण में इनका अभाव है। व्यक्ति बिना किसी माध्यम के सुखानुभव कैसे कर सकता है? ऊपर से यह तर्क असंगत भी नहीं लगता। बहुत से व्यक्तियों की यह धारणा भी है कि मोक्ष में है ही क्या? हम क्यों उसके लिए प्रयत्नशील रहें? कौन आनंद का अनुभव करता है और वह कैसा है, उसे कैसे पहचाना जाए? वर्तमान सुख प्रत्यक्ष है, अनुभूतिगम्य भी है। इसको छोड़ अप्राप्त आनंद की ओर जनता को प्रेरित कर रहे हैं। जो सुख परोक्ष या अनुभूति का विषय है, उसे प्राप्त करने की विधि बताते हैं। मेघ यही जानना चाहता है कि आखिर उसका हेतु क्या है? क्या वह सुख वास्तविक और बुद्धिगम्य है?

**भगवान् प्राह**

**६. यत् सुखं कायिकं वत्स! वाचिकं मानसं तथा।**
**अनुभूतं तदस्माभिः, अतः सुखमितीष्यते॥**

**भगवान् ने कहा—वत्स! जो-जो कायिक, वाचिक और मानसिक सुख है, उसका हमने अनुभव किया है, इसीलिए वह सुख है—ऐसा हमें प्रतीत होता है।**

**७. नानुभूतश्चिदानन्द, इन्द्रियाणामगोचरः।**
**वितर्क्यो मनसा नापि, स्वात्मदर्शनसंभवः॥**

**हमने चिद् के आनंद का अभी अनुभव नहीं किया है, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, मन की वितर्कणा से परे है। आत्म-साक्षात्कार से ही उसका प्रादुर्भाव होता है।**

**८. इन्द्रियाणि निवर्तन्ते, मनस्ततो निवर्तते।**
**तत्रात्मदर्शनं पुण्यं, ध्यानलीनस्य जायते॥**

**इन्द्रियां अपने विषयों से निवृत्त होती हैं, तब मन अपने विषय से निवृत्त होता है। जहां इन्द्रिय और मन की अपने-अपने विषयों से निवृत्ति होती है, वहां ध्यान-लीन व्यक्ति को पवित्र आत्म-दर्शन की प्राप्ति होती है।**

आत्म-सुख की उपलब्धि का साधन ध्यान है। इससे शरीर, वाणी और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मन की स्थिरता होती है। इन्द्रियों की स्वविषयों से उपरति होती है, तब वे अंतर्मुखी बन जाती हैं। इन्द्रियों की अंतर्लीनता से मन का बहिर्विहार भी रुक जाता है। उस समय केवल चेतना का व्यापार चालू रहता है। शरीर और इन्द्रियां जड़ हैं। वे अनुभूतिशून्य हैं। अनुभूति चेतना का धर्म है। चेतना आत्मा का गुण है, आत्मा की आत्मलीनता है; आत्म-दर्शन है। जब आत्म-दर्शन का स्पर्श होता है, तब आत्म-सुख की प्रतीति होने लगती है। वह अनुभूति इन्द्रिय, शरीर और मानसिक तर्क का विषय नहीं बनती।

**९. सहजं निरपेक्षञ्च, निर्विकारमतीन्द्रियम्।**
**आनंदं लभते योगी, बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥**

**जिसकी इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों में व्यापार नहीं होता, वह योगी सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय आनंद को प्राप्त होता है।**

आनंद के चार रूप हैं—सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय। भौतिक सुख असहज, सापेक्ष, विकृत और इन्द्रियजन्य होता है, इसलिए वह कृत्रिम है। उसमें सतत अतृप्ति बनी रहती है।

आत्म-आनंद इसका सर्वथा विरोधी है। उसका स्पर्श ही ऐसा है कि व्यक्ति फिर उससे विमुख हो ही नहीं सकता। वह बिना किसी प्रेरणा के स्वतः ही अग्रसर होता रहता है। वह आनंद स्वाभाविक होता है। वहां आकांक्षा का स्रोत सूख जाता है। उसमें बाहरी पदार्थों की अपेक्षा नहीं रहती। उनके न रहने पर आनंद का अभाव नहीं होता। वही पवित्र और शुद्ध होता है जिसका किसी के साथ कुछ लगाव नहीं रहता और जो इन्द्रिगम्य नहीं है।

पदार्थ-सापेक्ष सुख ठीक इससे उल्टा है। वह सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय नहीं होता। पदार्थ के परिवर्तित होते ही सुख में परिवर्तन हो जाता है। यह सबका अनुभव है कि जो पहले प्रिय था, वही बाद में अप्रिय हो जाता है। प्रेम घृणा में, राग विराग में और सुख दुःख में बदल जाता है। वसतुतः इस जगत् में 'है' जैसी कोई चीज नहीं है। प्रतिक्षण सब बदल रहा है। सन्त सहजो ने कहा है—सुखी केवल इस संसार में संत हैं, जो नित्य-शाश्वत में विचरण कर रहे हैं। शेष सब दुःखी हैं, चाहे किसी को देखो।

**'मुए दुःखी जीवित दुःखी, दुखिया भूख अहार।**
**साध सुखी सहजो कहे, पायो नित्य विहार॥'**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनित्य से नित्य का अनुभव कैसे संभव है? नित्य की अनुभूति के लिए नित्य का दर्शन अपेक्षित है। नित्य में समस्त अपेक्षाएं हट जाती हैं। वहां जैसा जो है, वह प्रत्यक्ष हो जाता है।

**१०. आत्मलीनो महायोगी, वर्षमात्रेण संयमी।**
**अतिक्रामति सर्वेषां, तेजोलेश्यां सुपर्वणाम्॥**

**जो संयमी आत्मा में लीन और महान् योगी है, वह वर्षभर के दीक्षा-पर्याय से समस्त देवों की तेजोलेश्या—सुखासिका अथवा सुख को लांघ जाता है अर्थात् उनसे अधिक सुखी बन जाता है।**

बहुत लोगों के मानस में यह जिज्ञासा उठती है कि ध्यान की निष्पत्ति क्या है? वे प्रत्यक्षतः कोई उपलब्धि नहीं देखते। वे चाहते हैं कोई चमत्कार या कोई विशेष विभूति दृष्टिगत हो। उनकी दृष्टि में ध्यान यहीं समाप्त हो जाता है। यदि कुछ उपलब्धि हो गई तो ध्यान की सार्थकता है, अन्यथा व्यर्थ। सामान्य लोगों का यह तर्क असहज नहीं है। जो जहां तक देखते हैं, सुनते हैं वहां से आगे की कल्पना उनके लिए अशक्य है। ध्यान का यही फल होता तो यह अन्य तरीकों से भी साधा जा सकता है, और साधा जाता भी है। किन्तु ध्यान के मुख्य उद्देश्य के लिए यह बाधक है, इसे स्मृति से ओझल नहीं करना चाहिए। कबीर ने कहा है—

**'मोटी माया सब तजी, झीणी तजी न जाय।**
**पीर पैगम्बर ओलिया, झीणी सबको खाय॥'**

यह सूक्ष्म माया चमत्कारों और विभूतियों की है। इनकी पकड़ में आ जाने के बाद छूटना सहज नहीं होता।

**'आत्मलीनो महायोगी'**—यह पद ध्यान की विशेष उपलब्धि की ओर संकेत करता है। ध्यान का सतत, सविधि और श्रद्धा से जो अभ्यास करता है, उसके फल से वंचित नहीं रहता। ध्यान का बीज बोओ और काटो, उसमें विलंब नहीं होता। एक वर्षीय ध्यान साधक किस प्रकार सुखों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, आगम के आधार पर इसका चित्रण प्रस्तुत किया गया है।[1] गोरक्षसंहिता भी उपरोक्त तथ्य को अभिव्यक्त करती है। कहा है—'दृढ़ संकल्प वाला साधक ब्रह्मचर्यवान्, परिमितभोजी, समस्त आकर्षणों से

---

१. देखें अ. ९, श्लोक २४ से ३५।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मुक्त और योग में दत्त-चित्त होकर एक वर्ष की स्थिति में सिद्धत्व (योग-सिद्धि) को प्राप्त कर लेता है। इसमें कुद भी तर्कणीय, विचारणीय नहीं है।

मानवीय जीवन में सुखों की कल्पना देवताओं से की जाती है। इसलिए यहां बतलाया गया है कि साधक क्रमशः एक महीने यावत् वर्ष भर में साधना के तीव्र अभ्यास से देवताओं के सुखों को पीछे छोड़ सकता है। 'आत्मलीनो महायोगी'—ये दो शब्द साधक की महत्ता के विशेष द्योतक हैं। वह महायोगी है इसलिए कि संपूर्ण शक्ति को आत्मा के अतिरिक्त कहीं नियोजित नहीं कर रहा है। ऐसा साधक तुच्छ और भौतिक सुखों के अभिमुख नहीं हो सकता?' कबीर ने ठीक कहा है—

**कबीर मारग कठिन है, ऋषि मुनि बैठे थाक।**
**तहां कबीर चढ़ गया, गह सतगुरु का हाथ॥**

ऋषि मुनि जहां थक जाते हैं, कबीर पहुंच जाते हैं तो निःसन्देह इसमें कुछ रहस्य है और वह है—सम्यग् गुरु द्वारा सम्यग् मार्ग-दर्शन।

**११. ऐन्द्रियं मानसं सौख्यं, साबाधं क्षणिकं तथा।**
**आत्मसौख्यमनाबाधं, शाश्वतञ्चापि विद्यते॥**

**इंद्रिय तथा मन के सुख बाधासहित और क्षणिक होते हैं। आत्म-सुख बाधारहित और स्थायी होता है।**

**१२. सर्वकर्मविमुक्तानां, जानतां पश्यतां समम्।**
**सवपिक्षाविमुक्तानां, सर्वसङ्गापसारिणाम्॥**

**१३. मुक्तानां यादृशं सौख्यं, तादृशं नैव विद्यते।**
**संपन्नसर्वकामानां, नृणामपि सुपर्वणाम्॥**
**(युग्मम्)**

**जो सब कर्मों से विमुक्त हैं, जो सब कुछ जानते-देखते हैं, जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित हैं और जो सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त हैं, उन मुक्त आत्माओं को जैसा सुख प्राप्त होता है वैसा सुख काम-भोगों से सम्पन्न मनुष्यों और देवताओं को भी प्राप्त नहीं होता।**

**१४. सुखराशिर्विमुक्तानां, सर्वाद्धा पिण्डितो भवेत्।**
**सोऽनन्तवर्गभक्तः सन्, सर्वाकाशेऽपि माति न॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**यदि मुक्त आत्माओं की सर्वकालीन सुख-राशि एकत्रित हो जाए, उसे हम अनंत वर्गों में विभक्त करें और एक-एक वर्ग को आकाश के एक-एक प्रदेश पर रखें तो वे इतने वर्ग होंगे कि सारे आकाश में भी नहीं समायेंगे।**

अर्हत् और सिद्ध दोनों के आनंदानुभव में कोई भेद नहीं है। आनंद का स्रोत दोनों का एक है। जिसे स्वयं में आनंद का सागर लहराता दृष्टिगत हो गया, वह अन्यत्र क्या आनंद की खोज करेगा? आनंद स्वयं के भीतर है, वह बाहर कैसे समुपलब्ध होगा? उस आनंद को किसी के द्वारा मापा भी नहीं जा सकता। जो माप्य है वह कभी अनंत नहीं हो सकता और न सदा समान हो सकता है। फिर भी कल्पना के द्वारा उसका निदर्शन कराया जा सकता है। लेकिन वह काल्पनिक है, यथार्थ नहीं।

अनंत को मापने के लिए हमारे समक्ष कोई अनंत वस्तु ही होनी चाहिए। वह है आकाश। आकाश के दो विभाग कल्पित हैं–एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। लोकाकाश लोक तक सीमित है और अलोकाकाश असीम। अलोकाकाश अनंत है। किन्तु अनंत आत्मिक आनंद के लिए वह भी छोटा पड़ता है। यही इस श्लोक का प्रतिपाद्य है। ईशावास्योपनिषद् का निम्नोक्त श्लोक इसका साक्ष्य है–

**'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'**

'जो पूर्ण है, जिससे उत्पन्न हुआ है वह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी वह पूर्ण कम नहीं होता। प्रत्युत जितना है उतना ही रहता है।'

**१५. यथा मूकः सितास्वादं, काममनुभवन्नपि।**
**साधनाऽभावमापन्नो, न वाचा वक्तुमर्हति॥**

**१६. यथाऽरण्यो जनः कश्चिद्, दृष्ट्वा नगरमुत्तमम्।**
**अदृष्टनगरानन्यान्, न तज्ज्ञापयितुं क्षमः॥**

**१७. तथा हि सेहजानन्दं, सर्ववाचामगोचरम्।**
**साक्षादनुभवंश्चापि, न योगी वक्तुमर्हति॥**
(त्रिभिर्विशेषकम्)

**जैसे मूक व्यक्ति चीनी की मिठास का भलीभांति अनुभव करता हुआ भी**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वाणी रूपी साधन के अभाव में उसे बोलकर बता नहीं सकता, जैसे जंगल में रहने वाला कोई मनुष्य बड़े नगर को देखकर उन व्यक्तियों को उसका स्वरूप नहीं समझा सकता जिन्होंने नगर न देखा हो, उसी प्रकार योगी सहज आनंद का साक्षात् अनुभव करता हुआ भी उसे वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि वह वचन का विषय नहीं है।

१८. भावेऽनिर्वचनीयेऽस्मिन्, संदेहं वत्स! मा कुरु।
बुद्धिवादः ससीमोऽयं, चेतः परं न धावति॥

वत्स! इस अनिर्वचनीय भाव में संदेह मत कर। यह बुद्धि सीमित है, चित्त से आगे इसकी पहुंच नहीं है।

१९. सन्त्यमी द्विविधा भावाः तर्कगम्यास्तथेतरे।
अतर्क्ये तर्कमायुञ्जन्, बुद्धिवादी विमुह्यति॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**भाव–पदार्थ दो प्रकार के होते हैं–तर्कगम्य और अतर्कगम्य। अतर्कगम्य भाव में तर्क का प्रयोग करने वाला बुद्धिवादी उलझ जाता है।**

**२०. इन्द्रियाणां मनसश्च, भावा ये सन्ति गोचराः।**
**तत्र तर्कः प्रयोक्तव्यः, तर्को नेतः प्रधावति।।**

**इन्द्रिय और मन के द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं, उन्हें समझने के लिए तर्क का प्रयोग किया जाता है, उससे आगे तर्क की गति नहीं है।**

आज विज्ञान भी इस सत्य को स्वीकार करने लगा है कि दृश्य जगत् के परे भी कुछ और है। दृश्य भी अभी तक पूरा दृश्य नहीं बना है। यदि सब कुछ दृश्य देख लिया जाता तो विज्ञान का एक कार्य सम्पन्न हो जाता, किन्तु वह भी बहुत अवशेष है और रहेगा। लेकिन दृश्य के पीछे एक अदृश्य की सत्ता को स्वीकार करना बुद्धि की ससीमता का द्योतक है। महावीर इसी ओर संकेत कर रहे हैं–तर्क के परे भी एक चीज है, उसे तुम तर्क से कभी प्राप्त नहीं कर सकोगे।

दार्शनिक परमात्मा के इतना निकट नहीं होता जितना कि एक संत। दर्शनिक अपनी पहेलियों के अंतिम क्षण तक सुलझा नहीं पाता। पश्चिम के इस सदी के महान् दशनिक 'वर्टेण्ड रसल' ने यहां तक कहा है–'अब मैं बूढ़ा होकर यह कह सकता हूं कि मेरा एक भी सवाल हल नहीं हुआ बल्कि नये

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सवाल खड़े हो गए।'

तर्क से अतर्क्य कैसे हाथ लग सकता है? महावीर ने कहा है–'**तक्का तत्थ न बिज्जइ**'–तर्क की वहां पहुंच नहीं है।

तर्क लचीला होता है। जिसके पास बौद्धिक क्षमता अधिक होती है, वह अपने तर्क-बल से संगत को असंगत और असंगत को संगत कर सकता है। आस्तिकों और नास्तिकों के तर्क-जाल से न तो आज तक 'आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो पाया है और न नास्तित्व। आज भी 'आत्मा है' और आत्म नहीं है'–दोनों वाद वैसे ही खड़े हैं, जैसे सहस्राब्दियों पहले खड़े थे। नेपोलियन के सामने वैज्ञानिक लापलेस ने पांच भागों में लिखी विश्व की पूरी व्यवस्था के संबंध में पुस्तक प्रस्तुत की। नेपोलियन ने देखा उसमें ईश्वर का नाम नहीं है। नेपोलियन के मंत्री ने कहा–'वह तो होना चाहिए, क्योंकि मैं मानता हूं कि ईश्वर है। लेखक ने कहा–'मैं मानता हूं कि ईश्वर नहीं है।' नेपोलियन ने विवाद को शांत ढंग से समेटते हुए कहा–'तुम दोनों ठीक हो। न तुमने देखा है कि ईश्वर है और न लेखक ने देखा है कि वह नहीं है। तुम दोनों सिर्फ मानते हो। मानने का क्या मूल्य होता है?'

जबलपुर के महान् ख्याति प्राप्त वकील हरिसिंह की घटना तर्क की सार्थकता और निरर्थकता का स्पष्ट बोध कराती है। एक बार वे कोर्ट में अपने पक्ष की और से बोलने खड़े हुए, किन्तु भूल गए और बोलने लगे प्रतिपक्ष की ओर से। इतने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए कि सभी हतप्रभ रह गए। प्रतिपक्षी वकील बड़ा प्रसन्न हो रहा था। सेक्रेटरी का साहस नहीं हुआ कि बीच में कह दे। जब बीच में पानी पीने लगे तब संकेत किया कि यह आपने क्या किया? हमें प्रतिपक्ष के लिए नहीं बोलना था। हरिसिंह ने कहा–ठीक है। फिर बोलने लगे और कहा–अभी तक मैंने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे विरोधी की ओर से थे। वह क्या कहने वाला है, यह आपके समक्ष रखा, अब मैं अपने तर्क प्रस्तुत कर रहा हूं। बस, उसी सचोट भाषा में उनके उत्तर दिए और अपने पक्ष की सत्यता प्रमाणित की। वे जीत गए। यह है तर्क का चक्र। आप घुमाने में कुशल हैं तो चाहे जिस ओर घुमा सकते हैं।

महावीर कहते हैं–मैं तर्क को बुरा नहीं मानता। बुद्धिवाद व्यर्थ नहीं है। किन्तु वह सर्वत्र सार्थ भी नहीं है। उसकी सीमा पहचाननी चाहिए। तर्क से ज्ञात होने वाले पदार्थों में ही तर्क काम कर सकता है। उसके आगे नहीं। पदार्थों की अपनी-अपनी परिधि है। पदार्थ तर्कगम्य और श्रद्धागम्य दोनों हैं। इनका विवेक अपेक्षित है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

श्रद्धा–विश्वास की सुस्थिरता हमें ज्ञान के अंतिम चरण तक् पहुंचा देती है। अज्ञान विलीन हो जाता है। ज्ञान के एक-एक रहस्य खुलकर हमारे सामने आने लगते हैं। तर्क उन रहस्यों का पता अनेक जन्म तक भी नहीं पा सकता, क्योंकि जो विषय अतर्कणीय है, उसके लिए तर्क का जाल बिछाना अकिंचित्कर हैं। पदार्थों की यह स्वयं मर्यादा है। कुछ तर्क से पकड़े जा सकते हैं, कुछ नहीं।

श्रद्धा और तर्क का समन्वय समुचित है। सत्य तक पहुंचने के लिए दोनों का आलंबन आवश्यक है, किन्तु उनकी सीमाओं का ज्ञान अपेक्षित होता है।

२१. हेतुगम्येषु भावेषु, युञ्जानस्तर्कपद्धतिम्।
अहेतुगम्ये श्रद्धावान्, सम्यग्दृष्टिर्भवेज्जनः॥

जो हेतुगम्य पदार्थों में हेतु का प्रयोग करता है और अहेतुगम्य पदार्थों में श्रद्धा रखता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

२२. आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये॥

अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व जानने के लिए आगम–श्रद्धा और उपपत्ति–तर्क दोनों अपेक्षित हैं। ये मिलकर ही दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।

२३. इन्द्रियाणां मनसश्च, रज्यन्ति विषयेषु ये।
तेषां तु सहजानन्द-स्फुरणा नैव जायते॥

इन्द्रिय और मन के विषयों में जिनकी आसक्ति बनी रहती है, उन्हें सहज आनंद का अनुभव नहीं होता।

२४. सुस्वादाश्च रसाः केचित्, गन्धाश्च केचन प्रियाः।
सन्तोऽपि हि न लभ्यन्ते, विना यत्नेन मानवैः॥

२५. तथाऽस्मिन् महान् राशिः, आनन्दस्य च विद्यते।
इन्द्रियाणां मनसश्च, चापलेन तिरोहितः॥
(युग्मम्)

कुछ रस बहुत स्वादपूर्ण हैं और कुछ गंध बहुत प्रिय हैं, किन्तु वे तब तक प्राप्त नहीं होते जब तक उनकी प्राप्ति के लिए यत्न नहीं किया जाता। वैसे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ही आत्मा में आनंद की विशाल राशि विद्यमान है, किन्तु वह मन और इंद्रियों की चपलता से ढंकी हुई है।

२६. यावन्नान्तर्मुखी वृत्तिः, बहिर्व्यापारवर्जनम्।
तावत्तस्य न चांशोऽपि, प्रादुर्भावं समश्नुते॥

जब तक वृत्तियां अंतर्मुखी नहीं बनतीं और उनका बहिर्मुखी व्यापार नहीं रुकता, तब तक आत्मिक आनंद का अंश भी प्रकट नहीं होता।

२७. कायिके वाचिके सौख्ये, तथा मानसिकेऽपि च।
रज्यमानस्ततश्चोर्ध्वं, न लोको द्रष्टुमर्हति॥

जो मनुष्य कायिक, वाचिक और मानसिक सुख में ही अनुरक्त रहता है वह उससे आगे देख नहीं सकता।

आनंद के बाधक तत्वों और उसके उद्घाटन की प्रक्रिया—दोनों का उपरोक्त पद्यों में स्पष्ट दर्शन है। मानवीय जीवन इन्द्रिय, मन और शरीर की परिक्रमा किये चलता है। मनुष्य केन्द्र की ओर नहीं मुड़ता। तेली का बैल कितना ही चले, पर पहुंचता कहीं नहीं है। व्यक्ति भी यदि शरीर, मन और इन्द्रियों की दिशा में कितना ही भ्रमण करता रहे, वह कभी अपने केन्द्र का स्पर्श नहीं कर सकता। परिधि का मुख कभी केन्द्र की ओर नहीं होता। परिधि पर आनंद नहीं है। जैसे ही कोई व्यक्ति परिधि से हटकर केन्द्र की तरफ उन्मुख होता है, उसकी गति बदल जाती है। बाहर से वह भीतर की तरफ मुड़ जाता है। प्रत्याहार प्रतिसंलीनता योग का जो एक अंग है, वह दिशा का परिवर्तन है। जैसे-जैसे वह केन्द्र के सन्निकट बढ़ता है, वह आनंद की महान् राशि को अपने भीतर देखने लगता है। उसकी वाणी मौन होने लगती है, शरीर स्थिर होने लगता है और चित्त निर्विचार। तीनों की चंचलता ही स्वयं को स्वयं से दूर किए हुए है। उनके स्थिर होते ही आनंद का उत्स फूट पड़ता है। कबीर ने इस बात को इस प्रकार कहा है—

'तन थिर, मन थिर, वचन थिर, सुरति निरत थिर होय।
कहे कबीर उस पलक को, कलप न पावे कोय॥'

२८. विहाय वत्स! संकल्पान्, नैष्कर्मण्यं प्रतीरितान्।
संयम्येन्द्रियसंघातं, आत्मनि स्थितिमाचर॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**वत्स! नैष्कर्म्य-योग के प्रति तेरे मन में जो संकल्प-विकल्प हुए हैं, उन्हें छोड़ और इन्द्रिय-समूह को संयत बनाकर आत्मा में अवस्थित बन।**

इस श्लोक में संकल्प-विकल्प के त्याग और संयम की बात कही गई है।

संकल्प का अर्थ है—बाह्य द्रव्यों में 'यह मेरा है'—इस प्रकार का ममत्व करना। 'मैं सुखी हूं; मैं दुःखी हूं'—इस प्रकार के हर्ष और विषादगत परिणामों को विकल्प कहा जाता है। संकल्प और विकल्प से आत्मा का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता। उसके लिए निर्विकल्प होने की अपेक्षा होती है। निर्विकल्प अवस्था तक पहुंचने के लिए सर्वप्रथम इन्द्रिय-संयम अपेक्षित होता है। असंयम हमारी शक्तियों को कुंठित करता है, उनमें जड़ता उत्पन्न करता है।

संयम 'स्व' की ओर ले जाने वाला तत्त्व है। वह उपास्य है। वह अध्यात्म का प्राण है। भगवान महावीर ने साधक के लिए मन, वचन और काया के संयम का उपदेश दिया है। संयम साधना का आदि-बिन्दु है। ज्यों-ज्यों साधना बढ़ती जाती है, संयम पुष्ट होता जाता है।

बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग और क्या है? वह संयम की ओर प्रयाण है। समस्त पापों का न करना ही कुशल की उपसंपदा है, यही बुद्ध-शासन है।

गीता में कहा है—'असंयत व्यक्तियों के लिए 'योग' दुर्लभ है। संयत व्यक्ति अपने दृढ़ संकल्प और समुचित साधनों से 'योग' को प्राप्त कर सकते हैं।'

**२९. न चेयं तार्किकी वाणी, न चेदं मानसं श्रुतम्।**
**अनुभूतिरियं साक्षात्, संशयं कुरु माऽनघ!**

**! पुण्यात्मन्! मैं जो कह रहा हूं वह कोरी तार्किक वाणी नहीं है, काल्पनिक ।। सुनी हुई बात भी नहीं है। यह मेरी साक्षात् अनुभूति है, इसमें सन्देह मत कर।**

भगवान् ने यहां साक्षात् अनुभूति पर बल दिया है। तार्किक, काल्पनिक और सुनी हुई बातें सत्य होती हैं और नहीं भी किन्तु अनुभूति सदा सत्य होती है।

तार्किक और काल्पनिक बातों से व्यक्ति मानने की ओर अग्रसर होता है और अनुभूति से वह जानने लगता है। मानना और जानना दो बातें हैं। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने लिखा है—'मानने के नीचे वैसे ही अंधकार होता है, जैसे दीपक के तल में अंधकार। जानना वैसे ही सर्वतः प्रकाशमय होता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैसे सूर्य। सूय बादलों से घिरा होता है, प्रकाश मंद हो जाता है। ज्ञान आवरण और व्यवधान से घिरा होता है। जानना मानने में बदल जाता है। सूर्य को मैं जानता हूं किन्तु मानता नहीं हूं। सुमेरु को मैं मानता हूं किन्तु जानता नहीं हूं। अस्तित्व के साथ मैं सीधा सम्पर्क स्थापित करता हूं, वह मेरा जानना है—प्रत्यक्षानुभूति है। अस्तित्व के साथ मैं किसी माध्यम से सम्पर्क स्थापित करता हूं, वह मेरा मानना है—परोक्षानुभूति है। प्रकाश जैसे-जैसे आवृत होता जाता है, वैसे-वैसे मैं जानने से मानने की ओर झुकता जाता हूं। प्रकाश जैसे-जैसे अनावृत होता जाता है, वैसे-वैसे मैं मानने से जानने की ओर बढ़ता जाता हूं। मानने से जानने तक पहुंचना भारतीय दर्शन का ध्येय है, और पहुंच जाना अस्तित्व का प्रत्यक्ष-बोध है। मैं सूर्य को जानता हूं, उससे सूर्य का अस्तित्व नहीं है। बीहड़ जंगलों में विकसित फूल को मैं नहीं जानता, उससे फूल का अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व अपनी गुणात्मक सत्ता है। वह न जानने-मानने से बनती है और न जानने से विघटित होती है। फूल की उपयोगिता न मेरे जानने से नहीं होती और न जानने से उसकी उपयोगिता विघटित नहीं हो जाती। उपयोगिता मेरा और अस्तित्व का योग है। अस्तित्व दो का योग नहीं है किन्तु वह निरपेक्ष है।'मैं हूं'—यह निरपेक्ष अस्तित्व है। दूसरे मुझे अनुभव करते हैं, इसलिए मैं नहीं हूं किन्तु मैं हूं, इसलिए मुझे दूसरे अनुभव करते हैं। मैं अपने-आप में अपना अनुभव करता हूं, इसलिए मैं हूं'।

संशय के बादलों को छिन्न-भिन्न करते हुए बड़े मधुर शब्दों में महावीर कहते हैं—मेघ! उस आनंद का मैं प्रमाण हूं, मुझे देख। यह जो कुछ मैंने कहा है वह मेरा अनुभव है, प्रत्यक्ष दर्शन है। इसमें तर्क का कोई अवकाश नहीं है और न इसमें किसी शाब्दिक-प्रमाण की आवश्यकता है। पराया पराया है और अपना अपना। तू समस्याओं से मुक्त हो और स्वयं प्रत्यक्षीकरण का पथिक बन। अनुभव सदा सत्य होता है।

**३०. आगमानामधिष्ठानं, वेदानां वेद उत्तमः।**
**उपादिदेश भगवान्, आत्मानन्दमनुत्तरम्॥**

**भगवान् ने अनुत्तर आत्मानंद का उपदेश दिया। वे आगमों के अधिष्ठान—आधार और वेदों—शास्त्रों में उत्तम शास्त्र हैं।**

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**सहजानन्दमीमांसानामा चतुर्थोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय-५

# आमुख

साध्य की उपलब्धि साधन से होती है। आत्म-सुख साध्य है और उसके साधन हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि। अहिंसा सबकी रीढ़ है। अन्य सब उसी के सहारे पलते हैं। अहिंसा को समझे बिना साध्य भी समझा नहीं जा सकता। उसकी स्वीकृति के बिना साध्य का स्वीकार भी नहीं हो सकता। श्रद्धा, ज्ञान और आचार की समन्विति ही साध्य है।

साध्य की पूर्णता साधन के अभाव में नहीं हो सकती इसलिए साधन का बोध और आचरण अपेक्षित है। सुख की प्राप्ति के लिए साधनों का अवलंबन लेना आवश्यक है। इस अध्याय में अहिंसा का स्थूल और सूक्ष्म विवेचन है। दोनों पक्षों का बोध सिद्धि के लिए अपेक्षित है। अहिंसा के सिद्ध हो जाने पर समता की ऊर्मियां सर्वत्र उछलने लगती हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# मोक्ष-साधन-मीमांसा

मेघः प्राह

१. प्रभो! तवोपदेशेन, ज्ञातं मोक्षसुखं मया।
व्यासेन साधनान्यस्य, ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम्॥

मेघ बोला—प्रभो! आपके उपदेश से मैंने मोक्ष-सुख का तात्पर्य जान लिया। अब मैं विस्तार के साथ उसके साधनों को जानना चाहता हूं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

, मेघ ने कहा—संदिग्ध अवस्था में लक्ष्य का चुनाव नहीं होता। उसके लिए स्थिरता की अपेक्षा है। अस्थिर मन असफलता का प्रतीक है। मन में श्रेय और अश्रेय की विभाजन-रेखा तब ही खींची जा सकती है, जब कि मन स्वस्थ और असंदिग्ध हो। मेघ के मन पर पड़ा आशंका का पर्दा हटा तब उसने साध्य का चुनाव किया कि मेरा साध्य मोक्ष है। जन्म और मृत्यु दुःख है। उसके बीच होने वाली सुखानुभूति भी भ्रमात्मक है, दुःख-रूप है। दुःख की नामशेषता मुक्ति है। दुःख-जिहीर्षा ही हमें उसके निकट ले जाती है। मेघ ने दुःख को जाना और मुक्ति को भी जाना। अब वह उनके उपायों को जानने के लिए व्यग्र होता है और भगवान् से अनेक प्रश्न पूछता है।

**भगवान् प्राह**

**२. ज्ञानदर्शनचारित्र-त्रयी, तस्यास्ति साधनम्।**
**स धर्मः प्रोच्यते धीमन्! विस्तरं शृणु साशयम्॥**

**भगवान् ने कहा—धीमन्! ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह त्रयी मोक्ष का साधन है। उसे धर्म कहा गया है। तुम उसे विस्तार से सुनो और उसका आशय समझने का प्रयत्न करो।**

बंधन प्रिय नहीं है, फिर भी बंधन में जीते हैं और बंधन में ही सुख

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मानते हैं। यह अज्ञान है। ज्ञान की रश्मि प्रकट होती है तब बंधन और स्वतंत्रता की प्रतीति होती है कि क्या बंधन है और क्या स्वतंत्रता है? वास्तव में वही यथार्थ स्वतंत्रता–मुक्ति है जिसमें किसी बाहरी पदार्थ या व्यक्ति का हस्तक्षेप नहीं है। वह स्वतंत्रता निराबाध है, निरपेक्ष है, पूर्ण है और आत्मलीनता है। उस स्वतंत्रता का सुख–आनंद भी असीम है। मेघ का मन उस पूर्ण आनंद के लिए व्याकुल हो उठा। उसने यह दृढ़ निश्चय किया कि उसी पूर्ण सुख को प्राप्त करना है। उसे यह ज्ञात नहीं है कि उसके उपाय क्या हैं? उसकी जिज्ञासा की शांति के लिए भगवान ने कहा–सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र–यह रत्नत्रयी उसके साधन हैं। **'सद्दर्शन-ज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः'** तीर्थंकरों ने इन को ही धर्म कहा है।

स्वयं को जानना ही यथार्थ ज्ञान है। वह ज्ञान वस्तुतः ज्ञान नहीं है जिसके द्वारा अपना ज्ञान नहीं होता है।

**पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।**
**ढ़ाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंउित होय॥**

कबीर की दृष्टि में तथा अन्य सभी ऋषियों की दृष्टि में वही पंडित है, ज्ञानी है जिसने अपने भीतर के खुदा खुद को जान लिया है। यह ज्ञान पुस्तकों, शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता। इसके लिए खुद साधक को ही खपना होता है, तपना होता है और मरना होता है। यही ज्ञान व्यक्ति को बंधनों से मुक्त करता है और वह आत्मज्ञाता बन जाता है। आत्मा को जानना ही ज्ञान है और आत्मा में दृढ़ निश्चय हो जाना ही दर्शन है। आत्मज्ञान और आत्मश्रद्धा के बाद सभी संशय निराकृत हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को कोई भी शक्ति पथ से विचलित नहीं कर सकती।

चारित्र का अर्थ है–जो विजातीय तत्त्व आत्मा के साथ संलग्न हैं, उनका निष्कासन करना। आत्मा को पूर्णरूपेण खाली कर देना। जब कर्म का संग आत्मा से छूट जाता है या वैसे कर्मों का चय नहीं होता है, वह स्थिति आत्मस्थता की है। आत्मा आत्मा में ही स्थित हो जाता है। यही चारित्र है। कर्मों के निष्कासन के अनेक साधन हैं। वे सभी साधन चारित्र के ही अंतर्गत हैं। वे साधन मोक्ष के प्रयोग बनते हैं।

**३. अहिंसालक्षणो धर्मः, तितिक्षालक्षणस्तथा।**
**यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाऽहिंसा तत्र सम्भवेत्॥**

**धर्म का पहला लक्षण है अहिंसा और दूसरा लक्षण है तितिक्षा। जो कष्ट में धैर्य नहीं रख पाता, वह अहिंसा की साधना नहीं कर पाता।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मोक्ष साध्य है। धर्म साधन है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र धर्म है। अहिंसा सम्यक् चारित्र की एक कड़ी है। दर्शन आत्मा का निश्चय कराता है। ज्ञान आत्म-स्वरूप का प्रतिभास कराता है और चारित्र उसमें रमण कराता है। अहिंसा और आत्मरमण दो नहीं हैं। अहिंसा के बिना चारित्र भी सम्यक् नहीं होता।

अहिंसा अध्यात्म की सर्वोच्च भूमिका है। उसी के आधार पर सब क्रियाएं फलवती बनती हैं। सभी धार्मिकों ने अहिंसा को परम धर्म कहा है। जिसने अहिंसा का परिज्ञान नहीं किया, उसने कुछ भी नहीं जाना है। ज्ञानी का सार यही है कि किसी की भी हिंसा न करे। दूसरों की हिंसा अपनी हिंसा है। उसके कंठस्थ किये हुए करोड़ों पद्य भूसे के समान निस्सार हैं, जो इतना भी नहीं जानता कि दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। स्मृति भी कहती है–किसी की हिंसा मत करो। ईसा कहते हैं–'धन्य हैं वे जो दयालु हैं क्योंकि वे ईश्वर की दया प्राप्त करेंगे।' कुरान शरीफ में लिखा है–'क्या इन्सान, क्या हैवान–सबके साथ रहम का व्यवहार करो।' इस प्रकार अहिंसा सभी का मूल मंत्र रहा है।

अहिंसा क्या है? अहिंसा का शब्दार्थ है–हिंसा का निषेध। यह उसका निषेध रूप है। उसका विधिरूप है–प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, राग, द्वेष और मोह आदि का अभाव। राग-द्वेष हिंसा है, भले वह सूक्ष्म या स्थूल रूप में हो। अहिंसा वहां निखार नहीं पाती। अहिंसा की भूमिका को ओजस्वी बनाने के लिए आत्मा को पवित्र बनाना होता है। अपनी पवित्रता में अहिंसा सहज जगमगा उठती है। वहां सर्वत्र अपना ही दर्शन होता है। अहिंसक जैसे अपने को जानता है वैसे ही सबको जानता है। भगवान् ने इसलिए कहा–'सब प्राणी दुःख से घबराते हैं अतः सभी अहिंस्य हैं।'

धर्म–मोक्ष की आधार-शिला अहिंसा है। अहिंसा धर्म का पहला लक्षण है और तितिक्षा दूसरा।

अहिंसा और तितिक्षा धर्म को अपूर्ण नहीं रहने देते। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा के अभाव में तितिक्षा–सहनशीलता नहीं होती और तितिक्षा के अभाव में अहिंसा नहीं होती। अधीरता हिंसा-प्रतिकार को जन्म देती है। हिंसा से भय, उद्वेग, विरोध, उत्तेजना आदि को बल मिलता है। इस प्रकार हिंसा की परंपरा लंबी हो चलती है जिससे व्यक्ति का मनोबल गिर जाता है। वह छोटी बातों में या सामान्य कष्टों में अपना संतुलन बनाए नहीं रख सकता। अधीर व्यक्ति अहिंसा की साधना के योग्य नहीं होता। भय हमारी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्यात्म-शक्ति की क्षीणता का प्रतीक है। चिंता, क्रोध, ईर्ष्या और द्वेष इसके सहचारी हैं। इससे मनुष्य में नैतिकबल का स्फुटन नहीं होता। भय मन और शरीर—दोनों को प्रभावित करता है। मानसिक अस्वास्थ्य से शरीर अस्वस्थ होता है। डॉ. डोवर का कहना है—'भय से चिंता होती है और चिंता व्यक्ति को उद्विग्न और हताश बना देती है। यह अपने पेट की नसों को प्रभावित करती है, पेट के अन्दर के पदार्थों को विषम कर देती है। फलस्वरूप उदरव्रण की उत्पत्ति हो जाती है।'

योगशास्त्र में लिखा है—'भय, चिंता, क्रोध, मद आदि मानसिक आवेगों से पुरुष का वीर्य पतला हो जाता है और स्त्री के रजो-विकार का रोग उत्पन्न हो जाता है।' चरक कहता है—'चिंता, शोक, भय, क्रोध आदि की अवस्था में किया हुआ पथ्य भोजन भी जीर्ण नहीं होता।'

अध्यात्मक-दृष्टि से देखें तो भय आत्म-पतन का बहुत बड़ा कारण है। भीत व्यक्ति को आत्म-दर्शन नही होता। वह हर स्थिति में सशंक रहता है। सर्वत्र उसे भूत ही भूत दिखाई देते हैं। शरीर और बाह्य पदार्थों पर उसका मोह बढ़ता जाता है। मूढ़ मनुष्य हिंसा का अवलंबन लेते हैं। इस प्रकार एक मूढ़ता से दूसरी मूढ़ता बढ़ती जाती है।

आत्मस्थ व्यक्ति सदा सावधान रहता है। वह न दूसरों को डराता है और न स्वयं डरता है। अभय दो और अभय बनो—यह उसका नारा है। अध्यात्म-विकास का प्रथम चरण है—अभय। अभय के बिना अहिंसा का अवतरण नहीं होता। अहिंसक बनने की शर्त है—अभय बनना।

**४. सत्त्वान् स एव हन्याद् यः, स्याद् भीरुः सत्त्ववर्जितः।**
**अहिंसाशौर्यसम्पन्नो, न हन्ति स्वं परांस्तथा॥**

**जीवों का हनन वही करता है जो भीरु और निर्वीर्य है। जिसमें अहिंसा का तेज है, वह स्वयं का और दूसरों का हनन नहीं करता।**

**५. नानाविधानि कष्टानि, प्रसन्नात्मा सहेत यः।**
**परानपीडयन् सोऽयं, अहिंसां वेत्ति नापरः॥**

**जो दूसरों को कष्ट न पहुंचाता हुआ प्रसन्नतापूर्वक नाना प्रकार के कष्टों को सहन करता है, वही व्यक्ति अहिंसा को जानता है, दूसरा नहीं।**

**६. अपि शात्रवमापन्नान्, मनुते सुहृदः प्रियान्।**
**अपि कष्टप्रदायिभ्यो, न च क्रुध्येन्मनागपि॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वालों को प्रिय मित्र मानता है और कष्ट देने वालों पर तनिक भी क्रुद्ध नहीं होता।

७. अप्रियेषु पदार्थेषु, द्वेषं कुर्यान्न किञ्चन।
प्रियेषु च पदार्थेषु, रागभावं न चोद्वहेत्॥

वह अप्रिय पदार्थों में किंचित् भी द्वेष नहीं करता और प्रिय पदार्थों में अनुरक्त नहीं होता।

८. अप्रियां सहते वाणीं, सहते कर्म चाप्रियम्।
प्रियाप्रिये निर्विशेषः, समदृष्टिरहिंसकः॥

वह अप्रिय वचन को सहन करता है और अप्रिय प्रवृत्ति को भी सहन करता है। जो प्रिय और अप्रिय में समान रहता है, वह समदृष्टि होता है। जो समदृष्टि होता है, वही अहिंसक है।

९. भयं नास्त्यप्रमत्तस्य, स एव स्यादहिंसकः।
अहिंसायाश्च भीतेश्च, दिगप्येका न विद्यते॥

अप्रमत्त को भय नहीं होता और जो अप्रमत्त होता है, वही अहिंसक है। अहिंसा और भय की दिशा एक नहीं होती—जो अभय नहीं होता, वह अहिंसक भी नहीं हो सकता। अहिंसक के लिए अभय होना आवश्यक है।

१०. स्वगुणे स्वत्वधीर्यस्य, भयं तस्य न जायते।
परवस्तुषु यस्यास्ति, स्वत्वधीः स भयं नयेत्॥

जो आत्मीय गुणों में स्वत्व की बुद्धि रखता है, उसे भय नहीं होता। जो पर-पदार्थ में स्वत्व की बुद्धि रखता है, उसे भय होता है।

आत्म-गुणों में विचरण करने वाला साधक अभय बन जाता है। उसका अपनापन आत्मा में ही होता है, बाहर नहीं। वह देखता है—मैं ज्ञानस्वरूप हूं, मैं दर्शनस्वरूप हूं, मैं आनंद-स्वरूप हूं और मैं सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न हूं। मेरी निधि यही है, इसे छीननेवाला कोई नहीं है। शरीर, परिजन, अर्थ आदि ये सब मेरे से भिन्न हैं। ऐसा सोचने वाला मृत्यु से भी अभय रहता है। वह गा उठता है—मेरी मृत्यु नहीं है, मैं अमर हूं। मुझे भय किसका है। मैं नीरोग हूं! रोग शरीर का धर्म है। फिर मैं क्यों व्यथित बनूं! बचपन, यौवन और वृद्धत्व भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

शरीर-धर्म हैं। मैं आत्मा हूं। वह न वृद्ध है, न युवा है और न बालक है। जो व्यक्ति ऐसा चिंतन करता है, उसे कभी किसी से भय नहीं होता।

जो व्यक्ति बाह्य पदार्थों को अपना मानता है, बाह्य संबंधों को अपना मानता है, उसे पग-पग पर भय रहता है। बाह्य पदार्थों के अर्जन और संरक्षण में उसे अनेक प्रकार के भय सताते रहते हैं।

मेघः प्राह

११. न भेतव्यं न भेतव्यं, भीतो भूतेन गृह्यते।
किमर्थमुपदेशोऽसौ, भगवंस्तव विद्यते॥

मेघ ने कहा—भगवन्! आपने यह क्यों कहा—मत डरो, मत डरो। जो डरता है उसे भूत पकड़ लेते हैं।

भगवान् प्राह

१२. अभयं याति संसिद्धिं, अहिंसा तत्र सिद्ध्यति।
अहिंसकोऽपि भीतोऽपि, नैतद् भूतं भविष्यति॥

भगवान् ने कहा—जहां अभय सिद्ध होता है, वहां अहिंसा सिद्ध हो जाती है। एक व्यक्ति अहिंसक भी हो और भयभीत भी हो, ऐसा न कभी हुआ है और न होगा।

१३. यथा सहाऽनवस्थानं, आलोकतमसोस्तथा।
अहिंसाया भयस्यापि, न सहाऽवस्थितिर्भवेत्॥

जैसे प्रकाश और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही अहिंसा और भय एक साथ नहीं रह सकते।

१४. यो नाप्नोति भयं मृत्योः, न बिभेति तथा रुजः।
जरसोर्नापवादेभ्यः, स एव स्यादहिंसकः॥

जो व्यक्ति मृत्यु, रोग, बुढापा और अपवादों से नहीं डरता, वही वास्तव में अहिंसक है।

१५. यस्यात्मनि परा प्रीतिः, यः सत्यं तत्र पश्यति।
अस्तित्वं शाश्वतं जानन्, अभयं लभते ध्रुवम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिसकी आत्मा में परम प्रीति है, जो आत्मा में ही सत्य को देखता है, जो आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को जानता है, वह निश्चित ही अभय हो जाता है।**

**१६. यः पश्यत्यात्मनात्मानं, सर्वात्मसदृशं निजम्।**
**भिन्नं सदप्यभिन्नं च, तस्याऽहिंसा प्रसिद्ध्यति॥**

**जो आत्मा से आत्मा को देखता है, सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान देखता है, जो सभी आत्माओं को देहदृष्टि से भिन्न होने पर भी चैतन्य के सादृश्य की दृष्टि से अपनी आत्मा से अभिन्न मानता है, उसके अहिंसा सिद्ध हो जाती है।**

भय का प्रमुख कारण है–जिजीविषा। शरीर के प्रति अनंत जन्मों का मेरेपन का भाव बना हुआ है। **'देहोहमिति या बुद्धिरविद्या सा निगद्यते'**–मैं शरीर हूं'–यह भाव अविद्या है। अहिंसा की वास्तविक अनुभूति और आचरण अविद्या के नष्ट होने पर ही होता है। जब तक अविद्या बनी रहती है तब तक भय का सर्वथा निःशेष होना कठिन है। अहिंसा को साधने के लिए अभय होना आवश्यक है। अभ्यास-काल में साधना का लक्ष्य है–अभय और सिद्ध हो जाने पर वह स्वयं तदात्मस्वरूप हो जाता है। अभय के सिद्ध हो जाने पर अहिंसा को पृथक् रूप से साधने की अपेक्षा नहीं रहती।

मृत्यु, बुढापा, रोग आदि का भय यह व्यक्त करता है कि प्राणी जीना चाहते हैं। मरना सबसे बड़ा भय है, किन्तु वस्तुवृत्त्या हम उसके अंतस्तल में प्रविष्ट होंगे तो वहां भी जीवनेच्छा ही दृष्टिगत होगी। क्योंकि उस मरने की मांग के पीछे भी कष्ट है, यथार्थता नहीं है। महावीर ने कहा है–जब तुम मृत्यु और जीवन की एषणा से मुक्त हो जाओ तब तुम चाहे जीओ या मरो, तुम्हारे लिए कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रस्तुत पद्यों में अहिंसा और अभय की सिद्धि की प्रक्रिया प्रस्तुत की है। उसे साध लेने पर अभय और अहिंसा स्वतः सिद्ध हो जाती है।

कोई भी व्यक्ति बिना केन्द्र को पकड़े सर्वथा अभय नहीं होता। बाहर से सब कुछ छोड़ता जाए, भीतर कुछ उपलब्ध न हो तो व्यक्ति निराश होकर उसे ही छोड़ देता है। 'डेविड ह्यूम' ने डेल्फी के पवित्र मंदिर पर लिखा देखा–Know the Self–अपने को जानो। वह भीतर गया अपने को जानने के लिए। उसे भीतर सिवाय क्रोध, घृणा, प्रेम, द्वेष, राग आदि के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। भीतर प्रवेश करना उसने छोड़ दिया। इसलिए यहां कहा है–'बाहर की पकड़ ढीली करो, बाहर कुछ भी मत पकड़ो। जितनी सुरक्षा बाहर खोजोगे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उतना ही भय, दुःख, अशांति अधिक होगी। भय से मुक्त होने के लिए भीतर उतरो। उस केन्द्र को खोजो जो शाश्वत है। उस केन्द्र से परम प्रीति जब स्थापित होती है तब जो है उसका अनुभव होता है और उसी अनुभूति के साथ भय विलीन हो जाता है। 'मैं अजन्मा हूं', 'मैं अभय हूं'—सिर्फ ऐसा चिंतन ही नहीं करना है, अनुभूति के जगत् में भी प्रवेश करना है।

जैसे ही व्यक्ति आत्मवान् बनता है वैसे ही वह देखता है—जो मैं हूं वही सर्वत्र है, भेद तो सिर्फ देह का है। पानी की विविधता से सूर्य के प्रतिबिंब में क्या फर्क पड़ सकता है? वह वैसा ही है जैसा निर्मल आकाश। आत्मा की एकत्व अनुभूति में हिंसा का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। उसका अंतःकरण कलुषता, घृणा, राग, द्वेष, मोह, ममत्व से विमुक्त हो जाता है। स्वगुणों का प्रवाह प्रतिक्षण प्रवाहित होने लगता है।

**१७. स्वं वस्तु स्वगुणा एव, तस्य संरक्षणक्षमाम्।**
**अहिंसां वत्स! जानीहि, तत्र हिंसाऽस्त्यकिञ्चना॥**

**अपना गुणात्मक स्वरूप ही अपनी वस्तु है। वत्स! अहिंसा उसका संरक्षण करने में समर्थ है। आत्म-गुण का संरक्षण करने में हिंसा अकिंचित्कर है, व्यर्थ है।**

हिंसा मनुष्य का स्वधर्म नहीं है, विधर्म है। अहिंसा स्वधर्म है। पर-धर्म में प्रवेश करने की अपेक्षा स्वधर्म में मृत्यु भी अच्छी है। यह आलोक स्वरूप है। जो जिसका गुण है, वह उसी की सुरक्षा कर सकता है, दूसरा नहीं। हिंसा हिंसा को बढ़ावा देती है और हिंसा की ही रक्षा करती है। उसके शस्त्र एक से एक बढ़कर उत्पन्न होते रहते हैं। अहिंसा में यह नहीं है। उससे आत्मगुण को पोषण मिलता है। वह उसे बढ़ाती है और रक्षा भी करती है।

**१८. ममत्वं रागसम्भूतं, वस्तुमात्रेषु यद् भवेत्।**
**सा हिंसाऽऽसक्तिरेषैव, जीवोऽसौ बध्यतेऽनया॥**

**वस्तु मात्र के प्रति ममत्व राग से उत्पन्न होता है, वह हिंसा है और वही आसक्ति है। उसी से यह आत्मा आबद्ध होती है।**

**१९. ग्रहणे परवस्तूनां, रक्षणे परिवर्धने।**
**अहिंसा क्षमतां नैति, सात्मस्थितिरनुत्तरा॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**पर-वस्तु–पौद्गालिक पदार्थ के ग्रहण, रक्षण और संवर्धन करने में अहिंसा समर्थ नहीं है। क्योंकि वे सब आत्मा से भिन्न अवस्थाएं हैं और अहिंसा आत्मा की अनुत्तर अवस्था है।**

अहिंसा का अपना गुण है, अपना कार्य है और हिंसा का अपना। हिंसा और अहिंसा–दोनों के दो मार्ग हैं। अहिंसा स्वभाव–स्वगुण की संरक्षिका है, पर पदार्थों की नहीं। पर का स्वीकरण, संवर्धन और संरक्षण अहिंसा से संभव नहीं। अहिंसक अपनी सुरक्षा का प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है। वह जानता है कि मेरी रक्षा बाहर से नहीं होती। बाहर से शरीर को और पदार्थों को बचाया जा सकता है, किन्तु चेतना को नहीं। और जिसे हम बाहर से सुरक्षित करते हैं वह भी सदा के लिए नहीं। यह सब जानते हैं कि जो कुछ है वह एक दिन विनष्ट होने वाला है।

यूनान के सम्राट् ने एक महान् साधक से पूछा–आप कहते हैं–'आत्मा अमर हैं। इसका प्रमाण क्या है?' साधक ने कहा–'मैं स्वयं उपस्थित हूं।' सम्राट् समझा नहीं। फिर पूछा। साधक ने कहा–'और प्रमाण मैं क्या दे सकता हूं?' सम्राट् ने उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करवाए और साधक प्रत्येक टुकड़े के साथ यह प्रमाण प्रस्तुत करता रहा कि शरीर खंडित हो रहा है, किन्तु मैं अब भी पूर्ण हूं। मेरा कुछ भी नष्ट नहीं हो रहा है।

नमि राजर्षि के सामने मिथिला नगरी अग्नि की लपटों में जल रही है। वे कहते हैं–'मेरा जो कुछ है वह पास सुरखित है। न उसे अग्नि जला सकती है, न पानी बहा सकता है और न शस्त्र छेद सकते हैं। जो मेरा नहीं है उसे अग्नि जला सकती है, पानी गला सकता है। मिथिला के जलने पर मेरा कुछ नहीं जलता।'

यह है 'पर' पदार्थों से अपने को पृथक् देख लेना।

जहां अपनापन है, ममत्व है, वहीं आसक्ति है, बंधन है। ममत्व-मुक्ति के पश्चात् चिंता का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। पदार्थ विद्यमान है तो प्रसन्नता है और न है तब भी प्रसन्नता है। प्रसन्नता पदार्थों की जहां सहगामिनी होती है वहां उनके विनष्ट होने पर दुःख की सहगामिनी भी हो जाएगी। किन्तु जो निरपेक्ष प्रसन्नता है उसे कोई नहीं छीन सकता। अहिंसा और हिंसा के गुण-धर्मों से परिचित होना अत्यंत आवश्यक है।

**२०. अतीतैर्भाविभिश्चापि, वर्तमानैः समैर्जिनैः।**
**सर्वे जीवा न हन्तव्या, एष धर्मो निरूपितः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जो तीर्थंकर हो चुके, होंगे या हैं, उन सबने इसी अहिंसा धर्म का निरूपण किया है। उनका उपदेश है—किसी भी जीव का हनन मत करो।**

इस श्लोक में कहा गया है कि अहिंसा धर्म का प्रतिपादन अनादिकाल से होता रहा है और उसके प्रणेता आत्म-साक्षात्कारी रहे हैं।

धर्म के प्रणेता अमुक ही हैं—ऐसा ही हैं—ऐसा कथन करने वाले धर्म की शाश्वतता और सार्वकालिकता का खंडन करते हैं। अहिंसा धर्म का स्रोत है। वह अनेक रूपों में प्रवाहित होता आया है और रहेगा। वह अनादि है, ध्रुव है, नित्य है। धर्म का आलोक जब क्षीण होने लगता है, तब कोई विशिष्ट महापुरुष उसको फिर से प्रज्वलित करता है, इतिहास इसका प्रमाण है। मिलिन्द कहता है कि बुद्ध ने उस प्राचीन मार्ग को ही फिर खोजा है, जो बीच में लुप्त हो गया था। जब बुद्ध भिक्षु के वेश में हाथ में भिक्षा-पात्र लिए भिक्षा मांगते हुए अपने पिता की राजधानी में वापस लौटते हैं तो उनका पिता पूछता है—यह सब क्यों? उत्तर मिलता है—पिताजी! यह मेरी जाति की प्रथा है। राजा आश्चर्य से पूछता है—कौन-सी जाति? तब भिक्षु उत्तर देते हैं—बुद्ध जो हो चुके हैं और जो होंगे, मैं उन्हीं में से हूं। और जो उन्होंने किया, और यह जो अब हो रहा है पहले भी हुआ था कि इस द्वार पर एक कवचधारी राजा अपने पुत्र से मिले, राजकुमार से, जो तपस्वी वेश में हो। इस बात को समझ लो कि समय-समय पर ऐसा तथागत संसार में जन्म लेता है जो पूरी तरह ज्ञान से प्रकाशित होता है। वह पवित्र और योग्य होता है। उसमें ज्ञान और अच्छाई प्रचुर मात्रा में भरी होती है। वह लोकों के ज्ञान के कारण प्रसन्न रहता है। पथ-भ्रष्ट मर्त्यों के लिए वह अद्वितीय मार्गदर्शक होता है। वह देवताओं और मनुष्यों का गुरु होता है।

जैन परंपरा भी यही मानती है कि तीर्थंकर किसी एक काल या एक देश में नहीं होते। वे समय-समय पर आते हैं और सत्य का उद्घाटन कर जन-मानस को उस ओर प्रेरित करते हैं। उनका आदि, मध्य और अंत सुन्दर होता है। सभी अहिंसा आदि शाश्वत तथ्यों का अपने-अपने वातावरण के अनुसार जन-भोग्य पद्धति में उपदेश देते हैं। उसमें शब्द-भेद होते हुए भी अर्थ का अभेद होता है।

भागवत में कहा है—सर्वव्यापी भगवान् केवल दानवीय शक्तियों का विनाश करने के लिए ही नहीं अपितु मर्त्यों—मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए भी प्रकट होते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**२१. मुक्तेरयमुपायोऽस्ति, योगस्तेनाभिधीयते।**
**अहिंसाऽऽत्मविहारो वा, स चैकाङ्गः प्रजायते॥**

**यह धर्म मुक्ति का उपाय है, इसलिए यह योग कहलाता है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से धर्म के अनेक विभाग होते हैं। जहां उसके और विभाग नहीं किए जाते, वहां अहिंसा या आत्म-विहार को ही धर्म कहा जाता है। यह एक अंग वाला धर्म है।**

योग शब्द यहां उस साधना पद्धति का प्रतीक है जिसके माध्यम से व्यक्ति चेतना के सर्वोच्च शिखर को छू लेता है। योग का अर्थ है—भेद से अभेद में प्रवेश करना, द्वैत से अद्वैत का साक्षात्कार करना, विजातीय से सजातीय का अनुभव करना। योग के आठ अंग हैं—१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान और ८. समाधि। इस व्यवस्था क्रम में शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य का सम्यग् अवबोध है। शरीर और मन की स्थिति पर व्यक्ति खड़ा है। इसलिए साधना का प्रवेश-द्वार शरीर है। शरीर की रोगग्रस्त स्थिति में आत्मा की स्मृति संभव नहीं है। सारा ध्यान बीमारी अपनी तरफ खींचती रहती है, इस स्थिति में मन आत्मा का स्मरण कैसे कर सकता है? अतः आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा शरीर को ध्यान, समाधि के योग्य रखना अपेक्षित है। मुख्य बात इतनी ही है कि चाहे किसी भी योग-पद्धति को हम स्वीकार करें किन्तु येन-केन प्रकारेण शरीर का स्वास्थ्य नितांत उपादेय है। उसके साथ-साथ या पश्चात् चित्त का निर्माण आवश्यक है। चित्त में जो वासना, संस्कार, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि का कूड़ा जमा है उसे निकाल फेंकना होता है। चित्तशुद्धि के अभाव में परमात्मा का अवतरण—प्रकटीकरण असंभव है।

एक बहिन ने एक दिन संन्यासी से पूछा—'महात्माजी! परमात्मा का दर्शन कैसे हो? बहुत प्रयत्न करती हूं कि शांति मिले, प्रभु का दर्शन हो।' संत ने कहा—'अच्छा, कभी समय आने पर बताऊंगा।' एक दिन संत भिक्षा के लिए पुनः आये। बहिन भिक्षा देने लगी तब देखा पात्र गंदा है। वह बोली—'भिक्षा गंदी हो जाएगी, पात्र गंदा है।' संत ने कहा—'उस प्रश्न का उत्तर है यह। तुम देखो, पात्र गंदा हो तब कैसे शांति मिले और कैसे परमात्मा का अवतरण हो? बस, पात्र शुद्ध कर लो, परमात्मा की झांकी स्वतः ही मिल जाएगी।' चित्त-पात्र को परमात्मा के अवतरण के लिए पूर्णतया शुद्ध करना होता है। स्वभाव-धर्म शुद्ध चित्त में प्रतिबिंबित होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

योग की अनेक शाखाएं हैं, जैसे–हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, लययोग आदि। इनकी अनेक अवान्तर शाखाएं भी हैं। सभी का ध्येय है–आत्मा का पूर्ण विकास। अहिंसा यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का एक अंग है। संक्षेप में शेष सब अहिंसा की परिक्रमा करते हैं, इसलिए मुख्यतया इसे ही मुक्ति का अनन्य अंग माना है। ऐसे तो जितने ही साधन हों वे सब सत्य से अनुस्यूत हों तो सब मुक्ति के ही अवयव हैं।

अहिंसा में शेष विभागों का इसलिए समावेश हो जाता है कि अहिंसा पूर्ण जागरूकता की स्थिति है। अहिंसा का साधक बेहोशी को स्वीकार नहीं कर सकता। होश की लौ उसे प्रतिक्षण जलाए रखनी होती है। जहां होश है वहां हिंसा, असत्य को कैसे अवकाश मिल सकता है? होश से ही स्व-स्मृति का दीप जल उठता है। होश ही प्रार्थना है। उर्दू के किसी शायर की वाणी है–

**'माइले दैरो हरम तूने यह सोचा भी कभी**
**जिंदगी खुद ही इबादत है अगर होश रहे।'**

'ओ मंदिर मस्जिद की तरफ झुकने वाले! क्या तूने इस पर कभी विचार किया है कि अगर होश–सावधनता हो तो जिंदगी खुद ही प्रभु की प्रार्थना है।

आचार्य हरिभद्र उसी अप्रमत्तता–जागरूकता को ध्यान में रखते हुए कहते हैं–'संयत–सोपयुक्त साधकों का समस्त व्यापार योग है, क्योंकि वह मोक्ष से योग कराता है।[1]

**२२. श्रुतं चारित्रमेतच्च, द्व्यङ्गः त्र्यङ्गः सदर्शनः।**
**संतपश्चतुरङ्गः स्यात्, पञ्चाङ्गो वीर्यसंयुतः॥**

**धर्म के दो, तीन, चार और पांच अंग–विभाग भी किए जाते हैं–**

**१. श्रुत–ज्ञान और चारित्र–यह दो अंग वाला धर्म है।**

**२. ज्ञान, चारित्र और दर्शन–यह तीन अंग वाना धर्म है।**

**३. ज्ञान, चारित्र, दर्शन और तप–यह चार अंग वाला धर्म है।**

**४. ज्ञान, चारित्र, दर्शन, तप और वीर्य–यह पांच अंग वाला धर्म है।**

**ज्ञान**–ज्ञान का अर्थ यहां आत्म-बोध है, इन्द्रिय-ज्ञान नहीं।

**चारित्र**–हेय का परित्याग कर उपादेय का आचरण करना। विजातीय संग्रह से स्वयं को पूर्णतया रिक्त करना।

**दर्शन**–तत्त्वों के प्रति दृढ़ आस्था, सत्य का साक्षात्कार।

---

१. विस्तार के लिए देखें १२वां अध्याय तथा परिशिष्ट।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**तप**—आत्मा से विजातीय पदार्थ का बहिष्कार करने के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, उस धर्म का नाम तप है।

**वीर्य**—आत्म-साक्षात्कार के लिए शक्ति का विशुद्ध प्रयोग करना।

**२३. हिंसैव विषमा वृत्तिः, दुष्प्रवृत्तिस्तथोच्यते।**
**अहिंसा साम्यमेतद्धि, चारित्रं बहुभूमिकम्॥**

**जितनी हिंसा है उतनी ही विषम वृत्ति या दुष्प्रवृत्ति है। जितनी अहिंसा है, उतना ही साम्य है और जो साम्य है, वही चारित्र है। उसकी अनेक भूमिकाएं हैं।**

हिंसा प्राणों का वियोजन करना ही नहीं है, राग और द्वेषात्मक प्रवृत्ति भी हिंसा है। प्राणों के वियोजन को ही यदि हिंसा मानें तो कोई भी व्यक्ति पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। संयत अवस्था में भी हिंसा संभव है। आज के युग में तो अहिंसा और भी कठिन है, जबकि विश्व कीटाणुओं से आक्रांत है। वे हमारे शरीर में प्रविष्ट होते हैं। उनकी हिंसा से कौन कैसे बच सकता है? इसलिए पूर्ण अहिंसक की केवल कल्पना ही रह जाती है। गति और स्थिति मनुष्य का धर्म है। इनके कारण वह न चाहता हुआ भी कभी-कभी प्राणों के अतिपात का निमित्त बन जाता है। उस दशा में हम उसे हिंसक कहें या अहिंसक? जैन आचार्यों ने इस जिज्ञासा का समाधान बड़े यौक्तिक ढंग से दिया है। स्वयं भगवान् महावीर के सामने जब यह प्रश्न आया तब उन्होंने हिंसा और अहिंसा के चार विकल्प कर समाधान प्रस्तुत किया—

१. द्रव्यतः हिंसा और भावतः अहिंसा।
२. भावतः हिंसा और द्रव्यतः अहिंसा।
३. द्रव्यतः हिंसा और भावतः हिंसा।
४. द्रव्यतः अहिंसा और भावतः अहिंसा।

इसमें प्रथम और चतुर्थ दो विकल्प अहिंसा की श्रेणी में चले आते है, और शेष दो हिंसा की। परवर्ती साहित्य में भी इसका स्पष्टीकरण है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल प्राण-वियोजन ही हिंसा नहीं है। हिंसा है—प्रमाद, कषाय, राग आदि। इनके अभाव में प्राण-वियोजन हिंसा नहीं है। प्रमाद आदि की विद्यमानता में प्राण वियुक्त न होने पर भी हिंसा है। निष्कर्ष की भाषा में यह है कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है। प्रमाद विषमता है, दुष्प्रवृत्ति है, अनुपयोगात्मक दशा है और अप्रमाद समता है, सत्-प्रवृत्ति है और उपयोगात्मक दशा है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साधना का मुख्य लक्ष्य कर्म-प्रकृति को बदलना नहीं, किन्तु कर्म के स्रोत को बदलना है। जागरूकता का संवर्द्धन कर्म-आवरण को स्वतः ही बदल देता है, आचरण स्वतः बदल जाते हैं। जैसे-जैसे साधक शरीर के प्रति जागरूक होता है वैसे-वैसे क्रमशः शरीर और मन की वृत्तियों के प्रति भी सजगता बढ़ती जाती है। आचरण से पहले ही वह सचेत हो जाता है कि–मैं क्या कर रहा हूं? क्या सोच रहा हूं? क्या बोल रहा हूं आदि-आदि।

सत्य, अस्तेय आदि आचरण हैं। इन्हें अलग से साधने में बड़ी कठिनाइयां हैं। व्यक्ति के बदलने के साथ ही इनमें परिवर्तन आ जाता है। सजगता का अभ्यासी साधक असत्य ही नहीं बोलता, किंतु असत्य के आस-पास की सभी सीमाओं को पार कर देता है। वह संयत, प्रिय, सत्य, यथार्थ और हितैषी भाषण से युक्त हो जाता है। इसके साथ-साथ कहां नहीं बोलना–मौन रहना यह भी वह जान लेता है।

वस्तुओं के प्रति उसके मन में कोई आकर्षण नहीं रहता। वह वस्तुओं की उपादेयता स्वीकार करता है, किन्तु उन्हें जीवन का ध्येय नहीं मानता। जहां पदार्थ जीवन का साध्य होता है वहां संग्रह, चोरी आदि का प्रश्न खड़ा होता है। साधक–धार्मिक व्यक्ति के लिए वे अकिंचित्कर हो जाते हैं।

भोग शरीर की पूर्ति है। जागरूक साधक शनैः शनै आत्मा की ओर आरोहण करता है। वह आत्म-भोग में डूबने लगता है। उसी में सतत विहार करने लगता है। तब ब्रह्मचर्य का फूल स्वतः खिल उठता है। ब्रह्म जैसी चर्या या ब्रह्म में गतिशीलता हो जाती है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक आनंद ब्रह्म-बिहार के बिना कैसे संभव हो सकता है? केवल संयोग से मुक्त हो जाना ब्रह्मचर्य नहीं है। वह सिर्फ बाह्य है। ब्रह्मचर्य तब सुगंधित होता है जबकि अंतर आनंद का कोई प्रसून प्रस्फुटित हुआ हो। अब्रह्मचर्य हेय है और ब्रह्मचर्य उपादेय है–इतना जान लेने मात्र से न अब्रह्मचर्य छूटता है और न ब्रह्मचर्य अवतरित होता है। जीवन विकास के समस्त सूत्रों की सारभूत प्रक्रिया है–जीवन का प्रत्येक चरण सजगता से शून्य न हो। सजगता जीवन में मूर्तिमती हो। साधक का यही प्रथम कदम है और यही अंतिम। महावीर ने कहा है–

–होशपूर्वक गति, स्थिति, बैठना, शयन, भोजन, भाषण आदि क्रियाएं करने वाला साधक पाप कर्म का बंधन नहीं करता।

**२४. सत्यमस्तेयकं ब्रह्मचर्यमेवमसंग्रहः।**
**अहिंसाया हि रूपाणि, संविहितान्यपेक्षया॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये अहिंसा के ही रूप हैं। ये विभाग अपेक्षादृष्टि से किए गए हैं।

२५. अहिंसापयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।
सापेक्षं वचनं गम्यं, यदुक्तं परमर्षिभिः॥

सत्य आदि व्रत अहिंसा-जल की सुरक्षा के लिए पालि या सेतु के समान हैं। महर्षियों की यह उक्ति सापेक्ष है। अपेक्षा की दृष्टि से सत्य, अपरिग्रह आदि में भी सब व्रतों का समावेश किया जा सकता है।

२६. अहिंसा परमो धर्मः, नयापेक्षमिदं वचः।
कारणापेक्षया मूलं, हिंसायाः स्यात् परिग्रहः॥

'अहिंसा परम धर्म है'–यह नयसापेक्ष वचन है–अहिंसा का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है। हिंसा का मूल कारण परिग्रह है।

२७. वस्तुतः परमो धर्मः, अपरिग्रह इष्यते।
यत्राऽपरिग्रहस्तत्र, स्यादहिंसा निसर्गजा॥

वास्तव में अपरिग्रह परम धर्म है। जहां अपरिग्रह है–ममत्व का विसर्जन है वहां अहिंसा निसर्ग से है।

२८. ममत्वं येन व्युत्सृष्टं, दृष्टोऽध्वा तेन निश्चितम्।
भेदविज्ञानमाद्यं स्याद्, सोपानं धर्मसन्ततेः॥

जिसने ममत्व को छोड़ दिया, उसने अवश्य ही पथ को देखा है। भेद-विज्ञान–आत्मा और पदार्थ की भिन्नता का बोध धर्म की परंपरा का प्रथम सोपान है।

धर्म के विविध भेद अपेक्षा से है। कहीं तीन भेद हैं, कहीं पांच भेद हैं, कहीं चार हैं, कहीं दस हैं और कहीं उससे भी अधिक हैं। इनमें कहीं विरोध नहीं है, ये सब सापेक्ष हैं। एक में सब हैं और सबमें एक है। जैसे-जैसे चित्त की निर्मलता बढ़ती है, भीतर का ज्ञान प्रस्फुटित होता है तब विषमता स्वतः ही निर्मूल हो जाती है। एक की सुरक्षा के लिए अन्य सब व्रत हैं। एक खंडित होता है तो अन्य भी खंडित हो जाते हैं। सब परस्पर अनुस्यूत हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान महावीर ने अहिंसा को प्रधानता दी महात्मा बुद्ध ने करुणा को प्रधान माना। गीता ने अनासक्ति को महत्ता दी। गांधीजी ने सत्य को आधार बनाया। ईसा ने प्रेम की बात कही आदि आदि। ये सब नय दृष्टि के आधार पर है। जिसको मुख्यता-महत्ता देनी है उस पर हमारा ध्यान विशेष आकृष्ट होता है, अन्य पर नहीं। अहिंसा पर बल देने के कारण ही 'अहिंसा परमोधर्मः' की सूक्ति प्रचारित हो गई। वस्तुतः देखा जाए तो अपरिग्रह परम धर्म है। हिंसा का मूल कारण परिग्रह है। परिग्रह शब्द के संकीर्ण बोध के कारण वह महान नहीं बना; किन्तु गहराई से देखा जाए तो 'परिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा, ममत्व।' हिंसा ममत्व के कारण ही होती है। एक संपन्न व्यक्ति भी मूर्च्छा-ममत्व के अभाव में अकिंचन हो सकता है और ममता के कारण एक अकिंचन भी परिग्रही हो सकता है। 'मुल्ला नसरुद्दीन का तीन चार चोरों से मुकाबला हो गया। चोरों ने कहा—तुम्हारे पास जो कुछ भी है वह सब रख दो, वरना मुश्किल होगी। मुल्ला भी हट्टा-कट्टा था वह हार मानने वाला नहीं था। काफी देर तक हाथापाई होती रही। आखिर चोरों ने उसकी जेब से पांच-दस पैसे जो थे निकाल लिए। चोरों ने कहा—इतने से पैसों के लिए क्यों मारा-मारी पर उतरा? मुल्ला ने कहा—तुम्हारे लिए ये इतने ही है, मेरे लिए तो बहुत हैं।

ममत्व अर्थात् मूर्च्छा उसका दायरा बड़ा विस्तृत है। वह शरीर, वस्त्र, मकान, धन-संपत्ति, परिवार आदि सब पर फैली हुई है। शरीर मूर्च्छा—ममत्व का मूल केन्द्र है। इसको स्पष्ट बोध सबको है। शरीर की सुरक्षा के लिए सब गौण हो जाते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—**'से हु दिट्ठपहे मुणी'** उसी मुनि ने मार्ग का देखा है जिसने ममत्व का विसर्जन कर दिया है। बुद्ध कहते हैं—जो तृष्णा से मुक्त हो जाता है वह मुक्त हो जाता है। जहां ममत्व नहीं है वहीं अहिंसा है।

**'देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।**
**नाहं देहश्चिदात्मेति, बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥'**

'मैं शरीर हूं' इस प्रकार की बुद्धि को अविद्या कहा है। मैं शरीर नहीं, चित्स्वरूप आत्मा हूं—इस भेदविज्ञान को विद्या कहा है। भेदविज्ञान धर्म का प्रथम चरण है और यही अंतिम चरण। जब इसका स्पष्ट बोध हो जाता है तब ममत्व की सघन ग्रंथि शिथिल हो जाती है। देह के उस पार जो परम तत्त्व अवस्थित है, उसका दर्शन हो जाता है। उसके दर्शन से हृदय ग्रंथि का भेदन हो जाता है, संशयों का उच्छेद हो जाता है। कहा है—**'भिद्यते हृदयग्रंथि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।'** हिंसा का कारण भी समाप्त हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भेदविज्ञान का अर्थ है—शरीर तथा पदार्थ को अपनी आत्मा से अलग अनुभव करना। आत्मा चेतन है, शरीर आदि पदार्थ पौद्गलिक है, भौतिक है, जड़ है। आत्मा से इनका संबंध क्षणिक है, अस्थायी है। आत्मा अमृत है, शरीर आदि मरणशील है। शरीरजनित बाल, युवा वृद्ध आदि दशाएं चेतन की नहीं, शरीर की हैं। यह भेदविज्ञान ही आसक्ति के बंधन को तोड़ता है, धर्म को मूर्तिमान् करता है और चेतन आत्मा को आत्मा में प्रस्थापित करता है।

मेघ यह आशंका करता है कि 'शरीर अलग है और आत्मा भिन्न है' इस तथ्य को सब जानते हैं, किन्तु मैं देखता हूं, उनकी आसक्ति कम नहीं होती है, वे उसी में अनुरक्त रहते हैं। ऐसा क्यों होता है?

प्रश्न सटीक है। देखने में ऐसा ही आता है। लेकिन इसके पीछे जो दृष्टि है, वह साफ नहीं है। ज्ञान के दो स्तर हैं—एक बौद्धिक और दूसरा चैतसिक, आत्मिक। बौद्धिक स्तर का ज्ञान केवल सूचनापरक या जानकारी-परक होता है। उससे रूपांतरण घटित नहीं होता। चेतनास्तरीय ज्ञान से ही परिवर्तन घटित होता है। वह सीधा हृदय में उतरता है। शब्द का बाण जब हृदय को बींध देता है तब व्यक्ति परिवर्तित हुए बिना नहीं रहता। भेदविज्ञान चेतना के स्तर पर होता है तब वह सार्थक होता है। सम्यक् आचरण का अर्थ भी यही है कि जो ज्ञान आचार-व्यवहार में आ जाए। सम्यग् ज्ञान की लौ जब प्रज्वलित होती है तब वह आचार-व्यवहार को भी प्रकाशित कर देती है। ज्ञान, दर्शन और आचार की समन्वित अवस्था में ही चेतना का विकास होता है। **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'** इस सूत्र में ज्ञान और कर्म की एकात्मकता की सूचना है। बौद्धिक ज्ञान की पहुंच बुद्धि तक सीमित रहती है, आत्मिक ज्ञान वहीं नहीं रुकता, वह समग्र जीवन पर छा जाता है, समग्र जीवन को प्रभावित करता है।

**मेघः प्राह**

**२९. पुद्गलान् आत्मनो भिन्नान्, जानन्नप्येषु रज्यति।**
**किमत्र कारणं स्वामिन्! दृष्टिं मे निर्मलां कुरु॥**

**स्वामिन्! आत्मा से पुद्गल भिन्न हैं, यह जानते हुए भी मनुष्य पुद्गलों में आसक्त होता है। इसका क्या कारण है? आप मेरी दृष्टि को निर्मल बनाएं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

३०. अवैराग्यञ्च मोहश्च, नात्र भेदोऽस्ति कश्चन।
विषयाग्रहणं तस्मात्, ततश्चेन्द्रियवर्तनम्॥

३१. मनसश्चापलं तस्मात्, संकल्पाः प्रचुरास्ततः।
प्राबल्यं तत इच्छाया, विषयासेवनं ततः॥

३२. वासनायास्ततो दार्ढ्यं, ततो मोहप्रवर्तनम्।
मोहव्यूहे प्रविष्टानां, मुक्तिर्भवति दुर्लभा॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

**जो अवैराग्य है, वही मोह है। इनमें कोई भेद नहीं है। मोह से विषयों का ग्रहण होता है और उससे इंद्रियों की प्रवृत्ति होती है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति से मन चपल बनता है और मन की चपलता से अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं। संकल्पों से इच्छा प्रबल बनती है और प्रबल इच्छा से विषयों का सेवन होता है। विषयों के सेवन से वासना दृढ़ होती है और दृढ़ वासना से मोह बढ़ता है। मोह के चक्रव्यूह में प्रवेश करने वालों के लिए मुक्ति दुर्लभ हो जाती है।**

जीवन-धारण का लक्ष्य है—बंधन-मुक्ति। बंधन मोह है। मोह व्यूह को बिना तोड़े कोई भी व्यक्ति साध्य तक पहुंच नहीं सकता। यह हमारी प्रगति में बाधक है। अज्ञान अंधकार की ओर ढकेलता है। इसलिए भक्त पुकारता है—हे प्रभो! तू मुझे अज्ञान से ज्ञान की ओर ले चल, मृत्यु से अमरता की ओर ले चल, असत्य से सत्य की ओर ले चल।

मोह से विषयों में आकर्षण होता है। आकर्षण अविरक्ति है। मोह और अवैराग्य में शब्द-भेद है। अवैराग्य या मोह का क्रम हमें फिर से मोह में जकड़ लेता है। मोह का एक चक्रव्यूह है। पहले मोह से इन्द्रियों के विषय का ग्रहण होता है, उससे इन्द्रियां अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं, मन चपल होता है और उससे अनेक संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। इनसे इच्छा तीव्र होती है और फिर विषय का आसेवन प्रबल होता है। बार-बार या निरंतर विषयों के आसेवन से वासना दृढ़ होती जाती है और इससे मोह तीव्र होता जाता है। व्यक्ति मोह से प्रवृत्त होता है और मोह की सघन अवस्था को पैदा कर पुनः उसी चक्र में फंसता जाता है। धीरे-धीरे मोह अत्यंत सघन होता जाता है और अंत में व्यक्ति को इतना मूढ़ बना देता है कि वह उसी में आनंद मानने लग जाता है। गीता में कहा गया है :

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यायतो विषयान्पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

–विषयों के चिंतन से आसक्ति, आसक्ति से कामवासना, कामवासना से क्रोध, क्रोध से संमोह (अविवेक), संमोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि-नाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश होता है।

**३३. अवैराग्यञ्च सर्वेषां, भोगानां मूलमिष्यते।**
**वैराग्यं नाम सर्वेषां, योगानां मूलमिष्यते॥**

**सब भोगों का मूल है अवैराग्य और सब योगों का मूल है वैराग्य।**

विरक्ति के बिना त्याग का केवल शाब्दिक आरोपण किया जाता है। वह त्याग आत्मा को विशुद्ध नहीं बनाता। उसमें आसक्ति बनी रहती है। स्वाधीन भोगों का जो विसर्जन है, वही वस्तुतः सच्चा त्याग है। वहां व्यक्ति का आकर्षण समाप्त हो जाता है। भोगों के प्रति जो सहज अनाकर्षण है, वही वैराग्य है। समाधि का अधिकारी विरक्त व्यक्ति है। इसीलिए इसे योग का मूल कहा है।

भोग बंधन है और योग मुक्ति। बंधन अवैराग्य है। इससे आत्मा का संपर्क साधा नहीं जाता। यह योग का सर्वथा विपक्षी है।

**३४. विषयाणां परित्यागो, वैराग्येणाशु जायते।**
**अग्रहश्च भवेत्तस्माद्, इन्द्रियाणां शमस्ततः॥**

**३५. मनःस्थैर्यं ततस्तस्माद्, विकाराणां परिक्षयः।**
**क्षीणेषु च विकारेषु, त्यक्ता भवति वासना॥**
**(युग्मम्)**

**विषयों का त्याग वैराग्य से ही होता है। जो विषयों का त्याग कर देता है, उसके विषयों का ग्रहण नहीं होता और उनका ग्रहण न होने पर इन्द्रियां शांत हो जाती हैं। इन्द्रियों की शांति से मन स्थिर बनता है और मन की स्थिरता से विकार क्षीण होते हैं। विकारों के क्षीण होने पर वासना नष्ट हो जाती है।**

विरक्त व्यक्ति का आकर्षण-केन्द्र आत्मा है। उसके मनन, भाषण, चिंतन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आदि कर्म आत्म-हित के लिए होते हैं। आत्म-भूमिका ज्यों-ज्यों दृढ़ होती है त्यों-त्यों विषयों की ओर से पराङ्मुखता होती जाती है। व्यक्ति रक्त-दृष्टि वहीं होता है, जहां विषयों से उसका संपर्क होता है। इन्द्रियों को भी फलने-फूलने का अवसर वहीं उपलब्ध होता है। जहां विषय-विमुखता है, वहां इन्द्रियां भी शांत हो जाती हैं। मन चपल नहीं है, चपल है श्वास और शरीर। इनकी चपलता के कारण ही मन पर चपलता का आरोप किया जाता है। जो व्यक्ति श्वास और शरीर पर नियंत्रण पा लेता है, वह सदा शांत रह सकता है। यह स्थितप्रज्ञता की ओर प्रयाण है।

'मन चेतना का एक अंश है। वह भलां कैसे चंचल हो सकता है। वह वृत्तियों के चाप से चंचल होता है। वृत्तियां का जितना चाप होता है उतना ही वह चंचल होता है और वृत्तियां जितनी शांत या क्षीण होती हैं उतना ही वह स्थिर होता है, ध्यानस्थ होता है। तालाब का जल स्थिर पड़ा है। उसमें एक ढेला फेंका और वह चंचल हो गया। यह चंचलता स्वाभाविक नहीं, किन्तु बाह्य के संपर्क से उत्पन्न है। ठीक इसी प्रकार मन की चंचलता भी स्वाभाविक नहीं किन्तु वृत्तियों के संपर्क से उत्पन्न होती है। मन की चंचलता एक परिणाम है। वह हेतु नहीं है। उसका हेतु है—वृत्तियों का जागरण।'

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३६. स्वाध्यायश्च तथा ध्यानं, विशुद्धेः स्थैर्यकारणम्।
आभ्यां सम्प्रतिपन्नाभ्यां, परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय और ध्यान–ये विशुद्धि की स्थिरता के हेतु हैं। इनकी उपलब्धि होने पर परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

३७. श्रद्धया स्थिरयाऽऽपन्नो, जयोऽपि चिरकालिकः।
सुस्थिरां कुरुते वृत्तिं, वीतरागत्वभावितः॥

सुस्थिर श्रद्धा से कषाय, वासना आदि पर होने वाली विजय स्थायी हो जाती है। वह श्रद्धावान् व्यक्ति वीतरागता की भावना से भावित होकर आत्मा की वृत्तियों को एकाग्र बनाता है।

श्रद्धा का अर्थ है–आत्म-स्वरूप की दृढ़ निश्चिति। आत्मा प्रतिक्षण अनेक प्रवृत्तियों में प्रत्यावर्तन करती रहती है। उसका झुकाव स्व की ओर कम होता है। हम देखते हैं, वह कषाय, राग, द्वेष, मोह, ममत्व, वासना, अहं आदि की ओर अधिक प्रवृत्त रहती है। उसे बहिर्भाव में जितना आनंद आता है, उतना स्वभाव में नहीं। स्वभाव की ओर झुकाव के लिए दृढ़ श्रद्धा की अपेक्षा रहती है इसलिए

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यहां श्रद्धा के लचीलेपन की ओर संकेत किया गया है। बहिर्भाव हमें आत्मोन्मुख होने नहीं देता। अगर हम जैसे-तैसे उस ओर चरण बढ़ा देते हैं तो फिर वह हमें बहिर्मुखता की ओर घसीट लाता है।

आत्म-मंदिर का प्रवेशद्वार श्रद्धा का स्थिरीकरण है। श्रद्धा जब आत्मा में केन्द्रित हो जाती है तब साधक पीछे की ओर नहीं देखता। वह आगे बढ़ता है। कषाय आदि पर-भाव हैं। वह उनमें उपलिप्त नहीं होता। वह देखता है—मैं शुद्ध हूं, बुद्ध हूं, निर्विकल्प हूं, ज्ञानमय हूं और वीतराग हूं। इस विशुद्ध भावना से वह अपनी समस्त आत्म-प्रवृत्तियों को एकाग्र बना लेता है।

**३८. भावनानाञ्च सातत्यं, श्रद्धां स्वात्मनि सुस्थिराम्।**
**लब्ध्वा स्वं लभते योगी, स्थिरचित्तो मिताशनः॥**

**चित्त को स्थिर रखने वाला और परिमितभोजी योगी अनित्य आदि भावनाओं की निरंतरता और सुस्थिर श्रद्धा को प्राप्त कर अपने स्वरूप को पा लेता है।**

**३९. पर्यङ्कासनमासीनः, कायगुप्तः ऋजुस्थितिः।**
**नासाग्रे पुद्गलेऽन्यत्र, न्यस्तदृष्टिः स्वमश्नुते॥**

**वह शरीर को स्थिर बनाकर तथा पर्यंकासन की मुद्रा से सीधा-सरल बैठकर, नाक के अग्रभाग में या किसी दूसरी पौद्गलिक वस्तु में दृष्टि को स्थापित कर अपने स्वरूप को पा लेता है।**

व्यक्ति अपने प्राप्य के प्रति प्रतिपल प्रयत्नशील रहे तो वह अवश्य प्राप्त होता है। गति की शिथिलता चरणों को कमजोर बना देती हैं। अथक प्रयत्न से कुछ भी असाध्य नहीं है। साधक आत्मोन्मुख होकर बढ़ता है। वह चाहता है, लक्ष्य को हस्तगत करना, लेकिन बाधाएं उसे प्रताड़ित करती हैं। बाधाएं हैं—मोह, ममत्व, घृणा, राग, मानसिक चपलता, विषय-प्रवृत्ति आदि-आदि। साधक इन्हें परास्त किए बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में ये विघ्न डालते हैं। आत्म-साक्षात्कार की एक छोटी-सी प्रक्रिया है। उसके सहारे हम लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। प्रत्येक साधक में निम्न गुण आवश्यक हैं :

१. लक्ष्य में दृढ़ आस्था।
२. लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पण।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३. सतत प्रयत्न और दीर्घकालीन अभ्यास।
४. आसन का अभ्यास, शरीर-स्थैर्य।
५. वाक्-संयम।
६. सत् संकल्पों से मन को भावित करना।
७. चित्त-निरोध।

**४०. आत्मा वशीकृतो येन, तेनात्मा विदितो ध्रुवम्।**
**अजितात्मा विदन् सर्वं, अपि नात्मानमृच्छति॥**

**जिसने आत्मा को वश में कर लिया, उसने वास्तव में आत्मा को जान लिया। जिसने आत्मा को नहीं जीता, वह सब कुछ जानता हुआ भी आत्मा को नहीं पा सकता।**

प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान और क्रिया के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। वह संसार दशा में आवृत रहता है। उसकी शुद्धि के लिए चारित्र की अपेक्षा होती है। चारित्र साधन है, साध्य है आत्म-स्वरूप का प्रादुर्भाव। साध्य की दृष्टि से ज्ञान का स्थान पहला है और चारित्र का दूसरा। साधन की दृष्टि से चारित्र का स्थान पहला है और ज्ञान का दूसरा।

जैन दर्शन का सारा चिंतन आत्मा की परिक्रमा किए चलता है।

आत्मा का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है।

आत्मा पर आस्था ही सम्यग् दर्शन है।

आत्म-प्राप्ति की प्रवृत्ति ही सम्यग् चारित्र हैं।

आचारांग सूत्र में कहा है–'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई'–जो एक को (आत्मा को) जानता है, वह सबको जानता है।

आत्म-विजय ही परम विजय है। आत्मा को रखते हुए देह की रक्षा की जाए, वह देह-रक्षा भी संयम है। आत्मा को गंवाकर देह-रक्षा करना साधक के लिए इष्ट नहीं होता। आत्मा की रक्षा और अरक्षा सुख और दुःख का हेतु हैं। इसलिए आत्मा को जानो, आत्मा को वश में करो, यही धर्म का सार है। भगवान् महावीर ने कहा है :

**अप्पा खलु संययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।**
**अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥**

–सभी इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करो; अरक्षित आत्मा जन्म-मरण को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा दुःखों से मुक्त हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**४१. मोक्षाभिलाषः संवेगो, धर्मश्रद्धाऽस्ति तत्फलम्।**
**वैराग्यञ्च ततस्तस्माद्, ग्रन्थिभेदः प्रजायते॥**

**व्यक्ति में पहले मोक्ष की अभिलाषा—संवेग होता है। संवेग का फल है—धर्म-श्रद्धा। जब तक व्यक्ति में मुमुक्षाभाव नहीं होता, तब तक धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती। धर्म-श्रद्धा का फल है—वैराग्य। वैराग्य का फल है—ग्रंथि-भेद। आसक्ति से जो मोह की गांठ घुलती है, वह वैराग्य से खुल जाती है।**

**४२. भिन्ने ग्रन्थौ दृढाऽऽबद्धे, दृष्टिमोहो विशुद्ध्यति।**
**चारित्रञ्चं ततस्तस्मात्, शीघ्रं मोक्षो हि जायते॥**

**दृढ़ता से आबद्ध ग्रंथि का भेद होने पर 'दर्शनमोह' की विशुद्धि होती है—दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है। इसके पश्चात् चारित्र की प्राप्ति होती है। पूर्ण चारित्र की प्राप्ति होने पर शीघ्र ही मोक्ष की उपलब्धि होती है।**

मोह संसार है और निर्मोह मुक्ति। मूढ़ व्यक्ति कहता है, 'यह मेरा है, यह मेरा नहीं है। यह मैंने पा लिया है, यह मुझे पाना है। यह काम मैंने कर लिया है और यह करना शेष है।' वह इसी में व्यस्त रहता है। वास्तविक प्राप्य क्या है इसे नहीं जान पाता। वह बंधनों का जाल बना उसी में फंसा रहता है।

अनादि-अनंत संसार में घूमते हुए जब कभी आत्म-सामीप्य प्राप्त होता है तब सत्य का दर्शन होता है। आलोक की एक किरण भीतर को प्रकाशित करना चाहती है, मोह बंधन प्रतीत होने लगता है। यहीं से मनुष्य में मुमुक्षा-भाव की अभीप्सा होती है, जिसे संवेग कहते हैं। संवेग का फल है—धर्म-श्रद्धा। जब तक व्यक्ति में मोक्ष की अभिलाषा नहीं होती तब तक धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती। धर्म-श्रद्धा का फल है—वैराग्य। कोई भी व्यक्ति पौद्गलिक पदार्थों से तब तक चिपका रहता है जब तक उसकी धर्म में श्रद्धा नहीं होती। वह सुखाभास में ही सत्य-सुख की कल्पना मान सुख मानने लगता है। वैराग्य के उदय होने पर यथार्थ आनंद का अनुभव करने लगता है। स्व में श्रद्धा स्थिर हो जाती है। व्यक्ति अनासक्त बन जाता है। मोह की गांठ वहीं घुलती है जहां आसक्ति है। वैराग्य से वह खुल जाती है। ग्रंथि-भेद वैराग्य का फल है।

जब दीर्घकालीन मोह की गांठ शिथिल हो जाती है, तब मोह का आवरण हटने लगता है। आवरण-विलय के तीन रूप हैं :

१. पूर्ण विलय होना।

२. सर्वथा उपशांत होना—दब जाना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३. कुछ क्षीण और कुछ उपशांत होना।

इसके आधार पर पहली अवस्था क्षायिक सम्यक्त्व है। दूसरी उपशम सम्यक्त्व और तीसरी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद चारित्र की प्राप्ति होती है। कोरा चारित्र आत्म-शून्य शरीर का शृंगार है। चारित्र का अर्थ है—आत्मा को विजातीय तत्त्वों से सर्वथा रिक्त करना। इससे आत्मा अपने स्वरूप में अधिष्ठित हो जाती है। साध्य-सिद्धि का मूल सम्यक्त्व है। जितनी भी आत्माएं परमात्म-पद में अधिष्ठित हुई है; होंगी, और होती हैं, वह सब सम्यग् दर्शन का प्रभाव है। चारित्र उस मूल को पोषण देकर पल्लवित और पुष्पित कर देता है। उसकी चरम परिणति है—मुक्ति।

**४३. धर्मश्रद्धा जनयति, विरक्तिं क्षणिके सुखे।**
**गृहं त्यक्त्वाऽनगारत्वं, विरक्तः प्रतिपद्यते॥**

**धर्म-श्रद्धा से क्षणिक सुखों के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है और विरक्त मनुष्य गृहत्यागी अनगार बनता है—मुनि-धर्म को स्वीकार करता है।**

संन्यास का आधार है—निस्पृहता। निस्पृहता का अर्थ है—वैराग्य। इस लिए वैराग्य को समस्त तपों का मूल कहा गया है। विशुद्धि के बिना तप का समाचरण नहीं होता। कष्टों की स्वीकृति वही कर सकता है जो विरक्त है। विरक्त के तीन रूप हैं.....दुःखात्मक, मोहात्मक और ज्ञानात्मक। आचार्य हेमचंद्र महावीर की स्तुति करते हुए कहते हैं.....'हे प्रभो! अन्य व्यक्ति दुःख और मोहमूलक वैराग्य में प्रतिष्ठित रहते हैं, जबकि आप केवल ज्ञानमूलक वैराग्य में हैं। दुःखमूलक वैराग्य स्थायी नहीं होता। दुःख की निवृत्ति के बाद वह समाप्त हो जाता है।

तुलसीदासजी ऐसे व्यक्तियों के लिए कहते हैं—

**'नारी मुई गृह सम्पति नासी, मूंड मुंडाय भये संन्यासी।'**

बाहरी दुःखों से ऊबकर अनगार बननेवाले रोटी, पानी, वस्त्र, मकान, आदि से प्रसन्न हो अध्यात्म को खो बैठते हैं। वे फिर बहिर्दशा में लौट आते हैं।

मोह-मूलक वैराग्य में भी कामनाएं अंतर में सुप्त रहती हैं। कामनाओं का उचित योग पाकर व्यक्ति विशेष रूप में उन्हीं में आसक्त हो जाते हैं। कामना का दौर इतना उग्र होता है कि हर एक व्यक्ति उससे मुक्त नहीं हो सकता। शंकराचार्य कहते हैं—'ज्ञानमूलक वैराग्य परिपक्व होता है। साधक आत्मस्थ और अनासक्त हो जाता है। त्याग की परिपक्वता स्थायी वैराग्य में आती है। स्त्री,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परिजन अर्थ, गृह और स्वशरीर के प्रति भी वह ममत्व का विसर्जन कर देता है। वह वितृष्ण बन यथार्थ सुख का अनुभव करता है।

**४४. विरज्यमानः साबाधे, नाबाधे प्रयतः सुखे।**
**अनाबाधसुखं मोक्षं, शाश्वतं लभते यतिः॥**

**जो मुनि बाधाओं से परिपूर्ण सुख से विरक्त होकर निर्बाध सुख को पाने का यत्न करता है वह अनाबाध सुख से सम्पन्न शाश्वत मोक्ष को प्राप्त होता है।**

चेतना के आनंद में विचरण करने वालों का क्षेत्र दूसरा होता है। वे बाधाओं से आकीर्ण और अध्रुव सुख में संतुष्ट नहीं होते। उनका सुख अनाबाध और ध्रुव है। क्षणिक सुख में तृप्त होना और उसी के पीछे पागल होना यह उन्हीं के लिए है, जो शरीर के आगे कुछ नहीं देखते। चेतन जगत् में चलने वाले सच्चे सुख को पा लेते हैं। वे फिर कभी दुःख के दर्शन नहीं करते और न कभी जन्म-मरण के चक्कर में फंसते हैं। अध्रुव और विनश्वर सुख की ओर बढ़ने वाले उस सुख को पा भी सकते हैं और नहीं भी। सुख पाने पर भी वह उनसे वियुक्त हो जाता है। आखिर उन्हें दुःख देखना होता है और दुःख के आवर्त्त में फंसना होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४५. अध्रुवेषु विरक्तात्मा, ध्रुवाण्याप्तुं प्रचेष्टते।
सोऽध्रुवाणि परित्यज्य, ध्रुवं प्राप्नोति सत्वरम्॥

**जो व्यक्ति अध्रुव—अशाश्वत, तत्त्व से विरक्त होकर ध्रुव तत्त्व को प्राप्त करने में प्रयत्नशील बनता है, वह अध्रुव तत्त्व—पौद्गलिक पदार्थ को छोड़कर शीघ्र ही ध्रुवतत्त्व—परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है।**

जो कृत होता है, वह शाश्वत नहीं होता। जो शाश्वत होता है, वह कृत नहीं होता।

आत्मा ध्रुव है, शाश्वत है। जो पौद्गलिक संयोग-वियोग हैं, वे सब अध्रुव हैं, अशाश्वत हैं। जो व्यक्ति पौद्गलिक संबंधों में आसक्त होता है, वह संसार-चक्र को बढ़ाता है और जो आत्म-तत्त्व की खोज में चल पढ़ता है, अपने-आपको उसमें लगा देता है, उसे पाने के लिए पागल हो जाता है वह संसार-चक्र को सीमित करते-करते ध्रुव-तत्त्व (मोक्ष) को पा लेता है, आत्मा को प्रा लेता है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**मोक्षसाधनमीमांसानामा पंचमोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ६

# आमुख

अहिंसा सत्कर्म है। उसकी आराधना वे ही कर सकते हैं जो पुनर्जन्म को मानते हैं, जिनका विश्वास है कि सत्कर्म का सत् फल होता है और असत्कर्म का असत् फल होता है। कुछ व्यक्ति सत्कर्म में विश्वास करते हैं और उसका आचरण भी करते हैं। कुछ सत्कर्म में विश्वास नहीं करते और आचरण भी नहीं करते। इसके आधार पर व्यक्ति के तीन रूप बनते हैं :–

धर्म की पूर्ण आराधना करने वाला मुनि–पूर्ण धार्मिक।

धर्म की अपूर्ण आराधना करने वाला सद् गृहस्थ–अपूर्ण धार्मिक।

धर्म की आराधना नहीं करने वाला–अधार्मिक।

इस अध्याय में तीनों ही व्यक्तियों के कर्म और कर्मफल की मीमांसा व्यवस्थित ढंग से की गई है। जब तक व्यक्ति अपने कर्म को समीचीन नहीं बनाता तब तक उसे वार्तमानिक सुख प्राप्त हो नहीं सकता। जिसे वर्तमान में सुख नहीं है उसे भविष्य में सुख कैसे हो सकता है। वह **'इतो भ्रष्टरस्ततो भ्रष्टः'**–यहां से भी भ्रष्ट है और आगे से भी। इसलिए कर्म और उसके फल का अवबोध कर अपने को सम्यक् करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# क्रिया-अक्रियावाद

१. पृथक् छन्दाः प्रजा अत्र, पृथग्वादं समाश्रिताः।
क्रियां श्रद्दधते केचिद्, अक्रियामपि केचन॥

**संसार में विभिन्न रुचि वाले लोग हैं। उनमें पृथक्-पृथक् वाद, जैसे–क्रियावाद-आत्मवाद और अक्रियावाद–अनात्मवाद आदि प्रचलित हैं। कुछ व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि में श्रद्धा रखते हैं और कुछ व्यक्ति नहीं रखते।**

संसार विविध वादों से भरा हैं। पुराने वाद नया रूप लेते हैं और नये पुराने बनते हैं। काल का यह क्रम अजस्र प्रवाहित रहता है। पुरानी मान्यता के वाद थे–क्रियावाद, अक्रियावाद, ज्ञानवाद और विनयवाद। इनकी अवान्तर शाखाएं सैंकड़ों रूपों में प्रसारित हुई थीं। आज भी अनेक वाद प्रचलित हैं।

वाद बौद्धिक व्यायाम है। तथ्यों की सचाई का परीक्षण तर्क से किया जाता है, जबकि तर्क स्वयं संदिग्ध होता है। वह सत्य के द्वार तक पहुंचने का सीधा माध्यम नहीं है। सीधा माध्यम है, तर्क-शून्य–निर्विकल्प होना। वाक् प्रपंच केवल पांडित्य मात्र है। शंकराचार्य का कथन है–

**वाग्वैखरी शब्दझरी, शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।**
**वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥**

वचन की विदग्धता, शब्द-सौन्दर्य और शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता–ये विद्वानों की विद्वत्ता के भोग के लिए हैं, मोक्ष के लिए नहीं।

२. हिंसासूतानि दुःखानि, भयवैरकराणि च।
पश्यव्याकरणे शंकां, पश्यन्त्यपश्यदर्शनाः॥

**दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं। उनसे भय और वैर बढता है, आत्म-द्रष्टा के इस निरूपण में वे ही लोग शंका करते हैं, जो साक्षात्दर्शी नहीं हैं।**

पूज्यपाद देवनंदी ने कहा है–'सम वही हो सकता है जो जगत् की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चेष्टाओं को स्पंदन-रहित होकर देखता है, विकल्प और क्रिया के भोग से जो दूर रहता है।' यह आत्म-सुख में रमण करने की स्थिति है। स्पन्दन शरीर और शरीरजन्य धर्म है। उसे देखकर जो शांत रहता है वही आनंद का अनुभव कर सकता है।

आत्म-दर्शन में वादों की परिसमाप्ति हो जाती है। वहां केवल एक आत्मवाद ही रहता है। अभेद और वितर्क मलिनदशा के परिणाम हैं। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के सम्मिश्रण से पानी बनता है। इसे आप चाहे जहां देख सकते हैं। आत्म-दर्शन की अनुभूति भी देश, क्षेत्र और काल की सीमाओं से बाधित नहीं होती।

विविध मान्यताओं का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है :

क्रियावाद–आत्मवाद और अक्रियावाद–अनात्मवाद।

आत्मवादी आत्मा को केन्द्र मानकर चलता है। वह आत्मा के साथ कर्म–विजातीय तत्त्व का योग देखता है। आत्मा उसके लिए स्वरूपतः शुद्ध और कर्म-बंधन से अशुद्ध भी है। कर्म है, कर्म-बंधन है तो उसका फल भी है। उसका इनमें विश्वास होता है। कर्म से होने वाली स्वर्ग और नरक गति भी उसे स्वीकार्य है। कर्म-मुक्ति से आत्म-स्वातन्त्र्य-मोक्ष भी उसके लिए अस्वीकार्य नहीं है।

कर्म-मुक्ति का साधन जो धर्म है, उसमें भी उसकी पूर्ण आस्था होती है। बाहरी संबंध अवास्तविक हैं। वास्तविक संबंध आत्मा से आत्मा का है। आत्मा को देखने वाला आत्म-स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य स्वार्थों से आत्मा का अहित नहीं करता। आत्महित ही उसकी दृष्टि में प्रधान होता है।

अनात्मवादी की मान्यता उससे उल्टी होती है। शारीरिक सुख को वह प्रधानता देता है। इन्द्रिय-जगत् में ही वह अधिक जीता है। इसी का यहां निरूपण है।

**३. सुकृतानां दुष्कृतानां, निर्विशेषं फलं खलु।**
**मन्यन्ते विफलं कर्म, कल्याणं पापकं तथा॥**

**अनात्मदर्शी लोग सुकृत और दुष्कृत के फल में अंतर नहीं मानते और कर्म को विफल मानते हैं–भले-बुरे कर्म का भला-बुरा फल भी नहीं मानते।**

चार्वाक दर्शन के प्रणेता आचार्य वृहस्पति की मान्यता में यही तत्त्व है। वे कहते हैं–न आत्मा है, न मोक्ष है, न धर्म है, न अधर्म है, न पुण्य है, न पाप है और न उसका फल भी है। संसार के संबंध में वे वर्तमान जगत् को ही

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रमुखता देते हैं। खाओ, पीओ और आराम करो—इतना ही है जीवन का लक्ष्य उनकी दृष्टि में। पंचभूतों से आत्मा नाम का तत्त्व उत्पन्न होता है और पंचभूतों में ही वह विलीन हो जाता है। पंचभूतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए वर्तमान जीवन ही उनके लिए सब कुछ है। स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि न होने से केवल वर्तमान सुख की उपलब्धि ही वास्तविक है। यदि पुण्य, पाप आदि की सत्ता वास्तविक है तो नास्तिकों का क्या होगा? उनका भविष्य कितना अंधकारमय और दुःखपूर्ण होगा! क्षणिक वासना-तृप्ति के लिए क्रूर होना समाज, परिवार और राष्ट्र के लिए भी हितकारक नहीं है।

नास्तिकों की क्रूरता को देख आचार्य सोमदेव ने राजा के लिए कहा है कि उसे नास्तिक दर्शन का विद्वान होना चाहिए। जो राजा उसे जानता है वह राष्ट्र के कष्टों का उन्मूलन कर सकता है। नेता यदि मृदु होता है तो उस पर अनेक व्यक्ति चढ़ आते हैं, जब तब उसे दबा देते हैं। अन्यायों को कुचलने के लिए बिना कठोरता के काम नहीं चलता। गीता के सोलहवें अध्याय में जो आसुरी स्वभाव का वर्णन है, वह नास्तिकों का ही स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है।

**४. प्रत्यायान्ति न जीवाश्च, न भोगः कर्मणां ध्रुवः।**
**इत्यास्थातो महेच्छाः स्युः, महारंभपरिग्रहाः॥**

**जीव मरकर वापस नहीं आते, फिर से जन्म धारण नहीं करते और किए हुए कर्मों को भोगना आवश्यक नहीं होता—इस आस्था से उनमें महत्त्वाकांक्षाएं पनपती हैं। वे महा-आरंभ करते हैं और परिग्रह का महान् संचय करते हैं।**

**५. निःशीलाः पापिकां वृत्तिं, कल्पयन्तः प्रवंचनाः।**
**उत्कोचना विमर्यादा, मिथ्यादंडं प्रयुञ्जते॥**

**वे शील रहित होते हैं, पापपूर्ण आजीविका करते हैं, दूसरों को ठगते हैं, रिश्वत लेते हैं, मर्यादा-विहीन होते हैं और मिथ्या-दंड का प्रयोग करते हैं—अनावश्यक हिंसा करते हैं।**

**६. क्रोधं मानञ्च मायाञ्च, लोभञ्च कलहं तथा।**
**अभ्याख्यानञ्च पैशुन्यं, श्रयन्ते मोहसंवृताः॥**

**वे मोह से आच्छन्न होने के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह, अभ्याख्यान—दोषारोपण और चुगली का आश्रय लेते हैं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

७. गर्भान्ते गर्भमायान्ति, लभन्ते जन्म जन्मनः।
मृत्योः मृत्युञ्च गच्छन्ति, दुःखाद् दुःखं व्रजन्ति च॥

**वे गर्भ के बाद गर्भ, जन्म के बाद जन्म, मृत्यु के बाद मृत्यु और दुःख के बाद दुःख को प्राप्त होते हैं।**

समस्त मानव जगत् को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है– १. आत्मवादी (आस्तिक), २. अनात्मवादी (नास्तिक) और ३. आत्मगवैषी या आत्मोपलब्ध। आत्मोपलब्ध व्यक्ति के लिए 'आत्मा है' यह मान्यता का विषय नहीं रहता। उसके लिए आत्मानुभव अन्य पदार्थों की भांति प्रत्यक्ष है। जो आत्म-खोजी हैं वे भी मानकर संतुष्ट नहीं होते। वे उसकी प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होते हैं। आत्मा उनके लिए छुई-मुई की तरह कभी प्रत्यक्ष होती है और कभी अप्रत्यक्ष। जलराशि पर पड़ी सेवाल को हटाने पर आकाश की नीलिमा अपत्यक्ष नहीं रहती, लेकिन पुनः सेवाल के फैल जाने पर वह गायब हो जाती है। ठीक साधनाशील व्यक्ति के जीवन में यही क्रम चलता है, जब तक सर्वथा विजातीय अणुओं का निर्मूलन नहीं होता। जैसे ही वे हटते हैं, आत्मा का सूर्य अपनी प्रकाश-गोद में उसे आवेष्टित कर लेता है।

आस्तिक सिर्फ आत्म-प्राप्त व्यक्ति की वाणी में आश्वस्त हो जाता है। वह कहता है–'आत्मा है' किन्तु स्वाद नहीं चखता। वह धर्म को अच्छा मानता है। धर्म के फल के प्रति आकर्षण होता है और धार्मिक विधि-विधानों का अनुसरण भी करता है। लेकिन धर्म के प्रत्यक्ष दर्शन की कठोरतम साधना पद्धति का अनुगमन नहीं करता और न वह इन्द्रिय-विषयों से भी पराङ्मुख होता है। इन्द्रिय-विषय भी उसे अपनी ओर खींचते हैं और धर्म का आकर्षण भी। धार्मिक जीवन का अर्थ होता है–विषयों के प्रति सर्वथा अनाकर्षण। विषयों का संबंध-विच्छेद नहीं किन्तु आसक्ति का विच्छेद। धार्मिक व्यक्ति केवल विषयों से ही विमुख नहीं होता, अपितु कर्म-बंध के स्रोतों के प्रति भी उदासीन होता है। राग-द्वेष और कषाय-चतुष्टय भी उसके तनुतम होते चले जाते हैं। उसके जीवन में अनुकंपा, सहिष्णुता, सौहार्द, सत्यता, सरलता, संतोष, विनम्रता आदि गुण सहज उद्भावित होने लगते हैं। जहां जीवन में धर्म का अवतरण नहीं होता, वहां उपरोक्त स्थितियों का दर्शन नहीं होता। इससे स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि धर्म का अभी अंतस्तल से स्पर्श नहीं हुआ है। फिर भी वह धर्म-विहीन नास्तिक व्यक्ति की भांति क्रूर नहीं होता। धर्म-अधर्म के फल के प्रति उसके मानस में आस्था होती है, लोक-भय होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नास्तिक के लिए आत्मा और धर्म का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। वह मानने और जानने–दोनों से दूर होता है। उसकी आस्था का केन्द्र केवल ऐहिक विषय होता है। अर्थ और काम–ये दो ही उसके जीवन के ध्येय होते हैं। वह इन्हीं की परिधि में जीता हैं और मरता है। ये कैसे संवर्द्धित हों, उसका जीवन इन्हीं के लिए है। इनके संरक्षण और संवर्द्धन में कौशल अर्जन करता है और इनके लिए कृत्य और अकृत्य की मर्यादा के अतिक्रमण में भी वह संकोच नहीं करता। ऐसे व्यक्ति धर्म की दृष्टि से तो अनुपादेय हैं ही किन्तु सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी कम गर्हणीय नहीं होते। उपरोक्त श्लोकों में उनकी जीवन-चर्या का ही प्रतिबिंब है।

आत्मा में विश्वास करने वाला व्यक्ति प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्रता में विश्वास करता हैं। उसे सुख प्रिय है तो वह यह भी मानता है कि औरों को भी सुख प्रिय है। इसलिए वह अपने सुख के लिए दूसरों का सुख छीनने में क्रूर नहीं बन सकता।

आजीविका आदि में भी उसका ध्येय रहता है–धर्म-पूर्वक व्यवसाय करना। हिंसा, असत्य आदि का प्रयोग वह जीवन में कम से कम करना चाहेगा। अनात्मवादी की दृष्टि में धर्म कुछ नहीं है, इसलिए सत्कर्म में उसका विश्वास नहीं होता। वह शरीर की भूख को ही शांत करने में व्यस्त रहता है, जिसका परिणाम वर्तमान में किंचित् सुखद हो सकता है किन्तु वर्तमान और भविष्य दोनों ही उसके लिए दुःखद बनते हैं।

**८. क्रियावादिषु चामीभ्य-स्तर्कणीयो विपर्ययः।**
**अप्येके गृहवासाः स्युः,केचित् सुलभबोधिकाः॥**

**आत्मवादियों की स्थिति उनसे नितांत विपरीत होती है। कुछ लोग गृहवासी होते हुए भी सुलभबोधि–धर्मोन्मुख होते हैं।**

**९. दर्शनश्रावकाः केचिद्, व्रतिनो नाम केचन।**
**अगारमावसन्तोऽपि, धर्माराधनतत्पराः॥**

**कुछ दर्शन-श्रावक–सम्यक्दृष्टि होते हैं, कुछ व्रती होते हैं। वे घर में रहते हुए भी धर्म की आराधना करने में तत्पर रहते हैं।**

इस प्रकार उपासक की चार कक्षाएं होती हैं :

१. सुलभबोधि–धर्मप्रिय व्यक्ति। इनमें धर्म-कर्म संबंधी मान्यताओं का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ज्ञान नहीं होता किन्तु धर्म के प्रति आकर्षण होता है। वे धर्म का आचरण नहीं भी करते फिर भी उन्हें धर्म प्रिय लगता है।

२. सम्यग्दुष्टि–जिनका दृष्टिकोण सम्यग् होता है और जो सत्यान्वेषण के लिए चल पड़े हैं उनको सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इसकी व्यावहारिक परिभाषा यह है कि जो जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों को जानते हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हैं।

३. व्रती–जो उपासक के बारह व्रतों का यथाशक्ति पालन करते हैं वैसे व्यक्ति।

४. प्रतिमाधारी–प्रतिमा का अर्थ है विशेष अभिग्रह–प्रतिज्ञा। जो व्यक्ति उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, वे प्रतिमाधारी कहलाते हैं।

गृहस्थ की ये चार कक्षाएं हैं। ये उत्तरोत्तर विकसित अवस्थायें हैं। उपासक पहले सुलभबोधि होता है। वह धर्म के संपर्क में आता है। कुछ जानता है और जब उसे दृढ निश्चय हो जाता है कि धर्म-कर्म, पुण्य-पाप, आत्मा आदि हैं, कर्म है, उनका फल है, तब वह सम्यग्दृष्टि की कक्षा में आता है। अब उसका मिथ्यात्व छूट जाता हैं और उसमें सत्य को जानने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। सत्यान्वेषण के लिए वह चल पड़ता है। उसके मन में संयमित जीवन जीने की लालसा उत्पन्न होती है। गृह-त्यागने में वह अपने आपको असमर्थ पाता है, तब वह अपनी शक्ति के अनुसार कुछेक व्रतों को स्वीकार करता है। धीरे-धीरे व्रत ग्रहण का विकास कर वह बारहव्रती श्रावक बन जाता है। वह तीसरी कक्षा में आ जाता है। अब उसका व्यवहार, वर्तन और आचरण बहुत संयमित और सीमित हो जाता है। उसका गमनागमन, उपभोग-परिभोग आदि सीमाबद्ध हो जातें हैं। उसकी आकांक्षाएं अल्प हो जाती हैं और वह सांसारिक प्रवृत्तियों से अपने आपको बहुत विलग किए चलता हैं। जब उसके आसक्ति की मात्रा अत्यंत क्षीण हो जाती है तब वह चौथी कक्षा में प्रवेश करता है। वह ग्यारह प्रतिमाओं का वहनकर अपनी आत्मशक्ति को तोलता है। इन प्रतिमाओं के वहन-काल में श्रमणभूत की-सी चर्या का पालन करता है, किन्तु अपने परिवार से उसका प्रेम विच्छिन्न नहीं होता, अतः वह श्रमण नहीं कहलाता।

उपासक की ये चार कक्षाएं हैं। इनमें धर्म का पूर्ण विकास होता है। जब वह उपासक गृहत्याग कर मुनि बनना चाहता है तब उसे पांचवी कक्षा–मुनि की कक्षा में प्रवेश करना होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**१०. अणुव्रतानि गृह्णन्ति, गुणशिक्षाव्रतानि च।**
**विशिष्टां साधनां कर्तुं, प्रतिमाः श्रावकोचिताः॥**

**वे पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा विशिष्ट साधना करने के लिए श्रावकोचित ग्यारह प्रतिमाओं को स्वीकार करते हैं।**

**अहिंसा अणुव्रत**

गृहस्थ के लिए आरंभज कृषि, वाणिज्य आदि में होने वाली हिंसा से बचना कठिन होता है। गृहस्थ पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इस लिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। गृहस्थ को घर आदि चलाने के लिए वध, बंध आदि का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्पपूर्वक निरपराध जीवों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा अणुव्रत है।

**सत्य अणुव्रत**

गृहस्थ संपूर्ण असत्य का त्याग करने में असमर्थ होता है परंतु वह ऐसे असत्य का त्याग कर सकता है जिससे किसी निर्दोष प्राणी को बहुत बड़ा संकट का सामना न करना पड़े। यह सत्य अणुव्रत है।

**अस्तेय अणुव्रत–**

गृहस्थ छोटी-बड़ी सभी प्रकार की चोरी छोड़ने में अपने आपको असमर्थ पाता है। किन्तु वह सामान्यतः ऐसी चोरी छोड़ सकता है, जिसके लिए उसे राज्य दंड मिले और लोक निंदा करे। डाका डालना, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर दूसरों के धन का अपहरण करना–ये सब सद्गृहस्थ के लिए वर्जनीय हैं।

**ब्रह्मचर्य अणुव्रत**

गृहस्थ पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं बन सकता किन्तु वह अब्रह्मचर्य के सेवन की सीमा कर सकता है। परस्त्रीगमन, वैश्यागमन आदि अवांछनीय प्रवृत्तियां हैं। सद्गृहस्थ इनसे बचकर 'स्वदारसंतोष' व्रत अपना सकता है। वह अपनी परिणीता स्त्री में ही संतुष्ट रहता है तथा अब्रह्मचर्य की मर्यादा करता है। यह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

**अपरिग्रह अणुव्रत**

गृहस्थ समस्त परिग्रह त्याग नहीं कर सकता किन्तु वह अपनी लालसा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

को सीमाबद्ध कर सकता है। यही अपरिग्रह अणुव्रत है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सब कुछ छोड़कर संन्यासी बन जाए, किन्तु इसका प्रतिपाद्य इतना ही है कि वह अतिलालसा में फंसकर अपनी मर्यादाओं को न भूल बैठे। जिसमें लालसा की तीव्रता होती है, वह दोषों से आक्रांत हो जाता है।

**गुणव्रत**

जो व्रत उपासक की बाह्य-चर्या को संयमित करते हैं, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। वे तीन हैं :

१. दिग्विरति–पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित कर उसके बाहर न जाने का व्रत।

२. उपभोग-परिभोग परिमाण–अपने उपयोग में आनेवाली वस्तुओं का परिमाण करना।

३. अनर्थदंड विरति–बिना प्रयोजन हिंसा करने का त्याग करना।

**शिक्षाव्रत**

जो व्रत अभ्यास-साध्य होते हैं और आंतरिक पवित्रता बढाते हैं, उन्हें शिक्षाव्रत कहा जाता है। वे चार हैं :

१. सामायिक–जिससे पापमय प्रवृत्तियों से विरत होने का विकास होता है उसे सामायिक व्रत कहते हैं।

२. देशावकाशिक–एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक हिंसा का परित्याग करना।

३. पौषध–उपवासपूर्वक असत् प्रवृत्ति की विरति करना।

४. अतिथिसंविभाग–अपना विसर्जन कर पात्र (मुनि) को दान देना।

(गुणव्रत और शिक्षाव्रत के विवरण के लिए देखें–१४/३१-३७।)

इस प्रकार पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों–बारह व्रतों को धारण करने वाला बारहव्रती श्रावक होता है।

जब वह व्रती की कक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है और संयम का उत्कर्ष तथा मन का निग्रह करने के लिए तत्पर होता है तब वह उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं को स्वीकार करता है। (प्रतिमाओं के विवरण के लिए देखें १४/४०-४२।)

११. **एकेभ्यः सन्ति साधुभ्यः, गृहस्थाः संयमोत्तराः।**
**गृहस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**कुछ साधुओं से गृहस्थों का संयम श्रेष्ठ होता है, परंतु सभी गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता है।**

संयम के अभाव में साधना नहीं निखरती। व्यक्ति का विकास संयम में होता है। संयम का अर्थ है—स्व में प्रवृत्त होना, बहिर्व्यापार से मुक्त होना। वहां इन्द्रिय, शरीर और मन का संपर्क छूट जाता है। साधना वहीं साकार होती है। साधना के वेश में यदि संयम का उद्दीपन नहीं है तो उस प्रकार के मुनि से एक संयमयुक्त गृहस्थ भी श्रेष्ठ होता है। किन्तु जिस साधना में संयम की प्रमुखता है वहां गृहस्थ का स्थान साधनारत साधकों से ऊंचा नहीं होता।

**१२. भिक्षादा वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृताः।**
**तपःसंयममभ्यस्य, दिवं गच्छन्ति सुव्रताः॥**

**जो भिक्षु या गृहस्थ शांत और सुव्रत होते हैं, वे तप और संयम का अभ्यास कर स्वर्ग में जाते हैं।**

**१३. गृही सामायिकाङ्गानि, श्रद्धी कायेन संस्पृशेत्।**
**पौषधं पक्षयोर्मध्येऽप्येकरात्रं न हापयेत्॥**

**श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अंगों का आचरण करे। दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध को एक दिन-रात भी न छोड़े—कभी न छोड़े।**

**१४. एवं शिक्षासमापन्नो, गृहवासेऽपि सुव्रतः।**
**अमेध्यं देहमुज्झित्वा, देवलोकं च गच्छति॥**

**इस प्रकार शिक्षा से संपन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में भी अशुचि शरीर को छोड़कर देवलोक में जाता है।**

**१५. दीर्घायुष ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।**
**अधुनोत्पन्नसंकाशाः, अर्चिमालिसमप्रभाः॥**

**१६. देवा दिवि भवन्त्येते, धर्मं स्पृशन्ति ये जनाः।**
**अगारिणोऽनगारा वा, संयमस्तत्र कारणम्॥**
**(युग्मम्)**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जो गृहस्थ या साधु धर्म की आराधना करते हैं, वे स्वर्ग में दीर्घायु, ऋद्धिमान्, समृद्ध, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के जैसी दीप्ति वाले देव होते हैं। उसका कारण संयम है।**

संयम का मुख्य फल है—कर्म-निर्जरण, आत्म पवित्रता। उसका गौण फल है—देवलोक आदि की प्राप्ति।

संयम आत्म-जागरण है। उसके आत्म-गुणों का उपबृंहण होता है। आत्मा के मूल गुण हैं—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र, सहज आनंद आदि-आदि। संयम इन सब की प्राप्ति का साधन है।

देवलोक आदि पौद्गलिक स्थितियों की प्राप्ति उसका सहचारी फल है। प्रस्तुत श्लोकों में उसी का प्रतिपादन है।

**१७. सर्वथा संवृतो भिक्षुः, द्वयोरन्यतरो भवेत्।**
**कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तो, देवो वापि महर्द्धिकः॥**

**जो भिक्षु सर्वथा संवृत है—कर्म-आगमन के हेतुओं का निरोध किए हुए है, वह इन दोनों में से किसी एक अवस्था को प्राप्त होता है—सब कर्मों का क्षय हो जाए तो वह मुक्त हो जाता है, अन्यथा समृद्धिशली देव बनता है।**

कारण के बिना कार्य की उपलब्धि नहीं होती। परिदृश्यमान जगत् कार्य है तो निस्संदेह उसका अदृश्य कारण भी होना चाहिए। तृष्णा, वासना, या कर्म कारण है। कारण की परंपरा का निर्मूलन करना साधना का वास्तविक ध्येय है। कर्म से प्रवृत्ति—चंचलता पैदा होती है और चंचलता से पुनः कर्म का सर्जन होता है। कर्म का यह क्रम टूटता नहीं है। साधना उस क्रम को तोड़ने का शस्त्र है। साधक की साधना यदि प्रवृत्तिशून्यता की चरम सीमा का स्पर्श कर लेती है तो वह अयोगी (प्रवृत्ति-मुक्त) सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है। यदि प्रवृत्ति का क्रम पूर्णतया निरुद्ध नहीं हुआ है तो पुनः जन्म लेना उसके लिए अनिवार्य है। किंतु इस बीच वह अपने असीम पुण्य-बल से एक बार स्वर्ग में जन्म ले पुनः वहां से मनुष्य जीवन में अवतरित होता है। साधना का पुनः अवसर प्राप्त कर जीवन के सर्वोच्च विकास-शिखर को छू लेता है।

गीता में वर्णित योग-भ्रष्ट व्यक्ति के साथ इसका यत् किंचित्

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सामंजस्य किया जा सकता है।

योग-भ्रष्ट शब्द का अभिप्राय यह हो कि वह योग-मार्ग को पूर्णतया साध नहीं सका, तो यहां कोई भिन्नता जैसी बात नहीं रहती। यदि इसका अर्थ—योग-मार्ग से च्युत हो या बीच में ही छोड़ दिया हो तो फिर दूसरी बात है। किंतु आगे के वर्णन से स्पष्ट है कि वह व्यक्ति किसी योनि में योग-कुल में आकर जन्म ग्रहण करता है और अपने अवशेष योग की साधना में संलग्न होकर उसे परिपूर्णतया साध लेता है।

**१८. यथा त्रयो हि वणिजो, मूलमादाय निर्गताः।**
**एकोऽत्र लभते लाभं, एको मूलेन आगतः॥**

**१९. हारयित्वा मूलमेकः, आगतस्तत्र वाणिजः।**
**उपमा व्यवहारेऽसौ, एवं धर्मेऽपि बुद्ध्यताम्॥**
**(युग्मम्)**

**जिस प्रकार तीन वणिक् मूल पूंजी लेकर व्यापार के लिए चले। एक ने लाभ कमाया, एक मूल पूंजी लेकर लौट आया और एक ने सब कुछ खो डाला। यह व्यापार विषयक उदाहरण है। इसी प्रकार धर्म के विषय में भी जानना चाहिए।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२०. मनुष्यत्वं भवेन्मूलं, लाभः स्वर्गोऽमृतं तथा।
मूलच्छेदेन जीवाः स्युः, तिर्यञ्चो नारकास्तथा॥

मनुष्य-जन्म मूल पूंजी है। स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति लाभ है। मूल पूंजी को खो डालने से जीव नरक या तिर्यंच गति को प्राप्त होते हैं।

२१. विमात्राभिश्च शिक्षाभिः, ये नरा गृहसुव्रताः।
आयान्ति मानुषीं योनिं, कर्मसत्या हि प्राणिनः॥

जो लोग विविध प्रकार की शिक्षाओं से गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी सुव्रती हैं, सदाचार का पालन करते हैं, वे मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं क्योंकि प्राणी कर्मसत्य होते हैं—जैसे कर्म करते हैं वैसे ही फल को प्राप्त होते हैं।

२२. येषां तु विपुला शिक्षा, ते च मूलमतिसृताः।
सकर्माणो दिवं यान्ति, सिद्धिं यान्त्यरजोमलाः॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिनके पास विपुल ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शिक्षा है, वे मूल पूंजी की वृद्धि करते हैं। वे कर्मयुक्त हों तो स्वर्ग को प्राप्त होते हैं और जब उनके रज और मल का—बंधन और बंधन के हेतु का—नाश हो जाता है तब वे मुक्त हो जाते हैं।**

**२३. आगारमावसंल्लोकः, सर्वप्राणेषु संयतः।**
**समतां सुव्रतो गच्छन्, स्वर्गं गच्छति नाऽमृतम्॥**

**घर में निवास करने वाला व्यक्ति सब प्राणियों के प्रति स्थूल रूप से संयत होता है। जो सुव्रत है और समभाव की आराधना करता है, वह स्वर्ग को प्राप्त होता है, किन्तु हिंसा और परिग्रह के बंधन से सर्वथा मुक्त न होने के कारण वह मोक्ष को नहीं पा सकता।**

जीवों की विविध योनियां है। उसमें मानव-जीवन सर्वश्रेष्ठ है। समस्त अध्यात्मद्रष्टा संतों ने एक स्वर से इस सत्य को स्वीकार किया है। मानवीय जीवन से नीचे स्तर के प्राणियों में विवेक की मात्रा इतनी विकसित नहीं है जितनी कि मनुष्य में। मनुष्य-जीवन द्वार है जिससे वह नीचे और ऊपर दोनों तरफ गति कर सकता है। नीचे और ऊपर जाने का स्वातंत्र्य भी उसके हाथ में है। निर्णय यह करना है कि जाना कहा है? अनेक व्यक्ति जीवन की परिसमाप्ति तक निर्णय नहीं कर पाते। ये सरिता के प्रवाह में लुढ़कते हुए पत्थरों की तरह हैं। कर्म के प्रवाह में प्रवाहित होते हुए आए और वैसे ही चले गए। किन्तु जीवन उन्हीं के लिए हैं जो ऊपर उठने का निर्णय लेते हैं और उस दिशा में अनवरत गतिशील रहते हैं।

मूल स्थिति मनुष्य जीवन है। मानव देह से पुनः मानव देह धारण करना, यह भी इतना सहज नहीं है। इसका सौभाग्य भी किसी-किसी को उपलब्ध होता है। अनेक लोग हैं और उनकी जीवन-पद्धतियां—संस्कार भी पृथक्-पृथक् हैं। सत्य क्या है? अनेक लोगों से यह अविज्ञात है, तब फिर उसके साक्षात्कार की कल्पना तो कर ही नहीं सकते। आगम कहते हैं—मूल स्थिति उनके लिए पुनःशक्य है—जो सरल, विनम्र शांत और निश्छल व्यवहार युक्त हैं। मूल-स्थिति से उत्थान का क्रम है—इन्द्रियों और मन का प्रत्याहार करना। उनके बहिर्गामी दौड़ को अंतर्गामी बनाना। मन को बिना एकाग्र किए और उसके स्वरूप से परिचित हुए बिना उस का नियमन कठिनतम है। संयत मन और संयत इन्द्रियां आत्म-दर्शन का द्वार उद्घाटित करती हैं। इनके द्वारा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

क्रमशः आरोहण के सोपानों का अतिक्रमण करते हुए व्यक्ति उच्च, उच्चतर और उच्चतम अवस्थिति को पा लेता है।

**२४. दुःखावह इहाऽमुत्र, धनादीनां परिग्रहः।**
**मुमुक्षुः स्वं दिदृक्षुश्च को विद्वान् गृहमावसेत्॥**

**धन आदि पदार्थों का संग्रह इहलोक और परलोक में दुःखदायी होता है। अतः मुक्त होने की इच्छा रखने वाला और आत्म-साक्षात्कार की भावना रखने वाला कौन ऐसा विद्वान् व्यक्ति होगा जो घर में रहे?**

गृहस्थ-जीवन क्लेशों से भरा है और संयम जीवन क्लेशों से मुक्त है। मनुष्य शांतिप्रिय है किन्तु वह शांति का दर्शन संयम में न करके असंयम में करता है। असंयम शांति का द्वार नहीं, अशांति का द्वार है। जो शांतिप्रिय है उसे संयम प्रिय होना चाहिए। वस्तुतः जिसे शांति प्रिय है वह धन, पुत्र आदि में उसे नहीं देखता। वह उनसे संपृक्त रहता हुआ भी धायमाता की तरह उन्हें अपना नहीं मानता।

**२५. प्रमादं कर्म तत्राहुः, अप्रमादं तथापरम्।**
**तदभावाद्शतस्तच्च, बालं पण्डितमेव वा॥**

**प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म। प्रमादयुक्त प्रवृत्ति बंध का और अप्रमत्तता मुक्ति का हेतु है। प्रमाद और अप्रमाद की अपेक्षा से व्यक्ति के वीर्य–पराक्रम को बाल और पंडित कहा जाता है तथा अभेददृष्टि से वीर्यवान् व्यक्ति भी बाल और पंडित कहलाता है।**

मनुष्य प्रवृत्ति-प्रधान है। प्रवृत्ति के बिना वह एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रवृत्ति के दो रूप हैं–शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति राग-द्वेष और मोहमय होती है। इसलिए उसे प्रमाद कहा जाता है। प्रमाद से अशुभ कर्म का संग्रह होता है। इससे आत्मा की स्वतंत्रता छीनी जाती है। शुभ प्रवृत्ति संयम-प्रधान होने से प्रमाद रूप नहीं है। उससे पुण्य-कर्म का संग्रह होता है और पूर्वबद्ध कर्मों का निर्जरण भी। कर्म-क्षय की दशा में आत्मा कर्म-ग्रहण की दृष्टि से अकर्मा बन जाती है, किन्तु चेतना की क्रिया बंद नहीं होती।

प्रमाद और अप्रमाद का प्रयोग जहां वीर्य-शक्ति के साथ होता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वहां वह बाल-वीर्य और पंडित-वीर्य कहलाता है। बाल शब्द अबोधकता का सूचक है। पंडित की चेष्टाएं ज्ञानपूर्वक होती हैं। ज्ञान हिताहित का विवेक देता है। संयम हित है और असंयम अहित। असंयम का परिहार और संयम का स्वीकार ज्ञान से होता है। बाल-वीर्य की अवस्था में ज्ञान का स्रोत सम्यक् दिशा-संयम की ओर नहीं होता। वहां असंयम की बहुलता रहती है। पंडित-वीर्य संयम–प्रधान होता है। उसमें अशुभ कर्म का स्रोत खुला नहीं रहता। आत्मा क्रमशः शुभ से भी मुक्त होकर अकर्मा बन जातो है।

**२६. प्रतीत्याऽविरतिं बालो, द्वयञ्च बालपण्डितः।**
**विरतिञ्च प्रतीत्यापि, लोकः पण्डित उच्यते॥**

**अविरति की अपेक्षा से व्यक्ति को बाल, विरति-अविरति–दोनों की अपेक्षा से बाल-पंडित और विरति की अपेक्षा से पंडित कहा जाता है।**

शक्ति का केन्द्र आत्मा है। आत्मा की अक्रियाशीलता में वीर्य सजीव नहीं होता। वीर्य के तीन स्रोत हैं :

१. जो सर्वथा संयम की ओर प्रवाहित होता है।

२. जो संयम-असंयम की ओर प्रवहमान रहता है।

३. जो सर्वथा संयम की ओर उन्मुख रहता है।

वीर्य के मार्गों के कारण व्यक्ति के तीन रूप बनते हैं–बाल, बाल-पंडित और पंडित।

विरति का अर्थ है–पदार्थ के प्रति आसक्ति का परित्याग और अविरति का अर्थ है–पदार्थ के प्रति व्यक्त या अव्यक्त आसक्ति।

विरति और अविरति की अपेक्षा से मनुष्यों के तीन प्रकार होते हैं :

बाल--असंयमी, जिसमें कुछ भी विरति नहीं होती।

बाल-पंडित–उपासक, जो यथाशक्ति विरति करता है। इसमें विरति और अविरति दोनों का अस्तित्व रहता है।

पंडित–पूर्ण संयमी, मुनि।

ये तीनों जैन पारिभाषिक शब्द हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मेघः प्राह**

**२७. कर्माकर्मविभागोऽयं, सम्यग् बुद्धो मया प्रभो!**
**साध्यसिद्धौ महत्तत्त्वं, अप्रमादः त्वयोच्यते॥**

**मेघ बोला—भगवन्! मैंने कर्म और अकर्म का यह विभाग सम्यक् प्रकार से जान लिया है। आपने अप्रमाद को साध्य-सिद्धि का महान् तत्त्व बतलाया है।**

कर्म और अकर्म का यह विभाजन मेघ ने भगवान् महावीर के श्रीमुख से सुना। कर्म और अकर्म का बोध सचमुच कठिन है। गीता में कहा है—**'कवयोप्यत्र मोहिताः'** बड़े-बड़े विद्वान् भी इस विषय में विमुग्ध हो जाते हैं। गीता में इसका विवेचन कर्म, अकर्म और विकर्म के रूप में उपलब्ध होता है। भगवान महावीर ने कर्म और अकर्म इन दोनों में ही सब समाहित कर दिया।

मेघ का मन इस विभाजन को सुन समाहित हो गया। वह कहता है 'प्रभो! आप द्वारा विवेचित इस विषय को मैंने अच्छी तरह से जान लिया है।' 'सम्यग् बुद्धो' शब्द के द्वारा यह ध्वनित होता है कि मैंने केवल बुद्धि के स्तर पर नहीं जाना है, उपादेय बुद्धि के द्वारा जाना है, स्वीकार किया है।

साधना का मूल तत्त्व है—अप्रमाद। जीवन का पूरा चक्र प्रमाद की धुरी पर चलता है। प्राणी-जगत् प्रमाद से अधिक परिचित है, अप्रमाद से नहीं। प्रमाद के व्यूह से बाहर निकलने के लिए अप्रमाद की साधना अपेक्षित है। उस स्थिति में अप्रमाद होगा—जागरूकता, होश। भगवान महावीर ने लक्ष्य के प्रति यत्नवान् रहो, इस पर अधिक बल दिया है। जागरूकता के बिना की गई क्रिया केवल द्रव्य-क्रिया है, उससे साध्य की प्राप्ति नहीं होती। साध्य-सिद्धि में जागरूकता की महती भूमिका है। अप्रमाद जागरूकता है, वर्तमान का क्षण है, और वह चेतना की निकटता का क्षण है। भगवान महावीर का जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है। अन्य संतों ने भी इसे मूल तत्त्व माना है, और इसका प्रयोग किया है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**क्रियाक्रियावादनामा षष्ठोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ७

# आमुख

भगवान् महावीर ने कहा–'**आणाए मामगं धम्मं**–आज्ञा में मेरा धर्म है। आज्ञा का अर्थ है–वीतराग का कथन, प्रत्यक्षदर्शी का कथन। वही कथन यथार्थ और सत्य होता है जो वीतराग द्वारा कथित है। वीतराग वह है जो राग-द्वेष और मोह से परे है। उसकी अनुभूति और ज्ञान यथार्थ होता है। वह आत्माभिमुख होता है, अतः उसकी समस्त प्रवृत्ति और उसका सारा कथन आत्मा की परिक्रमा किए चलता है, इसलिए वह सत्य है। 'आज्ञा में मेरा धर्म है'–इसका तात्पर्यार्थ है–वीतरागता ही आत्मधर्म है। इसके अतिरिक्त सारा बहिर्भाव है। जितना वीतरागभाव है, उतना ही आत्मधर्म है।

हिंसा जीवन की अनिवार्यता है–इसे प्रत्येक मननशील व्यक्ति स्वीकार करता है। अतः इससे सर्वथा बच पाना संभव नहीं है परंतु इसका विवेक जागृत होने पर अहिंसा के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा जा सकता है।

जैन दर्शन में गृहस्थ के लिए यथाशक्य हिंसा के त्याग का निर्देश है। गृहस्थ संपूर्ण हिंसा से बच नहीं सकता। परंतु अनर्थ हिंसा से वह सहज बच सकता है। यह उसका विवेक है।

हिंसा के कितने प्रकार हैं? उनकी व्याख्याएं क्या हैं? अहिंसा की क्या परिभाषा है और उसकी उपासना कैसे संभव हो सकती है? इन सब प्रश्नों का समाधान इसमें किया गया है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# आज्ञावाद

भगवान् प्राह

१. आज्ञायां मामको धर्म, आज्ञायां मामकं तपः।
आज्ञामूढा न पश्यन्ति, तत्त्वं मिथ्याग्रहोद्धताः॥

**भगवान् ने कहा—मेरा धर्म आज्ञा में है, मेरा तप आज्ञा में है। जो मिथ्या आग्रह से उद्धत हैं और आज्ञा का मर्म समझने में मूढ हैं, वे तत्त्व को नहीं देख सकते।**

आज्ञा शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'आ-समन्तात् जानाति' विषय को पूर्णरूप से जानना। साधारणतया उसका प्रयोग आदेश देने के अर्थ में होता है। विषय का ज्ञान दो प्रकार से किया जाता है—आत्म-साक्षात्कार से और श्रुत से। दूसरे शब्दों में ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान अतीन्द्रिय और परोक्ष ज्ञान इन्द्रिय, मन और शास्त्रजन्य है। प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में अवलंबन शास्त्र—आगम हैं। परोक्ष का स्वरूप-निरूपण आगम से होता है। बंधन और मुक्ति का विवेक भी वह देता है।

आगम शास्ता की वाणी है। शास्ता वे होते हैं जो वीतराग हैं। राग-द्वेष-युक्त व्यक्ति की वाणी प्रमाण नहीं होती। उसमें पूर्वापर की संगति नहीं मिलती। शास्ता की वाणी में अविरोध होता है। वे सब जीवों के कल्याण के लिए प्रवचन करते हैं। वे प्रवचन आगम का रूप ले लेते हैं। शास्ता के अभाव में वे ही मार्ग-दर्शक होते हैं। इसलिए उनकी वाणी आज्ञा है। वह आज्ञा यह है—

सबको समान समझो। किसी का हनन, उत्पीड़न मत करो।

राग-द्वेष पर विजय करो।

कषायों का उपशमन और क्षय करो।

इन्द्रिय और मन पर अनुशासन करो।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संयम का विकास करो।

अहिंसा की परिधि में रहो।

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का चिंतन करो।

भेद-दृष्टि से शास्ता और शास्त्र दो हैं और अभेददृष्टि से एक। आज्ञा का अनुसरण वीतराग का अनुसरण है और वीतराग का अनुसरण आज्ञा का अनुसरण है। 'मामेकं शरणं व्रज'—एक मेरी शरण में आ—गीता के इस वाक्य की भी यही ध्वनि है। भगवान् कहते हैं—आज्ञा की कसौटी पर खरा उतरने वाला ही मेरा धर्म है और मेरा तप है। यह अभेदोपचार है।

आग्रह के दो रूप हैं—सत्य और मिथ्या। मिथ्या आग्रह बौद्धिक जड़ता है। मिथ्या आग्रही अपनी मान्यता के घेरे से मुक्त नहीं हो सकता। 'मेरा धर्म है वही सत्य है'—मिथ्या आग्रही व्यक्ति में इसकी अधिकता होती है। वह अपना ही राग आलापता है। सत्याग्राही में यह नहीं होता। वह नम्र होता है, सरल होता है, सत्य को देखता है, सुनता है, मस्तिष्क से तोलता है और सत्य को स्वीकार करता है। आत्मा का सान्निध्य उसे प्राप्त होता है। वह आग्रही नहीं होता। उसका घोष होता है—जो सत्य है वह मेरा है।

**२. वीतरागेण यद् दृष्टं, उपदिष्टं समर्थितम्।**
**आज्ञा सा प्रोच्यते बुद्धैः, भव्यानामात्मसिद्धये॥**

**वीतराग ने जो देखा, जिसका उपदेश किया और जिसका समर्थन किया, वह आज्ञा है—ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुषों ने कहा है। आज्ञा भव्य जीवों की आत्मसिद्धि का हेतु है।**

आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन में भव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—जो यह सोचता है कि मेरे लिए क्या कुशल है, जो दुःख से बहुत घबराता है, जो सुख का गवेषक है, जो बुद्धि के गुणों से सम्पन्न है, जो श्रवण और चिंतन करता है, जो अनाग्रही होता है, जो धर्म-प्रिय होता है और जो शासन के योग्य होता है, वह भव्य है। जो भव्य होता है वही आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

**३. तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज्जिनेन प्रवेदितम्।**
**रागद्वेषविजेतृत्वाद्, नान्यथा वादिनो जिनाः॥**

**जो जिन—वीतराग ने कहा, वही सत्य और असंदिग्ध है। वीतराग ने राग**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**और द्वेष को जीत लिया इसलिए वे मिथ्यावादी नहीं होते, अयथार्थ निरूपण नहीं करते।**

इस श्लोक में सत्य की सुन्दरतम परिभाषा दी गई है। सत्य क्या है—इसका स्वरूप-निर्णय पदार्थ के स्वरूप से नहीं हो सकता। वह वक्ता की निष्कषाय वृत्ति से होता है। 'सत्य वही है जो वीतराग द्वारा कथित है'—यह परिभाषा सार्वजनिक है। इस परिभाषा को समझने के लिए वीतराग के स्वरूप को जानना आवश्यक होता है। वीतराग वह है जिसके चारों कषाय और मोह का आवरण नष्ट हो चुका है।

अयथार्थ भाषण के हेतु हैं—राग, द्वेष और मोह। जिनका लक्ष्य आत्महित है, जो निःस्वार्थ हैं, वीतराग हैं और कृतकृत्य हैं, वे कभी अयथार्थ भाषण नहीं करते। परंपरा और मान्यता के मोह से मूढ़ व्यक्ति अयथार्थ भाषण भी करते हैं। उनमें अपनी प्रतिष्ठा और कीर्ति का मोह होता है। उन बाह्य उपाधियों से मूढ़ व्यक्ति अयथार्थ भाषणों और आचरणों में संलग्न हो जाते हैं। लेकिन जो यह मानते हैं कि मेरा उत्थान इनसे नहीं, स्व-आत्मा से है, वे प्राणों का बलिदान करके भी सत्य की रक्षा करते हैं।

**४. आज्ञायामरतिर्योगिन्! अनाज्ञायां रतिस्तथा।**
**मा भूयात्ते क्वचिद् यस्माद्, आज्ञाहीनो विषीदति॥**

**हे योगिन्! आज्ञा में तेरी अरति—अप्रसन्नता और अनाज्ञा में रति—प्रसन्नता कहीं भी न हो, क्योंकि आज्ञाहीन साधक अंत में विषाद को प्राप्त होता है।**

**५. अपरा तीर्थकृत् सेवा, तदाज्ञापालनं परम्।**
**आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय य॥**

**तीर्थंकर की पर्युपासना की अपेक्षा उनकी आज्ञा का पालन करना विशिष्ट है। आज्ञा की आराधना करने वाले मुक्ति को प्राप्त होते हैं और उससे विपरीत चलने वाले संसार में भटकते हैं।**

**६. आज्ञायाः परमं तत्त्वं, रागद्वेषविवर्जनम्।**
**एताभ्यामेव संसारो, मोक्षस्तन्मुक्तिरेव च॥**

**आज्ञा का परम तत्त्व है—राग और द्वेष का वर्जन। ये राग-द्वेष ही संसार या बंधन के हेतु हैं और इनसे मुक्त होना ही मोक्ष है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन दर्शन में राग-द्वेष को बंधन का हेतु माना है। भगवान् महावीर ने कहा है—**'रागो य दोसो बिय कम्मबीयं'**—सभी कर्मों के ये दो उपादान हैं। इनसे कर्मबंध होता है और कर्मबंध से जीव विभिन्न योनियों में चक्कर काटता है। जब ये दोनों नष्ट हो जाते हैं तब वीतराग-दशा की प्राप्ति होती है। यही मोक्ष है।

तीर्थंकरों की आज्ञा है—अस्तित्व का बोध करना। मैं कौन हूं? इसे जानो। राग-द्वेष जब मेरे से अन्यथा हैं तब वे मुझे कैसे परिचालित कर सकेंगे? जब तक मैं इन्हें 'स्व' मानता हूं तब तक ही ये मुझे अपना क्रीडांगण बनाकर अठखेलियां करते रहते हैं। स्वयं के अस्तित्व की पहचान हो जाने पर इनका मन्दिर स्वतः उजड़ने लगता है। स्व-बोध की साधना में जो उतरता है वही तीर्थंकर की आज्ञा का सम्यग् आराधक है। बुद्ध के शिष्य आनंद ने पूछा—भगवन्! हम आपके शरीर की पूजा-अर्चना कैसे कर सकते हैं? बुद्ध ने कहा—आनंद! मल-मूत्र से भरा जैसे तुम्हारा शरीर है, वैसा ही मेरा है। इस अशुचि-शरीर की पूजा से कोई फायदा नहीं। मेरी सेवा करनी है तो मेरे धर्म-शरीर की सेवा करो। 'जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है। मैंने जो मार्ग-दर्शन दिया है उसका अभ्यास, आचरण करो, यह मेरी सेवा है।'

गौतम महावीर के प्रिय शिष्य थे। वे महावीर के शरीर से प्रतिबद्ध थे, व्यक्तित्व में अनुरक्त थे। अनेक साधक उनकी उपस्थिति में बुद्धत्व, सिद्धत्व, और कैवल्य को उपलब्ध हो गए, किंतु गौतम नहीं हुए। गौतम इस तथ्य को नहीं समझ सके कि इसका कारण मैं स्वयं हूं। मुझे जो राग-द्वेष की विमुक्ति का अभ्यास करना चाहिए वह मैं नहीं कर रहा हूं। महावीर के प्रति मेरा आसक्ति का भाव ही मेरे अवरोध का कारण है। जैसे ही उसे हटाया, गौतम केवल्य मन्दिर में प्रतिष्ठित हो गए।

आज्ञा और अनाज्ञा के प्रति हमारा स्पष्ट विवेक होना चाहिए। आज्ञा धर्म है और अनाज्ञा अधर्म—ये शब्द ठीक हैं, तथ्ययुक्त हैं किंतु आचरण के अभाव में केवल शब्दों से सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। सत्य की आराधना के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतस्तल को प्रयोगशाला बनाए और स्वयं में प्रयोग करे, सचाई को समझे। अन्यथा तीर्थंकरों की उपासना कैसे की जा सकेगी? उनकी उपासना राग-द्वेष से मुक्ति के अतिरिक्त और है ही क्या? 'मेरा धर्म आज्ञा में है' इसके अभिप्राय को समझना होगा। आज्ञा की आराधना मुक्ति है और विराधना संसार। आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है—अर्हत् वाणी का सार सिर्फ इतना ही है कि आस्रव (वासना, चंचलता, प्रवृत्ति) संसार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का हेतु है और संवर (निवृत्ति, निरोध, अक्रिया) मोक्ष का हेतु है। तीर्थंकर, बुद्ध तथा आत्मोपलब्ध व्यक्ति का एकमात्र यही उपदेश होता है कि संबोधि (स्वभाव) को प्राप्त करो। जीवन जा रहा है। मानव संबोधि को जाने, इसमें ही उसका कल्याण निहित है। तीर्थंकर की एक मात्र यही आज्ञा है और यह आज्ञा ही धर्म है। तत्त्वज्ञानतरंगिणी में कहा है—सद्गुरुओं का यही आदेश है, समग्र सिद्धांतों का यही रहस्य है और कर्त्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य भी यही है—अपने ज्ञान-स्वरूप में स्थिति करो। अन्य करणीय कार्यों की तालिका सिर्फ इसका ही विस्तार है।

व्यक्ति का आनंद आज्ञा—स्वभाव को जागृत करने में है, विभाव में नहीं। विभाव दुःख है, बंधन है और स्वभाव सुख, स्वतंत्रता तथा मुक्ति है। जो विवेकी है, हिताहित का द्रष्टा है, उसे सोच-विचार कर अपने हित में प्रवृत्त होना चाहिए।

**७. आराधको जिनाज्ञायाः, संसारं तरति ध्रुवम्।**
**तस्या विराधको भूत्वा, भवाम्भोधौ निमज्जति॥**

**वीतराग की आज्ञा की आराधना करने वाला निश्चित रूप से भव-सागर को तर जाता है और उसकी विराधना करने वाला भव-सागर में डूब जाता है।**

**८. आज्ञायां यश्च श्रद्धालुः, मेधावी स इहोच्यते।**
**असंयमो जिनानाज्ञा, जिनाज्ञा संयमो ध्रुवम्॥**

**जो आज्ञा के प्रति श्रद्धावान् है, वह मेधावी है। असंयम की प्रवृत्ति में वीतराग की आज्ञा नहीं है। जहां संयम है वहीं वीतराग की आज्ञा है।**

**९. संयमे जीवनं श्रेयः, संयमे मृत्युरुत्तमः।**
**जीवनं मरणं मुक्त्यै, नैव स्यातामसंयमे॥**

**संयममय जीवन और संयममय मृत्यु श्रेय है। असंयममय जीवन और असंयममय मरण मुक्ति के हेतु नहीं बनते।**

संसारी प्राणी की दो अवस्थाएं हैं—जीवन और मरण। ये दोनों अपने आप में अच्छे या बुरे नहीं होते। जब ये दोनों संयम से अनुप्राणित होते हैं तब

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

श्रेयस्कर बनते हैं और जब असंयम से ओत-प्रोत होते हैं तब ये अश्रेयस्कर हो जाते हैं। संयमी व्यक्ति का जीना भी अच्छा है और मरना भी। असंयमी व्यक्ति का न जीना अच्छा है और न मरना। संयमी व्यक्ति यहां जीता हुआ सत्क्रिया में प्रवृत्त रहता है, शांति और आनंद का अनुभव करता है और जब वह मरता है तो उसकी अच्छी गति होती है। असंयमी व्यक्ति का जीवन न यहां अच्छा होता है और न उसका परलोक ही सुधरता है। जिसका वर्तमान पवित्र नहीं है, उसका भविष्य पवित्र नहीं हो सकता। जिसका वर्तमान पवित्र है, उसका भविष्य निश्चित रूप से सुन्दर होगा।

जैन दर्शन में कामनाओं का निषेध किया गया है। किन्तु मुमुक्षु के लिए संयममय जीवन और संयममय मृत्यु की कामना का विधान मिलता है। श्रावक के तीन मनोरथों में एक यह भी है—कब मैं समाधिपूर्ण मरण को प्राप्त करूंगा। जीवन की यह अंतिम परिणति यदि समाधिमय होती है तो उसका फल श्रेयस्कर होता है।

एक बार भगवान् महावीर समवसरण में बैठे थे। वहां राजा श्रेणिक, अमात्य अभयकुमार और कसाई कालसौकरिक भी उपस्थित थे। एक ब्राह्मण वहां आया। उसने भगवान् महावीर से कहा—मरो। राजा श्रेणिक से कहा—मत मरो। अमात्य अभयकुमार से कहा—भले मरो, भले जीओ। कालसौकरिक से कहा—मत मरो, मत जीओ।

ब्राह्मण यह कहकर चला गया। राजा श्रेणिक का मन इन वाक्यों से आंदोलित हो उठा। उसने भगवान् से पूछा। भगवान् ने कहा—राजन्! वह ब्राह्मण के वेश में देव था। उसने जो कहा वह सत्य है। उसने मुझे कहा—मर जाओ। इसका तात्पर्य है कि मरते ही मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी। उसने तुझे कहा—मत मरो। यह इसलिए कि तुझे मरने के बाद नरक मिलेगा। अमात्य से कहा—भले मरो, भले जीओ। क्योंकि वह मरने पर स्वर्ग प्राप्त करेगा जहां सुख ही सुख है और यहां भी उसे सुख ही है। कालसौकरिक से कहा—मत मरो, मत जीओ। क्योंकि उसका वर्तमान जीवन भी पापमय प्रवृत्तियों से आक्रांत है और मरने पर भी उसे नरक ही मिलेगा।

इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जीना अच्छा भी है और बुरा भी; मरना अच्छा भी है और बुरा भी।

जो शब्द जितना अधिक व्यवहृत हो जाता है, उतना ही अधिक वह रूढ़ बन जाता है। संयम की जो गरिमा प्रारंभ में उपलब्ध थी वैसी आज नहीं है। वह रूढ़ हो गया। यह केवल संयम शब्द के साथ ही ऐसा हुआ हो यह नहीं,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सबके साथ ही कालान्तर में ऐसा हो जाता है। जितने भी क्रियाकांड आज व्यवहृत हैं, उनके प्रवृत्ति-काल में एक सौंदर्य था, जीवंतता थी और चैतन्य था। कालचक्र के प्रवाह से वे शव बनकर रह गए, चैतन्य चला गया।

संयम का अर्थ है—निष्क्रियता, क्रिया का सर्वथा निरोध हो जाना। इसका फलितार्थ होता है—शुद्धात्मा की उपलब्धि, किंतु यह भी स्पष्ट है कि पूर्ण अक्रियत्व प्रथम चरण में ही उपलब्ध नहीं होता। उसके लिए क्रमशः आरोहण की अपेक्षा होती है। यद्यपि संयम का पूर्ण ध्येय वही है, किंतु प्राथमिक अभ्यास की दृष्टि से व्यक्ति को अपनी अशुभ प्रवृत्तियों का संवरण करना होगा। महाव्रत, अणुव्रत आदि की साधना अशुभ-विरति की साधना है। जैसे-जैसे साधक आगे बढ़ता है सामायिक, समता, संवर आता है और इंद्रिय और मन का निरोध करने में कुशल होता चला जाता है। एक क्षण आता है कि वह बाहर से सर्वथा शून्य—बेहोश तथा अंतर् में पूर्ण सचेतन होता है। यही क्षण शुद्ध स्वात्मोपलब्धि का है। जहां बाह्य आकर्षणों का आधिपत्य स्वतः ध्वंस हो जाता है, वही वास्तविक संयम है।

**१०. हिंसाऽनृतं तथा स्तेयाऽब्रह्मचर्यपरिग्रहाः।**
**ध्रुवं प्रवृत्तिरेतेषां, असंयम इहोच्यते॥**

**हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की प्रवृत्ति असंयम कहलाती है।**

**११. ऐतेषां विरतिः प्रोक्तः, संयमस्तत्त्ववेदिना।**
**पूर्णा सा पूर्ण एवासौ, अपूर्णायाञ्च सोंशतः॥**

**तत्त्वज्ञों ने हिंसा आदि की विरति को 'संयम' कहा है। पूर्ण विरति से पूर्ण संयम और अपूर्ण विरति से आंशिक संयम होता है।**

जो व्यक्ति हिंसा में रचा-पचा रहता है, वह असंयमी है; जो इनका आंशिक नियंत्रण करता है वह संयमासंयमी है, श्रावक है और जो इनका पूर्ण त्याग करता है वह संयमी है, साधु है। जितने अंशों में उनका त्याग होता है, उतने अंशों में संयम की प्राप्ति होती है और जितना अत्याग-भाव है वह असंयम है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१२. पूर्णस्याराधकः प्रोक्तः, संयमी मुनिरुत्तमः।
अपूर्णाराधकः प्रोक्तः, श्रावकोऽपूर्णसंयमी॥

पूर्ण संयम की आराधना करने वाला संयमी उत्तम मुनि कहलाता है और अपूर्ण संयम की आराधना करने वाला अपूर्ण संयमी या श्रावक कहलाता है।

१३. रागद्वेषविनिर्मुक्त्यै, विहिता देशना जिनैः।
अहिंसा स्यात्तयोर्मोक्षो, हिंसा तत्र प्रवर्तनम्॥

वीतराग ने राग और द्वेष से विमुक्त होने के लिए उपदेश दिया। राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है और उनमें प्रवृत्ति करना हिंसा है।

जहां राग-द्वेष विद्यमान हैं, वहां अहिंसा नहीं हो सकती। जो क्रियाएं राग-द्वेष से प्रेरित हैं, वे अहिंसक नहीं हो सकतीं। जो क्रियाएं इनसे मुक्त हैं, वे अहिंसा की परिधि में आ सकती हैं। सामान्य गृहस्थ के लिए राग-द्वेष से संपूर्ण मुक्त हो पाना संभव नहीं है, फिर भी वह अपने सामर्थ्य के अनुसार इनसे दूर रहता है, वह उसका अहिंसक भाव है। वीतराग व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसा की पोषक होती है और अवीतराग व्यक्ति की प्रवृत्ति में राग-द्वेष का मिश्रण रहता है। इसे स्थूल बुद्धि से समझ पाना कठिन है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कहीं एक कोने में छिपे हुए राग-द्वेष देखे जा सकते हैं।

भगवान् का सारा प्रवचन राग-द्वेष की मुक्ति के लिए होता है। राग-द्वेष की मुक्ति हो जाने पर सारे दोष धुल जाते हैं। सब दोषों के ये दो उत्पादक तत्त्व हैं। सारे दोष इन्हीं की संतान हैं।

१४. आरम्भाच्च विरोधाच्च, संकल्पाज्जायते खलु।
तेन हिंसा त्रिधा प्रोक्ता, तत्त्वदर्शनकोविदैः॥

हिंसा करने के तीन हेतु हैं—आरंभ, विरोध और संकल्प। अतः तत्त्वज्ञानी पंडितों ने हिंसा के तीन भेद बतलाए हैं—

- आरंभजा हिंसा—जीवनयापन हेतुक हिंसा।
- विरोधजा हिंसा—प्रतिरक्षात्मक हिंसा।
- संकल्पजा हिंसा—आक्रामक हिंसा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् महावीर ने आत्मा का विकास अहिंसा के मूल में देखा। उनका समस्त कार्य-कलाप अहिंसा की परिक्रमा किए चलता था। इसलिए उनका उपदेश अहिंसापरक था। अहिंसा की आवाज एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो गई। वह सबके लिए थी। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा–'जो धर्म में उठे हैं और जो नहीं उठे हैं उन सबको इस धर्म का उपदेश दो।' फलस्वरूप सहस्रों व्यक्ति पूर्ण अहिंसक (मुनि) बने।

गृहस्थ-जीवन में हिंसा से कैसे बचा जा सकता है, इस प्रश्न के समाधान में भगवान् महावीर ने हिंसा के तीन भेद किए, जिनके स्वरूप का विवेचन अगले श्लोकों में स्पष्ट किया गया है। भगवान् ने तीन प्रकार की हिंसा का निरूपण करते हुए गृहस्थ को निरर्थक हिंसा और संकल्पजा हिंसा से दूर रहने की बात कही है, जो अत्यंत व्यवहार्य और सुखी जीवन की प्रेरणा देने वाली है।

**१५. कृषी रक्षा च वाणिज्यं, शिल्पं यद् यच्च वृत्तये।**
**प्रोक्ता साऽऽरम्भजा हिंसा, दुर्वार्या गृहमेधिना॥**

**कृषि, रक्षा, व्यापार, शिल्प और आजीविका के लिए जो हिंसा की जाती है, उसे आरंभजा-हिंसा कहा जाता है। इस हिंसा से गृहस्थ बच नहीं पाता।**

गृहस्थ अपने और अपने आश्रित व्यक्तियों के भरण-पोषण के लिए आजीविका करता है। वह कर्म से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। जहां कर्म है वहां हिंसा है। कर्म ही आरंभ है। कर्म की दो धाराएं हैं–गर्ह्य और अगर्ह्य।

मांस, शराब, अंडे आदि का व्यापार गर्ह्य–निंद्य माना गया है। एक आत्म-द्रष्टा या धार्मिक वह नहीं कर सकता। खेती, रक्षा, शिल्प आदि वृत्तियां गर्ह्य नहीं हैं। गृहस्थ इनका अवलंबन लेता है।

**१६. आक्रामतां प्रतिरोधः, प्रत्याक्रमणपूर्वकम्।**
**क्रियते शक्तियोगेन, हिंसा स्यात् सा विरोधजा॥**

**आक्रमणकारियों का प्रत्याक्रमण के द्वारा बलपूर्वक प्रतिरोध किया जाता है, वह विरोधजा हिंसा है।**

यहां आक्रांता बनने का निषेध है। गृहस्थ अपने बचाव के लिए प्रत्याक्रमण करता है। सभी राष्ट्र स्व-सीमा में रहना सीख जाएं, कोई किसी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पर आक्रमण करने की चाल न चले तो शांति सहज ही फलित हो जाती है।

आक्रमण की प्रवृत्ति युद्ध को जन्म देती है, शांति को भंग करती है और अंतर्राष्ट्रीय मर्यादा का अतिक्रमण करती है। भगवान् महावीर ने ऐसा नहीं कहा कि देश की सीमा पर शत्रुओं का आक्रमण हो और तुम मौन बैठे रहो, लेकिन यह कहा कि आक्रांता मत बनो।

आक्रमण के प्रति प्रत्याक्रमण करना अहिंसा नहीं, किन्तु विरोधजा हिंसा है।

**१७. लोभो द्वेषः प्रमादश्च, यस्या मुख्यं प्रयोजकम्।**
**हेतुः गौणो न वा वृत्तेः, हिंसा संकल्पजाऽस्ति सा॥**

**जिस हिंसा के प्रयोजक–प्रेरक लोभ, द्वेष और प्रमाद होते हैं और जिसमें आजीविका का प्रश्न गौण होता है या नहीं होता, वह संकल्पजा हिंसा है।**

**१८. सर्वथा सर्वदा सर्वा, हिंसा वर्ज्या हि संयतैः।**
**प्राणघातो न वा कार्यः, प्रमादाचरणं तथा॥**

**संयमी पुरुषों को सब काल में, सब प्रकार से, सब हिंसा का वर्जन करना चाहिए, न प्राणघात करना चाहिए और न प्रमाद का आचरण।**

**१९. व्यर्थं कुर्वीत नारम्भं, श्राद्धो नाक्रामको भवेत्।**
**हिंसां संकल्पजां नूनं, वर्जयेद् धर्ममर्मवित्॥**

**धर्म के मर्म को जानने वाला श्रावक अनावश्यक आरंभजा हिंसा न करे, आक्रमणकारी न बने और संकल्पजा हिंसा का अवश्य वर्जन करे।**

तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं–

१. गृहस्थ, २. गृहस्थ-साधक (उपासक श्रावक), ३. मुनि। यह भेद बाह्य आकृति या कार्य पर आधारित नहीं है। यह अंतर्वृत्ति पर आधारित है। मुनि उसे कहते हैं–जो अपने को जगाने, जानने में पूर्णतया समर्पित हो चुका है। आत्महित ही जिसका एकमात्र ध्येय है, जो अहर्निश उसी में निरत रहता है, वह मुनि होता है।

गृहस्थ साधक वह होता है–जो गृहस्थ के उत्तरादायित्वों का निर्वाह करते हुए भी धर्म की दिशा में सतत गतिशील रहता है, धर्म को अपने सामने रखता है। संत सहजो ने कहा है–

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**'जागृत में सुमिरन करो, सोवत में लौ लाय।**
**सहजो एक रस ही रहे, तार टूट ना जाय॥'**

गृहस्थ-उपासक और मुनि—दोनों का लक्ष्य एक है इसलिए सतत स्मृति दोनों के लिए अपेक्षित है। अंतर केवल कर्त्तव्य का होता है। देखना सिर्फ इतना ही है कि कार्य-व्यस्तता में स्मृति का तार कितना अविच्छिन्न रहता है। जिस गृह-साधक की स्मृति इतनी हो जाती है वह एक क्षण भी स्वयं से दूर नहीं होता। उसके कार्य एक स्तर पर चलते हैं और वह जीता किसी और स्तर पर है। जीवन जीने की यह परम कला है। इससे ही उसकी समस्त प्रवृत्तियां सत्य की ओर उन्मुक्त हो जाती हैं। उसका समग्र व्यवहार इसकी परिक्रमा किए चलता है। विधि-निषेध का केन्द्र धर्म होता है। वह उसी के निर्णय को महत्त्व देता है। उसके आक्रांत होने या हिंसक होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

गृहस्थ दोनों से विपरीत है। वह जीवन जीता है। किन्तु जीवन का वास्तविक ध्येय उसके सामने नहीं रहता। लक्ष्य के आधार पर ही जीवन की वृत्ति का पहिया घूमता है। यदि ध्येय स्पष्ट और शुद्ध होता है तो क्रिया को भी उसका अनुगमन करना होता है। शुद्ध-साध्य के लिए साधन-शुद्धि की बात गौण नहीं हो सकती। जीवन का लक्ष्य केवल बहिर्मुखी (भौतिक) होता है, तब वृत्तियां अंतर्मुखी कैसे हो सकेंगी? गृहस्थ बहिर्मुखी होता है, इसलिए वह आक्रमण करने से भी चूकता नहीं। दुनियां के युद्धों के इतिहास के पीछे यही मनोवृत्ति काम कर रही है। पांच हजार वर्षों के इतिहास में पन्द्रह सौ बड़े युद्ध क्या बहिर्मुखता के द्योतक नहीं हैं? यह तो विश्व की स्थिति का दर्शन है। जीवन-निर्वाह के निरंतर चलने वाले कलह-झगड़े, वे क्या हैं? क्या उनके पीछे कोई वास्तविक उद्देश्य होता है! व्यर्थ के झंझटों में मनुष्य व्यर्थ उलझता है और दूसरों को भी उलझाता है। यह मानवीय स्वभाव की दुर्बलता है। सत्य, अहिंसा, नैतिकता आदि उसके लिए सिर्फ शब्द होते हैं। संकल्पजा हिंसा से भी यदि मनुष्य निरत हो सके तो सुख की सृष्टि संभव हो सकती है।

**२०. अहिंसैव विहितोस्ति, धर्मः संयमिनो ध्रुवम्।**
**निषेधः सर्वहिंसाया, द्विविधा वृत्तिरस्य यत्॥**

**संयमी पुरुष के लिए अहिंसा धर्म ही विहित है और सब प्रकार की हिंसा**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**वर्जित है। संयमी की वृत्ति दो प्रकार की होती है–अहिंसा का आचरण, यह विधेयात्मक वृत्ति है। हिंसा का वर्जन, यह निषेधात्मक वृत्ति है।**

संयमी व्यक्ति की अहिंसा विधेयात्मक और निषेधात्मक–दोनों है। विधेयात्मक अहिंसा को समिति कहते हैं और निषेधात्मक अहिंसा को गुप्ति। अशुभ और शुभ योग के निरोध का नाम गुप्ति है और शुभ योग में प्रवृत्त होने का नाम समिति है। गुप्ति तीन हैं–मनोगुप्ति, वाक्गुप्ति और कायगुप्ति। मुनि क्रमशः मन के अप्रशस्त और प्रशस्त योग का विरोध करे।

विधेयात्मक अहिंसा के पांच रूप हैं :

१. ईर्या समिति–देखकर चलना, विधिपूर्वक चलना।

२. भाषा समिति–विचारपूर्वक संभाषण करना।

३. एषणा समिति–भोजन-पानी की गवेषणा में सतर्कता रखना।

४. आदान-निक्षेप समिति–वस्तु के लेने और रखने में सावधानी बरतना।

५. उत्सर्ग समिति–उत्सर्ग करने में सावधानी बरतना।,

समिति में अशुभ का निरोध और शुभ में प्रवर्त्तन है। गुप्ति में शुभ का भी निरोध होता है। आत्मा का पूर्ण अभ्युदय निरोध से होता है।

**२१. अहिंसाया आचरणे, विधानञ्च यथास्थितिः।**
**संकल्पजा-निषेधश्च, श्रावकाय कृतो मया॥**

**श्रावक के लिए मैंने यथाशक्ति अहिंसा के आचरण का विधान और संकल्पजा-हिंसा का निषेध किया है।**

**२२. अविहिताऽनिषिद्धा च, तृतीया वृत्तिरस्य सा।**
**सर्वहिंसापरित्यागी, नाऽसौ तेन प्रवर्तते॥**

**गृहस्थ की तीसरी वृत्ति जो है, वह न विहित है और न निषिद्ध है। वह सर्व-हिंसा का परित्यागी नहीं होता, इसलिए उस वृत्ति का अवलंबन लेता है।**

वृत्तियां तीन प्रकार की होती हैं :

१. विहित–जिनका विधान किया गया है, जैसे–धर्म की उपासना करना, अहिंसा का आचरण करना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२. निषिद्ध–जिनका निषेध किया जाता है, जैसे–मांस का व्यापार न करना, व्यभिचार न करना आदि।

३. न विहित, न निषिद्ध–जिसका न विधान होता है और न निषेध, जैसे–विवाह करना , व्यापार करना आदि। इन प्रवृत्तियों के बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता। इस श्लोक में यही समझाया गया है कि गृहस्थ संपूर्ण रूप से हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि एक गृहस्थ के नाते उसे अनेक जिम्मेदारियां निभानी होती हैं। वह भिक्षा से अपना जीवन नहीं चला सकता, अतः उसे व्यापार करना पड़ता है। व्यापार में हिंसा भी होती है। वह वाहनों का उपयोग करता है। आवश्यकतावश छह जीवों का समारंभ भी करता है। उसकी समस्त पापमय प्रवृत्तियों का निषेध नहीं किया जा सकता। हिंसा हिंसा है, परन्तु क्षेत्र या अवस्था भेद से वह विहित आ अविहित होती है।

**२३. हिंसाविधानं नो शक्यं, तेन साऽविहिता खलु।**
**अनिवार्या जीविकायै, निरोद्धुं शक्यते न तत्॥**

**हिंसा का विधान नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अविहित है और आजीविका के लिए जो अनिवार्य हिंसा हो उसका निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अनिषिद्ध है।**

पूर्ण अहिंसक व्यक्ति की अपनी मर्यादा होती है। वह हिंसा का निषेध और अहिंसा के आचरण का उपदेश देता है। आवश्यक हिंसा का भी अनुमोदन या विधान उसके द्वारा नहीं हो सकता। अहिंसक के सामने आवश्यकता और अनावश्यकता का प्रश्न मुख्य नहीं होता। जीवन और मृत्यु का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता। उसके सामने मुख्य प्रश्न होता है–अहिंसा की सुरक्षा। हिंसा उसे किसी भी हालत में स्वीकार्य नहीं होती। इसलिए वह हिंसा का विधान कर ही नहीं सकता। वह अहिंसा के पालन के लिए प्राणों का विसर्जन भी करने में तत्पर होता है, किन्तु न स्वयं हिंसा करता है और न दूसरों को उस ओर प्रेरित करता है।

दूसरी बात यह है कि वह हिंसा न करने का सर्वथा निषेध भी नहीं कर सकता। क्योंकि गृहस्थ जीवन में अनिवार्य हिंसा से बचा नहीं जा सकता। यदि वह उसका निषेध करता है तो उसका कथन अव्यवहार्य बन जाता है। अतः उसे मध्यम-मार्ग का अवलंबन लेना पड़ता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२४. द्विविधो गृहिणां धर्म, आत्मिको लौकिकस्तथा।
संवरो निर्जरा पूर्वः, समाजाभिमतोऽपरः॥

**गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का होता है—आत्मिक और लौकिक। आत्मिक-धर्म के दो प्रकार हैं—संवर और निर्जरा। समाज के द्वारा अभिमत धर्म को लौकिक धर्म कहा जाता है।**

धर्म दो प्रकार का है—आत्मिक और लौकिक। सामायिक, संवर, पौषध, त्याग, ध्यान, तपस्या आदि आत्मिक धर्म है। इसमें अहिंसा आदि धर्मों का विमर्श और आचरण मुख्य होता है। संक्षेप में आत्माभिमुखी सारी प्रवृत्तियां आत्मिक धर्म के अंतर्गत आती हैं। लौकिक धर्म का अर्थ है—समाज द्वारा अभिमत आचार। इसमें हिंसा-अहिंसा का विचार मुख्य नहीं होता, मुख्य होता है सामाजिक आचार, नीति। समाज धर्म समाज-सापेक्ष होता है। वह ध्रुव नहीं होता, परिवर्तनशील होता है। लौकिक धर्म की विचारणा में मोक्ष का विमर्श गौण होता हैं, सामाजिक अभ्युदय का विचार मुख्य होता है।

२५. आत्मशुद्ध्यै भवेदाद्यो, देशितः स मया ध्रुवम्।
समाजस्य प्रवृत्त्यर्थं, द्वितीयो वर्त्यते जनैः॥

**आत्मिकधर्म आत्मशुद्धि के लिए होता है इसलिए मैंने उसका उपदेश किया है। लौकिकधर्म समाज की प्रवृत्ति के लिए होता है। उसका प्रवर्तन सामाजिक जनों के द्वारा किया जाता है।**

२६. आत्मधर्मो मुमुक्षूणां, गृहिणाञ्च समो मतः।
पालनापेक्षया भेदो, भेदो नास्ति स्वरूपतः॥

**आत्म-धर्म साधु और गृहस्थ—दोनों के लिए समान है। धर्म के जो विभाग हैं, वे पालन करने की अपेक्षा से किए गए हैं। स्वरूप की दृष्टि से वह एक है, उसका कोई विभाग नहीं होता।**

२७. पाल्यते साधुभिः पूर्णः, श्रावकैश्च यथाक्षमम्।
यत्र धर्मो हि साधूनां, तत्रैव गृहमेधिनाम्॥

**साधु आत्म-धर्म का पूर्ण रूप से पालन करते हैं और श्रावक उसका**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**पालन यथाशक्ति करते हैं। संयममय आचरण साधु के लिए भी धर्म है, गृहस्थ के लिए भी धर्म है। असंयममय आचरण साधु के लिए भी धर्म नहीं है, गृहस्थ के लिए भी धर्म नहीं है।**

अहिंसा गृहस्थ के लिए धर्म हो और साधु के लिए अधर्म अथवा साधु के लिए धर्म हो और गृहस्थ के लिए अधर्म, ऐसा कभी नहीं होता। तात्पर्य यही है कि गृहस्थ का धर्म साधु के धर्म से भिन्न नहीं किन्तु उसी का एक अंश है।

मुनि और गृहस्थ दोनों का धर्म एक है। अंतर इतना ही है कि मुनि धर्म का पूर्ण रूप से पालन करते हैं और गृहस्थ उसका आंशिक रूप में। धर्म के विभाग व्यक्ति-व्यक्ति की पालन करने की शक्ति के आधार पर किए गए हैं। उनमें स्वरूपभेद नहीं, मात्राभेद होता है। मुनि अहिंसा का पूर्ण व्रत स्वीकार करते हैं और गृहस्थ अपने सामर्थ्य के अनुसार उसका पालन करते हैं। यही धर्म के विभिन्न रूपों का आधार है।

**२८. तीर्थङ्करा अभूवन् ये, विद्यन्ते ये च सम्प्रति।**
**भविष्यन्ति च ते सर्वे, भाषन्ते धर्ममीदृशम्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जो तीर्थंकर अतीत में हुए, जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, वे सब ऐसे ही धर्म का निरूपण करते हैं।

२९. सर्वे जीवा न हन्तव्याः कार्या पीडापि नाल्पिका।
उपद्रवो न कर्तव्यो, नाऽऽज्ञाप्या बलपूर्वकम्॥

३०. न वा परिगृहीतव्या, दासकर्मनियुक्तये।
एष धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः॥
(युग्मम्)

कोई भी जीव हंतव्य नहीं है, न उन्हें किंचित् पीड़ित करना चाहिए, न उपद्रव करना चाहिए, न बलपूर्वक उन पर शासन करना चाहिए और न दास बनाने के लिए उन्हें अपने अधीन रखना चाहिए—यह अहिंसा-धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और वीतराग के द्वारा निरूपित है।

३१. न विरुध्येत केनापि, न बिभियान्न भापयेत्।
अधिकारान्न मुष्णीयाद्, न कुर्याद् श्रमशोषणम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**किसी के साथ विरोध न करे, न किसी से डरे और न किसी को डराए, न किसी के अधिकारों का अपहरण करे और न किसी के श्रम का शोषण करे।**

**३२. जातेः कुलस्य रूपस्य, न बलस्य श्रुतस्य च।**
**नैश्वर्यस्य न लाभस्य, न मदं तपसः सृजेत्॥**

**जाति, कुल, रूप, बल, श्रुत, ऐश्वर्य, लाभ और तप का मद न करे।**

**३३. न तुच्छान् भावयेज्जीवान्, न तुच्छं भावयेन्निजम्।**
**सर्वभूतात्मभूतो हि, स्यादहिंसापरायणः॥**

**दूसरों को तुच्छ न समझे और अपने को भी तुच्छ न समझे। जो सब जीवों को आत्मभूत–अपने तुल्य समझता है, वह अहिंसा-परायण है।**

उपरोक्त श्लोकों में अहिंसा का समग्र रूप प्रतिपादित हुआ है। जीव-घात ही हिंसा नहीं है, दूसरों पर अनुशासन करना, धोखा देना, अपने अधीन रखना, दुःख देना, दास बनाना, आदि प्रवृत्तियां भी हिंसा है। जो अहिंसक होता है, वह ऐसा नहीं कर सकता। अहिंसा सभी व्रतों का सार है। कहा गया है कि अहिंसा ही व्रत है और दूसरे सारे व्रत उसी के पोषक हैं। जो अहिंसा का सही अर्थ में पालन करता है, वह सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सभी व्रतों का पालन करता है।

डराना हिंसा है तो डरना भी हिंसा है। अहिंसा डरना नहीं सिखाती। वह व्यक्ति में अभय की शक्ति जगाती है। वास्तव में वही व्यक्ति अभय हो सकता है, जो अहिंसक है।

अहिंसा की प्राप्ति के लिए हिंसा के कारणों का विसर्जन भी अपेक्षित है। हिंसा के हेतु हैं–विरोध, भय, दूसरों के अधिकारों को कुचलना, अभिमान, दूसरों को हीन मानना और स्वयं को भी हीन मानना। वैर से वैर बढ़ता है, प्रतिशोध की भावना प्रबल होती है। इसलिए अहिंसक सबके साथ मैत्री का संकल्प करता है। उसका घोष है–मेरी सबके साथ मैत्री है, किसी के साथ शत्रु-भाव नहीं है।

भय से भी हिंसा का विस्तार होता है। भयभीत व्यक्ति प्रतिक्षण आशंकाओं से घिरा रहता है। अर्थ-नाश का भय, मृत्यु का भय, अपयश का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भय, रोग का भय आदि भयों से उसका चिंतन हिंसोन्मुख रहता है। भयभीत व्यक्ति हजारों बार मरता है। जो व्यक्ति अभय है, उसे ये भय नहीं सताते और न वह अपने जीवन में अनेक बार मरता है। इसलिए भगवान् ने कहा है—अहिंसक न स्वयं डरे और न दूसरों को डराये। डरना और डराना दोनों ही हिंसा है।

दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने से उनमें प्रतिशोध का भाव बढ़ता है। स्वयं में भय जगता है, प्रतिकार के उपायों से ध्यान आर्त्त बनता है, अतः किसी के अधिकारों को मत कुचलो।

अभिमान हिंसा है। दूसरों को हीन और अपने को ऊंचा मानना वह उसका लक्षण है। यह असमानता की वृत्ति व्यक्ति के मन में हिंसा का ज्वार पैदा करती है और उनका प्रतिफल अनेक कटुरूपों में फलित होता है। इसे आज कौन नहीं जानता। अहिंसा की साधना का अर्थ है—सदा विनम्र रहना और सबको अपने जैसा मानना। भगवान महावीर ने कहा है—**'नो हीणे नो अइरित्ते'** अपने-आपको न हीन समझो और न ऊंचा समझो। यह समता का मंत्र है और यह दूसरों के यथार्थ अस्तित्व का स्वीकरण है। दूसरों को तुच्छ मानना हिंसा है तो अपने आपको भी तुच्छ मानना हिंसा है। इससे आत्मा का शौर्य विलुप्त हो जाता है। व्यक्ति में घबराहट पैदा हो जाती है। वह अकाल में ही काल-कवलित हो जाता है। हीन वृत्ति वाला मनुष्य अपना, समाज, देश और राष्ट्र का भला नहीं कर सकता। अध्यात्म-क्षेत्र में प्रवेश करने से वह वंचित रह जाता है। हीन मनोवृत्ति वाले का मन सदा हीन भावना से घिरा रहता है। वह अपने ही हीन संकल्पों से हीनता की और बढ़ता रहता है। 'मैं दरिद्र हूं, मैं अस्वस्थ हूं, मैं अशक्त हूं, मैं अयोग्य हूं'—ये संकल्प व्यक्ति को वैसा ही बना देते हैं। आज के चिकित्सक यह मानते हैं कि मनुष्य के शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियां हैं, जिनसे वह अपने को हीन मानने लगता है। वे चिकित्सा कर उसे हीन-भावना से मुक्त कर देते हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिक और अध्यात्म-द्रष्टाओं की विचारधारा में इसकी सफल चिकित्सा है—हीन भावनाओं के स्थान पर उच्च संकल्पों को स्थान देना। मानसिक संकल्प के द्वारा अनेक रोगियों को आज रोग-मुक्त किया जाता है। तब यह हीन-भावना का मानसिक रोग संकल्पों से दूर क्यों नहीं किया जा सकता? मनुष्य सदा पवित्र संकल्पों को दोहराए और कुछ क्षण उनका चिंतन करे तो उस पर इसका जादू का-सा असर होता है, हीन भावनाएं स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संकल्प यों हो सकते हैं–

मैं स्वस्थ हूं।
मैं ऐश्वर्यशाली हूं।
मैं शक्ति-संपन्न हूं।
मैं योग्य हूं।
मैं शुद्ध, बुद्ध और परमात्मरूप हूं।

**३४. अहिंसाऽऽराधिता येन, ममाज्ञा तेन साधिता।**
**आराधितोस्मि तेनाहं, धर्मस्तेनात्मसात्कृतः॥**

**जिसने अहिंसा की आराधना की, उसने मेरी आज्ञा की आराधना की है। उसने मुझे आराध लिया है और उसने धर्म को आत्मसात् कर लिया है।**

**३५. अहिंसा विद्यते यत्र, ममाज्ञा तत्र विद्यते।**
**ममाज्ञायामहिंसायां, न विशेषोस्ति कश्चन॥**

**जहां अहिंसा है वहां मेरी आज्ञा है। मेरी आज्ञा और अहिंसा में कोई भेद नहीं है।**

**३६. भीतानामिव शरणं, क्षुधितानामिवाशनम्।**
**तृषितानामिव जलं, अहिंसा भगवत्यसौ॥**

**यह भगवती अहिंसा भयभीत व्यक्तियों के लिए शरण, भूखों के लिए भोजन और प्यासों के लिए पानी के समान है।**

महावीर कहते हैं–मेरी आज्ञा और अहिंसा में कोई द्वैत नहीं है। जो आज्ञा है वही अहिंसा है और जो अहिंसा है वही आज्ञा है। अहिंसा और आज्ञा में अंतर नहीं है। अहिंसा और प्रेम में भी अंतर नहीं है। जीसस ने कहा है–'लव इज गोड' (Love is God) प्रेम परमात्मा है। परमात्मा को साध लो प्रेम सध जाएगा। प्रेम को साध लो परमात्मा सध जाएगा। परमात्मा प्रेम का पूर्ण रूप है। अनेक संत प्रेम की भाषा में बोले हैं। किंतु उनका प्रेम किसी में आबद्ध नहीं था। सीमाबद्ध प्रेम होता तो फिर वह प्रेम घृणा से अछूता नहीं होता, उसके पीछे मिश्रित रूप से घृणा की छाया होती। वह अस्थायी होता, स्थायी नहीं होता। अहिंसा की विधायक भाषा प्रेम है। जैसे-जैसे आत्मा का सर्वोच्च रूप निखरता जाएगा, अहिंसा-प्रेम भी विस्तृत और व्यापक बनता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चला जाएगा। 'मैं और मेरे' की संकीर्णदृष्टि निर्मूल हो जाएगी। संकीर्णता, स्वार्थ, घृणा आदि का जहां अस्तित्व रहता है वहां अहिंसा की धारा कैसे प्रवहमान रह सकती है? अहिंसा के अभाव में मानव-जगत् शांति से जीवित नहीं रह सकता। इसलिए अहिंसा को त्राण कहा है।

**३७. शुद्धं शिवं सुकथितं, सुदृष्टं सुप्रतिष्ठितम्।**
**सारभूतञ्च लोकेऽस्मिन्, सत्यमस्ति सनातनम्॥**

**इस लोक में सत्य शुद्ध, शिव, सुभाषित, सुदृष्ट, सुप्रतिष्ठित, सारभूत और सनातन/शाश्वत है।**

भगवान् महावीर ने कहा–'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'–सत्य लोक में सारभूत है। 'सच्चं भयवं'–सत्य ही भगवान् है। यह सत्य की महिमा है। प्रश्न होता है कि सत्य क्या है? इसका उत्तर है–'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं'–सत्य वही है जो आप्तपुरुषों द्वारा कथित है। 'निग्गंथं पावयणं सच्चं'–निर्ग्रंथ व्यक्तियों का जो प्रवचन है, वह सत्य है। सत्य का यह स्वरूप व्यापक और सर्वग्राह्य है। यथार्थ-द्रष्टाओं का दर्शन सत्य है। यथार्थ-द्रष्टा वे होते हैं, जिनके राग-द्वेष और मोह आदि दोष नष्ट हो जाते हैं और जिनका ज्ञान अबाधित होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान सत्य का घटक होता है। सत्य किसी सीमा में आबद्ध नहीं होता। वह व्यापक और सार्वजनिक होता है। स्वभाव सत्य है, विभाव असत्य।

**३८. महातृष्णाप्रतीकारं, निर्भयञ्च निरास्रवम्।**
**उत्तमानामभिमतं, अस्तेयं प्रत्ययास्पदम्॥**

**अचौर्य बढ़ती हुई तृष्णा का प्रतिकार, भयमुक्त करने वाला, अनेक बुराइयों से बचाने वाला, उत्तम जनों द्वारा अभिमत और विश्वास का आस्थान है।**

अदत्त का शाब्दिक अर्थ है–बिना दिया हुआ ग्रहण करना। यह बहुत स्थूल है। यदि व्यक्ति स्थूल पर स्थिर हो जाए तो सूक्ष्म में प्रवेश नहीं हो पाता। महावीर जिस धरातल पर अदत्त की बात कहते हैं, वह बहुत सूक्ष्म है। इस जगत् में हमारा क्या है? अस्तित्व के अतिरिक्त सब कुछ पराया है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अस्तित्व की उपलब्धि के अभाव में चोरी से बचना कैसे संभव हो? दूसरों का क्या मानव अनुकरण नहीं करता? उसके पास जो कुछ है वह सब अनुकृत है, उधार लिया हुआ है। यदि ठीक से हम अपने पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि हमारी सारी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार आदि परम्परागत हैं। अचौर्य व्रत के अभ्यास के लिए साधक को बहुत सजग होने की आवश्यकता होगी। उसे प्रतिक्षण पैनी दृष्टि से देखना होगा कि मेरा अपना क्या है और पराया क्या है? मैं दूसरों की चीजों को अपनी कैसे मान रहा हूं। जब तक वह स्वयं में प्रवेश नहीं करे, तब तक वह उन वस्तुओं और संस्कारों का बहिष्कार करता जाए जो अपनी नहीं हैं, वह एक दिन अचौर्य को उपलब्ध हो जाएगा।

३९. कृतध्यानकपाटञ्च, संयमेन सुरक्षितम्।
अध्यात्मदत्तपरिघं, ब्रह्मचर्यमनुत्तरम्॥

ब्रह्मचर्य अनुत्तर धर्म है। संयम—इन्द्रिय और मन के निग्रह द्वारा वह सुरक्षित है। उसकी सुरक्षा का कपाट है—ध्यान और उसकी अर्गला है—अध्यात्म।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ब्रह्मचर्य भगवान् है, तपों में उत्तम तप है। ब्रह्मचर्य से देवता अमर बन जाते हैं। अर्थववेद में नेता के लिए ब्रह्मचारी होना आवश्यक माना है।

ऐतरेय उपनिषद् में कहा है–शरीर के समस्त अंगों में जो यह तेजस्विता है वह वीर्य-जन्य ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत व्यापक किया है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है। कुंदकुंद कहते हैं–'जो स्त्रियों के सुन्दर अंगों को देखते हुए भी विकार नहीं लाते वे ब्रह्मचारी हैं।' महात्मा गांधी कहते हैं–'ब्रह्मचर्य का अर्थ है समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण और मन, वचन, कृत्य द्वारा लोलुपता से मुक्ति।'

ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से ये सारे अर्थ उसी में सन्निहित हो जाते हैं। ब्रह्म का अर्थ है–आत्मा या परमात्मा। उसमें विचरण करने वाला ही वास्तविक ब्रह्मचारी है। जब आत्म-विहार से व्यक्ति बाहर चला जाता है तब न ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है, न अहिंसा और न ध्यान।

**४०. कृताकम्पमनोभावो, भावनानां विशोधकः।**
**सम्यक्त्वशुद्धमूलोऽस्ति, धृतिकन्दोऽपरिग्रहः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**अपरिग्रह से मन की चपलता दूर हो जाती है, भावनाओं का शोधन होता है। उसका शुद्ध मूल है सम्यक्त्व और धैर्य उसका कन्द है।**

अनैतिकता का मुख्य हेतु है—अर्थ-लिप्सा। भीष्म पितामह ने इसी कटु सत्य को यों सामने रखा है—हे युधिष्टर! तुम्हारा कहना अनुचित नहीं है कि आप धर्म को छोड़ अधर्म की ओर क्यों चले गए? मैं बताऊ तुम्हें, मनुष्य अर्थ का दास है, किंतु अर्थ किसी का दास नहीं है। अर्थ के प्रलोभन ने ही मुझे कौरवों का पक्षपाती बना दिया। परिग्रह अनर्थ की धुरा है। मानसिक मलिनता को परिग्रह में आसक्त व्यक्ति छोड़ नहीं सकता। सच्चाई यह है कि पवित्रता, स्थैर्य, शुद्धि और धैर्य का निवास अपरिग्रह में है। असंतुष्ट व्यक्ति बार-बार उत्पन्न होता है और मरता है, भले फिर वह इन्द्र भी क्यों न हो।

सुख आवश्यकताओं को बढ़ाने में नहीं है। मनुष्य जितना स्व-सीमा में रहता है उतना ही वह सुखी और शांत रहता है। सीमा का अतिक्रमण अशांति को उत्पन्न करता है। परिग्रह स्व नहीं, पर है। वह सहायक है, किंतु सर्वेसर्वा नहीं। वह शरीर की भूख है न कि आत्म-चेतना की। इस विवेक पर चलने वाला उससे चिपका नहीं रहता। न वह शोषण करता है और न अनावश्यक संग्रह। महाभारत में कहा है—

**भ्रियते यावज्जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।**
**अधिकं योऽभिमन्येत, से स्तेनो दंडमर्हति॥**

—जितना पेट भरने के लिए आवश्यक होता है, वही व्यक्ति का अपना है—व्यक्ति को उतना ही संग्रह करना चाहिए। जो इससे ज्यादा संग्रह करता है वह चोर है, दंड का भागी है।

**मेघः प्राह**

**४१. किं नाम भगवन्! धर्मः, कस्मै तस्याऽनिवार्यता।**
**विद्यते तस्य को लाभः, जिज्ञासाऽसौ निसर्गजा॥**

**मेघ बोला—भगवन्! धर्म क्या है? उसकी अनिवार्यता क्यों है? उसका लाभ क्या है? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है।**

**भगवान् प्राह**

**४२. चैतन्यानुभवो धर्मः सोपानं प्रथमं व्रतम्।**
**तपसा संयमेनासौ, साध्योऽस्ति सकलैर्जनैः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् ने कहा—धर्म है चैतन्य का अनुभव। उसका प्रथम सोपान है व्रत। उसकी साधना के दो हेतु हैं—तप और संयम।

४३. आसक्तिं जनयत्याशु, वस्तुभोगो हि देहिनाम्।
जीवनं वस्तुसापेक्षं, समस्या महती ध्रुवम्॥

पदार्थ का भोग आसक्ति उत्पन्न करता है और जीवन पदार्थ-सापेक्ष है, यह महान् समस्या है।

४४. आसक्तिर्यावती पुंसां, तावान् भावात्मको ज्वरः।
भावात्मको ज्वरो यावान्, तावान् तापो हि मानसः॥

जितनी आसक्ति उतना भावनात्मक तनाव। जितना भावात्मक तनाव, उतना मानसिक तनाव या मानसिक दुःख।

४५. चैतन्यानुभवो यावान्, अनासक्तिश्च तावती।
यावती स्यादनासक्तिः, तावान् भावः प्रसादयुक्॥

जितनी चेतना की अनुभूति उतनी अनासक्ति, जितनी अनासक्ति उतनी भावात्मक प्रसन्नता।

४६. यावान् भावप्रसादः स्याद्, तावद् मनो हि निर्मलम्।
नैर्मल्यं मनसो यावद्, तावत् स्याद् सहजं सुखम्॥

जितनी भावनात्मक प्रसन्नता है, उतनी मानसिक निर्मलता है। जितनी मानसिक निर्मलता है, उतना सहज सुख है।

धर्म का तत्त्व सहज, सुगम होते हुए भी जटिल बना हुआ है। इसका कारण है—उसे बुद्धि के द्वारा व्याख्यात किया जाता है, मन और बुद्धि के द्वारा ही सुना जाता है और ग्रहण किया जाता है। यह है अनुभूति द्वारा गम्य, या प्रज्ञा के द्वारा ज्ञेय है। बुद्धि स्वयं अस्थिर है—वह विकल्पों को पैदा करती है। धर्म है निर्विकल्प। धर्म को जानने के लिए सब बुद्धि के द्वारा प्रयत्न करते हैं। इसलिए उसका सही समाधान नहीं होता।

मेघ की जिज्ञासा भी इसी की द्योतक है। धर्म क्या है? धर्म की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनिवार्यता क्यों और धर्म का लाभ क्या है?

धर्म क्या है? इसका उत्तर अलग-अलग रूपों में मिलता है। लौकिक धर्म की व्याख्या भिन्न है और अलौकिक–आध्यात्मिक धर्म की परिभाषा अलग है। फिर भी दोनों का सम्मिश्रण हो जाता है। सम्मिश्रण के कारण संशय उत्पन्न होता है। यदि दोनों के बीच का अंतर स्पष्ट हो तो यह भ्रांति नहीं रहती किन्तु यह भी कम संभव है। सामान्य लोगों के लिए यह अंतर् सहजगम्य होना भी मुश्किल है।

भगवान् महावीर ने धर्म की संक्षेप परिभाषा देते हुए कहा–चैतन्य का अनुभव धर्म है। जिस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति स्वयं के अस्तित्व का अनुभव कर सके, वह धर्म है। अपना अनुभव, अपना बोध, अपना ज्ञान धर्म है। धर्म का समग्र बल इस पर है कि व्यक्ति अपने को जाने 'मैं कौन हूं?' इसका प्रथम चरण है–व्रत। व्रत का कार्य है–अपने भीतर आने वाले विजातीय तत्त्व के द्वार को रोकना। जैसे-जैसे विजातीय तत्त्व का द्वार बंद हो जाता है–वैसे-वैसे व्यक्ति अपने निकट पहुंचता चला जाता है। विजातीय तत्त्व का आवागमन इतनी तीव्रता से होता रहता है कि साधारण-असाधारण व्यक्तियों की समझ से परे ही रहता है। आदमी के संस्कार उसे भीतर आने से दूर ही रखता है। वह राग और द्वेष इन दो प्रवृत्तियों में ही उलझा रहता है। चैतन्य के अनुभव में ये दोनों परम बाधक हैं।

व्रत-संयम और तप इन दोनों को नियंत्रित करते हैं। राग का अर्थ है–आसक्ति और द्वेष का अर्थ है–अप्रिय पदार्थों के प्रति घृणा, अरुचि। प्रिय विषयों में रुचि राग है। जीवन पदार्थों से मुक्त नहीं हो सकता है। वह पदार्थ सापेक्ष है। पदार्थों का भोग आसक्ति उत्पन्न करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने आसक्ति को और अधिक बद्धमूल करने में अपनी भूमिका निभाई है और निभा रही है। आकर्षक पदार्थों के निर्माण के पीछे व्यक्ति के भीतर छिपे राग–आसक्ति को उत्तेजित करना ही है। नये-नये रूपों में जिस प्रकार पदार्थों की संयोजना हो रही है उसी प्रकार व्यक्ति का मन भी दूषित व प्रलुब्ध हो रहा है। इससे न शांति और न सुख हाथ लगता है। पदार्थों की सामग्री व उनके प्रति आकर्षण से शांति और सुख का कहीं वास्ता नहीं है। पदार्थ-सापेक्ष शांति व सुख का स्थायित्व भी कितना होता है? और उस सुख से मिलने वाला सुख भी कितना होता है? इससे यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि शाश्वत, स्थायी सुख का संबंध पदार्थों से नहीं है। नश्वर पदार्थ स्थायी सुख का हेतु भी कैसे बन सकता है? इस अनुभूति ने ही अनासक्ति को जन्म

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दिया। भगवान ने इस समस्या के समाधान में कहा कि तुम पदार्थों से निरपेक्ष नहीं हो सकते, किन्तु आसक्ति से मुक्त हो सकते हो। पदार्थों के साथ जुड़ना-बंधना या न बंधना यह तुम्हारे हाथ में है। तुम इस कला में पारंगत हो जाओ कि पदार्थों का भोग करते हुए भी उनके साथ लगाव नहीं रखना। दुःख पदार्थों के साथ लगाव का ही है। जितना गहरा लगाव या अटेचमेंट—जुड़ना है उतना ही अधिक तनाव, ताप तथा ऊष्मा है।

आसक्ति ही व्यक्ति को दुःखी बनाती है। वह आसक्ति चेतन पदार्थ के प्रति हो या अचेतन के प्रति। वर्तमान युग इसका ज्वलन्त उदाहरण है। तनाव समस्या सर्जन करता है। तनाव विविध रोग उत्पन्न करता है। इसका समाधान अनासक्ति है। भोग के साथ जो प्रियता-अप्रियता का योग बनता है, उससे ही अपनी चेतना को दूर रखना है। इसका प्रयोग है—संयम तथा तप। चेतना को अलग रखना तपस्या है। यह कठिन नहीं, किन्तु अभ्यास साध्य होती है। अनासक्त रहने का संकल्प ही धीरे-धीरे भावना को पुष्ट करता है और जागृति को सशक्त बनाता है। उसकी परिणति चेतना की अनुभूति में होती है। उसके बाद अनासक्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है। एक चेतना की आसक्ति अन्य समस्त आसक्तियों को उखाड़ फेंकती है। गीता, भागवत आदि में जहां अनन्यचेता की बात कही है वही बात चेतना की अनुभूति की है। चेतना की अनुभूति अनासक्ति बढ़ाती है, अनासक्ति से भावधारा निर्मल होती है। मन प्रसन्न होता है और आनंद की धारा सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है।

धर्म क्यों अनिवार्य है?

धर्म की प्रासंगिकता सदैव अपरिहार्य रही है। धर्म है तो व्यवस्था है, धर्म है तो स्वच्छता है। यह स्वर हमारे कानों में सदा टकराता रहा है कि **'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।'** धर्म से हीन जीवन पशु तुल्य है। अध्यात्म दृष्टि से धर्म की उपादेयता असंदिग्ध है तो व्यवहार दृष्टि से भी असंदिग्ध है। धर्म चेतना को रूपांतरित करता है। व्यक्ति की भावधारा को बदलता है, व्यक्ति का कर्म विशुद्ध बनता है। उसका अंतःकरण निर्मल बन जाता है। उसके प्रत्येक कर्म में धर्म की झलक प्रतीत होने लगती है। सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक, वैयक्तिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं धर्म उन सब पर नियंत्रण करता है। एक धार्मिक व्यक्ति कभी अनैतिक, अप्रामाणिक, भ्रष्ट आचरण वाला, दूसरों का शोषण करने वाला, दूसरों को दुःख देने वाला, असत्य, मायावी, हिंसक, क्रूरकर्मा नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से धर्म की अनिवार्यता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। धर्म होगा तो मानव-मानव

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के मध्य न खाइ होगी, न घृणा और न ऊंच-नीच का भाव होगा।

धर्म का क्या लाभ है?

धर्म का मौलिक लाभ है—आत्मशांति। सभी संतों, ऋषियों, अर्हतों ने शांति के लिए अपना जीवन समर्पित किया था, शास्त्रों की संरचना भी शांति के लिए है। वह जिसमें है, उसे किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। धर्म का उद्देश्य बाह्य पदार्थों की पूर्ति करना नहीं है। वह तो स्वभाव को उजागर करता है। शांति स्वभाव है। चेतना का धर्म है। इसलिए कहा है—

**या देवी सर्वभूतेषु, शांतिरूपेण संस्थिता।**
**नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥**

जो समस्त प्राणियों के भीतर शांति के रूप में संस्थित है मैं उस परम शक्ति को नमन करता हूं। अन्य लाभ हो या न हो उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। बाह्य लाभ के न होने पर भी एक शांत व्यक्ति के हृदय में कोई अंतर् नहीं पड़ता।

धर्म का बाह्य लाभ भी प्रत्यक्ष है। एक धार्मिक व्यक्ति तनाव से दूर रहता है, तनाव जनित, कषायजनित व्याधियां उसे ग्रस्त नहीं करतीं। वह सतत संतुलित जीवन जीता है। सामान्य व्यक्ति 'लाभ' शब्द के द्वारा केवल वस्तुनिष्ठ लाभ को ही महत्त्व देता है। उसकी दृष्टि वहीं केन्द्रित होती है किन्तु यह धर्म का मौलिक ध्येय नहीं है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**आज्ञावादनामा सप्तमोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ८

# आमुख

बंधन आवरण है और मुक्ति निरावरण। ज्ञान का विकास, श्रद्धा का विकास और शक्ति का विकास आवृत दशा में नहीं होता। बंध और मोक्ष—दोनों एक-दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। मोक्ष में बंधन नहीं है और बंधन में मुक्ति नहीं है। बंध क्या है और मुक्ति क्या है? इसी जिज्ञासा का समाधान यहां प्रस्तुत है।

स्व-शासन मुक्ति है और पर-शासन बंधन। परतंत्रता को न चाहते हुए भी हम पर-शासन से नियंत्रित हैं। स्व-शासन को चाहते हुए भी उसे ला नहीं सकते। यही दिशा-भ्रम है। मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—यह पर-शासन है। पर-शासन का जुआ उतर जाता है तब स्व-शासन—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग का उदय होता है। यह मुक्ति का एक सुव्यवस्थित क्रम है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति बंध-मोक्ष के कारण हैं। जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति के पांच-पांच प्रकार हैं। प्रवृत्ति से बंध होता है और निवृत्ति से मोक्ष। प्रवृत्ति स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकार की होती है। योग स्थूल प्रवृत्ति है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—ये सूक्ष्म प्रवृत्तियां हैं। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का संग्राहक शब्द है—'आस्रव'।

इस अध्याय में आस्रव तथा बंध-मोक्ष की प्रक्रिया का विवेचन है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

## बंध-मोक्षवाद

मेघः प्राह

१. किं बंधः किं च मोक्षस्तौ, जायेते कथमात्मनाम्।
तदहं श्रोतुमिच्छामि, सर्वदर्शिन्! तवान्तिके॥

मेघ बोला—हे सर्वदर्शिन्! बंध किसे कहते हैं? मोक्ष किसे कहते हैं? आत्मा का बंधन कैसे होता है और मुक्ति कैसे होती है—यह मैं आपसे सुनना चाहता हूं।

भगवान् प्राह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२. स्वीकरणं पुद्गलानां, बन्धो जीवस्य भण्यते।
अस्वीकारः प्रक्षयो वा, तेषां मोक्षो भवेद् ध्रुवम्॥

भगवान् ने कहा—आत्मा के द्वारा पुद्गलों का जो ग्रहण होता है, वह बन्ध कहलाता है। जिस अवस्था में पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता और गृहीत पुद्गलों का क्षय हो जाता है, उस स्थिति का नाम मोक्ष है।

३. प्रवृत्त्या बद्ध्यते जीवो, निवृत्त्या च विमुच्यते।
प्रवृत्तिर्बन्धहेतुः स्यात्, निवृत्तिर्मोक्षकारणम्॥

प्रवृत्ति के द्वारा जीव कर्मों से आबद्ध होता है और निवृत्ति के द्वारा वह कर्मों से मुक्त होता है। प्रवृत्ति बंध का हेतु है और निवृत्ति मोक्ष का।

४. प्रवृत्तिरास्रवः प्रोक्तो, निवृत्तिः संवरस्तथा।
प्रवृत्तिः पञ्चधा ज्ञेया, निवृत्तिश्चापि पञ्चधा॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**प्रवृत्ति आस्रव है और निवृत्ति संवर। प्रवृत्ति के पांच प्रकार हैं और निवृत्ति के भी पांच प्रकार हैं।**

महावीर दुःख और दुःख मुक्ति का छोटा सा सूत्र बता रहे हैं। वे कहते हैं–'कामना दुःख है। कामना के पार चले जाओ, दुःख से छूट जाओगे–**'कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं।'** प्रवृत्ति का जन्म इच्छा–राग-द्वेष से होता है। यही बंधन है। जब उन पुद्गलों की अवस्थिति संपन्न होती है तब वे सुख-दुःख के रूप में प्रकट होते हैं। और फिर मनुष्य तदनुरूप प्रवृत्ति में संलग्न हो जाते हैं। इस भवचक्र का उन्मूलन होता है अप्रवृत्ति–निवृत्ति से। जिसे दुःख-मुक्ति प्रिय है उसे निवृत्ति का प्रयोग भी सीखना चाहिए।

प्रवृत्ति के पांच प्रकार हैं और निवृत्ति के भी पांच प्रकार हैं। प्रवृत्ति बांधती है और निवृत्तिमुक्त करती है। प्रवृत्ति मनुष्य की चिरसंगिनी है। उससे छूटना सहज नहीं है, किन्तु बिना छूटे बंधन-मुक्ति भी संभव नहीं है। साधना का लक्ष्य ही है–दुःख से मुक्त होना, निर्वाण को प्राप्त करना। उसमें बाधक हैं–ये पांच प्रवृत्तियां। ये पांचों ही तमोमयी हैं। इनसे जकड़ा हुआ व्यक्ति सत्य का दर्शन नहीं कर सकता। वह अनवरत बेहोशी का जीवन जीता है। जिसे कभी यह बोध भी नहीं होता कि मेरा जन्म क्यों है? मैं कौन हूं? एक विचारक ने कहा है–'यदि विश्वविद्यालय लड़कों को मनुष्य नहीं बना सकते तो उनके अस्तित्व का कोई लाभ नहीं है। लड़के-लड़कियों को पहले यह मालूम होना चाहिए कि वे क्या हैं? और किस उद्देश्य के लिए उनको जीना है?

प्रवृत्तियों के विश्लेषण में उतरने से पहले एक बात और समझ लेनी चाहिए कि प्रवृत्ति मात्र बाधक नहीं है। निवृत्ति के पथ पर व्यक्ति जब आरूढ़ होता है तब उससे पहले भी प्रवृत्ति चलती है, किन्तु वह बाधक नहीं बनती क्योंकि उस प्रवृत्ति की दिशा भटकाव वाली नहीं है। वह निवृत्ति के अभिमुख है। उसकी अंतिम परिणति निवृत्ति है। जिस प्रवृत्ति का प्रवाह निवृत्ति के अभिमुख नहीं होता वह प्रवृत्ति मनुष्य को स्वयं से निरंतर दूर ले जाती है। स्वयं से दूर होना ही संसार है।

**५. मिथ्यात्वमविरतिश्च, प्रमादश्च सकषायकः।**
**सूक्ष्मात्माऽध्यवसायस्य, स्पन्दरूपाः प्रवृत्तयः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय–ये चार सूक्ष्म–अव्यक्त प्रवृत्तियां हैं। इनमें आत्मा के अध्यवसायों का सूक्ष्म स्पंदन होता है।**

**६. योगः स्थूला स्थूलबुद्धिगम्या प्रवृत्तिरिष्यते।**
**स्वतंत्रो व्यक्तिहेतुश्च, ह्यव्यक्तानां चतसृणाम्॥**

**योग स्थूल–व्यक्त प्रवृत्ति है। वह स्थूल बुद्धि से जानी जा सकती है। वह स्वतंत्र भी है और पूर्वोक्त चारों अव्यक्त सूक्ष्म प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का हेतु भी है।**

**७. मिथ्यात्वमविरतिर्वा, प्रमादः सकषायकः।**
**व्यक्तरूपो भवेद् योगो, मानसो वाचिकाऽङ्गिकौ॥**

**मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय–इन चार आस्रवों को अभिव्यक्त करने वाला योग भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय कहलाता है, जैसे–योगरूप मिथ्यात्व, योगरूप अविरति, योगरूप प्रमाद और योगरूप कषाय। वह अभिव्यक्ति मानसिक, वाचिक और कायिक–तीनों प्रकार की होती है।**

मिथ्यात्व–विपरीत श्रद्धा, तत्व के प्रति अरुचि।

अविरति–पौद्गलिक सुखों के प्रति अव्यक्त लालसा।

प्रमाद–धर्माचरण के प्रति अनुत्साह।

कषाय–आत्मा की आंतरिक उत्तप्ति।

योग–मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।

प्रवृत्ति के पांच प्रकार–

प्रवृत्ति का पहला प्रकार है–मिथ्यात्व। यह सबसे खतरनाक है। इसमें व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। 'स्व' और 'पर' का भेद नहीं होता। बुद्ध की भाषा में यह 'अविद्या' आस्रव है। पतंजलि इसे अविद्या कहते हैं। अविद्या या मिथ्यात्व का उन्मूलन करना ही साधना का लक्ष्य है। धर्म की दिशा में यह प्रथम पदन्यास है। मिथ्यात्व की विद्यमानता में न तो तत्वों के प्रति श्रद्धा जागृत होती है और न सत्य के प्रति आकर्षण।

प्रवृत्ति का दूसरा प्रकार है–विरति। व्यक्ति का दर्शन सम्यग् नहीं होता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है तब पदार्थों के प्रति आकर्षण न होने की बात कैसे फलित हो सकती है? ऊपर-ऊपर विरति पल सकती है किंतु पदार्थों का मोह नहीं छूटता। एक पदार्थ या व्यक्ति से मोह छूटता है तो दूसरे के प्रति अधिक मोह जागृत हो जाता है। अविरति आंतरिक लालसा है। सत्य की शोध में बाहर से विकर्षण भी अपेक्षित है। किन्तु इसके साथ-साथ आंतरिक आकर्षण का क्रम चलना नितांत स्पृहणीय है। अन्यथा वह विराग जीवन्त नहीं हो सकता।

प्रवृत्ति का तीसरा प्रकार है—प्रमाद। यह व्यक्ति को जागृत नहीं होने देता। स्व-विस्मृति में इसका बहुत बड़ा हाथ होता है। इसके बहुविध आवरण हैं। शराब, नींद, विकथा (जो बातें स्वयं से दूर ले जाती है), इन्द्रिय-विषय और कषाय—प्रमाद को पुष्ट करने में ये पांच महत्वपूर्ण सहयोगी हैं। इन अवस्थाओं में जीने का अर्थ है—स्वयं के प्रति अनुत्साह। सामान्यतया मनुष्य इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता है। ये वृत्तियां आदमी को भीतर झांकने नहीं देती।

प्रवृत्ति का चौथा प्रकार है—कषाय। कषाय प्रमाद के अंतर्गत होने पर भी प्रवृत्ति में उसका स्वतंत्र उल्लेख है। वह इसलिए कि आत्मा की क्रमिक अवस्थाओं में प्रमाद के छूट जाने पर भी वह आगे तक विद्यमान रहता है। उसके सूक्ष्मांशों के प्रति सचेत हुए बिना साधक को पुनः नीचे लौटना पड़ता है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये कषाय के मुख्य अंग हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि में ये बाधक हैं।

प्रवृत्ति का पांचवां प्रकार है—योग। योग का अर्थ है—मन, वाणी और काया की चंचलता। मनुष्य का बाहरी रूप जो दिखाई देता है, वह सिर्फ बाहरी नहीं है, भीतर का प्रतिबिंब है। भीतर घटना घटती है और बाहर उसका विस्तार हो जाता है। मिथ्यात्व आदि आंतरिक और सूक्ष्म वृत्तियां हैं। सागर में बुदबुदे की भांति ये भीतरी मन में उठती हैं और बाहर आकर छूट जाती हैं। मन सूक्ष्म योग है, वाणी स्थूल और काया स्थूलतम। वाणी और शरीर कार्य हैं, मन कारण है। और भी गहराई से देखा जाए तो मन भी कार्य है क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं है। उसमें भी जो स्पंदन होता है, उसका स्रोत अन्यत्र है। समस्त प्रवृत्तियों का मूल कारण है—कार्मण शरीर—सूक्ष्म शरीर। मिथ्यात्व आदि प्रवृत्तियों का स्रोत है वह। कर्म से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से क्रिया, क्रिया से फिर कर्म-योग्य पुद्गलों का ग्रहण। इस दुश्चक्र से मुक्त होने के लिए निवृत्ति का दर्शन है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

८. अतत्त्वे तत्त्वसंज्ञानं, अमोक्षे मोक्षधीस्तथा।
अधर्मे धर्मसंज्ञानं, मिथ्यात्वं द्विविधञ्च तत्॥

**अतत्त्व में तत्त्व का संज्ञान करना, अमोक्ष में मोक्ष की बुद्धि करना और अधर्म में धर्म का संज्ञान करना मिथ्यात्व कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं—आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक।**

९. आभिग्रहिकमाख्यातं, असत्तत्त्वे दुराग्रहः।
अनाभिग्रहिकं वत्स! अज्ञानाज्जायतेऽङ्गिनाम्॥

**वत्स! अयथार्थ तत्त्व में यथार्थता का मिथ्या आग्रह होना आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है और जो यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं होता, वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। आभिग्रहिक आग्रहपूर्वक होता है और अनाभिग्रहिक अज्ञानवश होता है।**

एक चक्षुष्मान् वह होता है, जो रूप और संस्थान को ज्ञेयदृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान् वह होता है, जो वस्तु की ज्ञेय, हेय और उपादेय दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहिर्दर्शन और तीसरा अंतर्-दर्शन। स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से संबंधित है। अगले दोनों का आधार मुख्य रूप से वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अंतर्-दर्शन जब मोह के पुद्गलों से ढंका होता है तब वह मिथ्यादर्शन कहलाता है। जब मोह का आवरण टूट जाता हैं तब सम्यक्त्व का लाभ होता है।

मिथ्यात्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का विपर्यय है। विपरीत तत्त्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं :

१. अधर्म में धर्म संज्ञा।
२. धर्म में अधर्म संज्ञा।
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा।
४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा।
५. अजीव में जीव संज्ञा।
६. जीव में अजीव संज्ञा।
७. असाधु में साधु संज्ञा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

९. अमुक्त में अमुक्त संज्ञा।

१०. मुक्त में मुक्त संज्ञा।

यह साधक, साधना और साध्य का विवेक है। जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। इस दृष्टि से जीव-अजीव का संज्ञान साध्य के आधार का विवेक है। साधु-असाधु का संज्ञान साधक की दशा का विवेक है। धर्म-अधर्म, मार्ग-अमार्ग का संज्ञान साधना का विवेक है। मुक्त-अमुक्त का संज्ञान साध्य-असाध्य का विवेक है।

सिद्धांत की भाषा में जब तक दर्शनमोह के तीन प्रकार—सम्यक्त्व-मोह, मिथ्यात्वमोह और सम्यक्-मिथ्यात्व-मोह और चारित्र-मोह के प्रथम चतुष्क—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय रहता है तब तक मिथ्यात्व का अस्तित्व रहता है और जब इन सात कर्म-प्रकृत्तियों का क्षय-क्षयोपशम होता है, तब सम्यक्त्व (क्षायिक या क्षायोपशमिक) की प्राप्ति होती है।

मिथ्यात्वी विपरीत मान्यता से दीर्घसंसारी हो जाता है। उसे प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती। वह जड़-जगत् को अपना आकर्षण केन्द्र बना लेता है। मिथ्यात्व की तुलना गीता (१८/३२) के तमोगुण से होती है। वहां कहा गया है कि वह बुद्धि तामसी है जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सभी बातों को विपरीत समझती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

८. साधु में असाधु संज्ञा।
९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा।
१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

इसी प्रकार सम्यक्-तत्त्व-श्रद्धा के भी दस रूप बनते हैं :

१. अधर्म में अधर्म संज्ञा।
२. धर्म में धर्म संज्ञा।
३. अमार्ग में अमार्ग संज्ञा।
४. मार्ग में मार्ग संज्ञा।
५. अजीव में अजीव संज्ञा।
६. जीव में जीव संज्ञा।
७. असाधु में असाधु संज्ञा।
८. साधु में साधु संज्ञा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बुद्ध की भाषा में वह दृष्टास्रव है जो यथार्थ में अयथार्थ का दर्शन करता है और अयथार्थ में यथार्थ का।

**१०. आसक्तिश्च पदार्थेषु, व्यक्ताऽव्यक्ताऽव्रतात्मिका।**
**अनुत्साहः स्वात्मरूपे, प्रमादः कथितो मया॥**

**पदार्थों में जो व्यक्त और अव्यक्त आसक्ति होती है, वह 'अविरति' कहलाती है। अपने आत्म-विकास के प्रति जो अनुत्साह होता है, उसको मैंने 'प्रमाद' कहा है।**

अविरति का क्षेत्र जैसे व्यापक है वैसे प्रमाद का भी व्यापक है। आत्म-स्वभाव को अपुष्ट करने वाली क्रिया का समावेश इसी में है। जब तक आत्मा की विस्मृति होती है और पर-पदार्थों की स्मृति होती है तब तक प्रमाद का हाथ बलवान् होता है।

संक्षेप में आत्म-विस्मृति प्रमाद है और आत्म-स्मृति अप्रमाद। जिस व्यक्ति को प्रत्येक क्रिया में अपनी आत्मा की स्मृति बनी रहती है, वह अप्रमाद की ओर बढ़ता जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा है--**'सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स णत्थि भयं'**--जो प्रमत्त है उसे सर्वत्र भय ही भय है और जो अप्रमत्त है, वह भय-मुक्त है। भय का मूल कारण प्रमाद है।

अन्यत्र एक स्थान में भगवान् महावीर ने प्रमाद को दुःख का मूल माना है। एक बार श्रमणों को एकत्रित कर उन्होंने पूछा--आर्यो! जीव किससे डरते हैं?

गौतम आदि श्रमण निकट आए, वंदना की, नमस्कार किया, विनम्र भाव से बोले--भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है। देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहें। हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् बोले--आर्यो! जीव दुःख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा--भगवन्, दुःख का कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्--गौतम! दुःख का कर्ता है जीव और उसका कारण है प्रमाद।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गौतम! भगवन्! दुःख का अंत-कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का अंत-कर्ता है जीव और उसका कारण है अप्रमाद।

११. आत्मोत्तापकरा वृत्तिः, कषायः परिकीर्तितः।
कायवाङ्मसां कर्म, योगो भवति देहिनाम्॥

**जो वृत्ति आत्मा को उत्तप्त करती है, उसे 'कषाय' कहा जाता है। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को 'योग' कहा जाता है।**

कषाय का अर्थ है—आत्मा की उत्तप्ति। वे चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनके अवान्तर भेद सोलह होते हैं।

१. अनंतानुबंधी (तीव्रतम)—क्रोध, मान, माया और लोभ।

२. अप्रत्याख्यानी (तीव्रतर)—क्रोध, मान, माया और लोभ।

३. प्रत्याख्यानी (तीव्र)—क्रोध, मान, माया और लोभ।

४. संज्वलन (सत्तामात्र)—क्रोध, मान, माया और लोभ।

इनका विलय नौवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है और सम्पूर्ण विलय दसवें गुणस्थान में होता है। अनंतानुबंधी कषाय का प्रभुत्व दर्शन मोह के परमाणुओं से जुड़ा होता है। इनके उदयकाल में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। अप्रत्याख्यान कषाय के उदयकाल में व्रत का प्रवेश नहीं होता। इसके अधिकारी सम्यक्दृष्टि हो सकते हैं, पर व्रती नहीं होते। प्रत्याख्यान कषाय के उदयकाल में चारित्र-विकारक पुद्गलों का पूर्ण निरोध नहीं होता। इसका अधिकारी महाव्रती नहीं बन सकता। संज्वलन कषाय का उदय वीतराग-चारित्र का बाधक है।

१२. योगः शुभोऽशुभो वापि, चतस्रो ह्यशुभा ध्रुवम्।
निवृत्तिवलिता वृत्तिः, शुभो योगस्तपोमयः॥

**योग शुभ और अशुभ—दो प्रकार का होता है और शेष चार सूक्ष्म प्रवृत्तियां अशुभ ही होती हैं। निवृत्ति-युक्त वर्तन शुभ योग कहलाता है और वह तप-रूप होता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा शरीर से मुक्त नहीं है इसलिए वह प्रवृत्ति करती है। स्वतंत्र आत्मा में शरीरजन्य प्रवृत्ति नहीं होती। जहां प्रवृत्ति है वहां बंध है। प्रवृत्ति के शुभ और अशुभ दो रूप हैं। दोनों ही प्रवृत्तियों से आत्मा पुद्गलों को ग्रहण करती है और अपने साथ एकीभूत करती है। वे पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। मोक्ष है पुद्गलों का सर्वथा क्षय। वह निवृत्त अवस्था है।

आत्मा के सूक्ष्म स्पन्दन का अनुमान करना कठिन है। बाहरी चेष्टाओं से उसकी प्रतिक्रिया जानी जा सकती है। अंतर्मन की क्रिया आकार, प्रकार, संकेत, गति, चेष्टा, भाषण आदि से जानी जा सकती है तो सूक्ष्म अध्ययन से अवचेतन मन का परिज्ञान क्यों नहीं हो सकता? समस्त प्रवृत्ति के हेतु हैं–शरीर, वाणी और मन। इनकी प्रवृत्ति को योग कहा जाता हैं। योग स्थूल है, स्पष्ट है और सूक्ष्म प्रवृत्तियों का परिचायक भी है। आत्मा अमूर्त है अतः इन स्थूल प्रवृत्तियों से परिज्ञात नहीं हो सकती।

**१३. अविरतिर्दुष्प्रवृत्तिः, सुप्रवृत्तिस्त्रिधास्रवः।**
**यथाक्रमं निवृत्तिश्च, कर्माऽकर्मविभागतः॥**

**अविरति, दुष्प्रवृत्ति, सुप्रवृत्ति, निवृत्ति–इनका कर्म और अकर्म के आधार पर इस प्रकार विभाग होता है– प्रथम तीन कर्म हैं इसलिए उनसे कर्म का आस्रवण होता है। निवृत्ति अकर्म है इसलिए निरोधात्मक है, संवर है।**

**१४. अशुभैः पुद्गलैर्जीवं, बध्नीतः प्रथमे उभे।**
**तृतीयं खलु बध्नाति, शुभैरेभिश्च संसृतिः॥**

**अविरति और दुष्प्रवृत्ति अशुभ पुद्गलों से और सुप्रवृत्ति शुभ पुद्गलों से जीव को आबद्ध करती है। शुभ और अशुभ पुद्गलों का बंधन ही संसार है।**

**१५. अशुभांश्च शुभांश्चापि, पुद्गलांस्तत्फलानि च।**
**विजहाति स्थितात्माऽसौ, मोक्षं यात्यपुनर्भवम्॥**

**जो स्थितात्मा शुभ-अशुभ पुद्गल और उनके द्वारा प्राप्त होने वाले फल का त्याग करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है। फिर वह कभी जन्म ग्रहण नहीं करता।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रवृत्ति चंचलता है और निवृत्ति स्थिरता। निवृत्ति-दशा में आत्मा अपने स्वरूप में ठहर जाती है। वहां शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं का सर्वथा निरोध हो जाता है। उस स्थिति में पुद्गलों का प्रवेश और उनका फल छूट जाता है। आत्मा मुक्त हो जाती है। मुक्त आत्माओं का जन्म-मरण नहीं होता।

**१६. अशुभानां पुद्गलानां, प्रवृत्त्या शुभया क्षयः।**
**असंयोगः शुभानाञ्च, निवृत्त्या जायते ध्रुवम्॥**

**शुभ प्रवृत्ति से पूर्व अर्जित—बद्ध अशुभ पुद्गलों—पाप-कर्मों का क्षय होता है। निवृत्ति से शुभ-अशुभ—दोनों प्रकार के कर्म-पुद्गलों का संयोग भी रुक जाता है।**

**१७. निवृत्तिः पूर्णतामेति, शैलेशीञ्च दशां श्रितः।**
**अप्रकम्पस्तदा योगी, मुक्तो भवति पुद्गलैः॥**

**जब निवृत्ति पूर्णता को प्राप्त होती है तब योगी शैलेशी दशा को प्राप्त होकर अप्रकंप बनता है और पुद्गलों से मुक्त हो जाता है।**

पूर्ण-निवृत्त स्थिति में पुद्गलों का ग्रहण सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। पूर्वबद्ध कर्मों के निर्जरण से आत्मा अपने मौलिक स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। अब उसके पास संसार में रहने का कोई कारण नहीं है। इसलिए वह निर्वाण को प्राप्त हो जाती है। जो प्राणी प्रवृत्ति में संलग्न होते हैं उनके लिए शुभाशुभ प्रवृत्तियों का क्रम अविच्छिन्न चलता रहता है। दोनों के मूलोच्छेद के बिना आवागमन का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता।

कर्म के क्षीण होने की प्रक्रिया है—सबसे पहले अविरति और दुष्प्रवृत्ति से व्यक्ति मुक्त बने। बुद्ध की साधना-पद्धति में शील को प्रथम स्थान दिया है। योग में यम और नियम की प्रमुखता है। महावीर महाव्रत और अणुव्रत की बात कहते हैं। सबका सार-सूत्र इतना ही है कि इनके द्वारा असत् प्रवृत्ति के प्रवाह को सबसे पहले अवरुद्ध किया जाए। अशुभ से क्रिया का मुंह मोड़कर उसे शुभ कर्म-प्रवृत्ति से जोड़ा जाए। शुभ प्रवृत्ति का कार्य होगा—शुभ पुद्गलों का अर्जन और बद्ध अशुभ कर्मों का निर्जरण। जैसे कुछ औषधियां स्वास्थ्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लाभ करती हैं और बल-संवर्द्धन भी। ठीक इसी तरह शुभ प्रवृत्ति का कार्य है। शुभ प्रवृत्ति जब फलाकांक्षा और वासना से शून्य होती है तब क्रमशः उससे निवृत्ति का पथ प्रशस्त होता है। अंततोगत्वा पूर्ण निवृत्ति की स्थिति साधक के जीवन में घटित होती है।

**१८. सम्यक्त्वं विरतिस्तद्वद्, अप्रमादोऽकषायकः।**
**अयोगः पंचरूपेयं, निवृत्तिः कथिता मया॥**

**सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—मैंने इस पांच प्रकार की निवृत्ति का निरूपण किया है।**

**१९. तत्त्वे मोक्षे च धर्मे च, यथार्थः प्रत्ययः स्फुटम्।**
**सम्यक्त्वं तच्च जायेत, निसर्गादुपदेशतः॥**

**तत्त्व—जीव, अजीव आदि पदार्थ, मोक्ष—जीव की परमात्म अवस्था, धर्म—मोक्ष साधन विषयक जो यथार्थ प्रतीति/यथार्थ श्रद्धा है। वह सम्यक्त्व कहलाती है। उसकी प्राप्ति निसर्ग और अधिगम—दोनों प्रकार से होती है।**

सम्यग् दर्शन का सिद्धांत समुदायपरक नहीं, आत्मपरक है। आत्मा अमुक मर्यादा तक मोह के परमाणुओं से वियुक्त हो जाती है, तीव्र कषाय-रहित हो जाती है, तब उसमें आत्मदर्शन की प्रवृत्ति का भाव जागृत होता है। यथार्थ में आत्म-दर्शन ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन का व्यावहारिक रूप तत्त्व श्रद्धान है।

साधक में कषाय की मंदता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अक्रिया से क्रिया की ओर तथा मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्षी हो जाता है।

उसका संकल्प-सूत्र होता है :

मैं अरिहंत की शरण लेता हूं।

मैं सिद्ध की शरण लेता हूं।

मैं साधु की शरण लेता हूं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मैं केवलिभाषित धर्म की शरण लेता हूं।

सम्यग् दर्शन के आचार (पोषण देने वाली प्रवृत्तियां) आठ हैं :

१. निःशंकित–सत्य में निश्चित विश्वास।

२. निःकांक्षित–मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।

३. निर्विचिकित्सा–सत्याचरण के फल में विश्वास।

४. अमूढ़दृष्टि–असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण, अव्यामोह।

५. उपवृंहण–आत्म-गुण की वृद्धि।

६. स्थिरीकरण–जो सत्य से डगमगा जाएं, उन्हें फिर से सत्य में स्थापित करना।

७. वात्सल्य–सत्य-धर्मों के प्रति सम्मान-भावना, सत्याचरण का सहयोग।

८. प्रभावना–प्रभावक ढंग से सत्य के माहात्म्य का प्रकाशन।

सम्यक्त्व के पांच लक्षण :

१. शम–कषाय उपशमन।

२. संवेग–मोक्ष की अभिलाषा।

३. निर्वेद–संसार से विरक्ति।

४. अनुकम्पा–प्राणीमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूत मैत्री, आत्मौपम्य-भाव।

५. आस्तिक्य–आत्मा में निष्ठा।

सम्यग्दर्शन का फल :

गौतम स्वामी ने पूछा–'भगवन्! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?' भगवान ने कहा–'गौतम! दर्शन-सम्पन्नता से विपरीत दर्शन का अंत होता है। दर्शन सम्पन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञानधारा से आत्मा को भावित किए रहता है।

यह आध्यात्मिक है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-बंध नहीं करता।

सम्यक्त्व मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी है। इसमें आत्मा और सत्य के प्रति आकर्षण होता है। अयथार्थता यहां नहीं रहती। यह सम्यक् को सम्यक् और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

असम्यक् को असम्यक् देखता है। असम्यक् से यह लगाव नहीं रखता। गीता की सात्त्विक बुद्धि सम्यक्त्व का ही रूप है। जो बुद्धि प्रवृत्ति (कर्म) और निवृत्ति (अकर्म), कर्तव्य और अकर्तव्य, किससे डरना और किससे नहीं डरना; बंध और मोक्ष इनको समझती है वह सात्त्विक बुद्धि है।

**२०. अनासक्तिः पदार्थेषु, विरतिर्गदिता मया।**
**जागरूका भवेद् वृत्तिः, अप्रमादस्तथात्मनि॥**

**पदार्थों में जो अनासक्ति होती है, उसे मैंने 'विरति' कहा है। आत्मोपलब्धि के प्रति जो जागरूक वृत्ति होती है, उसे मैं 'अप्रमाद' कहता हूं।**

**२१. अशुभस्यापि योगस्य, त्यागो विरतिरिष्यते।**
**देशतः सर्वतश्चापि, यथाबलमुरीकृता॥**

**अशुभ योग का त्याग करना भी विरति कहलाता है। वह विरति यथाशक्ति–अंशतः या पूर्णतः स्वीकार की जाती है।**

वैराग्य से व्यक्ति अनासक्त होता है। अनासक्त व्यक्ति का पदार्थों से आकर्षण सहज ही छूट जाता है। वह केवल तत्कालिक आसक्ति ही नहीं छोड़ता किन्तु उसके अंकुर को जला डालता है। त्याग उसका उपाय है। त्यागी व्यक्ति का मन निःस्पृह बन जाता है। वह भविष्य में भी आसक्ति का संकल्प नहीं करता। त्याग के बिना अविरति का मार्ग बन्द नहीं होता। पदार्थों के उपभोग व अनुपभोग का प्रश्न मुख्य नहीं है, मुख्य बात है अविरति की। अविरति उपभोग के बिना भी जीवित रहती है। त्याग उसे जीवित नहीं रहने देता।

मुनि अविरति का सर्वथा त्याग कर देते हैं। उन्हें जो मिले उसी में संतुष्ट रह जाते हैं। लेकिन सभी व्यक्ति मुनि नहीं होते। उनके लिए यथाशक्य अविरति के परिहार का विधान है। वे क्रमशः विरति की ओर बढ़ें और अविरति को कम करें।

**२२. क्रोधो मानं तथा माया, लोभश्चेति कषायकः।**
**एषां निरोध आख्यातोऽकषायः शान्तिसाधनम्॥**

**क्रोध, मान, माया और लोभ–इन्हें कषाय कहा जाता है। इनके निरोध को मैंने 'अकषाय' कहा है। वह शांति का साधन है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२३. सर्वासाञ्च प्रवृत्तीनां, निरोधोऽयोग इष्यते।
अयोगत्वं समापन्ना, विमुक्तिं यान्ति योगिनः॥

सब प्रकार की प्रवृत्तियों के निरोध को 'अयोग' कहता हूं। अयोग अवस्था को प्राप्त योगी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

२४. पूर्वं भवति सम्यक्त्वं, विरतिर्जायते ततः।
अप्रमादोऽकषायश्चाऽयोगो मुक्तिस्ततो ध्रुवम्॥

पहले सम्यक्त्व होता है, फिर विरति होती है। उसके पश्चात् क्रमशः अप्रमाद, अकषाय और अयोग होता है। अयोगावस्था प्राप्त होते ही आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

२५. आध्यात्मिकविकासस्य, कोटिद्वयमुदाहृतम्।
सम्यक्व्रतमप्रमादः, प्रथमा कोटिरिष्यते॥

२६. ततश्चौपशमिकी श्रेणिर्वा क्षायिकी भवेत्।
उपशान्तः कषायः स्याद्, क्षीणो वा कोटिरग्रिमा॥
(युग्मम्)

आध्यात्मिक विकास की दो कोटियां बतलाई गई हैं। पहली कोटि में तीन तत्त्व हैं—सम्यक्त्व, व्रत और अप्रमाद।

सम्यक्त्व को उपलब्ध होनेवाला चौथे गुणस्थान का अधिकारी हो जाता है। व्रत को उपलब्ध होनेवाला पांचवें अथवा छठे गुणस्थान का अधिकारी हो जाता है। अप्रमाद दशा को उपलब्ध होने वाला सातवें गुणस्थान का अधिकारी हो जाता है।

सातवें गुणस्थान से आगे दो श्रेणियां हैं—विकास के दो मार्ग हैं। एक है औपशमिक श्रेणी और दूसरी है क्षपक श्रेणी। जो कषायों का उपशमन करते हुए आगे बढ़ता है, उसकी श्रेणी औपशमिक होती है। जो कषायों को क्षीण करता हुआ आगे बढ़ता है, उसकी श्रेणी क्षायिक होती है।

विकास के दो रूप हैं—आत्मिक व भौतिक। भौतिक विकास के विविध क्षेत्र है—शारीरिक, आर्थिक, शैक्षणिक, शासनात्मक आदि। आत्मिक विकास

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

क्रमशः विकास के चरणों का स्पर्श करते हुए चरम विकास पूर्णता तक पहुंचना है। वहां पहुंचने के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। आत्मा अपने मौलिक स्वरूप में अवस्थित होकर सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। फिर उसका आवागमन–संसार परिभ्रमण शांत हो जाता है।

भौतिक विकास की कोई मर्यादा नहीं है, न पूर्णता है और न शांति है। वह सदा अतृप्त रहता है। इसलिए इस सचाई की अनुभूति के बाद आत्मा में एक सहज छटपटाहट होती है, अपने स्वरूप-दर्शन की। अनेक व्यक्ति संसार का सम्यक् निरीक्षण करने के बाद उससे मुक्त होने के लिए एक नये पथ का चुनाव कर उस पर चल पड़ते हैं। अतीत में भी अनेक साधकों ने सत्य का अनुभव किया है, विकास के चरम शिखर को छुआ है, वर्तमान में भी उस पर आरूढ़ होकर चल रहे हैं और भविष्य में भी चलते रहेंगे।

भगवान् महावीर ने मेघकुमार के सामने आध्यात्मिक विकास की दो कोटियों का निरूपण किया है। पहली कोटि में मिथ्यात्व अविरत और प्रमाद से मुक्ति है। जब तक कोई व्यक्ति मिथ्यात्व–मिथ्या धारणा से मुक्त नहीं होता तब तक वह संसार के कीचड़ से बाहर नहीं निकल सकता। यह मिथ्यात्व का संस्कार अनंत जन्मों से अर्जित है–अनित्य में नित्यत्व की बुद्धि, अशुचि में शुचित्व का बोध तथा अनात्मा में आत्मा का भाव। इस चक्र से बाहर निकलना कठिन ही नहीं अपितु कठिनतम है। अनंत आत्माओं का इसी में आदि और अंत होता रहता है। संत से शिष्य ने पूछा–मैं परमात्मा होना चाहता हूं, क्या मैं हो सकता हूं? गुरु ने कहा–'मैं को छोड़ दो तो हो सकते हो, दूसरे-तीसरे एवं सभी ने यही प्रश्न किया और सबको यही उत्तर दिया। तब किसी ने पूछा–आप हो सकते हैं, गुरु ने कहा–मैं भी हो सकता हूं–'मैं' को छोड़कर। आखिर में गुरु ने कहा–'मैं' का अर्थ तुम समझे नहीं। 'मैं का अर्थ है–मोह, अहंकार, मैं और मेरापन। बस, यही मिथ्यात्व है।

इससे मुक्त होकर ही साधक व्रत–विरति की ओर अग्रसर होता है। विरति का अर्थ है–बाह्य विषयों से विरक्त होना। जिसका सीधा अर्थ है–वैराग्य यानी पदार्थों के अति जो अनुरक्ति है, उससे दूर होना। पदार्थों का आकर्षण, सुख-सुविधा का आकर्षण आत्मा के प्रति, परम तत्त्व के प्रति आकृष्ट नहीं होने देता। दोनों एक दूसरे के विरोधी है। विरत अवस्था में पदार्थों–विषयों में आसक्ति छूट जाती है। आत्मा की दिशा में बढ़ने का मार्ग खुल जाता है। लेकिन वह मार्ग पूर्ण नहीं खुलता। मन कभी पदार्थों की ओर तथा कभी आत्मा की ओर चलता रहता है। इसके लिए साधक को बड़ा कठोर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साहसिक कदम उठाना होता है। अपने मन पर उसे प्रहरी बनकर खड़ा रहना होता है, प्रतिपल जागृत होकर आगे बढ़ने का प्रयास जारी रखना होता है। इस अस्थिरता का कारण होता है–प्रमाद। प्रमाद का आध्यात्मिक भाषा में अर्थ है–आत्मा के प्रति अनुत्साह, विषयों के प्रति उत्साह। प्रमाद की मुक्ति के लिए अप्रमाद का अवलंबन अपेक्षित है।

अनन्य के प्रति आकर्षण इतना सघन होना शुरु हो जाता है, तब उसे अन्य किसी बात का ख्याल नहीं रहता। वह सतत उसी में डूबा रहने लगता हैं। यह धारा जब विकास की अग्रिम अवस्था को छूने लगती है तब वह दो भागों–दो श्रेणियों में विभक्त हो जाती है। विकास की दृष्टि से अप्रमाद का स्थान सातवां है। सातवें से दो पथ बनते हैं–एक उपशम श्रेणि का और दूसरा क्षायक श्रेणि का। उपशमन श्रेणि से जाने वाले ग्यारहवें में आकर रुक जाते हैं और कुछ काल के अनन्तर वे वहां से च्युत होकर पुनः नीचे चले आते हैं। जो साधक क्षायक श्रेणि के पथ से प्रयाण करते हैं वे सीधे दसवें से बारहवें में आरूढ़ हो जाते हैं। इसके बाद तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सहजावस्था में अवस्थित हो जाते हैं। यह आत्मा के पूर्ण विकास की स्थिति है।

गुणस्थान चौदह हैं। गुणस्थान है–आत्मा के क्रमिक विकास का पथ। अविकास का कारण है–कर्म। गीता की दृष्टि में प्रकृति। प्रकृति की तीन अवस्थाएं हैं–सत्त्व, रज और तम। तीनों की अतीत अवस्था है गुणातीत। कारण शरीर मूल है। इसी के कारण-स्थूल शरीर का निर्माण होता है। गुणातीत अवस्था में कारण शरीर की भी समाप्ति हो जाती है। जैसे-जैसे साधक साधना की उच्च अवस्था में या ध्यान की गहराई में आगे से आगे आरूढ़ होता रहता है वैसे-वैसे उसका मोह क्षय होता चला जाता है और वह पूर्ण विशुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

मोह आत्मा को विकृत करता है। उसके राग और द्वेष–ये दो रूप हैं। इन दोनों के चार रूप बनते हैं–क्रोध, अहंकार, माया और लोभ। गुणस्थानों के आरोहण में क्रमशः ये शिथिल व नाम शेष होते चल जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में इनका संपूर्ण उपशमन होता है, नाश नहीं होता। बारहवें में संपूर्ण विलय–क्षय हो जाता है।

**२७. अमनोज्ञसमुत्पादः, दुःखंभवति देहिनाम्।**
**समुत्पादमजनाना, न हि जानन्ति संवरम्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**अमनोज्ञ स्थिति का समुत्पाद—उत्पत्ति दुःख है। जो इस समुत्पाद को नहीं जानते, वे संवर—दुःख-निरोध को भी नहीं जानते।**

**२८. रागो द्वेषश्च तद्धेतुः, वीतरागदशा सुखम्।**
**रत्नत्रयी च तद्धेतुः एष योगः समासतः॥**

**दुःख के हेतु हैं—राग और द्वेष। वीतराग दशा सुख है और उसका हेतु है—रत्नत्रयी—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। योग का यह मैंने संक्षिप्त निरूपण किया है।**

भगवान् महावीर ने कहा—जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। यह संसार ही दुःख है, जहां प्राणी क्लेशों को प्राप्त होते हैं। जरा, रोग, मृत्यु और अप्रिय वस्तुओं का संयोग दुःख है। व्यक्ति दुःखों के कारणों को जान लेने पर ही दुःख-मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। दुःख मुक्ति का उपाय है—संवर (निवृत्ति)। अकर्म के बिना दुःख का निरोध नहीं होता। दुःखोत्पन्न करने वाली मूल प्रवृत्तियां हैं—रागात्मक और द्वेषात्मक। इनका न होना सुख है। सुख की प्राप्ति के लिए रत्नत्रयी का आलंबन अपेक्षित है। सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र—यह रत्नत्रयी है। तीनों आत्मा के गुण हैं और आत्मा के निकटतम सहचारी हैं। आत्मा का निश्चय सम्यग्-दर्शन, आत्मा का बोध सम्यग्-ज्ञान और आत्म-स्थिरता सम्यग्-चारित्र है।

महात्मा बुद्ध के चार आर्य-सत्य हैं—दुःख, दुःख-समुदाय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध का उपाय। दुःख-समुदाय में भगवान् बुद्ध ने द्वादश निदान बताये हैं। द्वादश निदान का निरोध दुःख-निरोध है। भगवान् महावीर की दृष्टि में राग और द्वेष का निरोध ही दुःख का अवसान है। दुःख निरोध का उपाय भगवान् बुद्ध की दृष्टि में अष्टांगिक मार्ग है और भगवान् महावीर की दृष्टि में रत्नत्रयी है। बुद्ध कहते हैं—चार आर्य-सत्यों के ज्ञान से निर्वाण होता है। भगवान् महावीर कहते हैं—रत्नत्रयी के ज्ञान और अनुसरण से मुक्ति होती है।

**मेघः प्राह**

**२९. भद्रं भद्रं तीर्थनाथ!, तीर्थे नीतोऽस्म्यहं त्वया।**
**भावितात्मा स्थितात्मा च, त्वया जातोऽस्मि सम्प्रति॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मेघ बोला—हे तीर्थनाथ! अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ। आपके प्रसाद से मैं तीर्थ में आ गया हूं और आपके अनुग्रह से मैं अब भावितात्मा और स्थितात्मा हो गया हूं।**

मोह का निरसन मोह से नहीं होता। अज्ञान का अंधकार ज्ञान की ज्योति के सामने क्षीण हो जाता है। खून से सना वस्त्र खून से शुद्ध नहीं होता। ममत्व का आवरण निर्ममत्व से हटता है। बंध से बंध का क्षय नहीं होता। भगवान् महावीर से दुःख, दुःख-मुक्ति का उपाय, बंध, मोक्ष, अहिंसा आदि का विशद विवेचन सुन मेघ की निमीलित आंखें खुल गयीं। वह सचेतन हो गया। मोह का आवरण हटने लगा। ज्ञान के प्रकाश के सामने तम नष्ट हो गया। मेघ के लड़खड़ाते पैर पुनः स्थिर हो गए। उसने अपने हृदय की गांठ भगवान् के सामने खोल दी।

**३०. नष्टो मोहो गतं क्लैव्यं, शुद्धा बुद्धिः स्थिरं मनः।**
**पुनर्मौनं तवाभ्यर्णे, स्वीचिकीर्षामि साम्प्रतम्॥**

**अब मेरा मोह नष्ट हो गया है, क्लैव्य चला गया है, बुद्धि शुद्ध हो गयी है और मन स्थिर बन गया है। अब मैं पुनः आपके पास श्रामण्य स्वीकार करना चाहता हूं।**

**३१. प्रायश्चित्तञ्च वाञ्छामि, पूर्वमालिन्यशुद्धये।**
**चेतः समाधये भूयः, कामये धर्मदेशनाम्॥**

**पहले जो मेरे मन में कलुष भाव आया, उसकी शुद्धि के लिए मैं प्रायश्चित्त करना चाहता हूं और चित्त की समाधि के लिए आपसे पुनः धर्म-देशना सुनना चाहता हूं।**

**उपसंहार**

मेघकुमार का मन श्रामण्य के पहले ही दिन कुछेक तात्कालिक कारणों से अस्थिर हो गया। वह घर जाने के लिए तत्पर होकर भगवान् महावीर के पास आया और अपनी सारी भावना उनके सामने रखी। भगवान् महावीर ने उसके मानस को पढ़ा, उतार-चढ़ाव पर ध्यान दिया और उसे श्रामण्य में पुनः

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रतिबोध दिया।

भगवान् की वाणी सुन मेघकुमार का आत्म-चैतन्य जगमगा उठा। उसने दुःख, दुःख-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु—इन चारों को सम्यक् जान लिया और पुनः श्रामण्य में स्थिर हो गया।

अब उसकी आत्मा इतनी जागृत हो चुकी थी कि उसने अपने पूर्वकृत मनोमालिन्य की शुद्धि के लिए भगवान् से प्रायश्चित्त की याचना की। वह जान गया कि प्रायश्चित्त की आग में जले बिना सोना कंचन नहीं होता। उसने प्रायश्चित्त लिया और वह भगवान् के शासन में पुनः सम्मिलित हो गया।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**बंदमोक्षवादनामा अष्टमोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ९

# आमुख

ज्ञेय अनंत है और ज्ञान भी अनंत है। हर व्यक्ति में अनंत ज्ञान का विकास नहीं है। जिसका ज्ञान सीमित है, उसके लिए ज्ञेय भी सीमित हो जाता है। यह सीमा करने वाला है आवरण। आवरण की तरतमता का अर्थ है ज्ञान के विकास की तरतमता। जितना आवरण, उतना अज्ञान। जितना आवरण का विलय, उतना ज्ञान का विकास।

स्वरूप की दृष्टि से ज्ञान प्रमाण होता है। विषय-ग्रहण की दृष्टि से वह प्रमाण भी होता है, अप्रमाण भी होता है, सम्यग् भी होता है, मिथ्या भी होता है। सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन मनुष्य को विकास के शिखर तक ले जाते हैं। ज्ञान विकास का आदि-बिन्दु है। वह क्रिया के साथ जुड़कर व्यक्ति को शिखर तक पहुंचा देता है। प्रस्तुत अध्याय में ज्ञान और अज्ञान की विविध अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# मिथ्या-सम्यग्-ज्ञान-मीमांसा

**मेघः प्राह**

**१. ज्ञानं प्रकाशकं तत्र, मिथ्यासम्यक्त्वकल्पना।**
**क्रियते कोऽत्र हेतुः स्याद्, बोद्धुमिच्छामि संप्रति॥**

**मेघ बोला—ज्ञान प्रकाश करने वाला है। फिर मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान ऐसा जो विकल्प किया जाता है, उसका क्या कारण है? अब मैं यह जानना चाहता हूं।**

डेल्फी के मोनूर में देववाणी हुई कि सुकरात महान् ज्ञानी है। एथेंस वासी इससे बहुत प्रसन्न हुए। वे सुकरात के पास आए। उन्होंने देववाणी के संबंध में बताया। सुकरात ने कहा—'नहीं, मैं अज्ञानी हूं। मैं जब नहीं जानता था तब मैं अपने को ज्ञानी समझता था और जब से जानने लगा हूं तब से अपने को अज्ञानी समझता हूं।'

एक यह अज्ञान है और एक अज्ञान ज्ञान के पूर्व का होता है। दोनों में बड़ा अन्तर है ज्ञान के पूर्व का अज्ञान ज्ञान का आवरण है, ज्ञान का अभाव है और ज्ञान के अनंतर का अज्ञान आवरण या अभाव नहीं है। किन्तु नहीं जानना है। जो देखा है, अनुभव किया है, जाना है वह इतना महान् है कि उसके संबंध में कहना कठिन है।

जिस पर अज्ञान का आवरण अधिक होता है उसे विवेक नहीं होता। अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ना उसके लिए अशक्य होता है। वह तमोमय जीवन जीता है। वह नारकीय जीवन है। इसलिए संतजनों ने मानव को आलोक की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा—'जो उस परम सत्य को जान लेता है उसके हृदय की ग्रंथि भिन्न हो जाती है, संशय छिन्न हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं'। **'नाणं पयासकरं'**—ज्ञान प्रकाशक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, यह बहुत सारवान् सूत्र है। सम्यग्ज्ञान के आलोक में जन्म-जन्मान्तरों का संचित तम एक क्षण में नष्ट हो जाता है।

भगवान् प्राह

२. ज्ञानस्यावरणेन स्याद्, अज्ञानं तत्प्रभावतः।
अज्ञानी नैव जानाति, वितथं वा यथातथम्॥

भगवान् ने कहा—ज्ञान पर आवरण आने से अज्ञान होता है। उसके प्रभाव से अज्ञानी जीव यथार्थ अथवा अयथार्थ—कुछ भी नहीं जान पाता।

३. नैतद् विकुरुते लोकान्, नापि संस्कुरुते क्वचित्।
केवलं सहजालोकं, आवृणोति निजात्मनः॥

यह आवरण जीवों को न विकृत बनाता है और न संस्कृत। यह केवल अपनी आत्मा के सहज प्रकाश को ढकता है।

४. ज्ञानस्यावरणं यावद्, भावशुद्ध्या विलीयते।
अव्यक्तो व्यक्ततामेति, प्रकाशस्तावदात्मनः॥

भावों की विशुद्धि के द्वारा ज्ञान का जितना आवरण विलीन होता है, उतना ही आत्मा का अव्यक्त प्रकाश व्यक्त हो जाता है।

५. पदार्थास्तेन भासन्ते, स्फुटं देहभृताममी।
ज्ञानमात्रमिदं नाम, विशेषस्याऽविवक्षया॥

आत्मा के उस प्रकाश से संसार के ये पदार्थ स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं। यदि उसके विभाग न किए जाएं तो उस प्रकाश को ज्ञानमात्र ही कहा जा सकता है।

ज्ञान के स्वरूप को समग्र दृष्टिकोण से देखें तो वह एक है। उसके विभाग नहीं होते। जहां विभाग किये जाते हैं वहां उसका प्रकाश कुछ सीमाओं में बंध जाता है। बिजली का प्रकाश बल्ब की ही शक्ति पर निर्भर करता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वैसे ही ज्ञान आवरण की तारतमता पर आधारित है। वह ज्ञान है लेकिन पूर्ण विशुद्ध नहीं। अविशुद्धि के आधार पर उसके पांच विभाग होते हैं। पांचवां विभाग पूर्ण शुद्ध है।

१. मतिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान।

२. श्रुतज्ञान–शब्द, संकेत और स्मृति से होने वाला ज्ञान।

३. अवधिज्ञान–मूर्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से इसकी अनेक अवधियां–मर्यादाएं हैं, इसलिए इसे अवधिज्ञान कहा जाता है।

४. मनःपर्यवज्ञान–मन की पर्यायों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान। इससे दूसरे के मन को पढ़ा जा सकता है।

५. केवलज्ञान–पूर्ण शुद्ध ज्ञान। ज्ञानावरणीय कर्म के पूर्ण क्षय होने पर पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है। उस स्थिति में आत्मा के लिए कोई अज्ञेय नहीं रहता। आवृत दशा में ज्ञान अपूर्ण रहता है। सूर्य के साथ इसकी तुलना घटित होती है। जैसे बादलों से ढके हुए सूर्य का प्रकाश स्पष्ट नहीं होता और बिना बादलों के प्रकाश स्पष्ट होता है, वैसे आवृत दशा में आत्मा का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। ज्यों-ज्यों आवरण हटता है, त्यों-त्यों प्रकाश होता जाता है।

'केवल' शब्द के पांच अर्थ हैं–असहाय, शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनंत।

केवलज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। कुछ आचार्य इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि केवलज्ञानी वह है जो आत्मा को सर्वरूपेण जानता है।

उपर्युक्त पांच ज्ञानों में प्रथम दो ज्ञान परोक्ष और अंतिम तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष होता है, वह परोक्ष और जो आत्म-सापेक्ष होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

वस्तुवृत्त्या ज्ञान एक ही है–केवलज्ञान। आवरणों की अपेक्षा से उसके पांच भेद होते हैं। जब आवरण पूर्ण रूप से टूट जाता है तब सम्पूर्ण ज्ञान–केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

**६. आत्मा ज्ञानमयोऽनन्तं, ज्ञानं नाम तदुच्यते।**
**अनन्तान् गुणपर्यायान्, तत्प्रकाशितुमर्हति॥**

**आत्मा ज्ञानमय है। उसका ज्ञान अनन्त है। वह अनन्त गुण और पर्यायों को जानने में समर्थ है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गुण–द्रव्य का सहभावी धर्म, अविच्छिन्न रूप से द्रव्य में रहने वाला धर्म। गुण द्रव्य से कभी पृथक् नहीं होता।

पर्याय–द्रव्य की परिवर्तनशील अवस्थाएं।

७. आवारकघनत्वस्य, तारतम्यानुसारतः।
प्रकाशी चाऽप्रकाशी च, सवितेव भवत्यसौ॥

आवरण की सघनता के तारतम्य के अनुसार यह आत्मा सूर्य की भांति प्रकाशी और अप्रकाशी होता है।

८. उभयालम्बनं तत्तु, संशयज्ञानमुच्यते।
वेदनं विपरीतं तु, मिथ्याज्ञानं विपर्ययः॥

वह खंभा है या पुरुष–इस प्रकार का उभयालंबी ज्ञान 'संशयज्ञान' कहलाता है। जो पदार्थ जैसा है, उससे विपरीत जानना विपर्यय नामक मिथ्याज्ञान है।

९. तार्किकी दृष्टिरेषाऽस्ति, दृष्टिरागमिकी परा।
मिथ्यादृष्टेर्भवेज्ज्ञानं, अज्ञानं तदपेक्षया॥

यह तार्किक दृष्टि का निरूपण है। आगमिक दृष्टि का निरूपण उससे भिन्न है। उसके अनुसार मिथ्यादृष्टि अथवा असत्-पात्र की अपेक्षा से वह ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

आत्म-ज्ञान निर्भ्रान्त होता है। वह परापेक्ष नहीं है। जहां दूसरों की अपेक्षा रहती है, वहां न्यूनता भी रहती है। साधन, क्षेत्र आदि की अनुकूलता में वस्तु का परिज्ञान सम्यक् हो सकता है। लेकिन जहां कुछ कमी रहती है, वहां वह सम्यक् नहीं होता। संशय और विपरीत ज्ञान इसलिए सम्यक् ज्ञान की कोटि में नहीं आते। यह निरूपण दार्शनिक है, आगमिक–शास्त्रीय नहीं।

आगम की भाषा में जो मिथ्यादृष्टि है, वह सम्यग् ज्ञान का पात्र नहीं है; क्योंकि उसे स्व-भाव में आनंद नहीं आता। मिथ्यादृष्टि के ज्ञान-चेतना होने का निषेध पंचाध्यायी में मिलता है। ज्ञान अपने आप में न सम्यक् होता है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और न असम्यक्। वह पात्र की अपेक्षा से वैसा बनता है।

जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होगा उसका ज्ञान भी मिथ्या होगा और जो सम्यक्दृष्टि होगा उसका ज्ञान भी सम्यक् होगा। ज्ञान व्यक्ति की पात्रता पर निर्भर करता है।

आगमों में कहा है कि एक ही श्रुत मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्या और सम्यक्दृष्टि के लिए सम्यक् बनता है—परिणत होता है।

इसीलिए जैन परंपरा में 'दर्शन' (दृष्टि) की विशुद्धि पर बहुत बल दिया है। जिसका दर्शन सही नहीं होता उसका ज्ञान भी सही नहीं होता।

**१०. आत्मीयेषु च भावेषु, नात्मानं यो हि पश्यति।**
**तीव्रमोहविमूढात्मा, मिथ्यादृष्टिः स उच्यते॥**

**जो आत्मीय भावों में आत्मा को नहीं देखता और तीव्र मोह—अनंतानुबंधी कषाय के उदय से जिसकी आत्मा विमूढ है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है।**

मोह-कर्म की सोलह मुख्य कर्म-प्रकृतियां हैं—
अनंतानुबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।

मिथ्यादृष्टि में अनंतानुबंधी मोह का तीव्र उदय रहता है। मोह की अल्प मात्रा भी आत्म-विकास में बाधक है। जहां तीव्र मोह होता है, वहां आत्म-विकास, का स्वप्न देखना भी असंभव है।

मोह आत्मा को विमूढ़ किए रखतां है। विमूढ़ व्यक्ति न सम्यक् देखता है, न सम्यक् जानता है और न सम्यक् आचरण करता है। वह विभाव को अपना मानता है और वहीं चिपका रहता है। स्वभाव की ओर उसकी दृष्टि स्फुरित नहीं होती।

आचार्य यशोविजयजी कहते हैं कि मोह के इस मंत्र ने समग्र जगत् को अंधा बना रखा है। पर-भावों में यह मेरा है, मैं इसका हूं, इसी को उलटकर यों कह दिया जाए कि—यह मेरा नहीं है और मैं इसका नहीं हूं—तो वह व्यक्ति मोहजित् हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**११. यथार्थनिर्णयः सम्यग्-ज्ञानं प्रमाणमिष्यते।**
**दृष्टि प्रामाणिकी चैषा, दृष्टिरागमिकी परा॥**

**वस्तु का यथार्थ निर्णय करने वाला सम्यग् ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है। यह प्रमाण-मीमांसा की दृष्टि है और आगमिक दृष्टि इससे भिन्न है।**

**१२. सम्यग्दृष्टेरवबोधो, भवेज्ज्ञानं तदीक्षया।**
**धुतमोहो निजं पश्यन्, सम्यग्दृष्टिरसौ भवेत्॥**

**सम्यग्-दृष्टि व्यक्ति का ज्ञान सत्-पात्र की अपेक्षा से सम्यग्-ज्ञान कहलाता है। जिसका दर्शनमोह विलीन हो गया है और जो आत्मा को देखता है, वह सम्यग् दृष्टि होता है।**

अनंतानुबंधी मोह का अनुदय होने पर सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यक् दृष्टि में 'स्व' और 'पर' का विवेक जागृत हो जाता है। वह 'स्व' को जान लेता है, 'पर' में उसकी अभिरुचि नहीं होती। गृहस्थ जीवन में रहता हुआ भी वह निर्लिप्त-सा जीवन जीता है।

**सम्यक्दृष्टि जीवड़ा, करै कुटुम्ब प्रतिपाल।**
**अंतर में न्यारा रहै, (जिम) धाय खिलावै बाल॥**

सम्यक्दृष्टि अंतरात्मा है। वह बाहरी क्रिया की प्रतिक्रिया अपने ऊपर नहीं होने देता। वह कार्य करता हुआ भी मन से पृथक् रहता है। समाधिशतक में पूज्यपाद लिखते हैं—बुद्धि में आत्मा के अतिरिक्त किसी भी कार्य को चिरकाल तक टिकाए न रखें। आवश्यकतावश यदि कोई कार्य करना हो तो शरीर और वाणी से करें, किन्तु मन का संयोजन न करें। अपने कार्य के लिए कुछ कहना हो तो वह कहकर उसको भूल जाएं। सुखी और सरल जीवन जीने की इससे बढ़ कर और कोई कला नहीं है। मनुष्य इस संभव को असंभव मान परिस्थितियों के हाथों में अपना अस्तित्व सौंप देता है। मनुष्य स्वयं अपना निर्माता है। सम्यग् दर्शन और कुछ नहीं, स्व का निर्माण है, दर्शन है।

**१३. पदार्थज्ञानमात्रेण, न ज्ञानं सम्यगुच्यते।**
**आत्मलीनस्वभावं यत्, तज्ज्ञानं सम्यगुच्यते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**पदार्थों को जान लेने मात्र से ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जिस ज्ञान का स्वभाव आत्मा में लीन होना है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।**

विभिन्न व्यक्तियों का विभाग किया जाए तो वे दो रूपों में विभक्त हो सकते हैं—बौद्धिक-ज्ञानी और आत्म-ज्ञानी। बौद्धिक ज्ञान की दृष्टि से एक साधक दुर्बल हो सकता है, और आत्मज्ञान की अपेक्षा से एक बुद्धिजीवी भी। बौद्धिक ज्ञान आत्मा की दृष्टि में हेय है। वह व्यक्ति को छोटे-छोटे घरौंदों में बांधता है; जबकि आत्मज्ञान मुक्त करता है। बौद्धिक ज्ञान एक प्रकार का आवरण है, जो आत्मा का स्पष्ट या अस्पष्ट दर्शन भी नहीं करा सकता। अज्ञान की कारा से मुक्त होने पर शिष्य गा उठता है—मैं इसलिए गुरु को नमस्कार करता हूं, जिन्होंने अज्ञान-तिमिर से अंधे व्यक्तियों की आंखों में ज्ञान-रूपी अंजन आंज कर दिव्य चक्षु प्रदान किए हैं।

जो ज्ञान अज्ञान को नष्ट नहीं करता वह ज्ञान ही नहीं है। दवा रोग-नाश के लिए दी जाती है। यदि वह रोग को बढ़ाये तो उसका क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार यदि ज्ञान मुक्त—स्वतंत्र नहीं करता है तो वह ज्ञान भी क्या है? 'सा विद्या या विमुच्यते'—विद्या वही है जो व्यक्ति को बंधनों से मुक्त करे। इसलिए वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान की कोटि में आता है, जो आत्मलीन होकर आत्मा को बंधन-मुक्त करता है।

**१४. अनन्तधर्मकं द्रव्यं, ज्ञेयं धर्मावुभौ स्फुटम्।**
**सामान्यञ्च विशेषश्च, द्रव्यं तदुभयात्मकम्॥**

**अनन्त धर्मात्मक—अनन्त विरोधी युगलात्मक द्रव्य ज्ञेय होता है। अनन्त धर्मों में दो धर्म प्रमुख हैं—सामान्य और विशेष। द्रव्य केवल सामान्यात्मक अथवा केवल विशेषात्मक नहीं होता। वह उभयात्मक—सामान्य-विशेषात्मक होता है।**

**१५. सामान्यग्राहकं ज्ञानं, संग्रहो नय इष्यते।**
**विशेषग्राहकं ज्ञानं, व्यवहारनयो मतः॥**

**जो सामान्य को ग्रहण करता है, जानता है, वह संग्रह नय कहलाता है। जो विशेष को ग्रहण करता है, जानता है, वह व्यवहार नय कहलाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१६. उभयग्राहकं ज्ञानं, नैगमो नय इष्यते।
सामान्यञ्च विशेषश्च, यतो भिन्नो न सर्वथा॥

जो सामान्य और विशेष–दोनों को ग्रहण करता है, जानता है, वह नैगम नय है। इसका तात्पर्य है–सामान्य और विशेष सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

१७. वर्तमानक्षणग्राहि, ऋजुसूत्रं नयो भवेत्।
शब्दाश्रयास्तु शब्दाद्याः, पर्यायमाश्रिताः नयाः॥

जो वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत–ये तीनों शब्दाश्रयी पर्यायार्थिक नय हैं।

१८. पूर्वं निक्षिप्यते वस्तु, तन्नये नाधिगम्यते।
प्रमाणेनाऽपि वीक्षा स्याद्, सकलादेशमाश्रिता॥

पहले वस्तु का निक्षेप–पर्याय के अनुरूप बाह्य विन्यास किया जाता है। फिर उसे नय के द्वारा जाना जाता है। प्रमाण के द्वारा होने वाला वस्तु का ज्ञान 'सकलादेश कहलाता है।

१९. नयदृष्टिरनेकान्तः, स्याद्वादस्तत्प्रयोगकृत्।
विभज्यवाद इत्येष, सापेक्षो विदुषां मतः॥

वस्तु के एक धर्म-विशेष को जानने वाली नयदृष्टि का नाम है अनेकांत। उसका वचनात्मक प्रयोग स्याद्वाद, विभज्यवाद अथवा सापेक्षवाद है।

पदार्थ अपने में कितने तथ्यों को समेटे हुए हैं, यह जानना सहज नहीं है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी असफल रहे हैं। उसके विराट् दर्शन के सामने वे बौने साबित हुए हैं। भले, वे हार मानें या न मानें किन्तु इतना स्पष्ट है कि वे उसकी पूर्ण थाह नहीं पा सकते। उसकी थाह पाने का एक ही मार्ग है कि हमारे पास पूर्ण ज्ञान हो। पूर्ण ज्ञान–कैवल्य ज्ञान में वस्तु का संपूर्ण रूप प्रतिभासित हो सकता है। आत्मद्रष्टाओं ने उसे जाना है, लेकिन उसके अनंत धर्मों को प्रतिपादन में वे भी समर्थ नहीं हुए है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है कि वाणी सीमित है, शब्द सीमित है वह वस्तु में स्थित अनंत धर्मों का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रतिपादन नहीं कर सकता है।

प्रत्येक द्रव्य अपने में अनंत विरोधी-अविरोधी धर्मों—स्वभावों को लिए हुए हैं। उसमें सामान्य धर्म भी है और विशेष भी, वह नित्य भी है, अनित्य भी है। वह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। वह है भी और नहीं भी है। इस प्रकार उसमें अनंत धर्म—स्वभाव हैं। लेकिन ये सब सापेक्षदृष्टि से यथार्थ हैं। जिस दृष्टि से 'सत्' है उस दृष्टि से असत् नहीं है, जिस दृष्टि से असत् है उस दृष्टि से सत् नहीं है। सत् की दृष्टि से सत् है और असत् की दृष्टि से असत् हैं। इसी प्रकार सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि जिज्ञासाओं का शमन किया जा सकता है। वृक्षत्व धर्म की अपेक्षा से सभी वृक्ष समान हैं, चेतन धर्म की अपेक्षा सभी जीव समान हैं, अचेतनत्व की दृष्टि से समस्त जड़ पदार्थ समान हैं। नीम, बबुल, आम, पीपल, बरगद आदि भेदों की दृष्टि से विशेष भी हैं। लेकिन दोनों धर्म हैं एक ही द्रव्य-पदार्थ में। एक व्यक्ति पिता है, पुत्र है, पति है, भाई है, चाचा है, दादा है, नाना है आदि। कितने विरोधी दिखलाई देने वाले बिन्दु एक में उपलब्ध हैं। यदि यहां अपेक्षा को ध्यान में न रखें तो उलझन आ सकती है और अपेक्षा रखकर चला जाए तो कहीं उलझन नहीं है।

अनेकांतदृष्टि वस्तु के अनंत धर्मों में सामंजस्य बैठाने वाली दृष्टि है। न उसमें कहीं आग्रह है, न ऐकांतिकता है भगवान महावीर ने अनेक विरोधी विचारों का समन्वय इसी सापेक्षवाद, स्याद्वाद के द्वारा किया था। दर्शन के क्षेत्र में आगे चलकर यही दृष्टि दार्शनिकों का विषय बनी और उसी के आधार पर समन्वयदृष्टि का विकास हुआ। समग्र एकांतिक दर्शनों को एकत्रित करने पर जो सत्य बनता है वह है अनेकांत दर्शन—जैन दर्शन।

द्रव्य—पदार्थ का संपूर्ण रूप ज्ञेय बन सकता है लेकिन वाच्य नहीं। स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का कथन करता है और अन्य धर्मों को अपने में समाहित रखता है। अपने स्वरूप—अस्तित्व की दृष्टि से वस्तु हैं और पर-द्रव्य की अपेक्षा से नहीं है। घट पट आदि पदार्थ अपने स्वरूप की दृष्टि से हैं लेकिन अन्य पदार्थ की दृष्टि से नहीं हैं। पदार्थ में अस्ति और नास्ति दोनों धर्म न हों तो यथार्थ का आकलन होना भी कठिन हो जाता है। स्यात् शब्द के द्वारा पदार्थ का समग्र रूप वक्ता के सामने रहता है, वह पर सिर्फ उसके एक धर्म का प्रतिपादन करता है, अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता।

अखंड वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। उसके एक धर्म का प्रतिपादन 'स्यात्' शब्द से होता है। नय भी वस्तु के एक धर्म का कथन करना है, वह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एकांगी है, किन्तु वस्तु के अन्य धर्मों से पृथक् नहीं है। इसलिए वह एकांगी होकर भी होकर एकांगी नहीं है। अन्यथा यथार्थ ज्ञान नहीं होता। विवादों की शृंखला एकांगी दृष्टि के कारण होती है। भले, वह विवाद धर्म, राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय आदि किसी भी क्षेत्र में हो। वक्ता के संपूर्ण अभिप्राय या आशय को एक शब्द स्पष्ट नहीं रख सकता। भाव या आशय को मूल से जुड़ा हुआ देखा जाए तो समस्या नहीं होती।

नयवाद अभेद और भेद–इन दो वस्तु धर्मों पर टिका हुआ है। सत्य के दो रूप हैं, इसलिए परखने की दो दृष्टियां हैं–द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि। द्रव्यदृष्टि अभेद का स्वीकार है और पर्यायदृष्टि भेद का। दोनों की सापेक्षता भेदाभेदात्मक सत्य का स्वीकार है। वस्तु भेद और अभेद की समष्टि है। भेद और अभेद–दोनों सत्य हैं। जहां अभेद प्रधान होता है वहां भेद गौण और जहां भेद प्रधान होता है वहां अभेद गौण। इसके आधार पर नय दो प्रकार का हो जाता है–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

नय का उद्देश्य यह है कि हम दूसरे के विचारों को उसी के अभिप्राय के अनुकूल समझने का प्रयत्न करें तभी हमें उसके कथन की सापेक्षता का ज्ञान होगा। अन्यथा हम उसे समझ नहीं सकेंगे। नय सात हैं–

**नैगमनय**–द्रव्य के सामान्य-विशेष के संयुक्त रूप का निरूपण करने वाला विचार।

**संग्रहनय**–केवल सामान्य का निरूपण करने वाला विचार।

**व्यवहारनय**–केवल विशेष का निरूपण करने वाला विचार।

**ऋजुसूत्रनय**–वर्तमानपरक दृष्टि। जैसे–तुला उसी समय तुला है जब उससे तोला जाता है। अतीत और भविष्य में तुला तुला नहीं है।

**शब्दनय**–भिन्न-भिन्न लिंग, वचन आदि के आधार पर शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। जै–पहाड़ का जो अर्थ है वह पहाड़ी शब्द व्यक्त नहीं कर सकता।

**समभिरूढ़नय**–इसका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु जहां आरूढ़ है, उसका वहीं प्रयोग करना चाहिए। स्थूलदृष्टि से घट, कुट, कुंभ का अर्थ एक है। परंतु समभिरूढ़नय इसे स्वीकार नहीं करता। वह सब शब्दों में अर्थभेद मानता है।

**एवंभूतनय**–वार्तमानिक या तत्कालभावी व्युत्पत्ति से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का आशय। जैसे घट उसी समय घट है जो मस्तक पर पानी लाने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के लिए रखा हुआ है। घट शब्द भी वही है जो घट-क्रियायुक्त अर्थ का प्रतिपादन करे।

नैगमनय ज्ञानाश्रयी विचार है। जो संकल्प प्रधान होता है वह ज्ञानाश्रयी है। अर्थाश्रयी विचार वह होता है जो अर्थ को मानकर चले। संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय—ये तीनों अर्थाश्रयी विचार हैं। शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय—ये तीनों शब्दाश्रयी विचार हैं।

इनके आधार पर नयों की परिभाषा यों हो सकती है—

१. नैगम—संकल्प या कल्पना की अपेक्षा होने वाला विचार।

२. संग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।

३. व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होने वाला विचार।

४. ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

५. शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

६. समभिरूढ़—शब्द ही उत्पत्ति के अनुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

७. एवंभूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

**२०. सदसतोर्विवेकेन, स्थैर्यं चित्तस्य जायते।**
**स्थितात्मा स्थापयेदन्यान्,नाऽस्थिरात्माऽपि साक्षरः॥**

**सत् और असत् का विवेक होने पर चित्त की स्थिरता होती है। स्थितात्मा दूसरों को धर्म में स्थापित करता है। जो स्थितात्मा नहीं होता, वह साक्षर होने पर भी कार्य नहीं कर सकता।**

**२१. भविष्यति मम ज्ञानं, अध्येतव्यमतो मया।**
**अजानन् सदसत्तत्त्वं, न लोकः सत्यमश्नुते॥**

**'मुझे ज्ञान होगा', इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। जो जीव सत् और असत् तत्त्वों को नहीं जानता, वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता।**

**२२. लप्स्ये चित्तस्य सुस्थैर्यं, अध्येतव्यमतो मया।**
**अस्थिरात्मा पदार्थेषु, जानन्नपि विमुह्यति॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

'मैं एकाग्र चित्त बनूंगा'—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। अस्थिर आत्मा वाला व्यक्ति पदार्थों को जानता हुआ भी उनमें मूढ बन जाता है।

२३. आत्मानं स्थापयिष्यामि, धर्मेऽध्येयमतो मया।
धर्महीनो जनो लोके, तनुते दुःखसन्ततिम्॥

'अपनी आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा'—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। जो व्यक्ति धर्महीन है, वह संसार में दुःख की परंपरा को बढ़ाता है।

२४. स्थितः परान् स्थापयिष्ये, धर्मेऽध्येयमतो मया।
आचार्येव सदाचारं, प्रस्थापयितुमर्हति॥

'मैं स्वयं स्थित होकर दूसरों को धर्म में स्थापित करूंगा'—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। आचारवान् व्यक्ति ही सदाचार की स्थापना कर सकता है।

इन श्लोकों में 'शिक्षा क्यों' का सुन्दर समाधान दिया गया है। आज की शिक्षा का उद्देश्य है विषय का ज्ञान, बौद्धिक विकास।

प्राचीन काल में शिक्षा के चार मुख्य उद्देश्य थे :

१. ज्ञान-प्राप्ति—इससे बौद्धिक विकास के साथ-साथ सत्-असत् का विवेक भी जागृत होता है।

२. मानसिक एकाग्रता—इससे लक्ष्य-प्रपप्ति की ओर सहज गति करने की क्षमता बढ़ती है, अपने आप पर नियंत्रण और धैर्य का विकास होता है।

३. धर्माचरण—ज्ञान की प्राप्ति श्रेय के प्रति प्रस्थान के लिए सहज-सरल मार्ग प्रस्तुत करती है। आगमों में कहा है—

'अन्नाणी किं काही, किं वा नाहीइ छेयपावगं'

अज्ञानी क्या करेगा? वह श्रेयः और पाप को कैसे जानेगा?

धर्महीन व्यक्ति न वर्तमान को सुखी बना सकता है और न अनागत को।

४. दूसरों को धर्म में प्रेरित करना—ज्ञानी व्यक्ति ही विभिन्न व्यक्तियों को समझाकर धर्म में स्थापित कर सकते हैं। जो स्वयं आचारवान् नहीं होता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वह दूसरों को आचार में स्थापित नहीं कर सकता।

शिक्षा-प्राप्ति के इन चार उद्देश्यों से जीवन का सर्वांगीण विकास होता है। एकांगी विकास उपादेय नहीं हो सकता।

**२५. प्राणिनामुह्यमानानां, जरामरणवेगतः।**
**धर्मो द्वीपं प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम्॥**

**जरा और मरण के प्रवाह में बहने वाले जीवों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।**

'वत्थु सभावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव—स्वरूप धर्म है। स्वभाव व्यक्ति को कभी नहीं छोड़ता। मनुष्य स्वभाव को विस्मृत कर सकता है, किंतु स्वभाव मनुष्य को नहीं। उसके अतिरिक्त त्राण, शरण, गति और द्वीप क्या हो सकता है? विभाव कभी शरण नहीं बनता। मनुष्य यह जानता हुआ भी स्वभाव की ओर गति नहीं करता। धर्म की शरण में आओ **'धम्मं सरणं गच्छामि' 'धम्मं सरणं पवज्जामि' मामेकं सरणं सरणं व्रज'**—यह उद्घोष समस्त धर्म प्रवर्त्तकों द्वारा हुआ है। उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि धर्म को छोड़ कर ही प्राणी अनेक आपदाएं वरण करता है। शांति का आधार धर्म है, इसलिए यहां कहा है कि स्वभाव का अनुसंधान करो।

जरा और मृत्यु के महा प्रवाह में बहते हुए प्राणियों की रक्षा का आधार-स्तंभ यही है। उत्पन्न होना, जीर्ण होना और समाप्त होना—एक भी वस्तु इस नियम से वंचित नहीं है। परिवर्तन का चक्र सब पर चलता है। धर्म अपरिवर्तनीय है, शाश्वतिक है। यही परिवर्तन के चक्रव्यूह से व्यक्ति को मुक्त कर सकता है।

**२६. दुर्गतौ प्रपतज्जन्तोर्धारणाद् धर्म उच्यते।**
**धर्मेणासौ धृतौ ह्यात्मा, स्वरूपमधिगच्छति॥**

**जो दुर्गति में पड़ते हुए जीव को धारण करता है, वह धर्म कहलाता है। अपने स्वरूप को वही प्राप्त होता है, जिसकी आत्मा धर्म के द्वारा धृत है।**

धर्म आत्म-विकास का साधन है। धर्म वैयक्तिक है; सामूहिक नहीं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

समूह व्यक्ति में धर्म-भावना प्रवाहित करता है। इसलिए वह अनुपादेय नहीं होता। लेकिन जब वह व्यक्ति की स्वतंत्र-चेतना का हरण कर लेता है, तब वह पवित्र नहीं रहता। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसलिए कहा था कि 'धर्म को पकड़ो, धर्मों को नहीं। धर्म कभी अहित नहीं करता। धर्मों को पकड़ने पर अहित होता है। धर्मों का यहां अर्थ है साम्प्रदायिकता। धर्म से वैमनस्य, विरोध, विभेद आदि पैदा नहीं हुए, ये साम्प्रदायिकता से बड़े हैं। आज धर्म को मिटाने की अपेक्षा नहीं है। मिटाना है साम्प्रदायिकता को। धर्म कभी मिटता नहीं है। वह सदा अमर है। 'अमर रहेगा, धर्म हमारा'—धर्म सनातन है। धर्म की वास्तविकता में विरोध नहीं है, विरोध है उसका गलत प्रयोग करने में।

धर्म की वास्तविकता है—ज्ञान का पूर्ण विकास, श्रद्धा का पूर्ण विकास, स्व (आत्म)-भाव का पूर्ण विकास और आत्मशांति का पूर्ण विकास। अहिंसा, सत्य, कषाय-विजय, इंद्रिय-संयम, मनो-निग्रह, राग-द्वेष-विलय आदि आत्म-विकास के सहायक हैं। इसलिए ये धर्म हैं। किसी भी धर्म का इनके साथ विरोध नहीं है। विरोध का सबसे बड़ा कारण है, हम अपने धर्म की सीमा में घुस जाते हैं और उसी का चश्मा अपनी आंखों पर लगा लेते हैं। हम उससे भिन्न रंग को देखना नहीं चाहते। यदि अन्य धर्मों का निरीक्षण करें तो, समन्वय के तत्त्व इतने हैं कि उस सीमा को तोड़ने के लिए मजबूर होना पढ़ता है। साम्प्रदायिकता का पर्दा अधिक दिनों तक टिका रह नहीं सकता। शब्द-भेद के अतिरिक्त अर्थ की एकता अधिक निकट ले आती है। हम अधिक गहराई में न जाकर विकास की ओर बढ़ें और धर्म के साधनों का अभ्यास करें।

**२७. आत्मनः स्वप्रकाशाय, बन्धनस्य विमुक्तये।**
**आनन्दाय मया शिष्य! धर्मप्रवचनं कृतम्॥**

**शिष्य मेघ! आत्मा के स्व-प्रकाश के लिए, बंधन की मुक्ति के लिए और आनंद के लिए मैंने धर्म का प्रवचन किया है।**

**२८. शुभाशुभफलैरेभिः, कर्मणां बन्धनैर्ध्रुवम्।**
**प्रमादबहुलो जीवः, संसारमनुवर्तते॥**

**प्रमादी जीव शुभ-अशुभ फल वाले कर्मों के इन बंधनों से संसार में पर्यटन करता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**२९. शुभाशुभफलान्यत्र, कर्मणां बन्धनानि च।**
**छित्वा मोक्षमवाप्नोति, अप्रमत्तो हि संयतिः॥**

**अप्रमत्त मुनि कर्मों के बंधनों और उनके शुभ-अशुभ फलों का छेदन कर मोक्ष को प्राप्त होता है।**

धर्म अप्रमत्त-अवस्था है और अधर्म प्रमत्त-अवस्था। प्रमाद का स्वरूप इस प्रकार है :

चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

चार विकथा—स्त्रीकथा, देशकथा, राजकथा, भोजनकथा।

पांच इन्द्रियां—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

इनके विषयों में आसक्ति, मन, वाणी और शरीर की इनमें प्रवृत्ति तथा निद्रा प्रमाद है और जो निवृत्ति है वह अप्रमाद है।

अप्रमत्त आत्मा कर्म-बंधनों से मुक्त होकर शुद्ध स्वरूप में ठहरती है। प्रमादी आत्मा संसार में भ्रमण करती है। संसार दुःख है और मुक्ति सुख। धर्म की अपेक्षा इसलिए है कि उससे अनंत आनंद उपलब्ध होता है।

**३०. एकमासिकपर्यायो, मुनिरात्मगुणे रतः।**
**व्यन्तराणां च देवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥**

**एक मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि व्यन्तर देवों के सुखों को लांघ जाता है, उनसे अधिक सुखी बन जाता है।**

**३१. द्विमासमुनिपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।**
**भवनवासिंदेवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥**

**दो मास का दीक्षित मुनि भवनपति (असुरवर्जित) देवों के सुखों को लांघ जाता है।**

**३२. त्रिमासमुनिपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।**
**देवासुरकुमाराणां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥**

**तीन मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि असुरकुमार देवों के सुखों को लांघ जाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३३. चातुर्मासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
ज्योतिष्कानां ग्रहादीनां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

चार मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि ग्रह आदि ज्योतिष्क देवों के सुखों को लांघ जाता है।

३४. पञ्चमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
सूर्यचन्द्रमसोरेव, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

पांच मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि ज्योतिष्क देवों के इंद्र—चांद और सूरज के सुखों को लांघ जाता है।

३५. षाण्मासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
सौधर्मेशानदेवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

छह मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि सौधर्म और ईशान देवों के सुखों को लांघ जाता है।

३६. सप्तमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
सनत्कुमारमाहेन्द्र-तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

सात मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों के सुखों को लांघ जाता है।

३७. अष्टमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
ब्रह्मलान्तकदेवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

आठ मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि ब्रह्म और लान्तक देवों के सुखों को लांघ जाता है।

३८. नवमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
महाशुक्र-सहस्रार-तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नौ मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि महाशुक्र और सहस्रार देवों के सुखों को लांघ जाता है।

३९. दशमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
आनतादच्युतं यावत्, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

दस मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों के सुखों को लांघ जाता है।

४०. एकादशमासगत, आत्मध्यानरतो यतिः।
ग्रैवेयकाणां देवानां, तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

ग्यारह मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि नव ग्रैवेयक देवों के सुखों को लांघ जाता है।

४१. द्वादशमासपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
अनुत्तरोपपातिक-तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत्॥

बारह मास का दीक्षित आत्म-लीन मुनि पांच अनुत्तर विमान के देवों के सुखों को लांघ जाता है।

आत्मिक सुख की तुलना में पौद्गलिक सुख निकृष्ट होता है। पौद्गलिक सुख भी सब में समान नहीं होता। मनुष्यों की अपेक्षा देवताओं का पौद्गलिक सुख विशिष्ट होता है। देवताओं की चार श्रेणियां हैं :

१. व्यंतर २. भवनपति ३. ज्योतिषी और ४. वैमानिक।

**व्यंतर देव** आठ प्रकार के होते हैं :

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व।

**भवपति देव** दस प्रकार के होते हैं :

असुरकुमार, नागकुमार, तडित्कुमार, सुपर्णकुमार, वह्निकुमार, अनिलकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

ये देव भवनों—आवासों में रहते हैं, अतः इन्हें भवनपति देव कहा गया है।

ये देव कुमार के समान सुन्दर, कोमल और ललित होते हैं। ये क्रीड़ा-

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परायण और तीव्र रागवाले होते हैं।

**ज्योतिषी देव** पांच प्रकार के होते हैं :

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारक।

**वैमानिक देव–**

इनके दो भेद हैं–कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्पोपपन्न वैमानिक देव बारह प्रकार के हैं। इनके नाम क्रमशः उनतीसवें श्लोक से बत्तीसवें श्लोक तक दिए गए हैं।

ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव कल्पातीत होते हैं। ग्रैवेयक देवों के नौ और अनुत्तर देवों के पांच भेद हैं।

आत्मिक सुख की तुलना पौद्गलिक सुखों से नहीं की जा सकती; क्योंकि वे क्षणिक, अशाश्वत और बाह्य-वस्तु सापेक्ष होते हैं। पौद्गलिक सुख में भी तरतमता होती है। साधारण मनुष्य और असाधारण मनुष्य में विभेद देखा जाता है। देव-सुखों की तुलना में मनुष्य के सुख तुच्छ हैं। देवताओं में भी सर्वार्थसिद्ध देवों के सुख सामान्य देवताओं के सुखों से अनंतगुण अधिक हैं। लेकिन आत्मिक सुख की तुलना में सर्वार्थसिद्ध देवों के सुख भी अकिंचित्कर हैं।

इन श्लोकों का प्रतिपाद्य यही है कि साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, मुनि के आनंद का भी उत्कर्ष होता जाता है। वास्तव में आत्मानंद की तुलना किसी पौद्गलिक पदार्थ से प्राप्त सुख या आनंद से नहीं की जा सकती, किंतु सामान्य बोध के लिए उसकी यह तुलना की गई है।

**४२. ततः शुक्लः शुक्लजातिः,शुक्ललेश्यामधिष्ठितः।**
**केवली परमानन्दः, सिद्धो बुद्धो विमुच्यते॥**

**उसके बाद वह शुक्ल और शुक्लजाति वाला मुनि शुक्ल लेश्या को प्राप्त होकर केवली होता है, परम आनंद में मग्न,, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।**

**४३. यो जीवान् नैव जानाति, नाऽजीवानपि तत्त्वतः।**
**जीवाऽजीवानजानन् सः, कथं ज्ञास्यति संयमम्॥**

**जो तत्त्वतः जीव को नहीं जानता, अजीव को भी नहीं जानता, वह जीव-अजीव–दोनों को नहीं जानने वाला संयम को कैसे जानेगा?**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४४. यो जीवानपि विजानाति, वेत्त्यजीवानपि ध्रुवम्।
जीवाऽजीवान् विजानन् सः, सम्यग् ज्ञास्यति संयमम्॥

जो जीव को जानता है, अजीव को भी जानता है, वह जीव-अजीव—दोनों को जानने वाला संयम को सम्यग् प्रकार से जान लेगा।

४५. यदा जीवानजीवांश्च, द्वावप्येतौ विबुध्यते।
तदा गतिं बहुविधां, जानाति सर्वदेहिनाम्॥

जो जीव और अजीव—दोनों को जानता है, वह जीवों की नाना प्रकार की गतियों को जानता है।

४६. यदा गतिं बहुविधां, जानाति सर्वदेहिनाम्।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, तदा जानाति तत्त्वतः॥

जब मनुष्य जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह तत्त्वतः पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को भी जान लेता है।

४७. पुण्यपापे बंधमोक्षौ, यदा जानाति तत्त्वतः।
तदा विरज्यते भोगाद्, दिव्यात् मानुषकात् यथा॥

जब मनुष्य पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जान लेता है, तब मनुष्यों और देवों के जो भी भोग हैं, उनसे विरक्त हो जाता है।

४८. यदा विरज्यते भोगात्, दिव्यात् मानुषकात् तथा।
तदा त्यजति संयोगं, बाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा॥

जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है, तब वह बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के संयोगों को त्याग देता है।

४९. यदा त्यजति संयोगं, बाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा।
तदा मुनिपदं प्राप्य, धर्मं स्पृशति संवरम्॥

जब मनुष्य बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के संयोगों को त्याग देता है, तब वह मुनिपद को प्राप्त कर संवर धर्म का स्पर्श करता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

५०. यदा मुनिपदं प्राप्य, धर्मं स्पृशति संवरम्।
तदा धूतं कर्मरजः, भवत्यबोधिना कृतम्॥

जब मनुष्य मुनिपद को प्राप्त कर संवर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकंपित कर देता है।

५१. यदा धूतं कर्मरजः भवत्यबोधिना कृतम्।
तदा सर्वगं ज्ञानं, दर्शनं चाऽभिगच्छति॥

जब मनुष्य अबोधि द्वारा संचित कर्मरज को प्रकंपित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

५२. यदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति।
तदा लोकमलोकञ्च, जिनो जानाति केवली॥

जब मनुष्य सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है।

५३. यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली।
आयुषोऽन्ते निरुन्धानः, योगान् कृत्वा रजः क्षयम्॥

५४. अनन्तामचलां पुण्यां, सिद्धिं गच्छति नीरजाः।
तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः॥
(युग्मम्)

केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर जिन अथवा केवली लोक और अलोक को जान लेता है। वह आयु के अंत में मन, वचन और काय—तीनों योगों का निरोध कर, कर्मरज को सर्वथा क्षीण कर अनंत, अचल और कल्याणकारी सिद्धिगति को प्राप्त कर, शाश्वत सिद्ध होकर लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाता है।

साधना का प्रथम चरण संयम है और अंतिम भी संयम है। जितने भी साधक हैं संयम उनके लिए अनिवार्य है, इसे यों भी कह सकते हैं कि साधना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का चिंतन और उसकी क्रियान्विति संयम से अनुबंध है। संयम के अभाव में जीवन का कोई भी क्षेत्र सुखद, सफल नहीं होता। असंयम पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों के लिए अभिशाप है। शारीरिक दृष्टि से भी असंयमी व्यक्ति स्वस्थ नहीं होता। स्वास्थ्य भी संयम सापेक्ष है। इसलिए यह उद्घोष मुखर हुआ कि **'संयमः खलु जीवनम्'** संयम ही जीवन है। इसका विपरीत असंयम मृत्यु है।

संयम का अर्थ है—निरोध। इसमें प्रवृत्ति और निःवृत्ति दोनों का समन्वय है—असत् प्रवृत्ति का निरोध और सत् में प्रवर्तन। सत् और असत् दोनों का संयम चेतना का पूर्ण विकास है। प्रस्तुत श्लोकों में इसी का दिग्दर्शन है। संयम के माध्यम से ही चेतना का विकास होता है। संयम पूर्ण विकास से पूर्व साधन के रूप में प्रयुक्त होता है और विकास की पूर्णता में साध्य बन जाता है। संयम की साधना के लिए जीव और अजीव के बोध की भी अपेक्षा है। इन्हें नहीं जाननेवाला संयम को कैसे जान सकेगा? किसका संयम करेगा? कौन करेगा? क्यों करेगा?

पुरुष अलग है प्रकृति अलग है, किन्तु दोनों के अनुबंध से संसार होता है। वैसे ही आत्मा और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न होते हुए भी परस्पर में गहरे गूंथे हुए हैं। जब तक ये दोनों विभक्त नहीं होते तब तक संसार का प्रवाह, दुःख-सुख का चक्र, अधोगमन-ऊर्ध्वगमन की यात्रा निराबाध चलती रहती है। प्रकृति—कर्म के इस प्रवाह का अवरोध किए बिना सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कठिन है। अजीव की माया को समझना भी बहुत दुरूह है। अनेक ज्ञानी भी कर्म-जाल से सहजतया मुक्त नहीं हो सकते। 'विचित्रा कर्मणां गतिः' कर्म की गति बड़ी विचित्र है। कर्म का उदय उन्हें भी कहां से कहां ले जाकर छोड़ देता है। असंख्य उदाहरणों से यह संसार भरा है। आत्मा अनेक उतार-चढ़ाव, सुख-दुःखों की अनुभूति इसी के प्रभाव से करती है। जीव और अजीव की इस संस्कृति की समझ आवश्यक है। संयम की साधना में इनका बोध करणीय है।

जीव और अजीव के बोध से ही जीवों की विविध गतियों का बोध होता है। कौन जीव कहां जाता है? कैसे जाता है? क्यों जाता है? तिर्यंच गति, मनुष्य गति, नरक गति और देव गति के निमित्त क्या-क्या बनते हैं? इसके बोध से पुण्य और पाप का ज्ञान होता है। पुण्य शुभ कर्म है और पाप अशुभ कर्म। पुण्य व्यक्ति को उत्कर्ष के पथ पर ले जाता है और पाप अपकर्ष के पथ पर। पुण्य की महिमा से मंडित व्यक्ति पूज्य, आदेय, श्लाघ्य, कीर्तिमान बनता है और पापोदय के कारण हीन, अश्लाघ्य आदि। ऐसे अनेक अभिनयों के पीछे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पुण्य-पाप की छाया है। पुण्य और पाप के साथ उसके बंधन और मुक्ति की क्रिया भी जुड़ी है। जब संसार की विचित्रता सामने आती है तब मन सहज ही सांसारिक विषय-भोगों से उद्विग्न हो जाता है, भोगों से विरक्ति हो जाती है। भोग सिर्फ रोग ही नहीं देते हैं अपितु दुःख भी देते हैं। मन की विरक्त दशा में सभी प्रकार के मानवीय, दैवीय भोग क्षुद्रतम प्रतीत होने लगते हैं। बाहर से वितृष्ण मन अंतरंग सुख में निमग्न होने लगता है। सांसारिक संबंध भी मिथ्या दिखाई देने लगते हैं। मन संयोगों से मुक्त होने के लिए तरसने लगता है। जब जक संयोगों के प्रति चित्त आकृष्ट रहता है तब तक परमतत्त्व से भी प्रीति नहीं होती। बाहर का राग भीतर से विराग पैदा करता है और भीतर का राग बाहर से विराग पैदा करता है।

संसार संयोगों की देन है। संयोग कर्म हेतुक हैं। कर्म से पुनः कर्म का ही अनुबंध होता है। कर्म आंतरिक संयोग है। आंतरिक संयोगों के बने रहने पर बाह्य संयोगों के त्याग का वास्तविक अर्थ नहीं रहता। वस्तुतः आंतरिक संयोगों को ही त्यागना है। अन्यथा त्याग कर भी कुछ नहीं त्यागा जाता है। मन ममत्व की परिक्रमा करता ही रहता है। इसे सम्यक् समझ कर ही साधक बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों संयोगों से मुक्त होने के लिए तत्पर होता है। यह संयोग-मुक्ति का संकल्प उसे मुनिपद पर आरूढ़ करता है। वह सबको संन्यास दे देता है। सही माने में अनगारता राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि वृत्तियों व बाह्य रूप से सांसारिक वृत्तियों के परित्याग से ही सिद्ध होती है। संन्यस्त व्यक्ति—मुनि ही संवर धर्म का स्पर्श करता है।

संवर विजातीय तत्त्व का अवरोधक है। आत्मा के असंख्य द्वार खुले हैं, जिनसे सतत कर्म तत्त्व का प्रवाह गतिमान रहता है। कर्म पौद्गलिक—विजातीय हैं। जब तक इसके द्वार को रोका—बंद नहीं किया जाता है तब तक आत्मा का भव-भ्रमण चलता रहता है। जब साधक आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करने लगता है, एकत्व घनीभूत होने लगता है तब उत्कृष्ट संवर की आराधना प्रारंभ हो जाती है। खुले हुए द्वार सहज ही अवरुद्ध होने लगते हैं, फलतः अबोधि—अज्ञान द्वारा अर्जित अनंत जन्मों के कलुषित कर्म प्रकंपित होने लगते हैं। पंछी जैसे अपने शरीर पर लगे रजकणों को पंखों को फड़फड़ाकर झटका देता है, वैसे ही साधना के द्वारा साधक के कर्म रज प्रकंपित होकर आत्मा से विलग हो जाते हैं। कर्मों का अलगाव ही आत्मा के सौन्दर्य को प्रकट कर देता हैं। अनंत जन्मों का तम प्रकाश की एक किरण से विलीन हो जाता है। कर्म के क्षीण होते ही ज्ञान-दर्शन जो आत्मा का स्वभाव है वह व्यक्त हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यह ज्ञान शास्त्रीय–बौद्धिक ज्ञान से भिन्न है। इसमें किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती है, न इसमें निकटता या दूरी का व्यवधान रहता है। यह ज्ञान अमर्यादित–असीम होता है, विश्व-लोक के इस छोर और उस छोर की परिधि भी वहां नहीं रहती। वस्तु के अनंत धर्मों का अवलोकन अविलंब हो जाता है। इसे केवलज्ञान कहते हैं। यही कैवल्य अवस्था है। ज्ञान और दर्शन–ये दो शब्द सिर्फ वस्तु के बोध की अवस्था मात्र है। दर्शन में वस्तु का सामान्य बोध होता है और ज्ञान में वस्तु का अनंत धर्मों–पहलुओं का ज्ञान होता है। एक सामान्य जानकारी देता है और एक विशिष्ट। इस ज्ञान के अधिकारी व्यक्ति को जिन–केवली कहते हैं। लोक व अलोक के दर्शन में केवली ही सक्षम होते हैं।

जिन या केवली जब अपने स्थूल शरीर का त्याग करते हैं तब कुछ ही क्षणों में मन, वाणी व देह के योगों यानी प्रवृत्ति का निरोध कर मेरु पर्वत की भांति अचल अवस्था को प्राप्त कर समस्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सिद्धत्व का वरण कर लेते हैं। आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

मुक्तात्मा–सिद्धत्व को प्राप्त आत्मा का अवस्थान लोक का अग्रभाग है। इससे आगे न गति है और न स्थिति है। आकाश के दो विभाग हैं–एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। अलोक में आकाश के अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं है। लोक में ही गति, स्थिति, जीव और पुद्गल है। गति और स्थिति द्रव्य के अभाव में जीव और पुद्गलों का अलोकाकाश में अवस्थिति नहीं होती। लोकाकाश और अलोकाकाश की मर्यादा इन्हीं के कारण से होती है। सिद्ध शुद्धात्मा है। स्थूल आदि शरीरों के छूटने पर आत्मा एक समय में लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाता है। यह आत्मा के पूर्ण मुक्त होने की अवस्था है। साधना की सिद्धि का यही अंतिम मुकाम है।

**५५. अभूवंश्च भविष्यन्ति, सुव्रता धर्मचारिणः।**
**एतान् गुणानुदाहुस्ते, साधकाय शिवङ्करान्॥**

**जो सुव्रत और धार्मिक हुए हैं और होंगे, उन्होंने साधक के लिए कल्याण करने वाले इन्हीं गुणों का निरूपण किया है।**

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**मिथ्या-सम्यग्-ज्ञान-मीमांसानामा नवमोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १०

# आमुख

मुनि साधक है। वह मोक्ष का अधिकारी है। मुनि बनते ही मोक्ष नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो समस्त संसार मुनि बनता और मुक्त हो जाता। मुनि की नैश्चयिक और व्यावहारिक साधना सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मूलक होती है। जहां इस रत्नत्रयी में स्खलना होती है, वहां साधुत्व भी अक्षुण्ण नहीं रहता। निश्चयनय की दृष्टि से रत्नत्रयी की आराधना आत्मा की आराधना है। व्यवहारनय की दृष्टि में उनकी आराधना के लिए आलंबन लेना पड़ता है। क्योंकि जब तक शरीर है, तब तक गति, आगति, स्थिति, भाषण, आहार आदि की भी अपेक्षा रहती है। ये कैसे होने चाहिए? इन्हीं जिज्ञासाओं के समाधान भगवान् महावीर की दृष्टि में यहां प्रस्तुत हैं।

मन, वाणी और शरीर की निवृत्ति है मोक्ष। किन्तु निवृत्ति सीधी नहीं आती। प्रवृत्ति और निवृत्ति का क्रम है। निवृत्ति के साथ प्रारंभ में प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति। निवृत्ति के अंतिम बिंदु पर जब साधक पहुंच जाता है तब वह प्रवृत्ति के जाल से मुक्त हो जाता है।

साधक प्रारंभिक दशा में प्रवृत्ति के लिए चलता है। वह प्रवृत्ति सत् होती है। सत्प्रवृत्ति असत् का निरोध कर देती है। निवृत्ति के अंतिम बिन्दु से पहले तक प्रवृत्ति चलती है। साधक यह जानता है कि एक ही झटके में प्रवृत्ति को नहीं तोड़ा जा सकता। वह चाहता है कि अपने जीवन में निवृत्ति को प्रमुखता दे, किन्तु यह कैसे हो सकता है? प्रस्तुत अध्याय में यह प्रतिपादित है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# संयतचर्या

**मेघः प्राह**

**१. कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्, शयीतासीत वा कथम्।**
**कथं भुञ्जीत भाषेत, साधको ब्रूहि मे प्रभो!**

**मेघ बोला–हे प्रभो! मुझे बताइए, साधक कैसे चले? कैसे ठहरे? कैसे सोए? कैसे बैठे? कैसे खाए? और कैसे बोले?**

मेघकुमार ने यहां छह प्रश्न प्रस्तुत किए हैं। इन छहों प्रश्नों में साधक जीवन के सारे पहलु समा जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इन प्रश्नों में सारा योग समा जाता है।

व्यक्ति जब साधक-जीवन में प्रवेश करता है तब उसका चलना, बैठना, खाना आदि विशेष लक्ष्य से संबंधित हो जाते हैं। अतः उसे उन सभी प्रवृत्तियों की कुशलता प्राप्त करने के लिए लंबे समय तक प्रशिक्षण लेना होता है। यहां से योग का प्रारंभ होता है।

गीता में भी अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछते हैं–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव!
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत् किम्॥

केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है? वह कैसे बोले? कैसे बैठे? और कैसे चले?

**भगवान् प्राह**

**२. यतं चरेद् यतं तिष्ठेत्, शयीतासीत वा यतम्।**
**यतं भुञ्जीत भाषेत, साधकः प्रयतो भवेत्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**भगवान् ने कहा—साधक संयमपूर्वक चले, संयमपूर्वक ठहरे, संयमपूर्वक सोए, संयमपूर्वक बैठे, संयमपूर्वक खाए और संयमपूर्वक बोले। उसे प्रत्येक कार्य में संयत होना चाहिए।**

यतना का अर्थ है—जागना। जो जागता है वह पाता है और जो सोता है वह खोता है। जागरूकता प्रत्येक क्रिया में सरसता भर देती है। असावधानी सरस जीवन को भी नीरस बना देती है। भगवान् महावीर ने साधक को सचेत करते हुए कहा है—'तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो।' प्रमाद जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। हमारी लापरवाही हमारे लिए ही अभिशाप बनती है। कार्य को समय पर न करने से काल उसका रस पी जाता है। मनुष्य के लिए फिर अनुताप शेष रहता है।

**३. जलमध्ये गता नौका, सर्वतो निष्परिस्रवा।**
**गच्छन्ती वाऽपि तिष्ठन्ती, परिगृह्णाति नो जलम्॥**

**जल मध्य में खड़ी हुई नौका, जो सर्वथा छिद्ररहित हो, चाहे चले या खड़ी हो, जल को ग्रहण नहीं करती। उसमें जल नहीं भरता।**

**४. एवं जीवाकुले लोके, मुमुक्षुः संवृतास्रवः।**
**गच्छन् वा नाम तिष्ठन् वा, नादत्ते पापकं मलम्॥**

**इसी प्रकार जिस साधक ने आस्रव का निरोध कर लिया, वह इस जीवाकुल लोक में रहता हुआ, चाहे चले या खड़ा रहे, पाप-मल को ग्रहण नहीं करता।**

जो साधक अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ शुभ में प्रवृत्त हुआ है, उसका ध्येय है—प्रवृत्ति-मुक्त होना। प्रवृत्ति-मुक्त होने से पूर्व जो शरीरापेक्ष क्रिया करता है, वह कैसे पाप रहित हो, इसका उत्तर यहां दिया है। महावीर ने उसके लिए एक छोटा-सा सूत्र दिया है। वह है—यतना, जागरूकता, सचेतनता। यतना को धर्म-जननी कहा है—**'जयणेव धम्म जननी'**। यतना का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि आप जो क्रिया कर रहे हैं उसमें डूबे रहें। डूबने का अर्थ है—आपको अपना होश नहीं है। यतना अपने आप में बहुत गहरी है। उसका अभिप्राय है—

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रत्येक क्रिया के साथ आपको अपनी स्मृति रहे। जैसे—मैं चल रहा हूं, बैठ रहा हूं, बोल रहा हूं, लेट रहा हूं, भोजन कर रहा हूं, विचार कर रहा हूं आदि-आदि। स्वयं की स्मृति सतत उजागर रहने से क्रिया में होने वाला प्रमाद स्वतः शांत होता चला जाएगा। साधक का आचार के प्रति इतना सचेतन होने की आवश्यकता नहीं है जितना कि स्व-स्मरण के प्रति है। कबीर ने कहा है—यह शरीर रूपी चादर सबको मिली है, किन्तु प्रायः सभी मैली कर देते हैं। वे यतना (जतन) नहीं रखते "दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।' मैंने उस चादर को बड़ी सावधानी से धारण किया अतः वैसी की वैसी छोड़ रहा हूं। यह कठिन है इसलिए कि सावधानी नहीं है। सावधानी साधना के क्षेत्र में प्रवेश का प्रथम चरण है। पाप कर्म का प्रवेश जागरूकता में संभव नहीं है।

**मेघः प्राह**

**५. त्यक्तव्यो नाम देहोऽयं, पुरा पश्चाद् यदा कदा।**
**तत् किमर्थं हि भुञ्जीत, साधको ब्रूहि मे प्रभो!**

**मेघ बोला—प्रभो! पहले या पीछे जब कभी एक दिन इस शरीर को छोड़ना है तो साधक किसलिए खाए? मुझे बताइए।**

**भगवान् प्राह**

**६. बहिस्तात् ऊर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदाचन।**
**पूर्वकर्मविनाशार्थं, इमं देहं समुद्धरेत्॥**

**भगवान ने कहा—साधक ऊर्ध्वलक्षी होकर कभी भी बाह्य-विषयों की आकांक्षा न करे। केवल पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।**

संसार और मोक्ष ये दो तत्त्व हैं। दोनों दो दिशाओं के प्रतिनिधि हैं। मोक्ष को अभीप्सित है आत्म-सुख और संसार को अभीप्सित है दैहिक सुख। मनुष्य जब दैहिक सुख से ऊब जाता है तब वह आत्मिक सुख की ओर दौड़ता है। फिर वह संसार में नहीं रहता। शरीर सुख आत्मिक सुख के सामने नगण्य है, लेकिन जो व्यक्ति उसे ही देखता है वह मोक्ष से दूर चला जाता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। मोक्षार्थी का लक्ष्य होता है आत्मिक सुख का आविर्भाव करना। वह दैहिक सुख से निवृत्त होता है और आत्मिक सुख में प्रवृत्त। उसे शरीर से मोह नहीं होता। वह शरीर-निर्वाह के लिए भोजन करता है, न कि स्वाद के लिए। शरीर-पोषण का जहां ध्येय होता है वहां मोक्ष गौण हो जाता है। और जहां शरीर मोक्ष के लिए होता है वहां सारी क्रियाएं मोक्षोचित हो जाती हैं।

इस श्लोक में शरीर-धारण या निर्वाह का एक मुख्य कारण बताया है और वह है कर्म-क्षय। कर्म-क्षय के अनेक हेतु हैं। देहधारी व्यक्ति ही धर्म-व्यवहार कर सकता है। इसी का समर्थन अगले श्लोक में किया गया है।

७. विनाहारं न देहोऽसौ, न धर्मो देहमन्तरा।
निर्वाहं तेन देहस्य, कर्त्तुमाहार इष्यते॥

**भोजन के बिना शरीर नहीं टिकता और शरीर के बिना धर्म नहीं होता, अतः शरीर का निर्वाह करने के लिए साधक भोजन करे, यह इष्ट है।**

८. व्रज्याक्षुत्शान्तिसेवायैः, प्राणसन्धारणाय च।
संयमाय तथा धर्मचिन्तायै मुनिराहरेत्॥

**मुनि व्रज्या—गमनशक्ति, क्षुधाशांति, संयमी सेवा, प्राणधारण, संयम यात्रा तथा धर्मचिंतन कर सके वैसी शक्ति बनाये रखने के लिए भोजन करे।**

९. आतङ्के उपसर्गे च, जातायां विरतौ तनौ।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षायै, दयायै प्राणिनां तथा॥

१०. नानारूपं तपस्तप्तुं, कर्मणां शोधनाय च।
आहारस्य परित्यागः, कर्तुमर्हति संयतिः॥
(युग्मम्)

**असाध्य रोग, भयंकर उपसर्ग, शरीर में विरक्ति, ब्रह्मचर्य की रक्षा, जीव-हिंसा से विरति, नाना प्रकार के तप और कर्म के विशोधन के लिए मुनि को भोजन का परित्याग करना उचित है।**

प्रस्तुत श्लोकों में भोजन करने और न करने के कारणों का उल्लेख है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भोजन करने के पांच कारण ये है–
१. क्षुधा को शांत करने के लिए।
२. सेवा करने के लिए।
३. प्राणों को धारण करने के लिए।
४. संयम की सुरक्षा के लिए।
५. धर्म-चिंता करने के लिए।
भोजन न करने के छह कारण ये हैं–
१. रोग हो जाने पर।
२. शरीर के प्रति विरक्ति हो जाने पर।
३. ब्रह्मचर्य-पालन के लिए।
४. दया के लिए।
५. संकल्प को दृढ़ करने के लिए।
६. प्रायश्चित्त के लिए।

ये सभी कारण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए निर्दिष्ट हैं।

साधक एकमात्र शरीर-निर्वहन करने के लिए खाता है, रस-तुष्टि के लिए नहीं। पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन शरीर है। साधक के लिए उसकी सुरक्षा भी उतनी ही अपेक्षित है जितनी आत्मा की। शरीर के माध्यम से ही अशरीर की साधना की जाती है।

बौद्ध ग्रंथों में भी आहार करने की मर्यादा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'भिक्षु-क्रीड़ा, मद, मंडन या विभूषा के लिए भोजन न करे किन्तु शरीर को रखने के लिए, रोग के उपशमन के लिए तथा ब्रह्मचर्य के पालन के लिए भोजन करे।'

**११. अल्पवारमनासक्तः, वस्तून्यल्पानि संख्यया।**
**मात्रामल्पाञ्च भुञ्जानो, मिताहारो भवेद् यतिः॥**

**जो मुनि अनासक्त भाव से एक या दो बार खाता है, संख्या में अल्प वस्तुएं और मात्रा में अल्प खाता है, वह मितभोजी है।**

**१२. जितः स्वादो जितास्तेन, विषयाः सकलाः परे।**
**रसो यस्यात्मनि प्राप्तः, स रसं जेतुमर्हति॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिसने स्वाद को जीत लिया, उसने सब विषयों को जीत लिया। जिसे आत्मा में रस–आनन्द की अनुभूति हो गई, वही पुरुष रस–इन्द्रिय-विषयों को जीत सकता है।**

**१३. न वामाद् हनुतस्तावत्, संचारयेच्च दक्षिणम्।**
**दक्षिणाच्च तथा वामं, आहरन् मुनिरात्मवित्॥**

**आत्मविद् मुनि भोजन करते समय स्वाद लेने के लिए दाएं जबड़े से बायीं ओर तथा बाएं जबड़े से दायीं ओर भोजन का संचार न करे।**

**१४. स्वादाय विविधान् योगान्, न कुर्यात् खाद्यवस्तुषु।**
**संयोजनां परित्यज्य, मुनिराहारमाचरेत्॥**

**मुनि स्वाद के लिए खाद्य-पदार्थों में विविध प्रकार के संयोग न मिलाए। इस संयोजना दोष का वर्जन कर वह भोजन करे।**

स्वाद-विजय परम-विजय है। जो व्यक्ति रसनेन्द्रिय पर विजय पा लेता है, उसके लिए अन्यान्य इन्द्रियों पर विजय पाना इतना कठिन नहीं होता।

भूख को शांत करने के लिए व्यक्ति खाता है। भोज्य पदार्थ स्वादिष्ट और अस्वादिष्ट भी होते हैं। जीभ का काम है–चखना। पदार्थ का स्पर्श पाकर जीभ जान लेती है कि यह स्वादिष्ट है या नहीं। इसे रोका नहीं जा सकता। प्रत्येक इन्द्रिय अपनी-अपनी मर्यादा में विषय का ज्ञान कराती है। उसे रोका नहीं जा सकता। किन्तु इन्द्रिय-विषयों के प्रति होने वाली आसक्ति से बचा जा सकता है। यही साधना है।

इसी प्रकार स्वाद में आसक्त होने से बचना स्वाद-विजय है।

इसके दो मुख्य उपाय हैं :

१. भोजन करने के लक्ष्य का स्पष्ट अनुचिंतन।

२. समता का अभ्यास।

ये दोनों उपाय साधक को आत्माभिमुख करते हैं। जब उसे आत्मरस का स्वाद आने लगता है तब पौद्गलिक रस से उसका मन हट जाता है।

प्रस्तुत श्लोकों में स्वाद-विजय के तीन उपाय निर्दिष्ट हैं :

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१. आत्मरसानुभूति की ओर प्रवृत्ति।

२. एक जबड़े से दूसरे जबड़े की ओर असंचरण।

३. स्वाद के लिए खाद्य-पदार्थों के मिश्रण का वर्जन।

गीता में भी कहा है–

**विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते॥**

**१५. अप्रमाणं न भुञ्जीत, न भुञ्जीताप्यकारणम्।**
**श्लाघां कुर्वन्न भुञ्जीत, निन्दन्नपि न चाहरेत्॥**

**मुनि मात्रा से अधिक न खाए, निष्कारण न खाए, सरस भोजन की सराहना और नीरस भोजन की निन्दा करता हुआ न खाए।**

इस श्लोक में भोजन करने का विवेक दिया गया है। आयुर्वेद में भी आहार के तीन प्रकार बताए गये हैं–हीनाहार, मिताहार और अति आहार। मिताहार स्वास्थ्य के अनुकूल होता है। हीनाहार और अतिआहार स्वास्थ्य के प्रतिकूल होता है। यद्यपि कुछ व्यक्तियों का विश्वास है कि हीनाहार से पाचन-क्रिया ठीक होती है, पर आयुर्वेद की दृष्टि से वह सही नहीं है जैसा कि कहा गया है–

'हीन आहर से बल, सौन्दर्य और पुष्टता नष्ट होती है। आयुष्य और ओज की हानि होती है। शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रिय का विनाश होता है। तथा अस्सी प्रकार के वायु रोग उठ खड़े होते है।'

आयुर्वेद में कहा है–

**आहारमग्निः पचति, दोषानाहारवर्जितः।**
**धातून् क्षीणेषु दोषेषु, जीवितं धातुसंक्षये॥**

'अग्नि आहार को पचाती है। आहार के अभाव में वह दोषों को पचाती है। दोष क्षीण होने पर वह धातु को और धातुओं के क्षीण होने पर वह जीवन को लील जाती है।'

आहार कैसे करें?–स्वास्थ्यविदों ने भोजन करने की कुछ विधियां निश्चित की हैं। वे बहुत उपयोगी हैं। उनमें पहली विधि यह है :

१. **तन्मना भुंजीत**–आहार करते समय मन आहार में ही रहना चाहिए।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२. **नातिद्रुतमश्नीयात्**—बहुत जल्दी-जल्दी नहीं खाना चाहिए।

३. **नातिविलम्बितमश्नीयात्**—बहुत धीरे-धीरे नहीं खाना चाहिए।

४. **अजल्पन् अहसन् तन्मना भुंजीत**—भोजन करते समय न बातचीत करनी चाहिए और न हंसना चाहिए। मन केवल भोजन में रहना चाहिए।

**ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।**
**प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥**
**मात्रयाप्यभ्यवहृतं, पथ्यं चान्नं न जीर्यति।**
**चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥**

—'भोजन करते समय मन शांत रहना चाहिए। क्योंकि ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, रोग, दीनता, प्रद्वेष, चिंता, शोक, दुःख-शय्या और रात्रि-जागरण—इन अवस्थाओं से प्रभावित व्यक्ति जो खाता है उसका ठीक-ठीक परिपाक नहीं होता। वह यदि पथ्य आहार करता है और युक्त मात्रा में करता है, फिर भी उसका खाया हुआ भोजन उचित रूप में नहीं पचता।'

**मेघः प्राह**

१६. **जायन्ते ये म्रियन्ते ते, मृताः पुनर्भवन्ति च।**
**तत्र किं जीवनं श्रेयः, श्रेयो वा मरणं भवेत्॥**

**मेघ बोला—जिनका जन्म होता है, उनकी मृत्यु होती है। जिनकी मृत्यु होती है, उनका पुनः जन्म होता है। ऐसी स्थिति में जीना श्रेय है या मरना?**

**भगवान् प्राह**

१७. **संयमासंयमाभ्यां तु, जीवनं द्विविधं भवेत्।**
**संयतं जीवनं श्रेयः, न श्रेयोऽसंयतं पुनः॥**

**भगवान् ने कहा—जीवन दो प्रकार का होता है—संयत जीवन और असंयत जीवन। संयत जीवन श्रेय है, असंयत जीवन श्रेय नहीं है।**

१८. **सकामाकामभेदेन, मरणं द्विविधं स्मृतम्।**
**सकाममरणं श्रेयः, नाऽकाममरणं भवेत्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मृत्यु के दो प्रकार हैं—सकाम मृत्यु—आत्मविशुद्धि की भावना से युक्त और अकाम मृत्यु—आत्मविशुद्धि की भावना से रहित। सकाम मृत्यु श्रेय है। अकाम मृत्यु श्रेय नहीं है।**

**जीवन से मरना भला, जो मर जाने कोय।**
**मरना पहिले जो मरे, अजर-अमर सो होय॥**

कबीर ने कहा है—मरना अच्छा है अगर किसी को मरने की कला आ गई हो तो। और मृत्यु की कला यही है कि मरने से भी पहिले व्यक्ति मृत्यु को देख ले। बस, मृत्यु खत्म हो गयी। महर्षि रमण के सम्पूर्ण जीवन का क्रांति-सूत्र मृत्यु-दर्शन ही है। एक बार वे छोटी उम्र में मरणासन्न हो गए। बचने की आशा नहीं थी। लेट गए और देखने लगे। शरीर मृतवत्—निश्चेष्ट हो गया। हाथ पैर उठाने पर भी हिलते-डुलते, उठते नहीं। शांत स्थिति में शरीर को देखते रहे। देखते-देखते यह देख लिया कि शरीर मर चुका है। किन्तु देखने वाला (द्रष्टा) अब भी जीवित है। मौत व्यर्थ हो गई। अजर-अमर की अनुभूति हो गई।

यहां न जीवन का मूल्य है और न मृत्यु का। दोनों अनेकों बार हो चुके, किंतु मृत्यु का समुचित निरीक्षण नहीं किया, मृत्यु को जाना नहीं। जीवन का पता भी मृत्यु को जान लेने के बाद चलता है। सभी धर्म उस परम सत्य के साक्षात्कार की विधि हैं। वे मानव के मूल रूप की अभिव्यक्ति के आलंबन हैं। बुद्ध कहते हैं—'जब तक तुम्हें ख्याल है कि तुम हो, तब तक तुम्हारा भय नहीं मिट सकता। यदि भय से मुक्त होना चाहते हो तो तुम पहले ही मान लो कि तुम हो ही नहीं। तुम इस तरह जीओ कि जैसे हो ही नहीं। जिस क्षण यह अनुभव हो जाएगा, भय नहीं रहेगा।'

महावीर ने इस अनुभूति के लिए कायोत्सर्ग प्रतिमा दी है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—देह के प्रति जो अनुराग है, उससे निवृत्त होना। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—काय आदि पर-द्रव्यों में स्थिरत्व की बुद्धि को छोड़कर जो निर्विकल्प रूप से आत्मा का ध्यान करता है वह कायोत्सर्ग में स्थित है। देह का बार-बार विसर्जन कर मृतवत् हो सत्य का साक्षात्कार करना ही कायोत्सर्ग प्रतिमा है। 'स्यूयून' साधक से किसी ने पूछा—ध्यान क्या है? स्यूयून ने कहा—ध्यान मिटा देने में है, स्वयं को मिटा देने में है। यदि तुम भी मुर्दे की भांति स्वयं को जीवित ही मिटा दो तो तुम ध्यान में हो।' बनयान की कविता का पद है—

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

'जीते जी मृतवत् हो जाओ,
पूर्णतया मृतवत् हो जाओ।
और तब जो जी में आए करो,
क्योंकि तब सब ठीक है।'

जीवन और मृत्यु की श्रेष्ठता का परिमापक यंत्र संयम है। संयम का अर्थ है—आत्मकेन्द्रित होना, बाहरी वृत्तियों से सर्वथा उदासीन हो जाना। जिसे स्वयं के अतिरिक्त कहीं रस प्रतीत न होता हो, वह संयम का अधिकारी होता है। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु स्वयं की विस्मृति में कैसे होगी? जीवन और मृत्यु श्रेष्ठ नहीं है, श्रेष्ठ है—संयम, स्वयं में जीना, स्वयं की स्मृति में जीना।

१९. अकामं नाम बालानां, मरणं जायते मुहुः।
पण्डितानां सकामं तु, अल्पादल्पं सकृद् भवेत्॥

**बाल—असंयमी जीवों का बार-बार अकाम-मरण होता है। पंडित—संयमी जीवों का सकाम-मरण होता है और वह अधिक बार नहीं होता—कम से कम एक बार और उत्कृष्टतः पन्द्रह बार होता है, फिर वह मुक्त हो जाता है।**

२०. पतित्वा पर्वताद् वृक्षात्, प्रविश्य ज्वलने जले।
म्रियते मूढचेतोभिः, अप्रशस्तमिदं भवेत्॥

**मूढ चेतना वाले लोग पर्वत या वृक्ष से नीचे गिरकर, अग्नि या जल में प्रवेश कर मरते हैं, वह अप्रशस्तमरण—अकाममरण कहलाता है।**

२१. ब्रह्मचर्यस्य रक्षायै, कुर्यात् प्राणविसर्जनम्।
प्रशस्तं मरणं प्राहुः, रागद्वेषाऽप्रवर्तनात्॥

**ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्राणों का विसर्जन करना प्रशस्त मरण—सकाममरण कहलाता है, क्योंकि वहां राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती।**

आत्महत्या प्रशस्त नहीं है। उसके पीछे जो हेतु है उसमें जिजीविषा का भाव प्रधान है। जिन कारणों से आत्महत्या की जाती है, उनकी पूर्ति हो जाने पर वह रुक सकती है। आत्महत्या की ओर व्यक्ति तभी अग्रसर होता है जब उसके स्वाभिमान पर चोट आती है, कोई भयंकर विपत्ति आ जाती है, गहरा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आघात लगता है, जो चाहता है वह प्राप्त नहीं होता है—आदि। इन सबके मूल में राग-द्वेष प्रमुख हैं। किंतु जहां इनमें से कोई कारण उपस्थित न हो, व्यक्ति अपने नश्वर शरीर को अनुपयोगी मान राग-द्वेष से विमुक्त अवस्था में शरीर को छोड़ने का उपक्रम करता है, वह आत्महत्या नहीं है। आत्महत्या आवेश में होती है। आवेश या आवेग समाप्त हो जाने के बाद आप उसे मरने के लिए कहेंगे तो वह तैयार नहीं होगा। किंतु स्वेच्छापूर्वक शरीर के विसर्जन में कोई आवेश या आवेग नहीं है। मृत्यु चाहे आज आए या कल, उसे आप सर्वदा शांत और प्रसन्न पायेंगे। मृत्यु उसके लिए भयावह नहीं है और न पीड़ा का कारण है।

**२२. यस्य किञ्चिद् व्रतं नास्ति, स जनो बाल उच्यते।**
**व्रताव्रतं भवेद् यस्य, स प्रोक्तो बालपण्डितः॥**

**जिसमें कुछ भी व्रत नहीं होता, वह मनुष्य 'बाल' कहलाता है। जिसके व्रत-अव्रत—दोनों होते हैं—पूर्ण व्रत भी नहीं होता और पूर्ण अव्रत भी नहीं होता, वह 'बाल-पंडित' कहलाता है।**

**२३. पण्डितः स भवेत् प्राज्ञो, यस्य सर्वव्रतं भवेत्।**
**सुप्तः सुप्तश्च जाग्रच्च, जाग्रदुक्तिविधानतः॥**

**जिसके पूर्ण व्रत होता है वह प्राज्ञ पुरुष 'पंडित' कहलाता है। पूर्वोक्त रीति के अनुसार पुरुषों के तीन प्रकार होते हैं : १. सुप्त, २. सुप्त-जागृत, ३. जागृत। अव्रती को सुप्त, व्रताव्रती को सुप्त-जागृत और सर्वव्रती को जागृत कहा जाता है।**

**२४. एवमधर्मपक्षेऽपि धर्माधर्मेऽपि कश्चन।**
**धर्मपक्षे स्थितः कश्चित्, त्रिविधो विद्यते जनः॥**

**पक्ष तीन होते हैं :**
**१. अधर्म-पथ, २. धर्माधर्म-पक्ष, ३. धर्म-पक्ष।**
**इन तीन पक्षों में अवस्थित होने के कारण पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं : १. अधर्मी, २. धर्माधर्मी और ३. धर्मी।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्राणियों के इन तीन विकल्पों का आधार आंतरिक है। भेदों की मीमांसा यहां अभीष्ट नहीं है। साधक की दृष्टि अंतर्मुखी होती है। वह अंतर को देखता है। महावीर ने देखा—प्राणी अभी गहन अंधकार में पड़े हुए हैं। बहुत से मनुष्य भी तम की यात्रा पर चल रहे हैं, धर्म के प्रति उनमें कोई आकर्षण नहीं है। महावीर ने कहा—वे बाल हैं, बच्चे हैं, नादान हैं, अविवेकी हैं, वे संस्कारों के पाश में बद्ध हैं। उनका केन्द्र-बिन्दु बहिर्जगत् है।

दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को वे कहते हैं—बाल-पंडित। ये ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें विवेक भी है और अज्ञान भी है। ये पूर्णतया सोये भी नहीं हैं और पूर्णतया जगे भी नहीं हैं। इनके जीवन में जागरण और निद्रा दोनों चल रहे हैं, कुछ जागते हैं और कुछ सोते हैं। जागरण शुरू तो हो जाता है किंतु उसका पूर्ण विकास नहीं होता। इस दशा में ममत्व, आसक्ति, राग, द्वेष, मोह, क्लेश आदि वृत्तियां उठती हैं, गिरती हैं। इसलिए इस अवस्था का नाम धर्म-अधर्म पक्ष, बाल-पंडित रखा है।

तीसरा पक्ष स्पष्ट है। यहां चेतना अकुशल वृत्तियों से हटकर कुशल में प्रविष्ट हो जाती है। साधक अंतर्जीवन के सघन-सागर में निमग्न रहता है। आत्म-स्मृति से प्रतिक्षण जुड़ा रहता है। संतों ने इस स्मरण को ही सार कहा है—

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**कबिरां सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।**
**आदि अन्त मध्य सुमिरन, बाकी है भ्रम जाल॥**

यह यात्रा धर्म की है, अनासक्ति की है और सहजता की है। इसलिए इसे धर्म-पक्ष, 'पंडित' कहा है।

**२५. हव्यवाहः प्रमथ्नाति, जीर्णं काष्ठं यथा ध्रुवम्।**
**तथा कर्म प्रमथ्नाति, मुनिरात्मसमाहितः॥**

**जिस प्रकार अग्नि जीर्ण काष्ठ को भस्म कर डालती है उसी प्रकार समाधियुक्त आत्मा वाला मुनि कर्मों को भस्म कर डालता है।**

**'जं अण्णाणी कम्मं खवेई बहुयावि वाससयसहस्सेहिं।**
**तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेई उच्छासमेत्तेण॥'**

अज्ञानी को जिन कर्मों के क्षय करने में लाखों वर्ष लगते हैं, वहां मनोवाक्काय से संयमित ज्ञानी उन कर्मों को श्वास मात्र में क्षय कर देता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इससें संयम–संवर या निवृत्ति की महत्ता स्पष्ट अभिलक्षित होती है। महत्त्व क्रिया का नहीं है। महत्त्व है संयमयुक्त क्रिया का। यह सूत्र प्रत्येक व्यक्ति के हृदय-पटल पर अंकित रहना चाहिए। योगों (मन, वचन, काय) से संयम (गुप्ति) के अभाव में कष्ट बहुत उठाया जाता है, किंतु सार बहुत कम निकलता है। समग्र साधना-पद्धति प्रवृत्तियों के संयमन की है। आत्मशासित साधक वह होता है जो बाहर से सर्वथा संयमित होकर आत्म-ध्यान में प्रतिष्ठित हो गया है। जिसने पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान की यात्रा का अंत कर रूपातीत की यात्रा शुरू कर दी है, जिसके ध्यान के लिए अब बाहर के विषय–अवलंबन छूट चुके हैं। वह आत्म-समाधि-संपन्न साधक कर्मों को इतनी शीघ्रता से भस्मसात् कर देता है, जैसे कि अग्नि सूखे काष्ठ को क्षणभर में ही भस्मसात् कर देती है।

**२६. कर्मानुभावतो जीवः, नानागतिसु गच्छति।**
**परोक्षे द्वे प्रविद्येते, संशयस्तत्र जायते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**कर्म के अनुभाव से जीव नाना गतियों में परिभ्रमण करता है। नरक और स्वर्ग–ये दो परोक्ष हैं। परोक्ष के विषय में संशय उत्पन्न हो जाता है।**

संशय का क्षेत्र प्रत्यक्ष नहीं है। मनुष्य और तिर्यंच गति जैसे प्रत्यक्ष है वैसे नरक और देव गति नहीं है। हालांकि मनुष्य व तिर्यंच गति भी स्थूल रूप से प्रत्यक्ष है, सूक्ष्म रूप से नहीं। इनमें भी संशय के कई कारण बन सकते हैं। नरक और देव परोक्ष होते हुए भी कुछ-कुछ स्थितियों में प्रत्यक्ष जैसे परिचय करा देते हैं। सूक्ष्म शरीर के फोटो, सूक्ष्म जगत की विचित्र विचित्र घटनाएं पूर्वजन्म की स्मृतियां, सूक्ष्म-शरीरों की स्थूल शरीर जैसी चेष्टाएं तथा अनुकूल व्यक्तियों का सहयोग व प्रतिकूलों का असहयोग आदि ऐसे कर्तव्य हैं जिनसे उनके अस्तित्व का स्पष्ट बोध हो जाता है।

प्रत्यक्षद्रष्टा–आत्मज्ञानी आप्तपुरुषों का सहवास अथवा उनका उपदेश भी संशय के निराकरण में हेतु बनता है। आत्मद्रष्टाओं के लिए कुछ भी अप्रत्यक्ष नहीं है। वे सब कुद सहज देखते हैं और जैसा देखते हैं वैसा ही निरूपण करते हैं। विश्वास या श्रद्धा के वे ही एकमात्र केन्द्र होते हैं। इसलिए कहा है–'वह सत्य है, निःशंकित है, परिपूर्ण है, अनुत्तर है, जिसका निरूपण जिनों–आत्मद्रष्टाओं ने किया है।' भगवान् महावीर इसी संदेह की निवृत्ति के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लिए मेघ से कह रहे हैं कि 'नरक नहीं है, स्वर्ग नहीं है' इस प्रकार 'संज्ञा' अवधारणा या कल्पना न करे।' वे हैं यह असंदिग्ध है। इसका कारण है—तदनुरूप कर्मों का विपाक, फल। सत्कर्मों का फल स्वर्ग है और असत् कर्मों का फल नरक।' दुःख और सुख कर्म का ही अनुभाग—विपाक है।

**२७. नरको नाम नास्तीति, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।**
**स्वर्गोऽपि नाम नास्तीति, नैवं संज्ञां निवेशयेत्॥**

**'नरक नहीं है'—इस प्रकार की अवधारणा न करे। 'स्वर्ग नहीं है'—इस प्रकार की भी अवधारणा न करे।**

मनुष्य प्रत्यक्ष में संदिग्ध नहीं होता। वह संदिग्ध होता है परोक्ष में। दृश्य में जितना विश्वास है उतना अदृश्य में नहीं; जबकि सत्य दोनों हैं। प्रत्यक्ष में सत्य का आग्रह करने वाला परोक्ष की सचाई को झुठला देता है।

मनुष्य और तिर्यंच—ये दोनों योनियों प्रत्यक्ष हैं, वैसे स्वर्ग और नरक नहीं। लेकिन उनके प्रत्यक्ष न होने से वे नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के ज्ञान की एक सीमा होती है। वह इस सीमा से परे का विषय है। जिस व्यक्ति का आवरण हट जाता है, उसके लिए मनुष्य जैसा ही वह प्रत्यक्ष है। इसलिए अपनी क्षमता को बढ़ाए न कि सत्य को झुठलाए। भगवान् महावीर ने इसलिए अपने शिष्यों से कहा कि—'नरक और स्वर्ग नहीं है'—ऐसा संज्ञान मत करो।

**२८. पञ्चेन्द्रियवधं कृत्वा, महारम्भपरिग्रहौ।**
**मांसस्य भोजनश्चापि, नरकं याति मानवः॥**

**जो पुरुष पंचेन्द्रिय का वध करता है, महा-आरम्भ—हिंसा करता है, महा-परिग्रही होता है और जो मांस-भोजन करता है, वह नरक में जाता है।**

**२९. सरागसंयमो नूनं, संयमासंयमस्तथा।**
**अकामनिर्जरा बाल-तपः स्वर्गस्य हेतवः॥**

**स्वर्ग में जाने के चार कारण हैं : १. सराग संयम—अवीतराग का संयम, २. संयमासंयम—अपूर्ण संयम, ३. अकाम निर्जरा—जिसमें मोक्ष का उद्देश्य न हो वैसे तप से होने वाली आत्मशुद्धि और ४. बाल-तप—अज्ञानी का तप।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३०. विनीतः सरलात्मा च, अल्पारम्भपरिग्रहः।
सानुक्रोशोऽमत्सरी स, जनो याति मनुष्यताम्॥

जो विनीत और सरल होता है, अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह वाला होता है, दयालु और मात्सर्य रहित होता है, वह मृत्यु के बाद मनुष्य-जन्म को प्राप्त होता है।

३१. मायाञ्च निकृतिं कृत्वा, कृत्वा चासत्यभाषणम्।
कूटं तोलं न मानञ्च, जीवस्तिर्यग्गतिं व्रजेत्॥

तिर्यंच—पशु-पक्षी आदि की गति में उत्पन्न होने के चार कारण हैं : १. कपट, २. प्रवंचना, ३. असत्य-भाषण और ४. कूट तौल-माप।

इन चार श्लोकों में नरक, स्वर्ग, मनुष्य और तिर्यंच—इन चार गतियों की प्राप्ति के चार-चार कारण निर्दिष्ट हैं। इनके अध्ययन से यह सहज पता लग सकता है कि किस अध्यवसाय वाले प्राणी किस योनि में जाते हैं। कर्म का फल अवश्य होता है—यह जैन दर्शन का ध्रुव तथ्य है। अपने-अपने कर्मों के अनुसार व्यक्ति जन्म-मरण करता है। उपर्युक्त निर्दिष्ट कारण एक संकेत मात्र हैं। वे तथा उन जैसे अनेक कारणों के संयोग से व्यक्ति को वे-वे योनियां प्राप्त होती हैं। केवल ये ही कारण नियामक नहीं हैं। नरक जाने का एक हेतु मांसाहार है किन्तु मांस खाने वाले सभी व्यक्ति नरक में ही जाते हों, ऐसी नियामकता नहीं है। यह तथ्य अवश्य है कि मांसाहार व्यक्ति में क्रूरता पैदा करता है और उससे कर्म-परंपरा तीव्र होती चली जाती है।

अतः इन कारणों के आलोक में हमें स्पष्ट जान लेना चाहिए कि गति की प्राप्ति में किन-किन् अध्यवसायों या प्रवृत्तियों का क्या-क्या परिणाम होता है।

३२. शुभाशुभाभ्यां कर्माभ्यां, संसारमनुवर्तते।
प्रमादबहुलो जीवोऽप्रमादेनान्तमृच्छति॥

प्रमादी जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में अनुवर्तन करता है और अप्रमादी जीव संसार का अन्त कर देता है।

३३. बोधिमासाद्य जायन्ते, भवभ्रमणपराङ्मुखाः।
अबोधिः परमं कष्टं, बोधिः सुखमनुत्तरम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मनुष्य बोधि को प्राप्त कर संसार-भ्रमण से पराङ्मुख हो जाते हैं। अबोधि परम कष्ट है और बोधि अनुत्तर सुख।**

अबोधि दुःख है और बोधि सुख है। अबोधि का अर्थ—अज्ञान है और मिथ्याज्ञान भी है। अज्ञान से भी अधिक खतरनाक है मिथ्याज्ञान। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु अल्प ज्ञान है। मिथ्याज्ञान विपरीत ज्ञान है। संसार भ्रमण का मूल हेतु यही है। अबोधि संसार से विमुख नहीं करती। वह मानव को संसार की दिशा में ही लिए चलती है।

संसार की विमुखता के लिए बोधि अपेक्षित है। उसकी प्राप्ति उन्हीं से हो सकती है जो स्वयं बोधि को प्राप्त है, जिन्हें बोधि का स्पर्श हुआ है। सद्गुरु की उपासना, सत्संग का प्रयोजन का हेतु इसीलिए है। सद्गुरु की सन्निधि से अनेक लोगों ने जीवन-नैय्या पार की है। सत्संग को भव-सागर से पार करने के लिए नौका की उपमा ही है। **'सत्संङ्गात् संजायते ज्ञानं'** सत्संग से वह ज्ञान प्राप्त होता है जिसे पाकर व्यक्ति संसार से उदासीन बन जाता है, संसार के स्वरूप का उसे दिग्दर्शन हो जाता है। अबोधि ऐसा नहीं कर सकती। इसलिए अबोधि को दुःख कहा है। बोधि सहज ही व्यक्ति को शनैः-शनैः आत्मस्थ बना देती है, उसके अज्ञानतम का उच्छेद कर देती है और उसे पूर्ण सुखी-आनंदित बना देती है। बोधि प्राप्ति का एक उपाय है सत्संग, उसके अन्य नियम भी हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सबको सत्संग का योग मिले ही। कुछ-कुछ व्यक्ति स्वतः ही अपनी साधना के द्वारा सहज ही उसे प्राप्त कर लेते हैं, कुछ अन्य निमित्तों को पाकर बुद्धत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

**३४. स्वयं बुद्धा भवन्त्येके, केचित् स्युर्बुद्धबोधिताः।**
**केचित् प्रत्येकबुद्धाः स्युः, बोधिर्नानायना भवेत्॥**

**संसार का अन्त करने वालों में कुछ जीव 'स्वयंबुद्ध' होते हैं, कुछ 'बुद्धबोधित' होते हैं और कुछ 'प्रत्येक-बुद्ध' होते हैं। इस प्रकार बोधि की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं।**

बोधि का अर्थ है रत्नत्रयी—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र। इन तीनों का योग संसार का अंत करने वाला है। सम्यग् दर्शन सबका मूल है। बोधि-प्राप्ति सहज नहीं है। वह कुछ व्यक्तियों को बिना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उपदेष्टा के प्राप्त हो जाती है। वे 'स्वयंबुद्ध' कहलाते हैं। सभी तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं। यह पूर्व कर्म की अल्पता पर और वर्तमान की महान् तपस्या पर आधारित है।

कर्म-क्षय के बिना आत्मा की शुद्धि नहीं होती। अशुद्ध आत्मा में धर्म (बोधि) का अंकुर फूटता नहीं। दूसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो किसी उपदेष्टा के द्वारा धर्म को स्वीकार करते हैं। स्वयंबुद्ध कम होते हैं, अधिकांश व्यक्ति उपदेश से सत्य-मार्ग प्राप्त करते हैं। सत्यासत्य का निर्णय करने में वे स्वतंत्र होते हैं। उपदेशक उन्हें तत्त्व-दर्शन देते हैं। तत्त्व-ज्ञान को पाकर वे मुक्ति की ओर अपने आप ही प्रेरित होते हैं और दुःखों का अंत करते हैं। वे बुद्ध-बोधित होते हैं।

तीसरी श्रेणी के व्यक्तियों को बोधि के लिए बाहरी निमित्त मिलता है। वे कोई एक विशिष्ट घटना से प्रतिबुद्ध हो जाते हैं। वे 'प्रत्येक बुद्ध' कहलाते हैं। मिट्टी कुंभकार, चाक आदि निमित्त को पाकर घड़े आदि प्रकारों में रूपांतरित हो जाती है, इसी प्रकार अंतश्चेतना बाहरी कारणों से प्रबुद्ध हो जाती है। वे हैं निमित्त, न कि उपादान। निमित्त का कोई अस्तित्व नहीं रहता। महात्मा बुद्ध रोगी, वृद्ध और शव का योग पाकर संसार से विरक्त बन गए। महाराज भर्तृहरि अमरफल को देख संसार से उद्विग्न हो गए। जैन आगमों में ऐसी कई घटनाएं हैं। भरत चक्रवर्ती शरीर-प्रेक्षा करते-करते अनित्य-भाव में लीन हो गए। नमि राजर्षि—'एक चूड़ी का शब्द नहीं होता, अनेक होती हैं तब होता है', यह सोच एकत्व-भावना में लीन हो गए। 'जो वृक्ष प्रातः फूल और पत्तों से सुशोभित था, वही अब असुन्दर-सा प्रतीत होता है। जीवन का भी यही क्रम है। पहले सरस लगता है और बाद में नीरस'—इसी भावना से नग्गति नृप बोधि को प्राप्त हो गए। ये घटनाएं प्रत्येक-बुद्धत्व की हैं।

**३५. योग्यताभेदतः पुंसां, रुचिभेदो हि जायते।**
**रुचिभेदाद् भवेद् भेदः, साधनाध्वावलम्बने॥**

**सभी मनुष्यों की योग्यता समान नहीं होती इसलिए उनकी रुचि भी समान नहीं होती। रुचि-भेद के कारण साधना के विभिन्न मार्गों का अवलंबन लिया जाता है।**

साधना का मूल स्रोत एक है। वह प्रत्येक साधक में भिन्नता नहीं देखता। भेद होता है बाहरी विशेषता के आधार पर। किसी साधक में श्रुत की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विशेषता होती है, किसी में तप की, किसी में ध्यान की, किसी में निर्भयता की, किसी में विनय की, किसी में कष्ट-सहिष्णुता आदि की। कुछ अपनी साधना में व्यस्त रहते हैं और कुछ अपना और पराया दोनों का हित साधते हैं। यह सब रुचि-भेद है। इससे मूल में अंतर नहीं आता। बाहरी विशेषताओं को मूल मानने पर भ्रांति हो जाती है।

**३६. बुद्धा केचिद् बोधकाः स्युः, केचिद् बुद्धा न बोधकाः।**
**आत्मानुकम्पिनः केचित्, केचिद् द्वयानुकम्पकाः॥**

**कुछ स्वयंबुद्ध भी होते हैं और दूसरों को बोध—उपदेश भी देते हैं। कुछ स्वयंबुद्ध होते हैं पर दूसरों को बोध नहीं देते। कुछ केवल आत्मानुकंपी होते हैं और कुछ उभयानुकंपी—अपनी व दूसरों की—दोनों की अनुकंपा करने वाले होते हैं।**

**३७. क्षपिताशेषकर्मा हि, मुनिर्भवाद् विमुच्यते।**
**मुच्यते चान्यलिङ्गोऽपि, गृहिलिङ्गोऽपि मुच्यते॥**

**अशेष कर्मों का क्षय करने वाला मुनि भव से मुक्त होता है। मुक्त होने में आत्म-शुद्धि की प्रधानता है, लिंग—वेश की नहीं। जो वीतराग बनता है वह मुक्त हो जाता है, भले फिर वह अन्यलिंगी—जैनेतर साधु के वेश में हो या गृहलिंगी—गृहस्थ के वेश में हो।**

मुक्ति की आधारशिला है—आत्म-विशुद्धि। आत्म-शुद्धि के लिए वीतरागता की अपेक्षा है। राग-द्वेष से मुक्त वही होता है जो वीतराग है। आचार्य कहते हैं :

**सिताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।**
**न पक्षपाताश्रयणाच्च मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥**

'मोक्ष न श्वेत वस्त्रों के पहनने में है, न वस्त्रों का त्याग करने में है, न तर्कवाद में है, न तत्त्वचर्चा में है और न पक्षपात का आश्रय लेने में है। मुक्ति है कषाय-विजय में।'

राग, द्वेष और कषाय की स्थिति में मुक्ति नहीं होती, यह ध्रुव सिद्धांत है। गीता में कहा है—'जो लोग अभिमान और मोह से मुक्त हो गए हैं,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जिन्होंने आसक्तियों को जीत लिया है, जो निरंतर अध्यात्म में लीन रहते हैं, जिनकी इच्छाएं शांत हो गई हैं, जो सुख-दुःखात्मक द्वन्द्वों से विमुक्त हैं और जो अमूढ़ हैं वे शाश्वत स्थान को पाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है–'सिद्ध वे होते हैं जो शुद्ध होते हैं। शुद्धि में ही साधुता है, दर्शन है, ज्ञान है और मुक्ति है।'

अमृतचन्द्राचार्य के शब्दों में भी यही है–आत्मा को अशुद्ध करने वाले राग, द्वेष आदि पर-द्रव्य हैं। जो इन्हें छोड़ स्व-आत्मा में रति करता है वह समस्त पर-द्रव्यों से मुक्त हो जाता है। फिर आत्म-ज्योति प्रकट होती है और चैतन्य के आलोक से वह भर जाता है, पूर्ण शुद्ध होकर फिर मुक्त हो जाता है।

राग-द्वेष की मुक्ति के लिए आत्म-बल की अपेक्षा है। इसमें वर्ण, जाति, लिंग, वेश आदि का महत्त्व नहीं है। ये गौण हैं। मोक्ष अवस्था की स्थिति में प्रत्येक मुक्तात्मा में समानता होती है। मुक्ति का द्वार सबके लिए खुला है।

**३८. प्रत्ययार्थञ्च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम्।**
**यात्रार्थं ग्रहणार्थञ्च, लोके लिङ्गप्रयोजनम्॥**

**लोगों को यह प्रतीत हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के वेश की परिकल्पना की गई है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूं', ऐसा ध्यान आते रहना–इस लोक में वेश-धारण के ये प्रयोजन हैं।**

प्रश्न होता है कि मुनि के लिए वेश की क्या आवश्यकता है? प्रस्तुत श्लोक में वेश-धारण के तीन कारण बतलाये हैं :

१. लोक-प्रतीति, २. संयम-निर्वाह, ३. स्व-प्रतीति।

ये तीनों कारण मुनि की बाह्य और आंतरिक पवित्रता के हेतु बनते हैं।

१. मुनि को अपने स्व-वेश में देखकर लोगों को यह प्रतीति होती है कि यह 'मुनि' है। इसके साथ हमारा क्या-कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, आदि।

२. संयम-निर्वाह के लिए शरीर-रक्षा आवश्यक होती है। जहां शरीर है उसके निर्वहन की भावना है, वहां वस्त्रों का अपना स्थान है। जो व्यक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

निष्प्रतिकर्म हो जाता है, वह चाहे वस्त्र रखे या नहीं, यह उसकी अपनी इच्छा है। किन्तु जो शरीर को चलाता है, उसे उसकी रक्षा भी करनी पड़ती है। वस्त्र शरीर निर्वाह का एक उपाय है।

३. तीसरा कारण है—स्व-प्रतीति। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मुनि-वेश में अपने को देखकर व्यक्ति के मन में यह अध्यवसाय निरंतर बना रहता है कि 'मैं साधु हूं, मुझे यह करना है, यह नहीं करना है। अपने अस्तित्व-बोध का यह अनन्य उपाय है। इससे जागरूकता और अप्रमत्तता का प्रादुर्भाव होता है।'

**३९. अथ भवेत् प्रतिज्ञा तु, मोक्षसद्भावसाधिका।**
**ज्ञानञ्च दर्शनं चैव, चारित्रं चैव निश्चये॥**

**यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा—संकल्प हो तो निश्चय-दृष्टि से उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।**

मोक्ष के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता है? सवस्त्र होना चाहिए या निर्वस्त्र? यह प्रश्न गौण है। मोक्ष शरीर नहीं है। वस्त्र, भोजन, पानी आदि शरीर की पूर्ति के साधन हैं। मुक्ति आत्मा की पूर्ण शुद्धावस्था है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का चरम विकास मोक्ष है। अतः अंतरंग साधन ये हैं। वेश आदि बहिरंग साधन हैं।

**४०. संशयं परिजानाति, संसारं परिवेत्ति सः।**
**संशयं न विजानाति, संसारं परिवेत्ति न॥**

**जिसमें संशय—जिज्ञासा है, वह संसार को जानता है। जिसमें जिज्ञासा का अभाव है, वह संसार को नहीं जानता।**

जिज्ञासा हमारे ज्ञान-परिवर्धन की कुंजी है। वह बौद्धिकता की सूचना करती है। जिसमें जिज्ञासा नहीं है, उसमें ज्ञान का विकास भी नहीं है। जिज्ञासा को दबाने का अर्थ है ज्ञान को कटघरे में बंद रखना।

**४१. पूर्वोत्थिताः स्थिरा एके, पूर्वोत्थिताः पतन्त्यपि।**
**नोत्थिता न पतन्त्येव, भङ्गः शून्यश्चतुर्थकः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**कुछ पहले साधना के लिए उद्यत होते हैं और अंत तक उसमें स्थिर रहते हैं। कुछ पहले साधना के लिए उद्यत होते हैं और बाद में गिर जाते हैं। कुछ साधना के लिए न उद्यत होते हैं और न गिरते हैं। इसका चतुर्थ भंग शून्य होता है—बनता ही नहीं।**

व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं :

१. पूर्वोत्थित और पश्चाद् स्थित।

२. पूर्वोत्थित और पश्चाद् निपाती।

३. न पूर्वोत्थित और न पश्चाद् निपाती।

आत्मा पर पूर्व-संस्कारों का गहरा प्रभाव होता है। अच्छे संस्कार व्यक्ति को सहजतया अच्छाई की ओर खींच लेते हैं और बुरे संस्कार बुराई की ओर। शुभ संस्कारी व्यक्ति ही साधना पर आरूढ़ हो सकते हैं, अशुभ संस्कारी नहीं। साधना के लिए पवित्रता ही पहली शर्त है। अशुभ संस्कारी व्यक्ति में वह नहीं होती।

शुभ संस्कारी साधना-पथ पर आने के बाद अपने संस्कारों को और अधिक पवित्र और सुदृढ़ बनाते चलते हैं। अतः वे अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं होते। जो साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होकर संस्कारों का निर्माण नहीं करते वे अशुभ संस्कारों के झंझावात में अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख पाते। वे साधना से परे हट जाते हैं। जिनके संस्कारों में अशुभता की प्रबलता होती है, वे न साधना में आते हैं और न गिरते हैं। गिरते वे हैं जो चलते हैं। नहीं चलने वाले क्या गिरेंगे!

**४२. यत् सम्यक् तत् भवेन्मौनं, यन्मौनं सम्यगस्ति तत्।**
**मुनिः मौनं समादाय, धुनीयाच्च शरीरकम्॥**

**जो सम्यक्—यथार्थ है, वह मौन—श्रामण्य है और जो मौन है, वह सम्यक् है। मुनि मौन को स्वीकार कर कर्मशरीर को प्रकंपित करे, शरीर-मुक्त बने।**

मुनि का कर्म मौन है। वह आत्मशुद्धिमूलक होने से सम्यक् है। एक कारण है और दूसरा कार्य। कार्य और कारण के अभेद दर्शन से सम्यक् को मौन और मौन को सम्यक् कहा है। मुनि का कर्म इसलिए सम्यक् है कि उसमें राग, द्वेष, कषाय, मोह आदि का उपशम या क्षय होता है।

मौन धर्म की समुपासना का फल है—स्थूल और सूक्ष्म शरीर से मुक्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होना। सूक्ष्म शरीर का जब अंत हो जाता है, तब भवचक्र रुक जाता है। समस्त सत् और असत् इच्छाओं से सर्वथा आत्मा विलग हो जाती है। इच्छाओं का अंत ही जन्म का अंत है।

'सत्य मौन में घटित होता है'—यह समस्त ऋषियों का अनुभूत स्वर है, और यह भी अनुभूत वाणी है कि सत्यवान् व्यक्ति मौन को उपलब्ध हो जाता है। इस दृष्टि से मौन और सत्य दोनों परस्पराश्रित हैं। एक दूसरे के अभिन्न मित्र हैं। सम्यक् का अर्थ है—सत्य। सत्य यानि अस्तित्व की अनुभूति का ज्ञान। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—'साधक बाह्य वचन-व्यवसाय का विसर्जन कर अंतरंग में होने वाले वाक्-प्रपंच का भी विसर्जन करे। परमात्म-प्रदीप को प्रकट करने की यह संक्षिप्त योगविधि है।' वाक्जाल से मुक्त होना साधक के लिए अत्यंत अपेक्षित है। अन्यथा उसका समग्र शक्ति-प्रवाह व्यर्थ अंतर्वाणी और बाह्यवाणी के व्यापार में व्यय हो जाता है। मौन केवल शारीरिक तनाव की मुक्ति के लिए नहीं है, यह उसका क्षुद्रतम उपयोग है। उसकी वास्तविक उपादेयता है—चैतन्य का साक्षात्कार। जहां स्पंदन शांत हो जाते हैं, उस क्षण में हम स्वयं के भीतर होते हैं। मौन उसी चैतन्य की अनुभूति के लिए है। उसके अनेक भेद हैं। अंतर्मौन तक पहुंचने की ये प्राथमिक सीढ़ियां हैं। यथार्थ मौन वही है जहां साधक की अंतर्वाणी मुखरित हो जाती है और बाह्य सर्वथा शांत। मौन के क्षणों में फिर सत्य—अस्तित्व बोलता है, वह नहीं। उसका अपना 'मैं' 'अहं' मिट जाता है। वह उसी परम सत्य की एक कड़ी बन जाता है। मौन-साधकों के लिए अंतर्मौन का अभ्यास उपादेय है। अन्यथा जहां उन्हें पहुंचना है वहां पहुंच पाना असंभव है।

अंतर्मौन का अर्थ है—विचार-नियमन तथा विचार-शून्यता। विचारों के निग्रह के लिए आपको विचारों के प्रति जागरुक या साक्षी होना होगा। जैसे-जैसे जागरण बढ़ेगा, विचारों का सिलसिला टूटता चला जाएगा। एक विचार से दूसरे विचार के उत्पन्न होने के मध्य दूरी का अनुभव होगा और इसी से शनैः-शनैः आप शून्य में प्रवेश कर जाएंगे। विचार-नियमन का इससे अधिक सरल और कारगर उपाय नहीं है। यह स्पष्ट है कि विचारों का नियंत्रण दुरूह है, किन्तु साधक के आत्म-बल, दृढ़ भावना, श्रद्धा और सतत अभ्यास के समक्ष उसकी दुरूहता स्वयं सरलता में परिणत होती चली जाती है। साधक केवल जो जैसा आता है उसे उसी रूप में शांत-समभाव से देखता रहे, न विचारों को लाने का प्रयास करे और न उन्हें हटाने का। बस, वह तो उनके प्रति जागृत रहे।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**४३. स्वयंबुद्ध! मया बुद्धं, बोधितत्त्वं सुदुर्लभम्।**
**शरण्य! शरणं देहि, येन बोधिर्विशुद्ध्यति॥**

**हे स्वयंबुद्ध! मैंने सुदुर्लभ बोधितत्त्व को जान लिया। हे शरण्य! मुझे शरण दो, जिससे मेरी बोधि विशुद्ध बन जाए।**

बोधि सुदुर्लभ है, किन्तु स्वयंबुद्ध भगवान महावीर के सहवास, सान्निध्य से उसके लिए सुलभ बन गई। **'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'** सत्य को उपलब्ध पुरुषों की संगति क्या नहीं करती है? वह क्षुद्र को महान् बना देती है, भ्रांत को अभ्रान्त बन देती है, पथ-भ्रष्ट को मार्ग में सुस्थिर कर देती है और नर को नारायण, अशिव को शिव बना देती है। मेघ शिव की कोटि में आ गया। उसके रोम-रोम से आनंद का स्रोत फूट पड़ा। उसने कहा—प्रभो! मैं अब आपकी शरण में हूं, मेरी पतवार आपके हाथों में है। मुझे आप ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें कि मेरी बोधि सदा विशुद्ध बनी रहे। उसमें कहीं कोई मलिनता प्रविष्ट न हो जाए। बस, मेरा आपसे यही अनुनय है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**संयतचर्यानामा दशमोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय ११

# आमुख

आत्मा चेतन द्रव्य है। वह स्वतंत्र है। जड़ से उसका अस्तित्व पृथक् है। जड़ से संपृक्त होते हुए भी वह जड़ नहीं है। चेतना का पूर्ण अभ्युदय होने पर आत्मा का जड़ से संबंध-विच्छेद हो जाता है। जड़–विजातीय द्रव्य की विद्यमानता में आत्मा का संचरण होता रहता है। आत्मा की विविध अवस्थाओं का हेतु है कर्म और उसकी तज्जन्य चेष्टाएं। कर्म और कर्म की प्रतिक्रिया का स्वरूप अधिगत हो जाने पर व्यक्ति कर्म पर अनुशासन कर सकता है। वह कर्म-प्रवाह को रोककर अकर्मा हो जाता है। अकर्म के लिए संसार नहीं है। कर्म का प्रवाह संसार है।

आत्मा को स्वभाव की ओर किस प्रकार प्रेरित किया जा सकता है और वह विभाव से कैसे मुक्त हो सकती है, इसका विवेक इस अध्याय में दिया गया है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# आत्ममूलकधर्म-प्रतिपादन

**भगवान् प्राह**

**१. अस्त्यात्मा चेतनारूपो, भिन्नः पौद्गलिकैर्गुणैः।**
**स्वतन्त्रः करणे भोगे, परतन्त्रश्च कर्मणाम्॥**

**आत्मा का स्वरूप चेतन है। वह पौद्गलिक गुणों से भिन्न है। वह कर्म करने में स्वतंत्र और उसका फल भोगने में परतंत्र है।**

आत्मा और पुद्गल (Matter) दोनों भिन्न हैं। दोनों में कुछ सामान्य गुणों का एकत्व होते हुए भी चेतन का स्व-बोध, ज्ञान-गुण उससे सर्वथा भिन्न है। पुद्गल में अपना कोई बोध नहीं है। वह जड़ है। निर्जीव और सजीव के बीच एक भेद-रेखा विज्ञान भी स्पष्ट देखने लगा है। शरीर से निकलने वाला वलय चेतना का ही विशेष गुण-धर्म है। प्राणी की प्राणशक्ति क्षीण होने पर आभा-वलय भी क्षीण होता हुआ देखा गया है। इससे दोनों की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। जड़ और चेतन की भिन्नता के द्योतक और भी कुछ लक्षण है।

**'अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य'**—आत्मा ही सुख की कर्त्ता और विकर्त्ता है। यह वाक्य आत्म-स्वातंत्र्य का पूर्ण परिचायक है। यदि परतंत्र हो तो फिर उसके वश में कुछ नहीं होगा, फिर वह दूसरों के हाथ की कठपुतली होगी। मुक्ति या निर्वाण की बात कोई तथ्य-संगत नहीं होगी। सुख-दुःख के निर्माण में उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। परतंत्रता है तो सिर्फ इतनी ही कि कर्म का भोग न चाहने पर भी उसे भोगना पड़ता है, क्योंकि स्वयं उसने तथानुरूप कर्मों का संग्रह किया है। यह भी स्पष्ट है कि चेतन आत्मा अचेतन कर्म का संग्रह कैसे करे? कर्म ही कर्म को आकृष्ट करता है। संस्कार अन्य संस्कार के लिए द्वार खुला रखता है। उसी मार्ग से वे आते हैं और आत्मा को बांधते हैं। वे जब आत्मा से अलग होते हैं तब स्व-बोध के कारण आत्मा रागात्मक, द्वेषात्मक और मोहात्मक रूप में परिणत नहीं होती। जिस दिन अज्ञान का आवरण मंद,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मन्दतर और मन्दतम हो जाता है, उसी दिन स्वबोध, आवरण क्षय और दुःख क्षय के लिए वह सहज हो जाता है। संस्कार (कर्म) उखड़ते हैं किन्तु वह उन्हें सहारा नहीं देती, उनके साथ प्रवाहित नहीं होती। शनैः-शनैः संस्कारों का पथ उखड़ जाता है और आत्मा अपने मूलरूप में विराजमान हो जाती है। यही पूर्ण स्वातंत्र्य है।

२. अध्रुवे नाम संसारे, दुःखानां काममालये।
परिभ्राम्यन्नयं प्राणी, क्लेशान् व्रजत्यतर्कितान्॥

**यह संसार अध्रुव—अशाश्वत है और दुःखों का आलय है। इसमें परिभ्रमण करता हुआ प्राणी अतर्कित क्लेशों को प्राप्त होता है।**

महावीर ने कहा—संसार दुःख है। बुद्ध ने भी भिक्षुओं को कहा—'भिक्षुओ! दुःख है, इसका अनुभव करो।' महावीर और बुद्ध दुःखी नहीं थे, जिस अर्थ में सामान्य मानव है। किन्तु दुःख की वास्तविकता उनके पास थी। उन्होंने देखा—उत्पन्न होना दुःख है, फिर मरना दुःख है। उत्पत्ति और मृत्यु के मध्य बुढ़ापा, रोग, शोक, प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग ये भी दुःख हैं। दुःख का कारण है और उसके नाश का उपाय है। वे दुःख से कतराए नहीं, किंतु जागे और दुःखोच्छेद के लिए कटिबद्ध हो गए। दुःख है—यह सामान्य व्यक्ति का भी अनुभव है, किंतु जागरण नहीं है। दुःख सुख में बदल जाएगा, इसी आशा से मानव घसीटा चला जा रहा है। लेकिन आशा कभी सफल नहीं हुई। न पहले किसी की हुई है और न होगी। जो सुख आता हुआ दिखाई दे रहा है, जैसे ही आया, फिर विषाद का क्रम शुरू हो जाता है। धर्म वह खोज है जिससे आदमी सदा-सदा के लिए दुःख से मुक्त हो जाए। वह बाहर सुख की खोज नहीं करता। बाहर तो जन्मों-जन्मों में देखते आए हैं, उससे तो सुख मिला नहीं। इसलिए अब भीतर की यात्रा शुरू करना है।

३. पुनर्भवी स्ववृत्तेन, विचित्रं धरते वपुः।
कृत्वा नानाविधं कर्म, नानागोत्रासु जातिषु॥

**जीव अपने आचरण से बार-बार जन्म लेता है और विचित्र प्रकार के शरीरों को धारण करता है। वह विभिन्न प्रकार के कर्मों का उपार्जन कर विभिन्न गोत्र वाली जातियों में उत्पन्न होता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

शरीर के आधार पर जीवों के छह भेद किए गए हैं। वे ये है :

१. पृथ्वी है काय जिनकी, वे पृथ्वीकायिक जीव।

२. अप् अर्थात् पानी है काय जिनकी वे अप्कायिक जीव।

३. तैजस अर्थात् अग्नि है काय जिनकी वे तैजसकायिक जीव।

४. वायु है काय जिनकी वे वायुकायिक जीव।

५. वनस्पति है काय जिनकी वे वनस्पतिकायिक जीव।

६. त्रसकायिक जीव—गमन-आगमन करने वाले जीव।

इन्द्रियों के आधार पर जीवों के भेद :

१. एक इन्द्रिय वाले जीव।

२. दो इन्द्रिय वाले जीव।

३. तीन इन्द्रिय वाले जीव।

४. चार इन्द्रिय वाले जीव।

५. पांच इन्द्रिय वाले जीव।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४. प्रहाण्या कर्मणां किञ्चिद्, आनुपूर्व्या कदाचन।
जीवाः शोधिमनुप्राप्ता, आव्रजन्ति मनुष्यताम्॥

कर्मों की हानि होते-होते जीव क्रमशः विशुद्धि को प्राप्त होते हैं और विशुद्ध जीव मनुष्यगति में जन्म लेते हैं।

५. लब्ध्वाऽपि मानुषं जन्म, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यां श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंसताम्॥

मनुष्य का जन्म मिलने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है, जिसे सुनकर लोग तप, क्षमा और अहिंसक वृत्ति को स्वीकार करते हैं।

६. कदाचिच्छ्रवणे लब्धे, श्रद्धा परमदुर्लभा।
श्रुत्वा नैर्यात्रिकं मार्गं, भ्रश्यन्ति बहवो जनाः॥

कदाचित् धर्म को सुनने का अवसर मिलने पर भी उस पर श्रद्धा होना अत्यन्त कठिन है। पार पहुंचाने वाले मार्ग को सुनकर भी बहुत से लोग भ्रष्ट हो जाते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

७. श्रुतिञ्च लब्ध्वा श्रद्धाञ्च, वीर्यं पुनः सुदुर्लभम्।
रोचमाना अप्यनेके, नाचरन्ति कदाचन॥

धर्म-श्रवण और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य दुर्लभ है। अनेक लोग श्रद्धा रखते हुए भी धर्म का आचरण नहीं करते।

८. लब्ध्वा मनुष्यतां धर्मं, शृणुयाच्छ्रद्दधीत यः।
वीर्यं स च समासाद्य, धुनीयाद् दुःखमर्जितम्॥

मनुष्य-जन्म को प्राप्त होकर जो धर्म को सुनता है, श्रद्धा रखता है और संयम में शक्ति का प्रयोग करता है, वह व्यक्ति अर्जित दुःखों को प्रकंपित कर डालता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इन श्लोकों (४ से ८) में १. मनुष्यता, २. धर्म-श्रुति, ३. श्रद्धा और ४. तप–संयम में पुरुषार्थ–इन चार अंगों की दुर्लभता का प्रतिपादन है। जीवन के ये चार प्रशस्त अंग–विभाग हैं। ये अंग प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा सहज प्राप्य नहीं है। चारों का एकत्र समाहार विरलों में पाया जाता है। जिनमें ये चारों नहीं पाये जाते वे धर्म की पूर्ण आराधना नहीं कर सकते। एक की भी कमी उनके जीवन में लंगड़ापन ला देती है।

**'दुर्लभ त्रयमेवैतद्, देवानुग्रहहेतुकम्।**
**मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं, महापुरुषसंश्रयः॥'**

शंकराचार्य ने तीन दुर्लभ बातों का कथन किया है–मनुष्यत्व, मुमुक्षा-भाव और महापुरुषों का सहवास। चार और तीन में विशेष अंतर नहीं है। एक बात स्पष्ट है कि मानव जीवन दुर्लभ है। मनुष्य की विकसित चेतना यह स्पष्ट करती है कि अतीत में ज्ञात या अज्ञात दशा में मानवीय शरीरस्थ आत्मा ने कोई विशेष पुण्य प्रयत्न किया था, जिसके कारण यह देह मिली है। चौरासी लाख योनियों की अनंत-अनंत यात्राओं के बाद कभी इस जन्म में आने का सौभाग्य मिलता है। इसका महत्व इसलिए है कि मनुष्य जीवन सेतु है। अन्य जीवन कोई सेतु नहीं है। वे किसी न किसी किनारे का जीवन जी रहे हैं। मनुष्य बीच में आ गया। उसके हाथ में वह सत्ता आ गई कि चाहे तो उस पार जा सकता है, जहां परम तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण है और चाहे फिर नीचे गिर सकता है। नीचे गिरने का अर्थ होगा–वह चौरासी लाख योनियों का जीवन। **'नो सुलभं पुणरावि**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जीवियं'** मानव जीवन की पुनः प्राप्ति सुलभ नहीं है। यह अनुभूत सत्य की उद्घोषणा है।

मेघ को महावीर ने यही कहा–'तू देख, कैसे यहां आया है? कहां से आया है? तू स्वयं मर गया किंतु खरगोश के शरीर पर पैर नहीं रखा। उसी अहोभाव के कारण हाथी की योनि से सम्राट् के घर मेघरूप में उत्पन्न हुआ है। अब सत्य की दिशा में विघ्नों के कारण आगे बढ़ने से कतराता है?'मेघ की सोयी चेतना प्रबुद्ध हो उठी। कोई न कोई ऐसी घटना हमारे सबके जीवन में घटी है। संत सबके भीतर उसी संभावना को देखकर जगा रहे हैं।

## धर्म-श्रुति

धर्म का श्रवण और भी दुर्लभ हैं। मनुष्य जीवन एक सांयोगिक घटना भी हो सकती है, किन्तु यह कुछ प्रयत्न साध्य है। जीवन के समस्त संस्कार एक पथगामी रहे हैं। धर्म-श्रवण–यह एक दूसरा आयाम है। धर्म के नये संस्कार को उद्भूत करने में पुराने संस्कार चट्टानों का काम करते हैं। वे सदा से प्रिय रहे हैं और यह सर्वथा अनजाना, अप्रिय और रसहीन। इंद्रियों के संस्कार पुनः पुनः अपनी ओर खींचते रहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में लिखा है–कामभोग से संबंधित बातें सबकी सुनी हुई हैं, परिचित हैं और अनुभूत हैं, लेकिन भिन्न आत्मा का एकत्व न श्रुत है, न परिचित है और न अनुभूत है, इसलिए वह सुलभ नहीं है।

धर्म का अर्थ है–स्वभाव। स्वभाव का स्वाद जिसने चखा है, वहीं स्वभाव की सुगंध मिल सकती है। जिसने स्वभाव में डूबने का प्रयास भी नहीं किया, वहां स्वभाव की बात हो सकती है किंतु जीवंत दर्शन नहीं। कहा है कि **'अप्रियस्य च सत्यस्य, वक्ता श्रोता च दुर्लभः'** ऐसे वक्ता और श्रोता का मिलना संभव नहीं, किंतु कठिन है, जो अप्रिय सत्य कहने में न हिचकता हो।

धर्म-श्रवण यात्रा-प्रारंभ का केन्द्र है। श्रवण पर सबने बल दिया है। **'श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः'** में श्रवण का स्थान प्रथम है। सुने बिना मनन किसका करें और और किस पर चले। महावीर ने कहा है–अक्रिया (मुक्ति) का प्रथम द्वार है–श्रवण। सुनना क्या है? वही नहीं जो परिचित, पुनः-पुनः सुना गया हो। इन्द्रियों का रस बार-बार उन्हीं को दोहराने में है जो किया गया है। वैराग्य उसी को कहा है–दृष्ट, अनुश्रुत आदि विषयों का वितृष्ण हो जाना। अब उन्हें न दोहराकर नई दिशा में इन्द्रियों की प्रतिष्ठा करना, सुनने का एक नया द्वार खोलना, अश्रव्य की बात सुनना। धर्म-कथा का अभिप्राय यही है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कि जो समस्त इन्द्रियों और मन से परे हैं, उसका श्रवण करना। उसके बोध से ही जीवन की सकल ग्रंथियां टूटती हैं।

गुरु नानक साहब ने श्रवण की महिमा जपुजी में गाई है—सुनने से दुःख—पाप का नाश होता है। सुनने से योग, मुक्ति, शरीर-भेद, शाश्वत का ज्ञान होता है। सुनने से अड़सठ तीर्थों का स्नान होता है।

**श्रद्धा**

यह तीसरा तत्त्व है। श्रद्धा शब्द से यहां अभिप्रेत है—विश्वास, तैयारी, आकांक्षा। धर्म को सुना और वह प्रीतिकर लगा। किन्तु श्रद्धा आचरण की पूर्व तैयारी है। वर्षा से पूर्व किसान जैसे खेत को बीज बोने योग्य कर लेता है, वैसे ही **'सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि'**—ये जीवन विकास के सूत्र हैं। उनके अभाव में जीवन सरस, सुखद, स्वच्छ और शांतिमय नहीं हो सकता। साधक कहता है—मैं श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं और रुचिकर मानता हूं।' वह उन्हें देखता भी है जिन्होंने प्रत्यक्ष ऐसा जीवन जीया है और वे उस आनंद के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उसका मन आकांक्षा से भर जाता है कि निश्चित ही मैं भी इस मार्ग का अनुसरण कर इस दिशा को प्राप्त हो सकूंगा। जो फूल महावीर, बुद्ध और संतों में खिला, वह मेरे भीतर भी खिल सकता है, नहीं खिलने का कोई कारण नहीं है। कमर कसकर वह तत्पर हो जाता है।

**पुरुषार्थ**

**'जानन्ति केचिद् न तु कर्त्तुमीशाः, कर्त्तुं क्षमा ये न च ते विदन्ति।**
**जानन्ति तत्त्वं प्रभवन्ति कर्त्तुं, ते केऽपि लोके विरला भवन्ति॥'**

सत्य की दिशा में वीर्य को प्रवाहित करना अतिदुष्कर है। गीता में भी कहा है—**'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतते सिद्धये'**—हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। कुछ लोग जानते हैं किंतु आचरण करने में अक्षम होते हैं। कुछ लोग करने में समर्थ हैं किंतु जानते नहीं हैं। तत्त्व को जानते हों और आचरण के लिए भी प्रयत्न करते हों—ऐसे व्यक्ति संसार में विरल होते हैं। गलत दिशा में चलने के लिए अनेक सहयोगी और मित्र मिल सकते हैं, किंतु सही दिशा-सहायक मिलना कठिन होता है। घेरे से बाहर निकलना बड़ा जटिल है और फिर पुरुषार्थ के मध्य में अनेक अड़चनें खड़ी हो जाती हैं। कुछ व्यक्ति की अपनी दुर्बलता होती है, बाहर से सहयोग भी वैसा मिल जाता है। अपने बने-बनाये समस्त घरों और ममत्व को जलाने की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

क्षमता हो तभी यह संभव है। कबीर ने कहा है–

**'कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।**
**जो घर जाले आपना, चलो हमारे साथ॥'**

जो अपने घर को जला सकता है वह हमारे साथ आए। क्राइष्ट ने कहा है–जो अपने को बचाता है वह खो देता है और जो अपने को खोने के लिए तैयार है वह पा लेता है। सत्य के मार्ग में मनुष्य में मुख्य विघ्न हैं–आलस्य, इन्द्रिय-विषयों के सेवन में रस और कर्तव्य के प्रति उदासीनता। पुरुषार्थ ही मार्ग को सरल और मंजिल को सन्निकट करता है।

इस चतुष्टयी का सम्यक् अवबोध अपेक्षित है और मनुष्य जीवन में जिस परम सत्यता का बीज छिपा है उसे प्रकट करना भी। बीज वृक्ष बने इसी में जीवन की सफलता निहित है।

**९. शोधिः ऋजुकभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।**
**निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इवानलः॥**

**शुद्धि उसे प्राप्त होती है जो सरल होता है। धर्म उसी आत्मा में ठहरता है, जो शुद्ध होती है। जिस आत्मा में धर्म होता है, वह घी से सींची हुई अग्नि की भांति परम दीप्ति को प्राप्त होती है।**

साधु कौन होता है? महावीर कहते हैं–'मैं उसे साधु कहता हूं जो सरल, सीधा होता है, अनासक्त होता है, ऊर्जा को स्वयं के जागरण में नियोजित करता है।' साधु और वक्र–ये दोनों एक चौखटे में नहीं बैठते। सरलता शुद्धि का पहला चरण हैं। असरल होकर आदमी ने कुछ पाया नहीं, खोया है। लोक और परलोक दोनों उसके हाथ से निकल जाते हैं। बुद्ध ने कहा है–समुद्र को कहीं से चखो वह खारा ही खारा है। ठीक साधु को किसी तरह कहीं से देखो, ऋजुता के सिवाय और कुछ नहीं। धर्म का अवतरण सरलता में होता है। जैसे ही व्यक्ति सरल बनता है कि धर्म का मेघ बरसने लगता है, धर्म विराजमान हो जाता है, दिव्यता प्रकट हो जाती है।

लाओत्से ने कहा है–'सन्त फिर से बच्चे होते हैं। बच्चे-बच्चे होते हैं किंतु अज्ञान के कारण। जैसे ही बड़े होते हैं–बचपन चला जाता है। फिर वह भोलापन, सरलता नहीं रहती। उस पर बुद्धि सवार हो जाती है, भय सवार हो जाता है और वहां जीवन का बहाव खत्म हो जाता है। सरलता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बहाव है। बहाव में पवित्रता है, वह स्थिरत्व में नहीं होती। वर्तमान का जीवन नष्ट हो जाता है। संत फिर से बच्चे हो जाते हैं, अज्ञानपूर्वक नहीं, ज्ञानपूर्वक। वे अपने को इतना स्वच्छ कर लेते हैं कि अब कोई चीज छिपाने जैसी रहती ही नहीं और अतीत और अनागत से मुक्त होकर प्रतिक्षण में जीना प्रारंभ कर देते हैं।

हर्मन हेस ने कहा है–'जीवन बोध से शून्य सामान्य जन और जीवन की समस्त ज्ञान गरिमा से संपन्न रागातीत परमहंस के मुख-मंडल पर खिलने वाले निश्छल हास्य में कोई अंतर नहीं होता।'

महाभारत का शांति पर्व भी यही गीत गाता है–

**'ये च मूढ़तमा लोके, ये च बुद्धेः परं गताः।**
**त एव सुखमेधन्ते, मध्यमः क्लिश्यते जनः॥'**

'संसार में दो ही प्रकार के व्यक्ति आनंद का अनुभव कर सकते हैं, एक अज्ञानी और दूसरा परम ज्ञानी। बीच वाले मनुष्य तो केवल दुःख पाते हैं।

चेतना सरल है। असरलता उसमें बाहर से प्रविष्ट हो गई। सरल होने के लिए करने की कुछ जरूरत नहीं है। जरूरत है असरलता (कपट) का प्रवेश होने न पाए। बाहर का मुखौटा हटा कि स्वयं का चेहरा उद्दीप्त हुआ (उभर आया)। स्वभाव के लिए कुछ और करना, उसे जटिल बनाने जैसा होगा। बस, उसके लिए अप्रमत्त–सजग रहना पर्याप्त है कि विभाव आपके अन्दर न घुसे। महावीर कहते हैं–'जैसे ही आप स्वयं के भीतर प्रविष्ट हुए, सरल बने कि घृतसिक्त अग्नि की भांति परम तेजस्विता को उपलब्ध हो जाएंगे।'

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कहा है–'अनेक जन्मों के पुण्य से मनुष्य को सरल और उदार भाव प्राप्त होता है।

मनुष्य सरल स्वभाव वाला हुए बिना ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।

**१०. नियत्या नाम सञ्जाते, परिपाके भवस्थितेः।**
**मोहकं क्षपयन् कर्म, विमर्शं लभतेऽमलम्॥**

**नियति के द्वारा भवस्थिति के पकने पर जीव मोह-कर्म का नाश करता हुआ विशद विचारणा को प्राप्त होता है।**

**११. तत्किं नाम भवेत् कर्म, येनाऽहं स्यान्न दुःखभाक्।**
**जिज्ञासा जायते तीव्रा, ततो मार्गो विमृश्यते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**वह कौन-सा कर्म है, जिसका आचरण कर मैं दुःखी न बनूं? मनुष्य में ऐसी तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् वह मार्ग की खोज करता है।**

जैन दर्शन दुःख-मुक्ति का दर्शन है। जैन मनीषियों ने सारे संसार को दुःख मय देखा और यहां सारे संयोग-वियोगों को दुःख परम्परा को तीव्र करने वाला माना। यहीं से जैन साधना-पद्धति का प्रारंभ हुआ।

भगवान् महावीर ने कहा–

**जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।**
**अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो॥**

–जन्म दुःख है। बुढ़ापा दुःख है। रोग दुःख है। मरण दुःख है। सारा संसार दुःखमय है जहां प्रत्येक प्राणी दुःख पा रहा है।

इस दुःखवादी दृष्टिकोण ने जैन साधक को पग-पग पर सचेष्ट रहने की प्रेरणा दी।

जैन दर्शन के चार आधार-बिन्दु हैं :

१. दुःख है

२. दुःख का कारण है।

३. मोक्ष है

४. मोक्ष का कारण है।

इन चार सत्यों के आधार पर सारा दर्शन खड़ा हुआ है।

साधक साधना-जीवन में प्रवेश करते ही पूछता है–ऐसा कौन-सा कार्य है जो दुःख-मुक्त कर सकता है? दुःख से मुक्त होने की भावना ज्यों-ज्यों तीव्र होती है साधक का जीवन उतना ही प्रकाशमय होता जाता है।

साधक दुःख के कारणों और उनकी मुक्ति के मार्ग की खोज में जुट पड़ता है। तब उसे सत्य का बोध होता है और वह अपने लक्ष्य का निर्णय कर लेता है। यहां से सत्य की शोध, जिससे दुर्गति का अंत हो, का प्रारंभ होता है। यही दर्शन का आदि-बिन्दु है। जैन दर्शन यहां से प्रारंभ होता है और निर्वाण प्राप्ति में कृतकार्य हो जाता है।

राजा मिलिन्द ने स्थविर नागसेन से पूछा–'प्रव्रज्या का क्या उद्देश्य है?' नागसेन ने कहा–'प्रव्रज्या का उद्देश्य है–दुःख मुक्ति और निर्वाण-प्राप्ति।' राजा ने पूछा–'क्या आपने इसीलिए प्रव्रज्या ली थी?' नागसेन ने कहा–'नहीं। मैंने बौद्ध भिक्षुओं में बड़ा पांडित्य देखा। मैंने सोचा, मुझे भी सीखने को मिलेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सीखने के बाद मैंने जाना कि प्रव्रज्या का उद्देश्य क्या है।'

चार प्रकार के पुरुष होते हैं–

कुछ व्यक्ति दुःख-क्षय के लिए प्रव्रजित होते हैं और वे उसी ध्येय पर चलते हैं। कुछ व्यक्ति प्रव्रज्या के उद्देश्य को बाद में समझते हैं, किन्तु तदनुरूप अभ्यास नहीं करते। कुछ जानते हैं और अभ्यास भी करते हैं। कुछ न जानते हैं और न तथानुरूप आचरण करते हैं।

एक व्यक्ति ने आचार्य महाप्रज्ञ को पूछा–'प्रव्रज्या का प्रयोजन क्या है? आपने प्रव्रज्या क्यों ली?' उन्होंने कहा–

**'अज्ञातं ज्ञातुमिच्छामि, गूढं कर्त्तुमनावृतम्।**
**अभूतो हि बुभूषामि, सेयं दीक्षा मर्माहती॥'**

मेरे प्रव्रज्या ग्रहण करने के मुख्य प्रयोजन तीन हैं–

१. अज्ञात को ज्ञात करना।

२. आवृत को अनावृत करना।

३. जो नहीं हो सके वैसा होना–जो रूपांतरण आज तक घटित नहीं हो सका वैसा रूपांतरण घटित करना।

ध्येय का स्पष्ट चुनाव प्रथम क्षण में बहुत कम व्यक्ति ही कर पाते हैं। उनमें से बहुत कम व्यक्ति ही उसी दिशा में गतिमान रह सकते हैं। जिनका मोहावरण कुछ क्षीण हो, विशद बोध हो, वे ही व्यक्ति दुःख-मुक्ति के लिए उत्कंधर होते हैं। दुःख से कैसे मुक्ति हो? इस जिज्ञासा का समाधान ऋषियों ने विभिन्न स्वरों में दिया है। किन्तु प्रतिपाद्य भिन्न नहीं है। दुःख-मुक्ति की पद्धति ही साधना-पद्धति बन गयी, योग बन गया। कर्म-योग, ज्ञान-योग, भक्ति-योग, उपासना-योग, आदि भिन्न-भिन्न नामों से उसे संबोधित किया गया है, किंतु इतना ही नहीं, जिस-जिस व्यक्ति द्वारा प्रणीत हुई उसके नाम या संप्रदाय के नाम से भी वह जुड़ गयी। जैसे–जैन साधना पद्धति, बौद्ध साधना-पद्धति, हिंदू साधना-पद्धति आदि-आदि। समस्त सरिताएं अंत में जैसे सागर में विलीन हो जाती हैं वैसे ही स्वयं तक पहुंचकर साधना-विधियां भी विलीन हो जाती हैं, क्योंकि सभी पद्धतियों का ध्येय है–सत्य का साक्षात्कार। साधना का अवलंबन लिए बिना सत्य का अनुभव कठिन है।

बुद्ध से पूछा गया–'कैसे मिली आपको सिद्धि?'

बुद्ध ने कहा–'मत पूछो, कैसे मिली? जब तक किया तब तक नहीं मिली और जब करना छोड़ा, मिल गयी।' बुद्ध ने किया भी और नहीं भी किया। उस

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नहीं करने के लिए ही वह करना हुआ। महावीर के जीवन में भी यही घटित हुआ। वर्षों किया और जब साक्षात्कार हुआ तब पूर्ण मौन-अक्रिय-संवर, ध्यान-मुद्रा में लीन हो गए। संतजन जिस मार्ग से चले और सत्य को उपलब्ध हुए, वही साधना-पथ बन गया।

**१२. सत्यधीरात्मलीनोऽसौ, सत्यान्वेषणतत्परः।**
**स्थूलसत्यं समुत्सार्य, सूक्ष्मं तदवगाहते॥**

**उसकी बुद्धि सत्य में नियोजित हो जाती है। वह आत्मलीन और सत्य के अन्वेषण में तत्पर होता है। वह स्थूल सत्य को छोड़कर सूक्ष्म सत्य का अवगाहन करता है।**

**१३. माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्रास्तथौरसाः।**
**त्राणाय मम नालं ते, लुप्यमानस्य कर्मणा॥**

**सूक्ष्म सत्य का अवगाहन करने वाला इस सचाई को पा लेता है कि अपने कर्मों से पीड़ित होने पर मेरी सुरक्षा के लिए माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी और औरस पुत्र—कोई समर्थ नहीं है।**

जैसे-जैसे साधक सत्य की खोज में आगे बढ़ता है, अस्तित्व के निकट पहुंचता है, वैसे-वैसे उसकी स्थूल सत्य की कल्पनाएं गिरने लगती हैं। अब तक का जो माना हुआ कल्पित आकार था वह नष्ट होने लगता है। वह देखता है—मैं अपने को क्या समझता था? और क्या हूं? यह नाम-रूप मैं हूं? दृश्य को 'स्व' समझ रहा था। और 'पर' में आत्म-बुद्धि मान रहा था। मैं और मेरे का संबंध स्थापित किया। संयोग में शाश्वत की बुद्धि थी। अब कोई मेरा प्रतीत नहीं होता। सब अज्ञान था और सब अज्ञान में हैं। संबंधों का जाल खड़ाकर उलझ रहे हैं। मेरा मेरे अतिरिक्त कोई त्राण नहीं है। बुद्ध ने ठीक कहा है—'अपने दीपक स्वयं बनो, स्वयं ही स्वयं की शरण हो?

स्व-दर्शन में झूठी मान्यता टिक नहीं सकती। प्रकाश के सामने अंधकार का अस्तित्व कब टिका है? सत्य प्रकाश है, ज्योति है, उस ज्योति के समक्ष मिथ्या धारणाएं कैसे खड़ी रह सकती हैं? बुद्ध को ज्ञान हुआ तब अपने मन से कहा—'मेरे मन! अब तुझे विदा देता हूं। अब तक तेरी जरूरत थी शरीर रूपी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

घर बनाने थे। अब मुझे परम निवास मिल गया।'

'कोई अपना नहीं है'—इसे खाली दोहराओ मत। सचाई का दर्शन करो। **'नालं मम ताणाए'** मेरे लिए धन, पद, यश, प्रतिष्ठा, परिवार, स्वजन आदि कोई त्राण नहीं हैं और न मैं भी उनका त्राण हूं। जिस व्यक्ति की यह घोषणा है वह प्रत्यक्ष-द्रष्टा है। उसने अंतर में प्रवेश कर निरीक्षण किया है। हम भी इसके साथ गहराई में उतरें और सचाई का अनुभव करें।

**१४. अध्यात्मं सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा जीवान् प्रियायुषः।**
**न हन्ति प्राणिनः प्राणान्, भयादुपरतः क्वचित्॥**

**सभी जीव सब तरह से समान आत्मानुभूति रखते हैं। उन्हें जीवन प्रिय है, यह देखकर प्राणियों के प्राणों का वध न करे, भय और वैर से निवृत्त बने—अभय बने।**

वैर वैर से शांत नहीं होता। वैर की शांति अवैर से होती है। आत्म-द्रष्टा सब प्राणियों में आत्मत्व ही देखता है। वह न किसी को शत्रु मानता है, न किसी को मित्र। शत्रु और मित्र की कल्पना सारी व्यावहारिक है। मैत्री और शत्रुता परिचित के साथ होती है। आत्मा यदि अपरिचित है तो कौन शत्रु है और कौन मित्र। अगर आत्मा परिचित है तो सब आत्माएं हैं, कोई शत्रु और कोई मित्र नहीं है। शत्रु और मित्र की बुद्धि राग-द्वेष को उत्पन्न करती है। राग से व्यक्ति प्रेम करता है और द्वेष से घृणा। दोनों ही बंधन हैं।

सत्यद्रष्टा अभय और निर्वैर होता है। वह न किसी को डराता है और न किसी से डरता है।

**१५. आदानं नरकं दृष्ट्वा, मोहं तत्र न गच्छति।**
**आत्मारामः स्वयं स्वस्मिन्लीनः शान्तिं समश्नुते॥**

**आदान—परिग्रह को नरक मानकर जो उससे मोह नहीं करता और स्वयं अपने में लीन रहता है, वह आत्मा में रमण करने वाला व्यक्ति शांति को प्राप्त होता है।**

परिग्रह आदान इसलिए है कि वह कर्म का ग्रहण करता है। कर्म के संग्रह से आत्मा का पतन होता है। सत्य-द्रष्टा परिग्रह में आसक्त नहीं होता, क्योंकि वह इसे बंधन मानता है। आत्मा की शांति परिग्रह में नहीं है, वह है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मलीनता में। साधक इसीलिए आत्मलीनता में व्यग्र रहता है।

परिग्रह के मोह में फंसे व्यक्तियों को शांति नहीं मिलती। ये परिग्रह की आशा में ही व्यस्त रहते हैं। शंकराचार्य ने ऐसे व्यक्तियों के लिए लिखा है–'जिसका शरीर जीर्ण हो गया है, सिर के बाल सफेद हो गए हैं, मुंह दांतों से विहीन हो गया है; फिर भी वे आशा से मुक्त नहीं होते।'

**१६. इहैके नाम मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम्।**
**विदित्वा तत्त्वमात्मासौ, सर्वदुःखाद्विमुच्यते॥**

**कुछ लोग यह मानते हैं कि पाप का परित्याग करना आवश्यक नहीं होता। जो आत्म-तत्त्व को जान लेता है, वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।**

**१७. वदन्तश्चाप्यकुर्वन्तो, बन्धमोक्षप्रवेदिनः।**
**आश्वासयन्ति चात्मानं, वाचो वीर्येण केवलम्॥**

**जो केवल कहते हैं, किंतु करते नहीं, बंधन और मुक्ति का निरूपण करते हैं, किंतु बंधन से मुक्ति मिले वैसा उपाय नहीं करते, वे केवल वचन के वीर्य से अपने आपको आश्वस्त कर रहे हैं।**

**१८. न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम्।**
**विषण्णाः पापकर्मेभ्यो, बालाः पण्डितमानिनः॥**

**वे अज्ञानी अपने आपको पण्डित मानते हुए भी बाल हैं। वे पाप-कर्म से विषाद को प्राप्त हो रहे हैं। उन्हें विचित्र प्रकार की भाषाएं और विद्या का अनुशासन–शिक्षण भी पाप से नहीं बचा सकता।**

पांडित्य और सम्यग् ज्ञान का अंतर जान लेना आवश्यक है। सम्यग् ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता। उसके लिए स्वयं में प्रवेश करना होता है। पांडित्य–विद्वत्ता बाहर से आती है। जो भी अर्जित ज्ञान है वह सब पांडित्य है, उधार है, अपना नहीं है। पंडित बनने के लिए विश्व में बहुत साहित्य है, शिक्षक है, वक़्ता हैं और भी विविध प्रकार के आधुनिक उपकरण हैं। वैज्ञानिक कहते हैं–मनुष्य के दिमाग में इतने प्रकोष्ठ हैं जिनमें समग्र विश्व का साहित्य संगृहीत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

किया जा सकता है। दुनिया के सभी पुस्तकालयों का ज्ञान उनमें भरा जा सकता है। इतनी क्षमता होते हुए भी यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वयं को इस ज्ञान से नहीं जान सकता। 'कन्फ्यूसियस' का बड़ा कीमती वचन है–'ज्ञानी वह होता है जो अपने को जानता है; और विद्वान् वह होता है जो दूसरों को जानता है।' विद्वान् और ज्ञानी का यह भेद स्पष्ट सूचित करता है कि ज्ञान की प्रक्रिया शिक्षा से सर्वथा भिन्न है। कबीर ने ठीक कहा है–

**'पंडित और मसालची, दोनूं सूझे नांय।**
**औरन को करै चांदनो, आप अंधेरे मांय॥'**

परमात्म प्रकाश में लिखा है–

**'आत्म-ज्ञान विण अन्य जे, ज्ञान न तेनूं नाम।**
**ते थी रहित पण तप बने दुख कारण सुतराम्॥'**

विद्वत्ता के साथ आचरण भी आए, यह जरूरी नहीं है, किन्तु सम्यग् ज्ञान के साथ रूपांतरण निश्चित है। ज्ञान शक्ति है। वह यथार्थस्वरूप आपके सामने प्रस्तुत करेगा। उसे आप स्वीकार करेंगे तो निःसन्देह रूपांतरित होंगे। अन्यथा उस ओर आप आंख बन्द कर लेंगे। धर्म के वास्तविक स्वरूप–ध्यान से डरने का और कारण क्या है? वह जितनी कुरूप प्रतिमाएं छिपी हैं उन्हें प्रकाश में लाता है। इसलिए आपका वैसा रहना असंभव हो जाता है। वे मिथ्या प्रतिमाएं खंडित होंगी या फिर आप पीछे हट जाएंगे।

ज्ञान से ही जो मुक्ति की बात कहते हैं–वह केवल सत्य के संबंध में सीखे हुए ज्ञान की बात है, न कि साधना द्वारा उपलब्ध ज्ञान की। महावीर के युग में ऐसी मान्यता थी, इसलिए उन्हें यह घोषणा करनी पड़ी कि विविध भाषाओं का बोध आदमी को त्राण नहीं दे सकता। उसे सम्यग् ज्ञान की आराधना करनी होगी। सम्यग्-दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् आचरण–इस त्रिवेणी में डुबकी लगाकर ही व्यक्ति कल्मष से छूट सकता है।

जैन दृष्टि से मोक्ष के उपाय हैं–सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् आचरण और सम्यग् तप। दर्शन सबका आधार है। दर्शन के अभाव में अन्य साधनों की उपादेयता नगण्य है। आधार सुदृढ़ हुआ कि भवन का निर्माण अचिर काल में हो सकता है। दर्शन की स्वीकृति नहीं हो सकती है, उसकी आराधना होती है। वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है कि जिसका आदान-प्रदान किया जा सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उपासना करनी होती है।

दर्शन का अर्थ है–देखना। प्रश्न होगा कि क्या देखें? जो हम देखते हैं वह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भी दर्शन है, किन्तु वह सम्यग् नहीं। क्योंकि उससे हम दृश्य को ही देखते हैं। सम्यग् दर्शन तब घटित होता है जब आपके सामने कोई दृश्य न हो, जो देखने वाला है उसे आप देखें। वह सम्यग् दर्शन है। सब दृष्टियां खो जाएं, केवल द्रष्टा रहे। शुद्ध निश्चय की भाषा में आचार्यों ने इसे ही सम्यग् दर्शन कहा है। योगसार में लिखा है–

**आत्मा दर्शन, ज्ञान गुण, आत्म गुण चारित्र।**
**आत्मा संयम, शील, तप, प्रत्याख्यान पवित्र॥**

किसी अन्य आचार्य ने कहा है–

**स्व थी स्व ने जीव जाणता, सम्यग् दृष्टि थाय।**
**सम्यग् दृष्टि जीव तो, कर्ममुक्त झट थाय॥**

जड़ और चेतन के मध्य का सघन आवरण सम्यग् दर्शन के द्वारा विनष्ट होता है। सम्यग् दर्शन के आलोक में स्व-पर का स्पष्ट बोध उद्भाषित होता है। आगे का पथ फिर स्वतः सरल और स्पष्ट हो जाता है। मृगापुत्र ने अपने माता-पिता से कहा–'जैसे घर में आग लग जाने से गृहस्वामी अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को बाहर निकालता है और तुच्छ को छोड़ देता है, ठीक इसी प्रकार मैं भी देखता हूं, मेरे घर में भी अग्नि की लपटें उठ रही हैं। घर धूं-धूं जल रहा है। वह अग्नि है--वृद्धत्व और मौत की। मैं चाहता हूं तुम्हारी आज्ञा लेकर अपनी महामूल्यवान् आत्मा को बचाना।'

जिसे दर्शन होता है उसके जीवन में यह अवश्यंभावी घटने वाली घटना है। जो दूसरों को दिखाई नहीं देता, वह उसे दिखाई देता है। अब कैसे वह अपने को 'पर' में उलझाए रख सकता है? दर्शन के साथ ही ज्ञान की घटना घटती है और उसके साथ ही चारित्र (स्व में अवस्थित होने का भाव) जागृत हो जाता है। स्व में स्थित होना तप है और वह पूरी प्रक्रिया भी तप है जिसके द्वारा स्व में अवस्थान होता है। संक्षेप में महावीर की यही साधना-पद्धति है। दर्शन उसका केन्द्र है। ध्यान दर्शन के लिए है या दर्शन ही ध्यान है।

दर्शन के निष्कर्ष हैं–शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य।

शम का अर्थ है–शांति। शांति सम्यग् दृष्टि की झलक है। जिससे यह बोध होता है कि व्यक्ति को भीतर कुछ प्राप्त है। अशांति के जनक क्रोध, अहंकार, राग-द्वेष आदि हैं। सम्यग् दर्शन की स्थिति में इनका अस्तित्व शांत हो जाता है।

संवेग का अर्थ है–दुःख-मुक्ति के लिए तीव्र उत्साह। जैसे-जैसे स्व-धारा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का वेग वर्धमान होता है वैसे-वैसे साधक के चरण उस दिशा में और अधिक गतिशील हो जाते हैं। मंजिल पर पहुंचे बिना उसे चैन नहीं मिलता।

निर्वेद का अर्थ है—काम तृष्णा, भव तृष्णा आदि जो दुःख जनक हैं उनसे पार चला जाना। अब साधक को बाहर में आकर्षण नहीं रहता। सुख या वासनाएं उसे दिग्मूढ़ नहीं बना सकतीं। 'वेद' शब्द का दूसरा अर्थ-ज्ञान करें तो यह भी हो सकता है कि अब बाह्य ज्ञान के प्रति उसके मानस में कोई अनुराग नहीं रहता। आत्मज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान बोझ रूप है। इसलिए दुःख और ज्ञान—दोनों के जाल से वह छूट जाता है।

अनुकंपा अर्थात् करुणा। बुद्ध ने कहा है—ध्यान के बाद यदि करुणा का जन्म न हो तो समझना चाहिए कि कहीं भूल रह गई है।

**'सव्वजगजीवरक्खणट्ठाए भगवया पावयणं सुकहियं'**—भगवान ने सब जीवों की रक्षा के लिए प्रवचन दिया है। यह अनंत कारुणिकता का प्रतीक है। वे देखते हैं—दुःख से व्याकुल हैं प्राणी। अनंत-अनंत जन्मों से भटक रहे हैं। उनके लिए भगवान शरण बनते हैं, मार्ग-दर्शक बनते हैं और दिव्य नेत्र बनते हैं जिससे कि आदमी स्वयं को जान सके और समझ सके कि मैं क्यों और किसलिए यहां

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आया हूं?

आस्तिक्य का अर्थ है—अस्तित्व के प्रति श्रद्धा। स्वयं के साक्षात्कार के बिना स्वयं के प्रति जो श्रद्धा है, वह सिर्फ मानी हुई होती है और दर्शन के अनंतर जिस श्रद्धा का जन्म होता है, वह अनुभूत होती है। धर्म की यात्रा अनुभूति की यात्रा है, मानने की नहीं। मानने से भ्रांतियां टूटती नहीं। मिथ्यादर्शन की बेड़ियों को तोड़ने के लिए दर्शनरूपी पुरुषार्थ का हथौड़ा उठाना ही होता है।

दर्शन के अनंतर दूसरा चरण उठता है—स्वयं के बोध के लिए। देखा और जाना। मैं कौन हूं? किसने मुझे बांध रखा है? मैं अपने ही अज्ञान के कारण बंधा रहा। स्वभाव और विभाव की रेखाएं स्पष्ट हो जाती हैं। सम्यग्ज्ञानी विभाव को काट आत्मस्थता के लिए उद्यत हो जाता है।

सम्यग् चारित्र स्व स्थिति है, स्व-रमण है। बस, स्वभाव में ठहरे रहना, स्वभाव से बाहर नहीं जाना। चारित्र का यह अंतिम कदम है। उससे पूर्व कदम में वे सब साधन निहित होते हैं जिनके माध्यम से वह स्थिति बनती है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तप आदि सब इसमें समाहित किए जा सकते हैं। समाधि स्वरूप की अविच्युति है। यह चारित्र का अंतिम सोपान है। कर्मों का निरोध, कर्मों का निर्जरण और कर्मों का क्षय कर चारित्र कृतकृत्य हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१९. ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव, चरित्रं च तपस्तथा।
एष मार्ग इति प्रोक्तं, जिनैः प्रवरदर्शिभिः॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इनका समुदय मोक्ष का मार्ग है। श्रेष्ठ दर्शन वाले वीतराग ने ऐसा कहा है।

२०. ज्ञानेन ज्ञायते सर्वं, विश्वमेतच्चराचरम्।
श्रद्धीयते दर्शनेन, दृष्टिमोहविशोधिना॥

ज्ञान से समस्त चराचर विश्व जाना जाता है। दर्शन-मोह की विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले दर्शन से उसके प्रति यथार्थ विश्वास होता है।

२१. भाविदुःखनिरोधाय, धर्मो भवति संवरः।
कृतदुःखविनाशाय, धर्मो भवति सत्तपः॥

संवर धर्म के द्वारा भावी दुःख का निरोध होता है और सम्यक् तप के द्वारा किए हुए दुःखों का नाश होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् का दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। केवल ज्ञान या केवल तप से मुक्ति नहीं होती। भगवान् ने कहा–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप–इनके समन्वय से मोक्ष सधता है। जब व्यक्ति इन चारों की आराधना करता है, तब वह दुःखमुक्त होता है। ज्ञान से प्राणी हेय और उपादेय को जानता है और दर्शन से उसमें विवेक जागृत होता है तब वह सत्य की ओर बढ़ता है। जब उसमें चारित्र का विकास होता है तब हेय को छोड़ उपादेय को ग्रहण करता है। इससे आने वाले कर्मों का निरोध होता है और जो पूर्वबद्ध कर्म हैं, उनका वह तपस्या द्वारा निर्जरण करता है। इस प्रकार वह बंधन से बंधन मुक्ति की ओर बढ़ता जाता है।

**२२. दृष्टिमोहं परिष्कृत्य, व्रती भवति मानवः।**
**अप्रमत्तोऽकषायी च, ततोऽयोगी विमुच्यते॥**

**पहले दृष्टि–दर्शन मोह का परिष्कार होता है, फिर मनुष्य क्रमशः व्रती, अप्रमत्त, अकषायी और अयोगी होकर मुक्त होता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

—बंधन-मुक्ति सहसा नहीं सध जाती। वह क्रमशः होती है। व्यक्ति के क्रमिक अभ्यास से वह प्राप्त होती है। दशवैकालिक सूत्र में मुक्ति के क्रम का बहुत सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। ज्ञान के विकास के साथ-साथ अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा साधन है, साध्य है मुक्ति। जीव और अजीव का ज्ञान अहिंसा का आधार है और उसका फल है, मुक्ति। इन दोनों के बीच में साधना का क्रम चलता है। मुक्ति का आरोह क्रम इस प्रकार है :

१. जीव-अजीव का ज्ञान।
२. जीवों की बहुविध गतियों का ज्ञान।
३. पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष का ज्ञान।
४. भोग-विरक्ति।
५. आंतरिक और बाह्य संयोग-त्याग।
६. अनगार-वृत्ति।
७. अनुत्तर-संवरयोग की प्राप्ति।
८. स्वरूप बाधक कर्मों का विलय।
९. केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१०. अयोग-अवस्था।

११. सिद्धत्व-प्राप्ति।

प्रस्तुत श्लोकों में इन सबका समावेश पांच तथ्यों में दिया गया है :

१. मोह-संवरण, २. व्रत-ग्रहण, ३. अप्रमत्त अवस्था की प्राप्ति, ४. अकषाय वीतराग अवस्था की प्राप्ति और ५. अयोग—संपूर्ण नैष्कर्म की प्राप्ति।

**२३. संवृतात्मा नवं कर्म, नादत्तेऽनास्रवो यतिः।**
**अकर्मा जायते कर्म, क्षपयित्वा पुरार्जितम्॥**

**संवृत आत्मा वाला यति नए कर्मों का ग्रहण नहीं करता। उसके आस्रव रुक जाते हैं और वह पूर्व-अर्जित कर्मों को क्षीण कर, अकर्मा हो जाता है।**

**२४. अतीतं वर्तमानं च, भविष्यच्चिरकालिकम्।**
**सर्वथा मन्यते त्रायी, दर्शनावरणान्तकः॥**

**दर्शनावरणीय कर्म का अंत करने वाला यति चिरकालीन अतीत, वर्तमान और भविष्य को सर्वथा जान लेता है और वह सभी जीवों का रक्षक होता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**२५. अन्तको विचिकित्सायाः, सर्वं जानात्यनीदृशम्।**
**अनीदृशस्य शास्ता हि, यत्र तत्र न विद्यते॥**

**जो विचिकित्सा—सन्देहों का अंत करने वाला है, वह तत्त्वों को वैसे जानता है, जैसे दूसरा नहीं जान पाता। असाधारण तत्त्व का शास्ता जहां-तहां नहीं मिलता।**

सफलता उसे ही वरण करती है जो आस्थावान् और संदेह-रहित होता है। संशयशील व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। श्रेष्ठी-पुत्र अपने ही अविश्वास से विद्या-सिद्धि में असफल रहा; जबकि चोर विद्या साध कर आकाश मार्ग में उड़ गया। **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'**—ज्ञान का विकास पूर्ण विश्वास से ही फलित होता है। श्रृद्धालु व्यक्ति में जैसी ज्ञान की स्फुरणा होती है वैसी दूसरे में नहीं होती।

**२६. स्वाख्यातमेतदेवास्ति, सत्यमेतत् सनातनम्।**
**सदा सत्येन सम्पन्नो, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत्॥**

**यह स्वाख्यात धर्म है, यही सनातन सत्य है कि व्यक्ति सदा सत्य से संपन्न बने और सब जीवों के प्रति मैत्री का व्यवहार करे।**

**२७. वैरी करोति वैराणि, ततो वैरेण रज्यति।**
**पापोपगानि तानीह, दुःखस्पर्शानि चान्तशः॥**

**वैरी वैर करता है और वैर करते-करते उसमें रक्त हो जाता है। वैर पापार्जन् का हेतु है और अंत में उसका परिणाम दुःखस्पर्शी होता है।**

मेरी सबके साथ मैत्री है किसी के साथ विरोध नहीं है, इस मानसिक शुद्धि के बिना मैत्री नहीं होती। जहां कहीं हमारा प्रेम अथवा द्वेष है वहां मैत्री नहीं है। हम शत्रु से सशंकित रहते हैं और मित्रों की चिंता करते हैं। जो विश्व को मित्र मानता है वह अभय होता है। समाधि अभय व्यक्ति को प्राप्त होती है। प्रतिशोध की भावना में वैर झलकता है। वैर का परिणाम दुःखमूलक है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२८. स हि चक्षुर्मनुष्याणां, कांक्षामन्तं नयेत यः।
लुठति चक्रमन्तेन, वृहत्यन्तेन च क्षुरः॥

वह मनुष्यों का चक्षु है, जो आकांक्षा का अंत करता है। चक्का अंत–छोर से चलता है। उस्तरा अंत–धार से चलता है।

२९. धीरा अन्तेन गच्छन्ति, नयन्त्यन्तं ततो भवम्।
अन्तं कुर्वन्ति दुःखानां, सम्बोधिरतिदुर्लभा॥

धीर पुरुष अंत से चलते हैं–हर वस्तु की गहराई में पहुंचते हैं। इसलिए वे भव का अंत पा लेते हैं, दुःखों का अंत करते हैं। इस प्रकार की संबोधि प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है।

'संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो विणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥'

महावीर का सन्देश है–संबोधि को प्राप्त करो। संबोधि के लिए ही जीवन उपयोगी है। आगे ऐसा अवसर दुर्लभ है। बीती हुई रात्रियां (क्षण) पुनः लौटकर नहीं आतीं और न यह मनुष्य जीवन भी पुनः सुलभ है।

केनोपनिषद् संबोधि की भांति 'परब्रह्म' को जानने का आग्रह करता है। वह कहता है–

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिंत्य धीराः,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

....."इस मनुष्य जीवन में ही यदि परमात्मा को जान लिया तो बहुत अच्छा है। यदि नहीं जाना तो महान् विनाश है। धीर व्यक्ति प्राणी मात्र में परमात्मा को जानकर अमर हो जाते हैं, इस संसार में पुनःजन्म नहीं लेते।'

संबोधि जैन दर्शन का प्रिय शब्द है और इस पुस्तक का नाम भी 'संबोधि' है। संबोधि को सुनना ही नहीं है किंतु जीवन में घटित करना है। जैसे मेघ के जीवन में वह घटी, वैसे ही हम सबके जीवन में वह घटित हो सकती है। दुःख से मुक्ति के लिए यह अनिवार्य है। **'आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु'**–मुझे आरोग्य, बोधि-लाभ और समाधि की प्राप्ति हो। यह एक विशुद्ध

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रार्थना है। इसके पीछे कोई भौतिक चाह नहीं है। जिस प्रार्थना में भौतिक मांग हो, वह प्रार्थना परमात्मा तक नहीं पहुंचाती। यह तो स्वभाव उपलब्धि की मांग है। साधक अपनी दुर्बलता स्वीकार करता है कि यह मेरे वश की बात नहीं है। आपका सहारा हो तो यह संभव है। वह छोड़ देता है उस अदृश्य शक्ति के हाथों में स्वयं को।

संबोधि स्वभाव है। वह व्यक्ति से दूर नहीं है। उसका न होना ही आश्चर्यजनक है, होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। स्वभाव कभी अपने केन्द्र से पृथक् नहीं होता। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र—ये सभी संबोधि के ही रूप हैं। इसलिए कहा है—धीर पुरुष अंत से चलते हैं। धीर का अर्थ है—जो बुद्धि से सुशोभित है, जिसकी बुद्धि सत्य-शोध की ओर अभिमुख है। बुद्धि यदि यथार्थ गवैषणा में प्रवृत्त न हो तो वह यथार्थ में धीर या बुद्धिमान नहीं है। **'बुद्धेः फलं तत्वविचारणा च'** बुद्धि की उपादेयता सत्य की खोज में है। 'धीरा अन्तेन गच्छन्ति' बुद्धिमान् साधक का समग्र व्यवहार अपूर्व ढंग का होता है। वह अब वैसा आचरण, व्यवहार नहीं करता, जैसा अतीत में करता था। 'अंत' का अर्थ है—आगे वैसा जीवन नहीं जीना। जीवन के समस्त पापों का अंत जागकर ही किया जा सकता है। साधना 'जागरिका' है। जीवन का प्रत्येक चरण जागरिकापूर्वक उठे। अन्यथा प्रमाद का नाश कठिन है। जहां प्रमाद होगा वहां दुःख भी होगा। धीर पुरुष होश का सहारा लेकर दुःखों का अन्त कर देते हैं।

**३०. यो धर्मं शुद्धमाख्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम्।**
**अनीदृशस्य यत्स्थानं, तस्य जन्मकथा कुतः॥**

**जो शुद्ध, परिपूर्ण और अनुपम धर्म का निरूपण करता है और यह अनुपम धर्म जिसमें ठहरता है, उसके पुनर्जन्म की बात कहां?**

**३१. आत्मगुप्तः सदा दान्तः, छिन्नस्रोता अनास्रवः।**
**स धर्मं शुद्धमाख्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम्॥**

**जो आत्म-गुप्त है, सदा दान्त है, जिसने कर्म आने के स्रोतों को छिन्न कर दिया है और जो अनास्रव हो गया है, वह परिपूर्ण, अनुपम और शुद्ध धर्म का निरूपण करता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यूनान के एक महान् संत से किसी ने पूछा—सबसे सरल क्या है? उसने कहा—उपदेश देना। दूसरा प्रश्न किया कि सबसे कठिन क्या है। संत ने उत्तर दिया—स्वयं को जानना। और यह बहुत ठीक है। सलाह देना, उपदेश देना—यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए सरल है। क्योंकि इसमें स्वयं को कुछ करना नहीं है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कहा है—कोई डुबकी लगाना नहीं चाहता। साधना नहीं, भजन नहीं, विवेक-वैराग्य नहीं, दो-चार बातें सीख लीं बस, लगे लेक्चर देने। जो व्यक्ति स्वयं जिस विषय 'अ' 'आ' भी नहीं जानता वह भी दूसरों को सलाह देने में तत्पर हो जाता है। 'पिकासो' जैसे चित्रकार दुनिया में विरले हुए हैं। लेकिन लोग सलाह देने उसके पास भी पहुंच जाते थे। उसने एक 'सजेशन बाक्स'—सलाहों की पेटी बना रखी थी, जिसके नीचे कचरे की टोकरी थी। लोग आते। एक कागज पर सलाह लिखकर उस पेटी में डाल देते। पेटी के छेद से वह कागज नीचे रखी कचरे की टोकरी में चला जाता। उपदेशों के प्रभावहीन होने का कारण यह है कि व्यक्ति जैसा कहते हैं वैसा करते नहीं हैं। दूसरा कारण है—जिस विषय को स्वयं जानते नहीं हैं, उसके संबंध में कहते हैं।

एक विचारक ने लिखा है—लोग धर्म के संबंध में सुनते हैं, पढ़ते हैं, लिखते हैं, भाषण करते हैं। धर्म के लिए लड़ते हैं और मरते भी हैं। किन्तु जीते नहीं। धर्म का जीवन में परिचय हो जाये तो फिर लड़ने और मरने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। धर्म का ह्रास उसके आत्मसात् नहीं होने के कारण ही हुआ है। धर्मग्रंथ स्वयं नहीं बोलते। वे तो अनुभवी पुरुषों के स्वर हैं, चेतना जगत् से उठे हुए शब्द हैं। उसका अर्थ चेतना जगत् में प्रवेश करके ही पाया जा जा सकता है।

धर्म की व्याख्या जब चैतन्य भूमि से हटकर बौद्धिक भूमिका पर आ जाती है तब धर्म शुद्ध नहीं रहता। उसका स्वरूप और कार्य एक होते हुए भी भिन्नता परिलक्षित होती है। उसका एकमात्र कारण है—अनुभूति के स्तर पर धर्म का न होना। यहां जो धर्म-प्रवक्ता के चार लक्षण प्रस्तुत किये हैं वे यह सूचित करते हैं कि उसे कैसा होना चाहिए, जिससे धर्म की ज्योति बुझने न पाये। तथागत कौन होते हैं—इसके संबंध में कहा है—जो जैसा कहता है वैसा करता है—वह तथागत होता है। खुद्दकनिकाय में कहा है—दूसरों को उपदेश करने से पहले पंडित अपने आपको उसके अनुरूप प्रशिक्षित कर ले जिससे कि बाद में क्लेश न उठाना पड़े।' इससे यह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्पष्ट है, उपदेष्टा को केवल उपदेष्टा नहीं होना है किन्तु उस उपदेश को जीना है। धर्म-प्रवक्ता को जिन चार विशिष्ट गुणों से विभूषित होना चाहिए, वे ये हैं–

१. **आत्मगुप्त**–(आत्म-रक्षित)–आत्मा की असुरक्षा के हेतु हैं–इन्द्रियों की और मन की चंचलता। इन्द्रियां विषयों का ग्रहण करती हैं और मन को अपना संवाद पहुंचाती हैं। मन अनुरक्ति और विरक्ति, चाहिए और नहीं चाहिए की दौड़-धूप में व्यग्र हो उठता है। पूर्वबद्ध संस्कारों के कारण आत्मा की ध्वनि दब जाती है और मन सक्रिय हो उठता है। यह असमाधि है, दुःख है। जिस साधक ने इन्हें ठीक समझकर, जानकर और देखकर समाधिस्थ बना लिया है, शांत बना लिया है, जिसकी इन्द्रियां अब स्वयं के अधीन हो गई हैं, जो अपना मालिक है, वह आत्म-गुप्त होता है।

२. **दान्त-शान्त**–जो सदा उपशांत रहता है। अशांति का हेतु है–कषाय। कषाय संसार है और अकषाय मुक्ति। कषाय हो और अशांति न हो यह संभव नहीं है। साधना कषाय की शांति के लिए है। **'कषायमुक्ति : किल मुक्तिरेव'** कषाय की शांति को मुक्ति कहा है। वक्ता के लिए शांत होना अनिवार्य है। राग-द्वेषयुक्त वक्ता के द्वारा शुद्ध धर्म का निरूपण संभव नहीं है।

३. **छिन्नस्रोता**–जिसने कर्म आने के मार्गों को नष्ट कर दिया है। इसका एक अर्थ और भी है। संसारानुगामी लोग-व्यवहार से जो ऊपर उठ जाता है वह छिन्नस्रोता हो जाता है। एक यथार्थद्रष्टा को लोक-व्यवहार से मुक्त होना आवश्यक है। धर्म के सम्यक् प्रतिपादन में लोक व्यवहार भी एक बाधा है। साधक लोकहित के लिए बोलता है, न कि लोकरंजन के लिए। 'जनरंजनाय' कहकर आचार्य ने अपना पश्चात्ताप प्रकट किया है। धर्म के प्रतिपादन का उद्देश्य होता है–लोगों को सही मार्गदर्शन देना। यह तभी संभव है जबकि साधक सत्य के अतिरिक्त किसी को महत्त्व नहीं देता। सत्य सर्वोपरि है। सत्य के मार्ग में आने-वाली सभी अड़चनों से जो मुक्त हो चुका है वह है–छिन्नस्रोता।

४. **अनास्रव**–शाब्दिक परिभाषा की दृष्टि से अनास्रव का अर्थ होता है–पांच आस्रव-द्वारों से रहित। इसका दूसरा अर्थ मध्यस्थ भी होता है। जो शुभ-अशुभ विचारों में सदा तटस्थ, समत्ववान्, मध्यस्थ रहता है, वह अनास्रव होता है। यहां मध्यस्थ अर्थ अधिक संगत लगता है। धर्म का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उपदेष्टा यदि स्थिर न हो तो सत्य के निरूपण में बड़ी कठिनाई पैदा होगी। फिर वह कभी बायें झांकेगा और कभी दाएं। उसे दूसरों पर निर्भर होना होगा।

तटस्थ व्यक्ति सदा स्थिर रहता है, न वह इधर झांकता है और न उधर। वह संतुलित रहता है। सत्य का आविर्भाव उसी स्थिति में संभव है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में—लोगों को सिखाना कठिन काम है। भगवान् के दर्शन के बाद यदि किसी को उनका आदेश प्राप्त हो तो वह लोक-शिक्षा (उपदेश) दे सकता है।

**३२. यन्मतं सर्वसाधूनां, तन्मतं शल्यकर्तनम्।**
**साधयित्वा च तत्तीर्णा, निःशल्या व्रतिनां वराः॥**

**जो मत—साधना-मार्ग सभी निर्ग्रंथों द्वारा अभिमत है वह मार्ग—निर्ग्रंथ प्रवचन शल्य को काटने वाला है। उसकी साधना कर बहुत से उत्तमव्रती निःशल्य बनकर भव-समुद्र को तर गए।**

शल्य आंतरिक व्रण है। ऊपर की चिकित्सा साध्य है, अंतर की असाध्य है, क्योंकि वह दृश्य नहीं है। शल्य भीतर ही भीतर पलने वाला महान् दुःखदायी और विनाशक व्रण है। यह सूक्ष्म है। इसे पकड़ने के लिए पैनी दृष्टि चाहिए। गहन अंतर्दर्शन के बिना इसको पकड़ पाना कठिन है। साध्य की प्राप्ति में यह बड़ा अमंगलकारी है। साधक को पहले ही क्षण में इससे मुक्त होकर साधना में प्रवेश करना चाहिए। शल्य तीन हैं—

१. **मायाशल्य**—माया का अर्थ है—वक्रता, भ्रांति। वक्र आदमी ही घूमता है, सीधा-सरल नहीं। भ्रांति भी वक्रता में पलती है। सरल व्यक्ति के लिए स्वीकृति और साधना दोनों सरल हैं। उसकी परिणति भी सरल है, किंतु वक्र के लिए कठिन है।

२. **निदानशल्य**—इसका अर्थ है—वैषयिक वासना का संकल्प। शरीर और इन्द्रिय-विषयों के आकर्षण को यदि साधक नहीं छोड़ पाता तो पग-पग पर उसके जीवन में संघर्ष खड़े हो जाते हैं। इन्द्रियों के लुभावने विषय उसे अपनी ओर खींच लेते हैं। वह जिसके लिए साधना में आया था, उसे भूल जाता है, और विषयों के चंगुल में फंस जाता है। ऐहिक विषयों की पूर्ति असंभव होती है तो भविष्य के सुखों के लिए भीतर ही भीतर अकेले

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

में संरचना कर लेता है और अपने वर्तमान या सुखद साधना-पथ से च्युत होकर नरक में स्वयं को डाल देता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने पूर्वभव में इसी प्रकार की संरचना से जीवन को दुःखद बना लिया। चित्तमुनि ने जब उसे आर्य-पथ पर चलने की प्रेरणा दी, तब चक्रवर्ती ने कहा—'मैं जानता हूं धर्म को, किंतु कर नहीं सकता। और अधर्म को भी जानता हूं किंतु छोड़ नहीं सकता। यह मेरे अशुभ तीव्रतम संकल्प का परिणाम है।'

३. **मिथ्यादर्शनशल्य**—बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ! मिथ्यादृष्टि के समान दोषपूर्ण दूसरा धर्म नहीं देखता। अनिष्टकारी सभी धर्मों में मिथ्यादृष्टि सबसे बुरा धर्म है।' बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में सम्यग्दृष्टि प्रथम है और महावीर के धर्म-दर्शन में भी सम्यग्दर्शन प्रथम है। यह अध्यात्म की रीढ़ है। दृष्टि की मलिनता हटने पर ही यथार्थ का अवबोध होता है। सत्यासत्य का अवबोध सम्यग्दर्शन है। आगे के पथ की सुगमता इसी विवेक पर निर्भर है।

**३३. पण्डितो वीर्यमासाद्य, निर्घाताय प्रवर्तकम्।**
**धुनीयात् सञ्चितं कर्म, नवं कर्म न वा सृजेत्॥**

**पण्डित व्यक्ति कर्म-क्षय के लिए प्रवर्तक वीर्य को प्राप्त कर पूर्वकृत कर्म की निर्जरा करता है और नये कर्म का अर्जन नहीं करता।**

**३४. एकत्वभावनादेव, निःसङ्गत्वं प्रजायते।**
**निःसङ्गो जनमध्येऽपि, स्थितो लेपं न गच्छति॥**

**एकत्व-भावना से निःसंगता—निर्लिप्तता उत्पन्न होती है। निःसंग मनुष्य जनता के बीच रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता।**

**एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते।**
**एक एव हि कर्म चिनुते, सैकिकः फलमश्नुते॥**

'जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। जीव अकेला ही कर्मों का संचय करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है।' यह एकत्व भावना का चिंतन है। इसके अभ्यास से व्यक्ति में निःसंगता पैदा होती है और अपने-आप पर निर्भर रहने की वृत्ति पनपती है। प्रत्येकबुद्ध नमि मिथिला के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

राजा थे। एक बार वे दाहज्वर से पीड़ित हुए। उपचार चला। रानियां स्वयं चंदन घिस रही थीं। उनके हाथों में पहने हुए कंगन बज रहे थे। उस आवाज से नमि खिन्न हो गए। कंगन उतार दिए गए। केवल एक-एक कंगन रखा। आवाज बंद हो गई। नमि ने कारण पूछा। मंत्री ने कहा–'सभी कंगन उतार दिये गये हैं। केवल एक-एक कंगन रखा गया है। एक में आवाज नहीं होती।'–नमि ने सोचा–'सुख अकेलेपन में है। जहां दो हैं वहां दुःख है।' इस एकत्व-भावना से प्रबुद्ध होकर वे प्रव्रजित हो गये।

**३५. न प्रियं कुरुते कस्याप्यप्रियं कुरुते न यः।**
**सर्वत्र समतामेति, समाधिस्तस्य जायते॥**

**जो किसी का प्रिय भी नहीं करता और अप्रिय भी नहीं करता, सर्वत्र समता का आचरण करता है, उसे समाधि प्राप्त होती है।**

इस श्लोक में आत्मनिष्ठ व्यक्ति के कर्त्तव्य का निर्देश है। उसमें राग-द्वेष नहीं होता। उसके लिए 'मेरा' और 'पराया' कुछ नहीं होता। वह प्रवृत्ति करता है, किसी का इष्ट या अनिष्ट करने के लिए नहीं, किन्तु अपना कर्त्तव्य-पालन करने के लिए। उसमें किसी का इष्ट सध सकता है। इष्ट या अनिष्ट प्रवृत्ति का मूल राग-द्वेष है। जो व्यक्ति इनसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है, वह सदा पवित्र नहीं रह सकता। जो आत्मनिष्ठ होता है, उसके लिए सब समान हैं। वह सारी प्रवृत्तियां आत्म-साक्षात्कार करने के लिए करता है। यही उसकी आत्म-निष्ठा है। यह सामान्य अवस्था नहीं है। यह ऊंची साधना से प्राप्त होती है। अप्रिय करने की बात हरेक की समझ में आ जाती है, किन्तु प्रिय न करना–यह कुछ अमानवीय तथ्य-सा लगता है, किन्तु भूमिका-भेद से यह भी मान्य होता है। सभी व्यक्तियों के कर्त्तव्य अपनी-अपनी भूमिका से उत्पन्न हैं। अतः उस ऊंची भूमिका पर पहुंचे मनुष्य के कर्त्तव्य भी भिन्न हो जाते हैं। यह समता का परम विकास है।

**३६. अशङ्कितानि शङ्कन्ते शङ्कितेषु ह्यशङ्किताः।**
**असंवृता विमुह्यन्ति, मूढा यान्ति चलं मनः॥**

**असंवृत व्यक्ति मुग्ध होते हैं। जो मूढ हैं, उनका मन चंचल होता है। वे**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**उन विषयों में शंका करते हैं जो शंका के स्थान नहीं हैं और उन विषयों में शंका नहीं करते, जो शंका के स्थान हैं।**

जिनकी इन्द्रियों और मन का द्वार बाहर की तरफ खुला है, वे असंवृत होते हैं। असंवृत व्यक्ति अमृत, अनश्वर में सदा सशंकित रहता हैं। उसका जो कुछ परिचय है, वह मृत–नश्वर से है। कुछ समझते हैं, लेकिन जानते हुए भी सशंक में अशंक की भांति हाथ डालते हैं। बुद्ध ने कहा–'नित्य प्रज्वलित इस संसार में कैसा हास्य और आनंद? अंधकार से घिरे हुए लोगो! प्रदीप की खोज क्यों नहीं कर रहे हो?' यह बुद्ध पुरुषों का दर्शन है। उन्हें आग दिखाई दे रही है। लोग जल रहे हैं। किन्तु मनुष्य को यदि आग दिखाई दे तो वह अपने को बचा सकता है। उसे दिखाई दे रही है ठंड। यह उल्टा दर्शन है। इसलिए महावीर ठीक कहते हैं–'वे लोग मूढ़ हैं जो मृत में मुग्ध हो रहे हैं। अशंकित में पैर रखते हुए शंका करते हैं और शंकित स्थानों में अशंकित होकर विहरण करते हैं। अमृत की उपलब्धि के बिना उनकी पीड़ा शांत नहीं हो सकती। अमृत को खोजो, शाश्वत को खोजो, अनश्वर को प्राप्त करो।'

**३७. स्वकृतं विद्यते दुःखं, स्वकृतं विद्यते सुखम्।**
**अबोधिनाऽर्जितं दुःखं, बोधिना हि प्रलीयते॥**

**दुःख अपना किया हुआ होता है और सुख भी अपना किया हुआ होता है। अबोधि से दुःख अर्जित होता है और बोधि से उसका विलय होता है।**

भगवान् महावीर ने कहा–

**'अन्नाणी किं काहिइ, किं वा नाहीइ छेयपावगं।'**

अज्ञानी को श्रेय और अश्रेय का पता नहीं होता। वह बेचारा है, दया का पात्र है, वह क्या करेगा? कैसे पार करेगा भवसागर को? यह करुण का परम वचन है। बुद्ध ने कहा है–'भिक्षुओ! सब मलों में अज्ञान परम मल है। इस मल को धो डालो और पवित्र हो जाओ।' गीता में कहा है–**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः'**–प्राणियों का ज्ञान अज्ञान से आच्छन्न है, इसलिए वे मूढ़ होते हैं।

अज्ञान पर सब संतों ने प्रहार किया है। सारा दुःख अज्ञान से अर्जित है। मनुष्य को पता नहीं है कि कैसे वह दुःख का संग्रह कर रहा है। दुःख सबको

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अप्रिय है। कोई नहीं चाहता है कि दुःख मिले किन्तु आश्चर्य है कि जाने, अनजाने सब दुःख—नरक में उतर रहे हैं। दुःख ने मनुष्य को नहीं पकड़ा है, किन्तु मनुष्य ने ही उसे पकड़ रखा है। जिस दिन यह समझ में आ जाएगा, आदमी उसे छोड़ भी सकेगा। दुःखी व्यक्ति ही दूसरों को सताने का प्रयत्न करता है। महावीर, बुद्ध आदि संतों ने किसी को नहीं सताया। क्योंकि वे परम सुख में थे। जब तक आप दुःखी हैं, दूसरों को कष्ट देने से नहीं चूकेंगे। आध्यात्मिक होने की शर्त है—आप सुखी बन जाएं, दूसरों की चिंता छोड़ दीजिए। सुख उतर आएगा। सुख के लिए सुख का ज्ञान अपेक्षित है। जैसे ही ज्ञान की किरण उतरेगी अनंत जन्मों का संगृहीत दुःख एक क्षण में विदा हो जाएगा। मैं दुःख किसी से लूंगा ही नहीं तो कौन मुझे दुःख देगा? मैं हर क्षण में प्रफुल्लित मुस्कराता रहूंगा। जो कुछ भी मेरे लिए है, वह सब मंगल रूप है।' ऐसे व्यक्ति को कौन दुःखी कर सकता है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३८. हिंसासूतानि दुःखानि, भयवैरकराणि च।
पश्य-व्याहृतमीक्षस्व, मोहेनाऽपश्यदर्शन!

**हिंसा से दुःख उत्पन्न होते हैं। वे भय और वैर की वृद्धि करते हैं। मोह के द्वारा अपश्य-दर्शन—अद्रष्टा बना हुआ पुरुष! तू पश्य—द्रष्टा की वाणी को देख।**

हिंसा का अर्थ है—असत् प्रवृत्ति। वह मानसिक, वाचिक और कायिक—तीन प्रकार की होती है। जब आत्मा असत् प्रवृत्ति में प्रवृत्त होती है, तब अशुभ कर्म-बंध होता है और अशुभ कर्म सभी दुःखों के मूल हैं। अतः हिंसा सभी दुःखों की उत्पादक शक्ति है। इससे भय और वैर बढ़ते रहते हैं। अभय वह है जो अहिंसक है। अहिंसा वैर का उपशमन करती है।

३९. धर्मप्रज्ञापनं यो हि, व्यत्ययेनाध्यवस्यति।
हिंसया मन्यते शातिं, स जनो मूढ उच्यते॥

**जो धर्म के निरूपण को विपरीत रूप से ग्रहण करता है और हिंसा से शांति होगी, समस्या का समाधान होगा, ऐसा मानता है, वह मनुष्य मूढ कहलाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हिंसा से शांति नहीं, शस्त्रों का निर्माण होता है। अहिंसा की आत्मा को जानने वाला व्यक्ति ही हिंसा का नाश कर सकता है। हिंसा की आग कभी हिंसा से बुझ नहीं सकती। संभूम चक्रवर्ती ने ब्राह्मण से वैर लेने के लिए पृथ्वी को ब्राह्मण-हीन कर दिया तो परशुराम ने इक्कीस बार उसे क्षत्रियहीन बनाया। हिंसा प्रतिशोध को जन्म देती है। विवेकवान् व्यक्ति अहिंसा में शांति देखता है, आत्म-स्वभाव की समुपासना में धर्म को देखता है।

**४०. असारे नाम संसारे, सारं सत्यं हि केवलम्।**
**तत्पश्यन्तो हि पश्यन्ति, न पश्यन्ति परे जनाः॥**

**इस सारहीन संसार में केवल सत्य ही सार है। जो द्रष्टा हैं, वे ही सत्य को देखते हैं। जो द्रष्टा नहीं हैं, वे सत्य को नहीं देख पाते।**

भगवान् ने कहा–**'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'**–लोक में सत्य ही सारभूत है। सत्य क्या है? इसका उत्तर यही है कि जो वीतराग द्वारा कथित है, वही सत्य है। इसको समझना ही अपने आपको समझना है। जो व्यक्ति सत्य को देखता है वही आत्म-द्रष्टा हो सकता है। जो सत्य को नहीं देखता वह कुछ भी नहीं देखता।

सत्य विराट् है। सत्य भगवान् है। सत्य असीम है। इसको परिभाषा में बांधना सहज-सरल नहीं है।

**४१. अस्तित्वमुच्यते सत्यं, निरपेक्षमिदं भवेत्।**
**सार्वभौमश्च नियमः, अपि सत्यमुदाहृतः॥**

**४२. पर्याया अपि सत्यं स्याद्, इदं सामयिकं भवेत्।**
**यथार्थवचनञ्चापि, सत्यमित्युक्तमर्हता॥**

**(युग्मम्)**

**सत्य के अनेक अर्थ हैं। अस्तित्व निरपेक्ष सत्य है। सत्य का एक अर्थ है–सार्वभौम नियम। पर्याय सामयिक सत्य है। यथार्थ वचन को भी सत्य कहा गया है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सत् शब्द से सत्य की निष्पत्ति हुई है। सत् पदार्थमात्र का धर्म है। सत् का अर्थ है—अस्ति-अस्तित्व। अस्तित्व ही सत्य है। इस जगत में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है या अस्तित्व होने के कारण पदार्थ है। अस्तित्व के अभाव में कोई पदार्थ नहीं होता। **'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः'** असत् पदार्थ नहीं होता और सत् अपदार्थ नहीं होता—यह समीचीन व्याख्या है।

इस असार संसार में सार सत्य—अस्तित्व है। **'सच्चं लोयंमि सारभूयं'** सत्य ही इस श्लोक में सारभूत है, यह घोषणा द्रष्टा-पुरुषों की है। क्योंकि सत्य का दर्शन उन्हें ही होता है या वे ही सत्य का दर्शन करते हैं। अद्रष्टा व्यक्ति सत्य का दर्शन नहीं कर सकता। इससे यह फलित होता है कि सत्य को देखना है तो द्रष्टा बनो। द्रष्टा बनने का तात्पर्य है, अपने को देखना, जो स्वयं को देखता है वही सत्य को देखता है।

अपने अस्तित्व दर्शन के साथ-साथ सबका अस्तित्व प्रकट हो जाता है। अस्तित्व से भिन्न कुछ है ही नहीं। सत्य की यह परिभाषा निरपेक्ष है, शुद्ध है, पूर्ण है और शाश्वतिक है। अन्य परिभाषाएं उसी से जुड़ी हुई हैं।

सार्वभौम नियम को भी सत्य कहते हैं। चेतनत्व चेतन का नियम है और अचेतनत्व अचेतन का। दोनों का कभी मिश्रण नहीं होता। आत्मा अनात्मा नहीं होता और अनात्मा आत्मा नहीं होता। पदार्थ में अन्य अपनी स्वभावगत विशिष्टताएं होती हैं, वे सब सत्य हैं। उत्पत्ति और विनाश का भी अपना नियम है। यह प्रत्येक पदार्थ के साथ है, इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता है।

अवस्थाओं के परिवर्तन से पदार्थ में परिवर्तन आता है, यह भी सत्य है। किन्तु यह शाश्वतिक नहीं, सामयिक है। जीव की विविध योनियों में विविध शरीरों के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों की परिकल्पना। ये उनकी पर्यायगत अवस्थाएं हैं। अंगूठी सोने की है तो चैन भी सोने की है, कड़ा भी सोने का है—स्वर्णत्व अस्तित्व है। यह उनकी विविध पर्यायें हैं। पर्याय की दृष्टि से ये सामयिक—व्यावहारिक सत्य है। ऐसे ही दृश्य जगत के जितने स्वरूप हैं वे सब उन-उन पुद्गलों की अवस्थाएं हैं। नाम-रूप संसार की सत्यता सामयिक है, यह हमारे ध्यान में रहे।

यथार्थ वाक् के रूप में जो सत्य है, हमारा परिचय अधिकांश इसी से है। सत्यवादी हरिश्चंद्र की ख्याति का कारण भी यही है। युधिष्ठिर का रथ जो अधर में रहता था, उसका हेतु भी सत्य-वचन था। समग्ररूप में इसकी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आराधना भी उसी पूर्ण सत्य की प्राप्ति का निमित्त बनती है। तीर्थंकरों, आप्तपुरुषों, प्रामाणिक व्यक्तियों का 'यथावादी' एक विशिष्ट गुण होता है। महात्मा गांधी ने कहा—हंसी-मजाक में भी असत्य—अयथार्थ भाषण नहीं करना चाहिए। निःसन्देह सत्य की साधना 'असिधारा' व्रत है। सत्य बोध में साधक को इन समस्त तथ्यों पर चिंतन करना चाहिए।

**४३. सिंहं यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तः, चरन्ति दूरं परिशङ्कमानाः।**
**समीक्ष्य धर्मं मतिमान् मनुष्यो, दूरेन पापं परिवर्जयेच्च॥**

**जैसे चरते हुए छोटे पशु सिंह से डरकर दूर रहते हैं, इसी प्रकार मतिमान् पुरुष धर्म को समझकर दूर से ही पाप का वर्जन करे।**

पाप का अर्थ है—अशुभ प्रवृत्ति। जिस प्रवृत्ति से आत्मा का हनन होता है, वह पाप है। पाप त्याज्य है। उसके स्वरूप को पहचानकर जो व्यक्ति उससे दूर हटता है, वह धर्म के निकट चला जाता है। जो व्यक्ति आत्म-धर्म समझकर पाप से बचते हैं, वे बहुत शीघ्र धर्म के क्षेत्र में प्रवेश पा जाते हैं और जो लज्जावश या भयवश पाप से बचते हैं, वे समय आने पर स्खलित हो जाते हैं और धर्म में प्रवेश सुलभता से नहीं पा सकते। जो दिन में या रात में, अकेले में या समुदाय में, सोते हुए या जागते हुए कभी पाप में प्रवृत्त नहीं होता, वह महान् है और वही आत्मनिष्ठ हो सकता है।

**४४. यदा यदा हि लोकेऽस्मिन्, ग्लानिर्धर्मस्य जायते।**
**तदा तदा मनुष्याणां, ग्लानिं यात्यात्मनो बलम्॥**

**इस संसार में जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, तब-तब मनुष्यों का आत्मबल ग्लान—हीन हो जाता है।**

आत्मबल के समक्ष भौतिकबल नगण्य है। भौतिक शक्ति-संपन्न व्यक्ति कितना ही पराक्रमी हो, किन्तु दूसरों से सदा भयभीत रहता है। जिस हिटलर के नाम से विश्व कांपता था वह हिटलर अपने भीतर स्वयं कितना प्रकंपित था, यह आज स्पष्ट हो चुका है। हिटलर एक कमरे में सो नहीं सकता था। शादी भी मरने के कुछ समय पूर्व की थी। पत्नी पर विश्वास नहीं। निजी डॉक्टरों ने कहा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कि वह अनेक बीमारियों से ग्रस्त था। बहुत बार बाहर जाने के लिए भी अपनी शक्ल का दूसरा नकली व्यक्ति भेजता था। प्रतिक्षण भयभीत था। क्या इसे वीरत्व कहा जा सकता है?

अस्तित्व की दिशा में जो व्यक्ति कदम उठाता है उसका आत्मबल क्रमशः वर्धमान होता रहता है। उसके पास चाहे शरीर-बल इतना न भी हो किन्तु आत्म-बल परिपूर्ण होता है। वह कांपता नहीं रहता। वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। भय जीवनैषणा के कारण है। जब जीवननैषणा ही नहीं रहती तब भय किसका? आत्मबल की क्षीणता का कारण है—धर्म—अस्तित्व के सम्यग् अवबोध का अभाव। धर्म ने कभी मनुष्य को भीरु नहीं बनाया। सही धार्मिक व्यक्ति भीरु हो भी नहीं सकता। जहां जाने से लोग डरते थे वहां महावीर महाविषधर चंडकौशिक के निवासस्थल पर जाकर ध्यानस्थ खड़े हो जाते हैं। बुद्ध 'अंगुलिमाल' के सामने उपस्थित होते हैं। महावीर का श्रावक सुदर्शन 'अर्जुनमाली' को बिना किसी शस्त्रास्त्र के परास्त कर उसे महावीर के चरणों में उपस्थित कर देता है। धर्म से जिस 'आत्मशक्ति' का जागरण होता है वैसा जागरण और किसी से नहीं होता। धर्म के प्रति उदासीन होने का अर्थ है—स्वयं के प्रति उदासीन होना। धर्म की क्षीणता में आत्मशक्ति की क्षीणता अनिवार्य है।

**मेघः प्राह**

**४५. असतो वारयन्नित्यं, ध्रुवे सत्ये प्रवर्तनम्।**
**धर्मो जागर्ति तेजस्वी, तस्य ग्लानिः कुतो भवेत्॥**

**मेघ ने कहा—धर्म मनुष्यों को असत् कार्य करने से रोकता है और उन्हें सदा सत्य में प्रवृत्त करता है। धर्म तेजस्वी है और सदा जागृत रहता है, ऐसी स्थिति में धर्म की ग्लानि कैसे हो सकती है?**

**भगवान् प्राह**

**४६. दृष्टिः सम्यक्त्वमाप्नोति, ज्ञानं सत्यसमन्वितम्।**
**आचारोऽपि समीचीनः, तदा धर्मः प्रवर्धते॥**

**जब दृष्टि सम्यक् होती है, ज्ञान सही होता है और आचार समीचीन होता है, तब धर्म बढ़ता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४७. दृष्टिर्विपर्ययं याति, ज्ञानमेति विपर्ययम्।
आचारोऽपि विपर्यस्तः, तदा धर्मः प्रहीयते॥

जब दृष्टि, ज्ञान और आचार विपरीत होते हैं, तब धर्म की हानि होती है।

४८. पालिर्जलस्य रक्षार्थं, तस्याः रक्षा प्रवर्धते।
जलाभावो न चिन्त्यः स्यात्, तदा कृषिः प्रशुष्यति॥

पाल पानी की सुरक्षा के लिए होती है। जब पाल की सुरक्षा मुख्य बन जाती है और जल का अभाव चिंतन का विषय नहीं रहता, तब कृषि सूख जाती है।

४९. वाटिर्धान्यस्य रक्षार्थं, तस्याः रक्षा प्रवर्धते।
धान्याभावो न चिन्त्यः स्यात्, तदा कृषिर्विहीयते॥

बाड़ अनाज की सुरक्षा के लिए होती है। जब बाड़ की सुरक्षा ही मुख्य बन जाती है और अनाज का अभाव चिंतन का विषय नहीं रहता, तब कृषि क्षीण हो जाती है।

५०. नियमा यमरक्षार्थं, तेषां रक्षा प्रवर्धते।
यमाभावो न चिन्त्यः स्यात्, तदा धर्मः प्रहीयते॥

नियम यम की सुरक्षा के लिए होते हैं। जब नियमों की सुरक्षा ही मुख्य बन जाती है और यम का अभाव चिंतन का विषय नहीं रहता, तब धर्म क्षीण होता है।

५१. यमाः सततमासेव्याः, नियमास्तु यथोचितम्।
सत्यमीषां विपर्यासे, धर्मग्लानिः प्रजायते॥

यमों का आचरण सदा करना चाहिए और नियमों का देश, काल और स्थिति के औचित्य के अनुसार। जब यम गौण और नियम प्रधान बन जाते हैं, तब धर्म की ग्लानि होती है।

मेघ का कथन ठीक है कि धर्म व्यक्ति के जीवन में बड़ा हस्तक्षेप करता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। लोक-जीवन का भवन झूठ पर खड़ा होता है। धार्मिक होने का अर्थ है—सत्य की दिशा में चलना। धार्मिक व्यक्ति के समस्त व्यवहारों में सत्य का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। अब वह पहले की तरह चल नहीं सकता, बोल नहीं सकता, लेना-देना नहीं कर सकता, बातचीत नहीं कर सकता। उसे कोई भी कार्य करते हुए यह सोचना होगा कि इससे धर्म की हानि होगी या वृद्धि? धीरे-धीरे जीवन की असत् प्रवृत्तियां विदा होने लगेंगी। वर्षा से स्नात वनराजि की तरह एक दिन उसका जीवन दीप्तिमान हो उठेगा।

किन्तु पहले ही क्षण में धर्म के इस परिणाम की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। उसके लिए बड़े उत्साह, धैर्य, त्याग और संघर्षों की आवश्यकता होती है। धर्म का जीवन प्रारंभ करते ही घर, परिवार, समाज आदि से संघर्ष का सूत्रपात भी हो जाता है। लोग नहीं चाहते कि आप सबसे उदासीन हो जाएं। आपकी उदासी भी दूसरों को पीड़ाकारक बन जाती है। लोक-भय से ही अनेक व्यक्ति उस मार्ग पर चलना छोड़ देते हैं। धर्म की तेजस्विता में कोई संदेह नहीं है, संदेह है व्यक्ति की क्षमता पर।

धर्म का विकास सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् आचरण (चारित्र) पर निर्भर है। इनके अभाव में विकास नहीं, ह्रास होता है। धर्म के जीवंत सूत्रों की उपेक्षा कर धर्म के कलेवर को जीवित रखा जा सकता है, किन्तु धर्म की आत्मा को नहीं। जितने भी अर्हत्, बुद्ध और परम प्रज्ञा-प्राप्त साधक हुए हैं, उन्होंने मूल पर बल दिया है, गौण पर नहीं।

आनंद ने बुद्ध से पूछा—'निर्वाण के बाद आपके शरीर का क्या किया जाए?' बुद्ध ने कहा—'आनंद! इसमें सिर मत खपाओ, मैंने जो साधना-धर्म बताया है, उसका अभ्यास करो।'

वक्कलि भिक्षु से बुद्ध कहते हैं—'जैसे यह तुम्हारा अशुचिमय शरीर है, वैसा ही बुद्ध का है। वक्कलि! मेरे इस शरीर को मत देखो, धर्म-शरीर को देखो। जो मेरे धर्म-शरीर को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह मेरे धर्म-शरीर को देखता है।'

महावीर गौतम से कहते हैं—'गौतम! सत्य की शोध में प्रमाद मत कर। मेरे से स्नेह मत कर। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना कर मुक्त हो।'

जब बाह्य क्रियाएं और चमक-दमक व्यक्ति को प्रभावित करने लगते हैं तब धर्म का मौलिक ध्येय गौण हो जाता है या मौलिक धर्म के प्रति अनुत्साह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होने से बाह्य क्रियाओं का महत्त्व बढ़ जाता है। मूल छूट जाता है और बाहरी पकड़ सुदृढ़ हो जाती है। मूल छिप जाता है और गौण ऊपर आ जाता है। जिसकी सुरक्षा के लिए जो होता है, उसकी सुरक्षा प्रमुख हो जाती है और मूल धूमिल हो जाता है।

धर्म की सुरक्षा प्रमुख है। इसी में प्राणिमात्र का हित है। उसके प्रति सजग होना जरूरी है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र जितने पुष्ट और सशक्त होंगे, धर्म उतना ही शक्तिशाली होगा। इनके बाहर धर्म नहीं है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**आत्ममूलकधर्मप्रतिपादननामा एकादशोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १२

# आमुख

मुमुक्षु ज्ञान और आचार के माध्यम से सत्य को प्राप्त करता है। ज्ञानशून्य आचार और आचारशून्य ज्ञान सत्य का साक्षात्कार कराने में सिद्ध नहीं होते। दोनों का योग ही साध्य का दर्शन है। आचारहीन ज्ञान निरर्थक है तो ज्ञान-रहित आचार भी विशद नहीं होता। 'जानो और तोड़ो'—दोनों में ज्ञान की मुख्यता है, इसे नहीं भूलना चाहिए। बंधन क्या है और मुक्ति क्या है, यह बोध ज्ञान से ही संभव है।

मनुष्य को बंधन प्रिय नहीं है, प्रिय है स्वतंत्रता। स्वतंत्रता की प्राप्ति बंधनों को तोड़े बिना नहीं मिलती। बंधन को न जानकर तोड़ने की बात असंभव है। इसलिए यहां ज्ञेय, हेय और उपादेय—तीनों का विशद दर्शन है। 'बंधन बाधक है'—जब आत्मा यह जान लेती है, तब उसे तोड़ने को भी प्रेरित होती है। बंधन टूटता है, लक्ष्य उपलब्ध हो जाता है।

संसार में तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय। विश्व के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। जो आत्म-उत्थान में साधक होते हैं, वे उपादेय हैं और जो बाधक होते हैं, वे हेय हैं। आत्म-साधना में तीनों का विवेक आवश्यक होता है। इस अध्याय में इन तीनों का विशद विवेचन है। तप क्या है, उसके कितने प्रकार हैं तथा ध्यान के प्रकार और द्वादश अनुप्रेक्षाओं का भी इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# ज्ञेय-हेय-उपादेय

मेघः प्राह

१. किं ज्ञेयं किञ्च हेयं स्याद्, उपादेयञ्च किं विभो!
शाश्वते नाम लोकेऽस्मिन्, किमनित्यञ्च विद्यते॥

**मेघ बोला—विभो! ज्ञेय क्या है? हेय और उपादेय क्या है? इस शाश्वत जगत् में अशाश्वत क्या है?**

जिज्ञासा ज्ञान-प्राप्ति की सच्ची भूख है। भूखा व्यक्ति जिस प्रकार भोजन के लिए व्याकुल होता है, जिज्ञासु व्यक्ति भी उसी प्रकार संदेहशमन के लिए आतुर रहता है। मेघ का मन यह जानना चाहता है कि संसार में जानने, छोड़ने और आचरण करने की क्या चीजें हैं, जिससे मैं स्वात्महित को साध सकूं।

भगवान् प्राह

२. धर्मोधर्मस्तथाकाशं, कालश्च पुद्गलस्तथा।
जीवो द्रव्याणि चैतानि, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवेत्॥

**भगवान् ने कहा—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—पांच अस्तिकाय तथा काल—ये छह द्रव्य हैं। यह ज्ञेयदृष्टि है।**

ये छह द्रव्य विश्व-व्यवस्था के संघटक हैं। इनसे संसार के स्वरूप का बोध होता है। विश्व चेतन और अचेतन की संघटना है। संसारी आत्मा स्वतंत्र होते हुए भी सर्वथा कर्म से स्वतंत्र नहीं होती। वह कर्म-पुद्गलों के प्रभाव से सतत नाटकीय परिवर्तन करती रहती है। छह द्रव्यों का समवाय संसार है।

संसार की उत्पत्ति के विषय में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कुछ जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानते हैं, कुछ प्रलय के बाद जो नया सर्जन होता है। उसे संसार कहते हैं, कुछ कहते हैं वह सृष्टि ईश्वरकृत है। जैन दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि ने इसे यों देखा है कि संसार न ईश्वरकृत है, न जड़ से उत्पन्न होता है और न प्रलय के बाद नया सर्जन ही होता है। वह पहले भी था, है और रहेगा। जड़ और चेतन का सनातन विरोध है। जड़ से चेतन पैदा नहीं हो सकता। गीता में कहा है—असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता।' केवल वस्तुओं का रूपांतरण होता है। जड़ और चेतन दोनों की पर्याएं—अवस्थाएं बदलती रहती हैं। एक जगह का विनाश दूसरी जगह को आबाद करता है। एक व्यक्ति एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से शाश्वत है और पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत। संसार षड्द्रव्यात्मक है। उनका स्वरूप इस प्रकार है :

धर्मास्तिकाय—गति का माध्यम तत्त्व।

अधर्मास्तिकाय—स्थिति का माध्यम तत्त्व।

आकाशास्तिकाय—अवगाह देने वाला तत्त्व।

काल—परिवर्तन का हेतुभूत तत्त्व।

पुद्गलास्तिकाय—वर्ण, गंध, रस, स्पर्शयुक्त द्रव्य।

जीवास्तिकाय—चेतन द्रव्य।

**३. जीवाऽजीवौ पुण्यपापे, आस्रवः संवरस्तथा।**
**निर्जरा बंधमोक्षौ च, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवेत्॥**

**जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं। यह ज्ञेयदृष्टि है।**

मुख्यतया तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। किन्तु मोक्ष के साधन के रहस्य को बतलाने के लिए इनके नौ भेद किये गये हैं। इन नौ भेदों में प्रथम भेद जीव का है, अंतिम भेद मोक्ष का है और बीच के भेदों में मोक्ष के साधक और बाधक साधनों का वर्णन है।

जीव—चैतन्य का अजस्र प्रवाह।

अजीव—चैतन्य का प्रतिपक्षी—जड़।

पुण्य—शुभ कर्म-पुद्गल।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पाप—अशुभ कर्म-पुद्गल।
आस्रव—कर्म-ग्रहण करने वाले आत्म-परिणाम।
संवर—कर्म-निरोध करने वाले आत्म-परिणाम।
निर्जरा—कर्म-निर्जरण से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता।
बंध—आत्मा के साथ शुभ-अशुभ कर्म का बंध।
मोक्ष—कर्म विमुक्त-अवस्था।

**४. अस्त्यात्मा शाश्वतो बंधः, तदुपायश्च विद्यते।**
**अस्तिमोक्षस्तदुपायो, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवेत्॥**

**१. आत्मा है। २. आत्मा शाश्वत है। ३. बंध है। ४. बंध का उपाय है। ५. मोक्ष है। ६. मोक्ष का उपाय है। यह ज्ञेयदृष्टि है।**

**५. बंधं पुण्यं तथा पापं, आस्रवः कर्मकारणम्।**
**भवबीजमिदं सर्वं, हेयदृष्टिरसौ भवेत्॥**

**पुण्य, पाप, बंध और कर्मागमन का हेतुभूत आस्रव—ये सब संसार के बीज हैं। यह हेयदृष्टि है।**

**६. निरोधः कर्मणामस्ति, संवरो निर्जरा तथा।**
**कर्मणां प्रक्षयश्चैषोपादेयदृष्टिरिष्यते॥**

**कर्मों का निरोध करना संवर है और कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मशुद्धि निर्जरा है—यह उपादेयदृष्टि है।**

साधना-पथ पर अग्रसर होने से पूर्व साधक के लिए यह जानना जरूरी है कि वह क्यों इस मार्ग का चुनाव कर रहा है? पहले या पीछे यह विवेक किए बिना साधना का शुभारंभ फलदायी नहीं होता। सामान्य जन भी बिना किसी उद्देश्य के प्रवृत्त नहीं होते। दिशाहीन गति का कोई अर्थ नहीं रहता। हेय, ज्ञेय और उपादेय—इस तत्त्वत्रयी का बोध साधक को भटकने नहीं देता। वह सतत ध्येय की दिशा में बढ़ता रहता है।

जो जानने का है उसे जाने, छोड़ने का है उसे छोड़े और जो उपादेय है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसके ग्रहण में संलग्न रहे। अकुशल प्रवृत्तियों से बचना, जो हैं उन्हें हटाना और कुशल प्रवृत्ति की संरक्षा करना, तथा जो नहीं है वह कैसे संप्राप्त हो इसमें सचेष्ट रहना। साधना का यह प्रथम चरण है। इसलिए जितने भी साधक हुए हैं उन्होंने अशुभ से बचने का प्रथम सूत्र दिया है। महावीर ने कहा है–'सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला,–अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल होता है। अंगुत्तर निकाय में बुद्ध ने कहा है–भिक्षुओ! जैसा बीज बोता है वैसा ही फल पाता है। अच्छा कर्म करने वाला अच्छा फल पाता है और बुरा कर्म करने वालना बुरा। भिक्षुओ! जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है, संकल्प मिथ्या होते हैं, वाणी, कर्मान्त, आजीविका, व्यायाम, स्मृति, समाधि, ज्ञान, तथा विमुक्ति मिथ्या होती है, उसके कारण उसका शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक–सभी कर्म अनिष्ट दुःख के लिए होते हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि ही बुरी होती है।

पुण्य, पाप, आश्रव और बंध हेय हैं, क्योंकि इनका कार्य संसार है। पुण्य का फल अच्छा है, किन्तु अच्छा होने से संसार-विच्छेद नहीं होता। निर्वाण की अपेक्षा वह हेय है। पुण्य और पाप दोनों से मुक्त होना है। सुख-वेदन या दुःख-वेदन दोनों का क्षय करना है। संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं। मोक्ष की उपादेयता निर्बाध है। क्योंकि वहां पुण्य-पाप दोनों ही नहीं हैं। वह भव का अंत है। संवर और निर्जरा मोक्ष की पृष्ठभूमि का काम करते हैं। साधक एक साथ निर्वाण को उपलब्ध नहीं कर सकता। संवर-निर्जरा की क्रमिक साधना निर्वाण को निकट करती है। उपयोगिता की दृष्टि से इनका विवेक कर योग-मार्ग में आरूढ़ होना चाहिए।

**७. अमूढं आत्मगं चित्तं, योगो योगिभिरिष्यते।**
**मनोगुप्तिः समाधिश्च, साम्यं सामायिकं तथा॥**

**जो चित्त आत्म-लीन एवं अमूढ–मूर्च्छाग्रस्त नहीं है, उसे योगी योग कहते हैं। मनोगुप्ति, समाधि, साम्य और सामायिक–ये सब योग के ही रूप हैं।[1]**

**८. ऐकाग्र्यं मनसश्चाद्ये, भवेच्चान्ते निरोधनम्।**
**मनःसमितिगुप्त्योश्च, सर्वो योगो विलीयते॥**

---

१. योग विषयक विस्तृत जानकारी के लिए देखें–परिशिष्ट १।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यान की दो अवस्थाएं होती हैं। एकाग्रता और निरोध। प्रारंभिक दशा में मन की एकाग्रता होती है और अंतिम अवस्था में उसका निरोध होता है। मन की समिति–सम्यक् प्रवर्तन और मन की गुप्ति–निरोध में सारा योग समा जाता है।

९. मोक्षेण योजनाद् योगः, समाधिर्योग इष्यते।
स तपो विद्यते द्वैधा, बाह्येनाभ्यन्तरेण च॥

जो आत्मा को मोक्ष से जोड़े, वह योग कहलाता है। आत्मा और मोक्ष का संबंध समाधि से होता है इसलिए समाधि को योग कहा जाता है। योग तप है। उसके दो भेद हैं–बाह्य तप और आभ्यंतर तप।

१०. चतुर्विधस्याहारस्य, त्यागोऽनशनमुच्यते।
आहारस्याल्पतामाहुः, अवमौदर्यमुत्तमम्॥

अन्न, पानी, खाद्य–मेवा आदि, स्वाद्य–लवंग आदि– इस चार प्रकार के आहार के त्याग को अनशन कहते हैं। आहार, पानी की अल्पता करने को अवमौदर्य–ऊनोदरिका कहते हैं।

११. अभिग्रहो हि वृत्तीनां, वृत्तिसंक्षेप इष्यते।
भवेद् रसपरित्यागो, रसादीनां विवर्जनम्॥

वृत्ति–आजीविका के लिए अभिग्रह–प्रतिज्ञा करने को वृत्ति-संक्षेप कहते हैं। घी, तेल, दूध, दही, चीनी और मिठाई– इन विकृतियों के त्याग करने को रस-परित्याग कहते हैं।

१२. कायक्लेशः कायसिद्धिः, वीरपद्मासनान्यपि।
कायोत्सर्गश्च पर्यंक, गोदोहोत्कटिकादयः॥

कायक्लेश का अर्थ है कायसिद्धि–काया की साधना। कायसिद्धि के लिए वीरासन, पद्मासन, कायोत्सर्ग, पर्यंकासन, गोदोहिकासन, उत्कटिकासन आदि का प्रयोग किया जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कायक्लेश के चार प्रकार हैं : १. आसन, २. आतापना ३. विभूषावर्जन और ४. परिकर्मवर्जन।

१. **आसन**—शरीर की विशिष्ट मुद्राओं में अवस्थिति। आसन बैठे-बैठे सोकर अथवा खड़े-खड़े भी किए जा सकते हैं। आसन अनेक हैं। श्लोकगत आसनों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **वीरासन**—बद्ध-पद्मासन की भांति दोनों पैरों को रखकर हाथों को पद्मासन की तरह रखकर बैठना। सिंहासन पर बैठकर उसे निकाल देने पर जो मुद्रा होती है उसे भी वीरासन कहते हैं।

२. **पद्मासन**—जंघा के मध्य भाग में दूसरी जंघा को मिलाना।

३. **कायोत्सर्ग**—शरीर की सार-सम्हाल छोड़कर तथा दोनों भुजाओं को नीचे की ओर झुकाकार खड़ा रहना अथवा स्थान, ध्यान और मौन के अतिरिक्त शरीर की समस्त क्रियाओं को त्यागकर बैठना।

४. **पर्यंकासन**—जिन-प्रतिमा की भांति पद्मासन में बैठना।

५. **गोदोहिकासन**—घुटनों को ऊंचा रखकर पंजों के बल पर बैठना तथा दोनों हाथों को दोनों साथलों पर टिकाना।

६. **उत्कटिकासन**—दोनों पैरों को भूमि पर टिकाकार दोनों पुतों को भूमि से न छुआते हुए जमीन पर बैठना।

२. **आतापना**—सूर्य की रश्मियों का ताप लेना, शीत को सहन करना। निर्वस्त्र रहना।

३. **विभूषावर्जन**—किसी भी प्रकार का शृंगार न करना।

४. **परिकर्मवर्जन**—शरीर की सार-सम्हाल न करना।

भगवान् ने कहा—गौतम! सुख-सुविधा की चाह से आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित होता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है। धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता। इसीलिए मैंने यथाशक्ति कायक्लेश का विधान किया है।

**मेघः प्राह**

१३. **सर्वदर्शिन्! त्वया धर्मः, घोराऽसौ प्रतिपादितः।**
**दुःखविच्छित्तये सोऽयं, तत्र दुःखं किमिष्यते?**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**धर्म शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं किन्तु सत्य की उपलब्धि के लिए है। अहिंसा का अभ्यास किए बिना सत्य की उपलब्धि नहीं होती।**

धर्म आत्म-स्वभाव के प्रगटीकरण का माध्यम है। शरीर, इन्द्रियां और मन–ये आत्मा के विपरीत दिशागामी हैं। जब कोई भी धर्म की यात्रा पर अभिनिष्क्रमण करता है तब ये सहायक नहीं होते हो और दूसरे लोगों की दृष्टि में भी यह यात्रा सुखद प्रतीत नहीं होती। क्योंकि लोग चलते हैं इन्द्रियों की तरफ और धार्मिक चलता है इनके विपरीत।

मेघ को महावीर का यह मार्ग-दर्शन बड़ा अटपटा और दुर्धर्ष भी लगा। उसने विनम्र निवेदन किया–'प्रभो! आनंद की इस यात्रा में यह कष्टमय जीवन क्यों?' महावीर ने कहा–'वत्स! यह समझ का अंतर है। मैंने धर्म का प्रतिपादन सत्य के साक्षात्कार के लिए किया है। सत्य की उपलब्धि विषयाभिमुखता में कैसे होगी? सत्य-दर्शन के लिए तो हमें सत्य पथ का अनुसरण करना होगा। इन्द्रिय, मन और शरीर की अपेक्षाओं की पूर्ति में वह होता तो आज तक हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। यह यात्रा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मेघ बोला—हे सर्वदर्शिन्! आपने घोर धर्म का प्रतिपादन किया है। धर्म दुःख का नाश करता है, फिर उस धर्म में दुःख के लिए स्थान क्यों?

बाह्य तप का विवरण सुन मेघ का मन कंपित हो उठा। उसने कहा—'भगवन्! आपने अत्यंत कठोर धर्म का प्रतिपादन किया है। यह सब के लिए कैसे संभव हो सकता है?' भगवान् ने उसका समाधान दिया।

भगवान् प्राह

१४. वत्स! न ज्ञातवान् मर्म, मर्म धर्मस्य किञ्चन।
अममविदिनो लोकाः, सत्यं घ्नन्ति सनातनम्॥

भगवान् ने कहा—वत्स! तूने मेरे धर्म का कुछ भी मर्म नहीं समझा। जो पुरुष मर्म को नहीं जानते, वे सनातन सत्य की हत्या कर देते हैं।

१५. न धर्मो देहदुःखार्थं, असौ सत्योपलब्धये।
न च सत्योपलब्धिः स्याद्, अहिंसाभ्यासमन्तरा॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सत्य की विरोधी है। सत्य के लिए तो पुनः स्वभाव की ओर चलना होगा। मैंने जो कुछ कहा है, वह सत्य की दिशा में अग्रसर होने के लिए कहा है। तुम देखो, लोग अर्थार्जन, परिवार आदि के लिए कितने कष्ट उठाते हैं। संयम की यात्रा में यदि कोई समर्पित होकर इससे आधा भी कष्ट उठाले तो मंजिल तक पहुंचा जा सकता है। लोग भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, यातना और मृत्यु तक की पीड़ा झेल लेते हैं, तब फिर यह क्या है? नासमझ लोगों ने धर्म को घोर दुःखमय कह दिया। धर्म में शरीर को सताने या न सताने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वह तो सिर्फ आवरण को हटाने के लिए है। आवरण की क्षीणता का स्थूल परिणाम शरीर पर दिखाई देता है। इसलिए सामान्य जन उसे सताना या पीड़ा देना समझ लेते हैं। गौण को मुख्य मान लेते हैं और मुख्य को गौण। मेरा प्रतिपाद्य अहिंसा है और वह सम्यग् विवेक के बिना परिलक्षित नहीं होती। मैंने उसे ही तप कहा है जो अज्ञानपूर्ण क्रियाओं से दूर हो, जिसमें चित्त क्षुब्ध न हो, विचार क्लेशपूर्ण न हों और ध्यान आर्त न हो। अब तुम स्वयं सोचो—यह कैसे घोर होगा? व्यक्ति अपनी शक्ति को तोलकर इस मार्ग में नियोजित होता है। जो अज्ञानपूर्वक तप स्वीकार करते हैं, वे धर्म के गौरव को संवर्द्धित नहीं करते, यह दोष उनका है। मैंने धर्म की यात्रा का प्रथम चरण निर्दिष्ट किया है—विवेक। जहां विवेक है वहां धर्म के विकास की संभावना है।'

**१६. चेतना विषयासक्ता, हिंसां समनुधावति।**
**आत्मानं प्रति संहृत्य, तामहिंसापदं नयेत्॥**

**जो चेतना विषयों में आसक्त है, वह हिंसा की ओर दौड़ती है। इसलिए साधक उस चेतना को आत्मा की ओर मोड़कर उसे अहिंसा में प्रतिष्ठित करे।**

**१७. सति देहे सेन्द्रियेऽस्मिन्, सति चेतसि चञ्चले।**
**इन्द्रियार्थाः प्रकृत्येष्टाः, नेष्टं तेषां विसर्जनम्॥**

**जब तक शरीर और इंद्रियां हैं, जब तक मन चंचल है, तब तक स्वभावतः इन्द्रियों के विषय अच्छे लगते हैं, उनका परित्याग अच्छा नहीं लगता।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१८. अहिंसार्थं मया प्रोक्तं, आत्मसाम्यं चिराध्वनि।
तदर्थं प्राप्तदुःखानि, सोढव्यानि मुमुक्षुभिः॥

साधना की चिर परंपरा में मैंने आत्म-साम्य का निरूपण अहिंसा के विकास के लिए किया है। मुमुक्षु व्यक्तियों को अहिंसा की साधना के मध्य जो भी दुःख प्राप्त हों, उन्हें सहना चाहिए।

१९. न देहोऽधर्ममूलोऽसौ, धर्ममूलो न चाप्यसौ।
योजितो योजकेनासौ, धर्माधर्मकरो भवेत्॥

देह न अधर्म का मूल है और न धर्म का। योजक के द्वारा जिस प्रकार उसकी योजना की जाती है, उसी प्रकार वह धर्म या अधर्म का मूल बन जाता है।

२०. नास्य शक्तिः परिस्फीता, विकारोद्दीपनं सृजेत्।
तेनाऽसौ कृशतां नेयः, यावदुत्सहते मनः॥

बढी हुई शारीरिक शक्ति विकारों का उद्दीपन न करे, जब तक मन का उत्साह बढ़ता रहे—वह अमंगल का चिंतन न करे, तब तक शरीर को तप के द्वारा कृश करना चाहिए।

२१. नात्मासौ शक्तिहीनानां, गम्यो भवति सर्वदा।
योगक्षेमौ हि तेनास्य, कार्यावपि मुमुक्षुणा॥

शक्तिहीन मनुष्यों के लिए यह आत्मा गम्य नहीं होता, यह शाश्वत सिद्धांत है, इसलिए मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए शरीर का योग और क्षेम भी करणीय होता है।

२२. न केवलमसौ देहः, कृशीकार्यो विवेकिना।
न च बृंहणीयोस्ति, मतं संतुलनं मम॥

मेरा यह अभिमत है—विवेकी व्यक्ति न देह को ज्यादा कृश करे और न ज्यादा उपचित। देह का संतुलन ही सबसे अच्छा है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२३. इन्द्रियाणि प्रशान्तानि, विहरेयुर्यथा यथा।
तथा तथा प्रवृत्तीनां, दैहीनां संयमो मतः॥

उपशांत इंद्रियां जैसे-जैसे प्रवृत्त होती हैं, वैसे-वैसे ही मनुष्य की दैही—शारीरिक प्रवृत्तियां संयत होती चली जाती है।

२४. दोषनिर्हरणायेष्टा, उपवासाद्युपक्रमाः।
प्राणसंधारणायासौ, आहारो मम सम्मतः॥

दोषों को बाहर निकालने के लिए उपवास आदि उपक्रम विहित हैं। प्राण को धारण करने के लिए आहार भी मुझे सम्मत है।

२५. अहिंसाधर्मसंसिद्धौ, विवेको नाम दुष्करः।
तेन वत्स! मया धर्मः, घोरोऽसौ प्रतिपादितः॥

अहिंसा धर्म की संसिद्धि—साधना में विवेक होना बहुत दुष्कर है। वत्स! इसी दृष्टि से धर्म को मैंने घोर कहा है।

२६. नाज्ञानचेष्टितं वत्स! न च संक्लेशसंकुलम्।
नार्त्तध्यानदशां प्राप्तं, तपो ममास्ति सम्मतम्॥

वत्स! मैंने उसी तप का अनुमोदन किया है, जिसमें न अज्ञान संवलित चेष्टाएं हैं, न संक्लेश है और न आर्त्तध्यान है।

२७. इन्द्रियाणां मनसश्च, विषयेभ्यो निवर्तनम्।
स्वस्मिन् नियोजनं तेषां, प्रतिसंलीनता भवेत्॥

इंद्रिय और मन का विषयों से निवर्तन तथा अपने-अपने गोलक में उनका नियोजन प्रतिसंलीनता है।

प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं :

१. इन्द्रिय संलीनता—इन्द्रियों के विषयों पर नियंत्रण करना।

२. कषाय संलीनता—कषायों पर विजय पाना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३. योग संलीनता—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना।

४. विविक्त-शयन-आसन—एकांत स्थान में सोना-बैठना।

२८. विशुद्ध्यै कृतदोषाणां, प्रायश्चित्तं विधीयते।
आलोचनं भवेत्तेषां, गुरोः पुरः प्रकाशनम्॥

किए हुए दोषों की शुद्धि के लिए जो क्रिया—अनुष्ठान किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना है।

२९. प्रमादादशुभं योगं, गतस्य च शुभं प्रति।
क्रमणं जायते तत्तु, प्रतिक्रमणमुच्यते॥

प्रमादवश अशुभ योग में जाने पर पुनः शुभ योग में लौट आना प्रतिक्रमण कहलाता है।

३०. अभ्युत्थानं नमस्कारो, भक्तिः शुश्रूषणं गुरोः।
ज्ञानादीनां विनयनं, विनयः परिकथ्यते॥

गुरु आदि बड़ों के आने पर खड़ा होना, नमस्कार करना, भक्ति—शुश्रूषा करना और ज्ञान आदि का बहुमान करना विनय है।

३१. आचार्यशैक्षरुग्णानां, संघस्य च गणस्य च।
आसेवनं यथास्थाम, वैयावृत्त्यमुदाहृतम्॥

आचार्य, शैक्ष—नव दीक्षित, रुग्ण, गण और संघ की यथाशक्ति सेवा करना वैयावृत्त्य है।

३२. वाचना पृच्छना चैव, तथैव परिवर्तना।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा, स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत्॥

स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है—१. वाचना—पढ़ना। २. पृच्छना—प्रश्न

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**पूछना। ३. परिवर्तना–कंठस्थ किए हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करना। ४. अनुप्रेक्षा–अर्थ-चिंतन करना। ५. धर्मकथा–प्रवचन करना।**

स्वाध्याय और ध्यान परमात्म-प्रकाशन के अनन्यतम अंग हैं। ध्यान जैसे योग का एक अंग है वैसे स्वाध्याय भी। स्वाध्याय ध्यान का प्रवेश-द्वार है। साधक स्वाध्याय से स्वयं की यथार्थता स्वीकार कर लेता है, तब ध्यान में प्रवेश के योग्य हो जाता है। जब तक स्वयं के रूप की स्वीकृति नहीं होती और न यथार्थ बोध होता है तब उसका परमात्मा की दिशा में दौड़ना सार्थक नहीं होता। इसलिए स्वाध्याय को सबने स्वीकृत किया है। कहा है–

**'स्वाध्यायात् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।**
**स्वाध्याय-ध्यानयोगेन, परमात्मा प्रकाशते॥'**

–योगी स्वाध्याय से विरत हो जाने पर ध्यान करे और ध्यान से विरत हो जाने पर स्वाध्याय का अवलम्बन ले। स्वाध्याय और ध्यान की संपदा से परमात्मा प्रकाशित होता है।

स्वाध्याय के जिस भाव से आज हम परिचित हैं, संभवतः आगमकालीन परंपरा से पूर्व वैसा भाव नहीं था। आगमों की रचना और उनके स्थिरीकरण के समय स्वाध्याय का नया अर्थ प्रचलित हो गया। किन्तु इसके साथ-साथ मूल हार्द हाथ से छूट गया। अब स्वाध्याय की शास्त्र-ग्रंथ पठन-पाठन की परंपरा तो रही है किन्तु जहां जीवन परिवर्तन का प्रश्न था, उसमें अंतर नहीं आया। व्यक्ति शास्त्र-स्वाध्याय कर स्वयं में एक तृप्ति अनुभव करने लगा कि मैंने दैनंदिन कार्य का निर्वाह कर लिया। लेकिन स्वाध्याय तप की भावना पूर्ण नहीं हुई। उससे कोई ताप नहीं पहुंचा। स्वाध्याय तप है, ताप है, तो निःसंदेह ताप से कर्मों को पिघलना चाहिए। कालान्तर में स्वाध्याय का रूप और भी शिथिल होता चला गया। आगम–मौलिक ग्रंथों का वाचन छूटकर इधर-उधर की चीजें कंठस्थ कर उनके स्मरण को भी स्वाध्याय के अंतर्गत स्थान दे दिया।

शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन सार्थक नहीं है। ऐसा प्रतिपाद्य नहीं है। उनकी उपयोगिता है और वह सिर्फ इतना ही है कि आप उनसे प्रेरणा प्राप्त कर स्वयं अनुभव की दिशा में पद-विन्यास करें। सिर्फ जाने-माने नहीं किन्तु निदिध्यासन करें। इस सदी के पश्चिम के महान् साधक 'जार्ज गुरजिएफ' ने एक जगह जान-बूझकर कहा है–'सबके भीतर आत्मा नहीं है। जो आत्मा को पैदा कर ले, उसी के भीतर आत्मा है। जिन लोगों ने समझाया, सबके भीतर आत्मा है, उन लोगों ने जगत् की बड़ी हानि की है।' मनुष्य ने मान लिया कि 'मैं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा हूं' अब उसे प्रगट करने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। जब तक प्रत्यक्ष नहीं जानो तब तक सिर्फ इतना ही कहो कि–मानता हूं, जानता नहीं हूं। जिससे स्वयं के अज्ञान की भी स्मृति बराबर बनी रहे, और संभवतः जानने के लिए चरण उद्यत हो जाएं।' आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है–'शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि वे कुछ जानते नहीं हैं। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य हैं।' शास्त्र सिर्फ संकेत हैं, उन सत्यद्रष्टा ऋषियों के दर्शन का। वह हमारा दर्शन नहीं है।

स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं–१. वाचना (पढ़ना) २. पृच्छना ३. परिवर्त्तना (याद किए हुए पाठ को दोहराना) ४. अनुप्रेक्षा (चिंतन) ५. धर्मकथा।

शिष्य ने पूछा–भंते! स्वाध्याय का फल क्या है?

गुरु ने कहा–स्वाध्याय से ज्ञानावरण कर्म क्षीण होता है। उससे अनेक लाभ सम्पन्न होते हैं।

स्वाध्याय का पहला लाभ है–

हम कुछ समय तक बाह्य दुनिया से अलग-थलग हो जाते हैं। मन को कुछ क्षणों के लिए उसमें उलझा देते हैं ताकि वह अपनी पुरानी स्मृतियों का ताना-बाना न बुने। यह अस्थायी चिकित्सा है, स्थायी नहीं। इसमें व्यक्ति पूर्णतया स्मृतियों, कल्पनाओं तथा संवेदनाओं से मुक्त नहीं होता।

स्वाध्याय का दूसरा लाभ है–

वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना आदि से व्यक्ति बाह्य जानकारियां अधिक संगृहीत कर लेता है। उसके जानकारी का कोश बहुत अधिक बढ़ जाता है। जो ज्ञान नहीं होने वाला था वह हो जाता है। लेकिन इसका खतरा यह होता है कि व्यक्ति स्वयं में रिक्त होते हुए भी अपने को भरा हुआ समझने लगता है।

स्वाध्याय का तीसरा लाभ है–

सत्य की दिशा में अनुगमन करना। 'अनुप्रेक्षा' उसका माध्यम है। शब्द और अर्थ की अनुप्रेक्षा करता हुआ व्यक्ति अंतिम गहराई में प्रवेश कर पदार्थ का सत्यबोध कर स्वयं में प्रविष्ट हो जाता है।

उस स्वाध्याय के मौलिक स्वरूप का दर्शन करें, जो कि हमारे जीवन को आमूल-चूल बदलने में सक्षम है। वही यथार्थ तप है। स्वाध्याय का अर्थ है–स्व-आत्मा का अध्ययन करना, आत्मा को पढ़ना। दूसरों को पढ़ना सरल है, स्वयं को पढ़ना नहीं। इसलिए इसे तप कहा है। दूसरे के अध्ययन में व्यक्ति जितना व्यग्र है उतना स्वयं के अध्ययन में उत्सुक नहीं है। दृष्टि का दूसरों पर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अवलंबित होना धर्म नहीं, धर्म है स्वयं को देखना। स्वदर्शन जो सहज है, वह आज के मानव के लिए असहज हो गया। इसलिए आज स्वाध्याय तप की जितनी उपेक्षा है, पहले उतनी नहीं रही। बड़े-बड़े तपस्वियों के लिए यह तप दुर्धर्ष है। धर्म का जीवंत-रूप इसके बिना संभव नहीं है।

**सही स्वाध्याय**

स्वाध्याय का पहला चरण होगा कि हम अपने आमने-सामने खड़े होकर अपने को पढ़ें। दूसरों की धारणाओं को हटा दें। दूसरे लोग आपके संबंध में क्या कहते हैं—इस ओर पीठ करे दें। लोगों की अपनी-अपनी दृष्टि होती है, और अपने-अपने बटखरे होते हैं, और अपने-अपने माप होते हैं। आप उनकी चिंता करेंगे तो अपने असली चेहरे को कभी प्रगट नहीं कर सकेंगे। आपको अपना चेहरा उनके सांचे में ढालना होगा। इससे आपकी आत्मा मर जाएगी और आप संभवतया सर्वत्र सफल भी नहीं हो सकेंगे। इसलिए आप दूसरों से हटकर अपने में आएं और देखें—बड़ी ईमानदारी से कि आप कैसे हैं? आपके भीतर क्या है? जो है—उससे डरें नहीं, देखते जाएं।

दूसरे चरण में—आप अकेले बैठें और सहजतापूर्वक अपनी वृत्तियों का दर्शन करते जाएं। एक-एक को प्रकट होने दें। जो हैं उन्हें अस्वीकार कैसे करेंगे? कैसे उनसे अपरिचित रहेंगे? यहां बहुत सावधानता, निर्भयता और धैर्य की अपेक्षा होगी। काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, वासना आदि प्रवृत्तियां आप में पहले भी विद्यमान थीं, किंतु उनका दर्शन नहीं था, अब आप उनको देख रहे हैं और उनको प्रकाश में ला रहे हैं। इसके साथ-साथ आज तक का जो आपका विकृत रूप था उसे आप स्वीकार भी करते जाइए, लेकिन एक बात का और ध्यान रखें कि आप ऐसे नहीं हैं। आपके भीतर एक विराट् शुद्धरूप और छिपा है। ये सब आपकी प्रमत्तता के कारण प्रविष्ट हो गए थे। आप ये नहीं हैं। जैसे-जैसे आप अपने को जानने लगेंगे तो आपमें बदलाहट होनी शुरू हो जाएगी। अपने को जानना और स्वीकार करना इस वृत्ति से छूटने का अमोघ उपाय है। महावीर की भाषा में यह सम्यग्-ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान की स्थिति में अन्यथा होना अशक्य है। ज्ञान शक्ति है। स्वाध्याय की साधना का यही मुख्य लक्ष्य है।

**३३. एकाग्रचिन्तनं योगनिरोधो ध्यानमुच्यते।**
**धर्म्यं चतुर्विधं तत्र, शुक्लं चापि चतुर्विधम्॥**

**एकाग्र चिंतन एवं मन, वचन और काया के निरोध को ध्यान कहते हैं। धर्म्यध्यान के चार प्रकार हैं और शुक्लध्यान के भी चार प्रकार हैं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३४. अर्हता देशितां दृष्टिं, आलम्ब्य क्रियते यदा।
पदार्थचिन्तनं यत्तत्, आज्ञाविचय उच्यते॥

अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट दृष्टि—अतीन्द्रिय विषयों को आलंबन बना कर जो पदार्थ का एकाग्र चिंतन किया जाता है, वह आज्ञा विचय है। यह धर्म्यध्यान का पहला प्रकार है।

३५. सर्वेषामपि दुःखानां, रागद्वेषौ निबंधनम्।
ईदृशं चिन्तनं यत्तत्, अपायविचयो भवेत्॥

राग और द्वेष सब दुःखों के कारण हैं—इस प्रकार का जो एकाग्र चिंतन किया जाता है, वह अपायविचय है। यह धर्म्यध्यान का दूसरा प्रकार है।

३६. सुखान्यपि च दुःखानि, विपाकः कृतकर्मणाम्।
किं फलं कस्य चिन्तेति, विपाकविचयो भवेत्॥

सुख और दुःख कर्मों के विपाक—फल हैं। किस कर्म का क्या फल है, इस प्रकार का जो एकाग्र चिंतन किया जाता है, वह विपाक-विचय है। यह धर्म्यध्यान का तीसरा प्रकार है।

३७. लोकाकृतेश्च तद्वर्तिभावानां आकृतेस्तथा।
चिन्तनं क्रियते यत्तत्, संस्थानविचयो भवेत्॥

लोक की आकृति और उसमें विद्यमान प्रत्येक पदार्थ की आकृति के विषय में जो एकाग्र चिंतन किया जाता है, वह संस्थान-विचय है। यह धर्म्यध्यान का चौथा प्रकार है।

ध्यान का अर्थ है—चिंतनीय विषय में मन को एकाग्र करना, एक विषय पर मन को स्थिर करना, अथवा मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का निरोध करना (देखें—आठवें श्लोक की व्याख्या)। ध्याता ध्यान के द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसमें सफल भी होता है। ध्येय की इष्टता व अनिष्टता के आधार पर ध्यान भी इष्ट व अनिष्ट बन जाता है। सामान्यतः

१. ध्यान की विस्तृत जानकारी के लिए देखें—परिशिष्ट।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्येय अपरिमित है। जितने मनुष्य हैं, उन सबकी एकाग्रता भिन्न-भिन्न होती है।उनका प्रतिपादन करना असंभव है। संक्षेप में उसके चार प्रकार किये गये हैं। अनात्माभिमुखी जितनी एकाग्रता है वह सब आर्त्त व रौद्र ध्यान है। आत्माभिमुखी जितनी एकाग्रता है, वह सब धर्म व शुक्ल ध्यान है।

आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं, अतः हेय हैं। धर्म और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं, अतः उपादेय हैं।

**३८. उन्मादो न भवेद् बुद्धेः, अर्हद्वचनचिन्तनात्।**
**अपायचिन्तनं कृत्वा, जनो दोषाद् विमुच्यते॥**

**अर्हत् की वाणी के एकाग्र चिंतन से बुद्धि का उन्माद अथवा अहंकार नहीं होता, यह आज्ञाविचय का फल है। राग और द्वेष के परिणाम का एकाग्र चिंतन करने से मनुष्य दोष से मुक्त बनता है, यह अपायविचय का फल है।**

अयथार्थता में दोषों का परिपालन और उद्भव होता है। जब मनुष्य सत्य को निकट से देख लेता है तब सहसा असत्य के पैर लड़खड़ा जाते हैं। आत्म-हितैषी व्यक्ति फिर अहित का अनुसरण नहीं करता। आज्ञाविचय आदि ध्यानों में रमण करने वाला यथार्थ का स्पर्श कर लेता है। उसकी मति-मूढ़ता सहज ही नष्ट हो जाती है। वह क्रमशः मुक्ति की ओर अग्रसर होता रहता है।

**३९. अशुभे न रतिं याति, विपाकं परिचिन्तयन्।**
**वैविध्यं जगतो दृष्ट्वा, नासक्तिं भजते पुमान्॥**

**कर्म-विपाक का एकाग्र चिंतन करने वाला मनुष्य अशुभ कार्य में रति—आनंद का अनुभव नहीं करता। यह विपाकविचय का फल है। जगत् की विचित्रता को देखकर मनुष्य संसार में आसक्त नहीं बनता, यह संस्थान-विचय का फल है।**

**४०. विशुद्धं जायते चित्तं, लेश्ययापि विशुद्ध्यते।**
**अतीन्द्रियं भवेत् सौख्यं, धर्म्यध्यानेन देहिनाम्॥**

**धर्म्यध्यान के द्वारा प्राणियों का चित्त शुद्ध होता है, लेश्या विशुद्ध होती है और अतीन्द्रिय—आत्मिक सुख की उपलब्धि होती है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**४१. विजहाति शरीरं यो, धर्म्यचिन्तनपूर्वकम्।**
**अनासक्तः स प्राप्नोति, स्वर्गं गतिमनुत्तराम्॥**

**जो धर्म्य-चिंतनपूर्वक शरीर को छोड़ता है, वह अनासक्त व्यक्ति स्वर्ग और क्रमशः अनुत्तरगति—मोक्ष को प्राप्त होता है।**

ध्याता के लिए प्रारंभिक अवस्था में धर्म्य-ध्यान ही उपयुक्त है। धर्म चित्त-शुद्धि का केन्द्र है। राग-द्वेष व मोह आदि चित्त-अशुद्धि के मूल हैं। इनसे आत्मा बंधती है। मुक्ति के लिए वीतरागता अपेक्षित है। वीतराग व्यक्ति इन्द्रिय-सुखों में आसक्त नहीं होता। उसके सामने आत्म-सुख है, वह इन्द्रियों से गाह्य नहीं होता। वीतरागता आत्म-धर्म है। अतः उससे होने वाला सुख भी आत्म-सुख या अतीन्द्रिय आनंद है। धर्म्य-ध्यान से केवल चेतन का ही शोधन नहीं होता, अवचेजन मन के संस्कार भी मिटाये जाते हैं। अवचेतन मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है। चेतन की अशुद्धि का मूल यह अवचेतन मन ही है। ध्यान हमारे मन की गहरी तहों में घुसकर समस्त मलों का प्रक्षालन कर देता है। समता-स्रोत सबके प्रति समान प्रवाहित हो जाता है। संसार में न कोई शत्रु रहता है और न कोई मित्र। अहिंसा का द्वार हमेशा के लिए खुल जाता है। इस दशा में शरीर छोड़ने वाले साधक के लिए स्वर्ग और अपवर्ग के सिवाय कोई मार्ग नहीं होता।

१. **आज्ञाविचय**—आगम के अनुसार सूक्ष्म पदार्थों का चिंतन करना।

२. **अपायविचय**—हेय क्या है, इसका चिंतन करना।

३. **विपाकविचय**—हेय के परिणामों का चिंतन करना।

४. **संस्थानविचय**—लोक या पदार्थों की आकृतियों, स्वरूपों का चिंतन करना।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान—ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलंबन पर चित्त एकाग्र किया जाता है, वैसे ही इन ध्येय-विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिंतन से चित्त-निरोध होता है, चित्त की शद्धि होती है, इसलिए इनका चिंतन धर्म्य-ध्यान कहलाता है।

आज्ञाविचय से वीतराग-भाव की प्राप्ति होती है। अपायविचय से राग, द्वेष, मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्ति मिलती है। विपाक-विचय से दुःख कैसे होता है? क्यों होता है? किस प्रवृत्ति का क्या परिणाम होता है—इनकी जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान-विचय से मन अनासक्त बनता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है, उसके विविध परिणाम–परिवर्तन जान लिये जाते हैं, तब मनुष्य स्नेह, घृणा, हास्य, शोक आदि विकारों से विरत हो जाता है।

**४२. अप्युत्तमसंहननवतां पूर्वविदां भवेत्।**
**शुक्लस्य द्वयमाद्यन्तु, स्याच्च केवलिनोऽन्तिमम्॥**

**शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार तथा एकत्व-वितर्क-अविचार' उत्तम संहनन वाले तथा पूर्वधरों में पाये जाते हैं। शेष दो भेद केवलज्ञानी में पाए जाते हैं।**

**४३. सूक्ष्मक्रियोऽप्रतिपाती, समुच्छिन्नक्रियस्तथा।**
**क्षपयित्वा हि कर्माणि, क्षणेनैव विमुच्यते॥**

**सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिय–शुक्लध्यान के इन दो अंतिम भेदों में वर्तमान केवली कर्मों का क्षय कर क्षणभर में मुक्त हो जाता है।**

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं :

१. पृथक्त्व-विचार-सविचार–एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का चिंतन करना। इसमें ध्येय का परिवर्तन होता रहता है।

२. एकत्व-वितर्क-अविचार–एक द्रव्य के एक पर्याय का चिंतन करना। इसमें ध्येय का परिवर्तन नहीं होता।

३. सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाती–तेरहवें गुणस्थान के अंत में होने वाला ध्यान। इसकी प्राप्ति के बाद ध्यानावस्था का पतन नहीं होता।

४. समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति–अयोगावस्था में होने वाला ध्यान। इसकी निवृत्ति नहीं होती।

अंतिम दो भेद केवलज्ञानी में ही पाए जाते हैं।

**४४. अन्तर्मुहूर्त्तमात्रञ्च, चित्तमेवात्र तिष्ठति।**
**छद्मस्थानां ततश्चित्तं, वस्त्वन्तरेषु गच्छति॥**

**छद्मस्थ का चित्त एक विषय में अंतर्मुहूर्त्त तक ही स्थिर रहता है, फिर वह दूसरे विषय में चला जाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४५. स्थितात्मा भवति ध्याता, ध्यानमैकाग्र्यमुच्यते।
ध्येय आत्मा विशुद्धात्मा, समाधिः फलमुच्यते॥

ध्यान के चार अंग हैं—ध्याता, ध्यान, ध्येय और समाधि। जिसकी आत्मा स्थित होती है, वह ध्याता—ध्यान करने वाला होता है। मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। विशुद्ध आत्मा—परमात्मा ध्येय है और उसका फल है—समाधि।

मेघः प्राह

४६. किमर्थं क्रियते ध्यानं? ध्यानं दुःखविमुक्तये।
कुतो दुःखं मनुष्याणां? सर्वविद्! बोद्धुमुत्सहे॥

मेघ बोला—भगवन्! ध्यान किसलिए किया जाता है? भगवान् ने कहा—दुःख-मुक्ति के लिए। मेघ बोला—भंते! मनुष्यों को दुःख कहां से होता है? सर्वविद्! यह जानने के लिए मेरे मन में उत्साह उमड़ रहा है।

भगवान् प्राह

४७. अज्ञानं प्रथमं मूर्च्छा, चाञ्चल्यं हीनभावना।
अहंकारश्च संस्कारः, पूर्वाग्रहस्तथामयः॥

४८. अष्टाविमे महाभाग! संति दुःखस्य हेतवः।
यत्रापायः उपायोऽपि, विद्यते जगतीतले॥
(युग्मम्)

भगवान् ने कहा—हे महाभाग! दुःख के आठ हेतु हैं—अज्ञान, मूर्च्छा, चंचलता, हीनभावना, अहंकार, संस्कार, पूर्वाग्रह और रोग।

इस जगत् में जहां अपाय है, वहा उपाय भी है।

४९. स्वबोधो जागरूकत्वं, ऐकाग्र्यं प्राणसंग्रहः।
अनाग्रहः सत्यनिष्ठा, सुखोपायाः इमे स्मृताः॥

स्वबोध, जागरूकता, एकाग्रता, प्राण-संग्रह, अनाग्रह, सत्यनिष्ठा—ये सुख के हेतु हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**५०. अभ्यासेन क्षमादीनां, मनसः शोधनेन च।**
**शरीरस्य श्रमेणाऽपि, स्यादारोग्यमपेक्षितम्॥**

**सुख का एक प्रकार है आरोग्य। क्षमा आदि का अभ्यास, मन का शोधन और शरीर का श्रम—ये अपेक्षित आरोग्य को बढ़ाने के उपाय हैं।**

ध्यान की परिचर्चा सुन सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ध्यान क्यों करे? ध्यान करने का प्रयोजन क्या है। ध्यान करने के उद्देश्य व्यक्ति की भावना के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। जो कुछ प्राप्य है वह ध्यान के द्वारा ही प्राप्य है। सुख भी ध्यान के द्वारा प्राप्य है और दुःख भी, स्वर्ग भी और नरक भी, बंधन भी और मुक्ति भी। किन्तु जिस भाव से यहां चर्चा प्रस्तुत है वह सिर्फ अध्यात्म के अर्थ में है। साधक के ध्यान का उद्देश्य होता है—दुःख-मुक्ति। इसलिए कहा है—ध्यान दुःख-मुक्ति के लिए किया जाता है।

मेघ के मन में फिर जिज्ञासा उभरी कि दुःख कहां से आता है? दुःख के अनेक प्रकार हैं, उनके कारण भी अनेक हैं। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई निमित्त अवश्य होता है। यहां उन कारणों का वर्गीकरण आठ रूपों में किया गया है। समस्त दुःखों का समावेश इनमें हो जाता है। वे कारण हैं—अज्ञान, मूर्च्छा, चंचलता, हीनभावना, अहंकार, संस्कार। (संचित अथवा अर्जित वृत्ति), पूर्वाग्रह और रोग। इनकी निवृत्ति के उपाय भी है। अस्वास्थ्य है तो स्वास्थ्य की प्रक्रिया भी है। दोष है तो उसके निराकरण के प्रयोग भी हैं। हर क्रिया की प्रतिपक्षी क्रिया भी है। जहां चाह वहां राह की उक्ति के अनुसार प्रतिपक्षी भावना से उसका उन्मूलन किया जा सकता है।

अज्ञान-निवृत्ति की प्रक्रिया है—स्वबोध। यहां अज्ञान का वास्तविक संकेत आत्मज्ञान के अभाव की ओर है। अज्ञान दुःखों का मूल है। अज्ञान के उच्छेद से सब दुःखों का उच्छेद संभव है। 'सौ रोगों की एक दवा' 'सौ तालो की एक चाबी' की भांति यह स्वबोध सौ ही नहीं, हजारों-लाखों की एक चाबी है। इसमें सबका इलाज है। अज्ञान में सबकी सत्ता है और ज्ञान में सबकी असत्ता।

स्वबोध में जागरूकता की लौ सतत प्रज्वलित रहती है। मूर्च्छा को वहां अवकाश नहीं रहता। मूर्च्छा वहीं होती है जहां चित्त का बाह्य विषयों के साथ तादात्म्य होता है। पदार्थ मुख्य हो जाता है और आत्मा—चैतन्य गौण। मूर्च्छा उन्माद है, पागलपन है, चित्त का चेतना शून्य होना है। मूर्च्छित व्यक्ति को क्रिया-अक्रिया, कार्य-अकार्य का कोई होश नहीं रहता। उसका समग्र कार्य-

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कलाप करीब-करीब सुषुप्ति में होता है। मूर्च्छा अनेक जन्मों का अर्जित संस्कार है। स्वबोध इसे तोड़ देता है।

मन की चंचलता भी बाहर से जुड़ी है, पुराने संस्कारों की लीक पर चलती है : स्मृति, कल्पना और चिंतन ये सब चंचलता के ही परिणाम हैं। स्व-बोध में चित्त ठहर जाता है, वह आत्म-केन्द्रित हो जाता है। चंचलता शांत हो जाती है। सुख स्वतः ही छलक आता है। मन को चेतना का अनुगामी बनाने से यह समस्या शांत हो जाती है।

स्वबोध वाले व्यक्ति में हीन भावना का प्रवेश नहीं होता। हीन भावना दूसरों के साथ तुलना करने से पैदा होती है। दूसरों में जो विशिष्टता है, अपने में नहीं है, ऐसा समझ वह अपने आपको तुच्छ मानने लगता है। इसके अनेक माध्यम बनते हैं। दुनियां में आदमी को छोड़कर कोई किसी से तुलना नहीं करता। सब अपने-अपने अस्तित्व में मस्त रहते हैं। न कोई किसी से छोटा मानता और न बड़ा। स्वबोध में छोटे-बड़े का भाव रहता ही नहीं है। वहां प्रत्येक पूर्ण है। **'णो हीणे णो अइरित्ते'** न कोई हीन और न कोई विशिष्ट। यह सचाई स्व-बोध से प्रकट होती है और हीन भावना जनित दुःख स्वतः ही तिरोहित हो जाता है।

अहंकार भी एक वृत्ति है। वह हीन भावना की उल्टी है—हीनभाव वाला जहां अपने को क्षुद्र, साधारण मानता है वहां अहंकारी अपने को महान्, बड़ा, विशिष्ट समझता है। यह भी कोई सुख का मूल हेतु नहीं बनती। इस विशाल जगत् में कोई एक ही हस्ती नहीं है। आत्मा की अनंत शक्ति के सामने अनेक अस्मितावान् व्यक्ति बौने बन जाते हैं। जहां वह शक्ति जिस व्यक्ति में कुछ विशिष्टता लिए हुए जागृत होती है वहां दूसरे का अहं चूर्ण हो जाता है। इस जगत् में किसका अहंकार चला है? पूर्ण व्यक्ति अहंकार की क्षमता रखता है किन्तु वह करता ही नहीं। अपूर्ण व्यक्ति में क्षमता नहीं है और वह करता है। कहा है—संतजनों के लिए ज्ञान अहं, मद आदि के नाश का हेतु है वहां वह कुछ लोगों के लिए मान-मद आदि का हेतु बन जाता है। इस ग्रंथि से पीड़ित व्यक्ति को भी दुःख का अनुभव करना होता है। इसके पीछे भी अज्ञान का बोलबाला होता है। ध्यान के द्वारा जैसे-जैसे स्वबोध का मार्ग प्रशस्त होता है वैसे-वैसे अहंकार भी अपने बोरिया-बिस्तर समेट लेता है।

स्वबोध के अभाव में अज्ञान मुखर रहता है। संस्कार अज्ञान की देन है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। वह स्वतंत्र शब्द का प्रयोग कर सकता है तथा अपने को स्वतंत्र मान भी सकता है किन्तु वस्तुतः वह स्वतंत्र है नहीं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्वतंत्र वही व्यक्ति है जिसका अपना तंत्र-अपना अनुशासन होता है। संस्कारों से संचालित व्यक्ति परतंत्र है, वह उनसे प्रवृत्त होकर नए संस्कारों का अर्जन करता है। फिर वे संस्कार ही उसे सदा प्रेरित करते रहते हैं। इसलिए जितना भी दुःख दृश्य है उसके पीछे संस्कारों की प्रबल छाया है। ज्ञान और ध्यान दोनों की युति संस्कारों का परिशोधन व निस्तारण करती है। ज्ञान से समझ आती है और ध्यान पुराने संस्कारों का निष्कासन करता है और नयों को अर्जित होने नहीं देता। स्वबोध का मार्ग जिससे सहज ही सरल बन जाता है, संस्कारों का उच्छेद हो जाता है तथा दुःख का उन्मूलन भी।

धारणा, मान्यता, अल्पज्ञता, बाह्य परिवेश आदि पूर्वाग्रह के कारण बनते हैं। पूर्वाग्रही व्यक्ति की दृष्टि एकांगी होती है, वह दूसरों की यथार्थ बात को भी स्वीकार नहीं करता। उसके लिए वही यथार्थ है जो वह कहता है, सोचता है और करता है। उससे समस्याएं सर्जित होती हैं। यह सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। अनेकांत या अनाग्रह दृष्टिकोण विकसित हो तो इसका समाधान निकल सकता है। अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग होता भी है और वातावरण प्रिय भी बनता है। अनेकांत दृष्टिवाला व्यक्ति अन्य व्यक्ति के चिंतन से छिपे तथ्य को देखने, समझने का प्रयास करता है। वह जानता है कि अन्य व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से बात को रख रहा है। अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के प्रतिद्वन्द्वी ने असेम्बली में कहा—आपको पता होगा कि आप कौन हैं? लिंकन ने मुस्कराते हुए कहा—मुझे पता है, मैं एक चमार का पुत्र हूं। हो सकता है आप की मेरे से कोई शिकायत हो, किन्तु मेरे पिता एक कुशल चर्मकार थे, मैं वैसा नहीं हूं। सामने वाला शांत हो गया। स्वबोध से आग्रह का शमन होता है, अनाग्रही दृष्टि विकसित होती है। दुःख मुक्ति के लिए ये विविध उपाय हैं, प्रयोग हैं।

'कम खाना गम खाना'—इनमें स्वास्थ्य-आरोग्य का राज छिपा है। विवशता, दुर्बलता के बिना सहज-शांत भाव से सहिष्णुता, मृदुता, अदम्भ, सरलता आदि सात्त्विक गुणों का अभ्यास आरोग्य के प्रमुख निमित्त बनते हैं। मन की अशुद्धि दुष्प्रवृत्तियों या असत् वृत्तियों से अर्जित है। सतोगुण—सात्त्विक, शम, दम, दया, अहिंसा, मैत्री आदि भावों के द्वारा मन का शोधन होता है। **'शिवसंकल्पमस्तु मे मनः'**—मेरा मन शुभ-शिव संकल्प वाला हो? यानी मैं सदा अपने मन को शुभ भावों से भावित करता रहूं—इस प्रकार की जागृति से मन का परिशोधन होता है, शोधित मन शांत—तनावमुक्त रहता है, शरीर स्वतः ही प्रसन्न रहता है।

आरोग्य का एक बड़ा कारण है—जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा। काम करने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वाला छोटा और न करने वाला बड़ा या दूसरों के श्रम पर जीने वाला महान्—यह धारणा किसी भी दृष्टि से यथार्थ तो नहीं है, किन्तु सामाजिक परिस्थितिवश व्यक्ति इसे अपना लेता है, किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से यह अहितकर होती है। आज देखते हैं—श्रम घटा, रोग बढ़ा। श्रम के अभाव में सहज साध्य कार्य असाध्य बन गए, अनेक बीमारियों ने शरीर पर अपना कब्जा जमा लिया। चौबीस घंटे ए. सी. में रहने वाले धनिक व्यक्ति से डॉक्टरों ने सलाह दी कि आप एक घंटा गर्म पानी में लेटे रहो, यही आपकी चिकित्सा है। दिनभर एयरकंडीस्नर मैं रहूं और एक घंटा पानी में रहकर स्वस्थ बनूं, इससे अच्छा है—ए. सी. में रहना ही छोड़ दूं। उसने वैसा किया और स्वस्थ रहने लगा।

श्रम शरीर के लिए अपेक्षित है—वह देह की प्रकृति है। प्रकृति की अवहेलना करना अहितकर है। व्यायाम, योगासन, प्राणायाम आदि भी श्रम है, शरीरतंत्र को स्वस्थ रखने में ये नितांत व्यवहार्य हैं। आरोग्य के लिए इनका अनुशीलन अपेक्षित है।

**मेघः प्राह**

**५१. जिज्ञासामि कथं नाथ! दुर्बलं जायते मनः?**
**कथं बलयुतं तत् स्याद्, येन शक्तिः प्रवर्धते॥**

**मेघ बोला—नाथ! मन दुर्बल कैसे होता है? वह बलवान् कैसे बनता है, जिससे शक्ति में वृद्धि हो, यह मैं जानता चाहता हूं।**

सबल मन बहुत कम लोगों के पास है, प्रायः सभी दुर्बल मन को लेकर जी रहे हैं। बहुत यह जान भी नहीं पाते हैं कि क्या मन सशक्त बन सकता है? उन्हें इसका भी बोध नहीं है कि मन दुर्बल क्यों होता है? यह बहुत आवश्यक है कि व्यक्ति पहले दुर्बल मन के कारणों को जाने और फिर सशक्त बनाने का उपक्रम करें।

मन के दुर्बल होने के कारण बहुत साफ हैं। आये दिन मनुष्य इन्हीं में से गुजरता है—बच्चे भी बचपन में इसके शिकार हो जाते है। फिर वह संस्कार आगे से आगे पुष्ट होता चला जाता है। भय, शोक, चिंता, क्रोधादि आवेग, संवेदन और चिरकालीन विचार ये कारण हैं।

उपरोक्त कारणों से मुक्त मनुष्य का मिलना दुर्लभ है। पारिवारिक सामाजिक, राजनैतिक, वैश्विक वातावरण ही ऐसा है कि जो इन कारणों को

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उत्तेजित कर देते हैं। मनुष्य यह जानता है कि जो होने का है वह होगा, लेकिन फिर भी स्व-संबंधी, परिवार संबंधी तथा अन्यान्य प्रकार की चिंता उसे घेरे रहती है। भोजन, पानी, अर्थ, शादी-विवाह, संतान आदि की चिंता आगे से आगे एक न एक बनी रहती है। चिंता चिता-सम है। वह मन को बलवान् नहीं बनने देती है। इसका दुष्प्रभाव तनाव, बीमारियों आदि के रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है।

अप्रिय संवेदन, अप्रिय घटना, अप्रियता की आशंका शोक को जन्म देती है। आशंका के कारण मन में शोक का संस्कार पुष्ट होता रहता है। शोकग्रस्त मन के सशक्तता की कल्पना नहीं की जा सकती।

क्रोध आदि आवेगों के आंतरिक कारण भी हैं और बाह्य कारण भी। बाह्य कारण ज्ञान के अभाव में आंतरिक कारणों को उत्तेजित कर देते हैं। आवेग-आवेश बाहर प्रकट हो जाते हैं। क्रोध का मुख्य निमित्त बनता है–मन के अनुकूल प्रवर्तन नहीं होना। बालक से लेकर बड़े बुजुर्गों तक में यह भाव दिखाई देता है। सच्चाई यह है कि इस जगत में 'मैं जैसा सोचूं, मैं जैसा कहूं, वही हो।' यह संभव नहीं होता है तब व्यक्ति के अहं पर चोट पहुंचती है, क्रोध का वेग सहज उभर आता है। आवेगों पर नियमन न होने से संवेदन व चिंतन दीर्घकालिक बनता चला जाता है, अवचेतन मन में एक ग्रंथि निर्मित हो जाती है जिससे सहजतया छुटकारा पाना शक्य नहीं होता। जिसके मन में इनसे मुक्त होने की भावना जागृत होती है और जो अपने पर अपना अनुशासन करना चाहता है, उसके लिए मन को सशक्त बनाने की कोई कठिनाई नहीं है। जैसे ही वह जागृत होता है और उपायों का अवलंबन लेता है मन शांत संतुलित व शक्तिशाली बनने लगता है। निम्न प्रयोगों का अभ्यास मन की सशक्तता में निस्संदेह कारगार होते हैं। वे प्रयोग हैं–

१. दीर्घश्वास
२. चित्त की एकाग्रता
३. विचार-संयम
४. संवेदन नियमन
५. आवेग-निरोध
६. शिथिलीकरण
७. संकल्पशक्ति।

**दीर्घश्वास**–दीर्घश्वास का प्रयोग मन को स्थिर-शांत करता है। दीर्घश्वास के अभ्यास से शरीर, मन और भाव तंत्र तीनों को स्वास्थ्य प्राप्त होता है। मन की चंचलता इससे शांत होती है तथा आवेगों और आवेगों पर नियमन होना है। बीमारियां, अशांति, तनाव, क्रोध आदि आवेग छोटे श्वास की देन है। श्वास के साथ मन के उतार-चढ़ावों का घनिष्ठ संबंध हैं। दीर्घश्वास इनकी चिकित्सा हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जब मन शांत व प्रसन्न होता है तब अपने आप उसकी तेजस्विता और शक्ति का सवंर्धन होने लगता है।

**एकाग्रता**—एकाग्रता की शक्ति से कौन परिचित नहीं है? विकास में उसकी अहं भूमिका है। लक्ष्यवेध की सफलता में अर्जुन की एकमात्र एकाग्रता की ही महत्ता थी। एकाग्रता में असीम शक्ति है। उसके द्वारा जो कार्य सधते हैं उनकी कल्पना भी सामान्य व्यक्ति के सोच से परे हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में तो इसका मूल्यांकन हजारों-लाखों वर्ष पूर्व हो चुका था। विज्ञान भी आज उसकी मूल्यवत्ता स्वीकृत कर चुका है। इसका जादू सभी क्षेत्रों में है।

चित्त का एक विषय पर केन्द्रित होना एकाग्रता है। एकाग्रता के अवलंबन बाह्य भी होते हैं और आंतरिक भी। जैसे शरीर के अनेक स्थान आलंबन बनते हैं वैसे अनेक आंतरिक स्थान भी। इससे केन्द्र जागृत होते हैं और सुप्तशक्तियों का जागरण भी होता है। इससे मन को सबल बनने में सहज ऊर्जा प्राप्त हो जाती है।

**विचार-संयम**—संकल्प, चिंतन और स्मृति—ये मन के कार्य है। मन के पास यह शक्ति नहीं है कि वह विवेक कर सके इनमें कौन-सा करणीय है और कौनसा करणीय नहीं है। वह पशु की भांति जुगाली करता रहता है। इससे उसकी कुछ हानि नहीं होती, किन्तु ऊर्जा का व्यर्थ दुरुपयोग होता रहता है। एक क्षण भी वह विश्राम नहीं लेता। आवश्यक-अनावश्यक विचारों की शृंखला चलती रहती है। इससे उसके सबल बनने की कल्पना नहीं की जा सकती। उसका संयम-नियंत्रण हो, विवेक चेतना जागृत हो, होश-सचेतनता का अभ्यास हो तो मन पर अंकुश लग सकता है, वह कल्पना आदि से मुक्त हो सकता है। इससे उसकी शक्ति का संवर्धन भी होगा और शांति की प्राप्ति भी होगी।

**संवेदन नियमन**—जीवन में प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के प्रसंग आते हैं। उनकी प्रतिक्रिया भी प्रिय और अप्रिय दोनों रूपों में होती है। मन इन संवेदनों से प्रभावित होता है। कुछ संवेग क्षणिक होते हैं और कुछ चिरकालीन बन जाते हैं। अवचेतन मन में इन संवेदनों का स्थायित्व बन जाता है। पुनः मन इनके प्रभाव में आकर उसी प्रकार के भावों के रूप में प्रतिफलित होने लगता है। मन को शक्तिशाली बनाये बिना उन पर नियंत्रण नहीं हो सकता। संवेदना के नियमन में भी संकल्प शक्ति का और अप्रमत्त चेतना की अपेक्षा रहती है जिससे सहज ही संयम सध जाता है।

**आवेग-निरोध**—यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि वह क्रोध आदि आवेगों का वशवर्ती बन अनेक अप्रिय कार्य कर लेता है, जिसका परिणाम स्वयं के लिए तथा दूसरों के लिए भी दुःखद बन जाता है। पारिवारिक,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सामाजिक, राजनैतिक जीवन भी आवेगों से अछूता नहीं है। छोटे-बड़े सभी पर इसकी छाया है। बड़े व्यक्तियों का आवेग बड़े पैमाने पर सर्जित होता है, जिसका नतीजा भी बड़ा होता है। कलह, कदाग्रह, युद्ध आदि इसके प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। आवेग का संयम बहुत कम व्यक्ति कर पाते हैं। मैं इसके प्रति सहज रहूंगा और इसके वशवर्ती नहीं बनूंगा—इस भावना से इसका निरोध कर इस पर विजय पाई जा सकती है।

**शिथिलीकरण और संकल्प शक्ति**—इनका प्रयोग भी मन को सबल बनाने में नितांत सहयोगी बनते हैं। शरीर को तनाव-मुक्त करना, रिलेक्स करना आटो-सजेशन—स्वतः सूचना के द्वारा-शरीर के प्रत्येक अंग तनाव मुक्त हो रहे हैं। इस सूचना के साथ मन भी जुड़ा हुआ हो और हमारा ध्यान भी शरीर के प्रत्येक अंग के प्रति सजग रहे तो धीरे-धीरे शरीर और मन दोनों शिथिल हो जाते हैं। शरीर मन का अनुगामी है। जैसा उसको मन सूचित करता है, वह उसी प्रकार ढल जाता है। इससे सहज ही मन की सबलता संवर्धित हो जाती है।

संकल्प शक्ति के अभ्यास से भी मन की दुर्बलता का निवारण होता है। व्यक्ति जैसी भावना करता है वह वैसा ही बन जाता है। मन शक्तिशाली हो रहा है, भय, कायरता व दुर्बलता दूर हो रही है—ऐसी भावना करनी चाहिए। मन में कभी भी क्षुद्र विचारों का प्रवेश नहीं होने देना तथा नकारात्मक भावों से दूर रखना, मन को सशक्त बनाने के सहज सिद्ध प्रयोग है।

**भगवान् प्राह**

**५२. चिन्ताशोकभयक्रोधैः, आवेगैर्विविधैश्चिरम्।**
**संवेदनविचारैश्च, दुर्बलं जायते मनः॥**

**भगवान् ने कहा—चिंता, शोक, भय, क्रोध आदि विविध आवेग, चिरकालीन संवेदन और चिरकालीन विचार—ये मन को दुर्बल बनाते हैं।**

**५३. दीर्घश्वासस्तथा चित्तस्यैकाग्रसन्निवेशनम्।**
**विचाराणां निरोधो वा, संवेदननियंत्रणम्॥**

**५४. आवेगानां सन्निरोधः, शिथिलीकरणं तथा।**
**संकल्पशक्तेरभ्यासः, मनोबलनिबंधनम्॥**
**(युग्मम्)**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**दीर्घश्वास, चित्त का एक आलंबन पर सन्निवेश, विचारों का निरोध, संवेदन-नियंत्रण, आवेग का निरोध, शिथिलीकरण और संकल्पशक्ति का अभ्यास—ये मनोबल को बढ़ाने के उपाय हैं।**

**५५. आत्मनः स्वात्मना प्रेक्षा, धर्म्यध्यानमुदीरितम्।**
**प्रकृष्टां भूमिमापन्नं शुक्लध्यानमिदं भवेत्॥**

**आत्मा के द्वारा आत्मा की प्रेक्षा को धर्म्यध्यान कहा गया है। प्रेक्षा जब उत्कृष्ट भूमि पर चली जाती है, तब शुक्लध्यान कहलाती है।**

प्रेक्षा का अर्थ है—निर्विकल्प रूप से देखना, जिस देखने में राग-द्वेष न हो, संकल्प-विकल्प न हो, मात्र देखना ही हो, वह है प्रेक्षा। अपने द्वारा अपने को—आत्मा को देखना है। आत्मा की अनुभूति या साक्षात् उस शांत व निर्विकल्प अवस्था में ही होता है। फिर जो भी साधन है—प्रयोग हैं वे सब आत्मा से ही सन्निविष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक प्रयोग लंबे अंतराल के बाद मन को अ-मन करते हैं। अ-मन अवस्था में द्रष्टा साक्षीरूप में खड़ा होता है और यह पकड़ सुदृढ़ होने पर सहज ही आत्मा की स्फुरणा होने लगती है। समाधि या आत्मानुभव की प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर स्थिति शुक्लध्यान—(ध्यान की उच्च-उच्चतम अवस्था) में परिणत हो जाती है।

**५६. व्याधिमाधिमुपाधिञ्च, समतिक्रम्य यत्नतः।**
**समाधिं लभते प्रेक्षाध्यानसिद्धिपरायणः॥**

**प्रेक्षाध्यान की सिद्धि में परायण व्यक्ति व्याधि, आधि और उपाधि का प्रयत्नपूर्वक अतिक्रमण कर समाधि को प्राप्त होता है।**

प्रेक्षाध्यान की साधना में संलग्न साधक उत्तरोत्तर विकास करते हुए समाधि में स्थित हो जाता है। समाधि ध्यान की वह अवस्था है जहां मन, वाणी, शरीर, भावधारा आदि सब शांत हो जाते है। ऐसी निष्पन्न स्थिति का साधक **'साधो! सहज समाधि भली'** कबीर की इस वाणी में जीने लगता है। वह व्याधि (शारीरिक कष्ट) आधि (मानसिक दुःख) और उपाधि—भावात्मक कष्ट—इन सबका सहज ही अतिक्रमण कर जाता है।

ध्यान का प्रारंभ काय-स्थिरता से होता है। शरीर अस्थिर है, चंचल है तो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हमारा मन भी स्थिर नहीं होता। साधक के लिए शरीर का स्थैर्य साधना भी आवश्यक है। अनुभवी पुरुषों ने कहा है—तीन घंटा एक आसन में स्थिर बैठने से आसन सिद्ध होता है। सिद्ध आसन का होना ध्यान के लिए उत्तम है। शरीर की अस्थिरता मन को एक विषय में केन्द्रित नहीं होने देती। विकेन्द्रित मन शक्ति के ऊर्ध्वगमन में अवरोधक है।

काया की स्थिरता के लिए कायोत्सर्ग और काय-गुप्ति का अभ्यास अपेक्षित है। काय-गुप्ति का अर्थ है—शरीर की हलन-चलन का गोपन—संयम। अभ्यास के द्वारा इसे साधा जा सकता है। दृढ़ अभ्यास से स्थिरता सिद्ध हो जाती है। कायोत्सर्ग शरीर को स्थिर करता है और साथ-साथ भेदविज्ञान का हेतु भी बनता है। काय-उत्सर्ग इन दो शब्दों के संयोग से कायोत्सर्ग बनता है। जिसका अर्थ है—शरीर का विसर्जन करना, शरीर के प्रति कुछ समय उदासीन हो जाना, शरीर के स्पन्दनों-गति आदि को पूर्णतया शांत कर देना। महर्षि रमण के जागरण का मूल केन्द्र-बिन्दु यही प्रयोग बना। उन्होंने देखा—शरीर मृतवान् पड़ा है। मैं उसे देख रहा हूं। द्रष्टा भिन्न और दृश्य भिन्न है। दोनों एक नहीं हैं। दोनों के एकत्व की ग्रंथि खुल गई और वे सम्यक् बोध को प्राप्त हो गये।

देह की स्थिरता से आस्रव—कर्म आगमन का मार्ग पतला होता है, द्वार बन्द होने लगता है। कर्म का आगमन ही संसार का मूल है। कर्म-वासना की क्षीणता से संसार क्षीण होता है। देह की स्थिरता साधना में कितनी अपेक्षित है, इससे यह स्वतः सिद्ध होती है।

**५७. कायोत्सर्गः कायगुप्तिः, देहस्थैर्याय जायते।**
**स्थैर्यं सम्यक् गते काये, आस्रवः प्रतनुभवित्॥**

**कायोत्सर्ग और कायगुप्ति देह की स्थिरता के लिए है। काया के भलीभांति स्थिर होने पर आस्रव पतला हो जाता है।**

**५८. श्वासादीनां च संप्रेक्षा, मनःसंयममाव्रजेत्।**
**ऐकाग्र्ये सघने जाते, ध्यानं स्यान्निर्विकल्पकम्॥**

**श्वास आदि की संप्रेक्षा से मन का संयम प्राप्त होता है। मन की एकाग्रता के सघन होने पर निर्विकल्प ध्यान सिद्ध हो जाता है।**

निर्विकल्प ध्यान के लिए सघन एकाग्रता की अपेक्षा रहती है। श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, सुषुम्मा नाड़ी-स्थित चैतन्य केन्द्रों (चक्रों) पर, अंतर्मौन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आदि किसी भी एक आलंबन पर लंबे समय तक मन को स्थिर करने से सधती है, इसलिए साधक में तीव्र साधना की पिपासा हो, उन्हें एक ही प्रयोग पर अधिक श्रम करना चाहिए, उसे ही अपना ध्यान-बिन्दु बनाना चाहिए, इससे निश्चित ही निर्विकल्पता की सिद्धि होती है तथा अनेक अनुभवों की प्राप्ति भी होती है।

**५९. अध्यवसायः सूक्ष्मा चित्, लेश्या भावः ततः स्फुटम्।**
**चित्तं स्थूलशरीरस्थं, इमाः चैतन्यभूमयः॥**

**अध्यवसाय सूक्ष्म चेतना है। लेश्या अथवा भाव की चेतना उससे प्रस्फुट–व्यक्त है। स्थूल शरीर में काम करने वाली चेतना चित्त है। ये चैतन्य की भूमिकाएं हैं।**

चेतना एक है। वह अनावृत नहीं है इसलिए उसकी रश्मियां सीधी प्रसारित नहीं है। उसे माध्यम चाहिए। वह कई माध्यमों से प्रकट होती है। उसेके सबसे निकट का सूक्ष्मतम माध्यम है–अध्यवसाय। चेतना की पहली हलचल का यही उद्गम है। अध्यवसाय अथाह जलराशि के नीचे बुदबुदे के रूप में उठने वाला प्रथम स्पन्दन है। उसका आकलन करना दुःसाध्य है। उसके बाद वह लेश्या और भाव के रूप में प्रस्फुट होता है। कृष्ण, नील, लाल, सफेद आदि रंगों के रूप से पहचाना जाने वाला परिणाम लेश्या है। भाव उससे कुछ ओर अधिक व्यक्त है, किन्तु इन दोनों का बोध साधारण जनों के गम्य नहीं है। हालांकि वैज्ञानिक उपकरणों ने इसे पकड़ने का प्रयास किया है, सफलता भी प्राप्त की है।

चित्त चेतना का स्पष्ट रूप है। स्थूल शरीर में वही काम चित्त से ही मन द्वारा संचालित होता है। वाणी और शरीर पर नियमन करने वाला मन है। चेतना की ये भूमिकाएं हैं।

अध्यवसाय शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का है। अशुद्ध अध्यवसाय से आगे का समग्र ज्ञान अशुद्ध रूप में ही कार्यशील होता है। रजस् और तमस् के रूप में इनकी परिणति देखी जा सकती है। अशुद्ध वृत्तियां जीवन विकास में सहगामी नहीं बनती। अशुद्ध जीवन वर्तमान और भविष्य दोनों के आनंद को लीलने वाला होता है। साधक का पहला कार्य है कि वह अशुद्ध अध्यवसायों को प्रशस्त करने का प्रयत्न करें। अध्यवसाय शुद्धि के बिना न मन की शुद्धि होती है, न भाव की और न लेश्या की। साधक को इसे स्मृति में रखना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चाहिए कि मुझे सबसे पहले मन को पवित्र–विशुद्ध बनाना है। मन के विशद–प्रशस्त होने के साथ समूचा तंत्र शुद्धि की दिशा में गतिशील हो जाता है। संत कबीर ने कहा है–

**'कबीरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।**
**पीछे पीछे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर॥'**

यही, इसी सत्य का चित्रण है।

**६०. मनःप्रवर्तकं चित्तं, वाणीदेहनियामकम्।**
**प्रशस्तेऽध्यवसाये तु, प्रशस्ताः स्युरिमे समे॥**

**चित्त मन का प्रवर्तक है। वह वाणी और शरीर का नियामक है। अध्यवसाय के प्रशस्त होने पर ये सब प्रशस्त हो जाते हैं।**

**६१. मनःशुद्धौ भावशुद्धिः, लेश्याशुद्धिस्ततो भवेत्।**
**अध्यवसायशुद्धिश्च, साधनायाः अयं क्रमः॥**

**मन की शुद्धि होने पर भाव की शुद्धि होती है। भाव की शुद्धि होने पर लेश्या की शुद्धि होती है और लेश्या की शुद्धि होने पर अध्यवसाय की शुद्धि होती है। यह साधना का क्रम है।**

साधना मार्ग में कायसिद्धि और मनःसिद्धि दोनों अपेक्षित हैं। कायसिद्धि का अर्थ है–शरीर की पूर्णरूपेण स्वस्थता, वात, पित्त आदि दोषों का संतुलन, शरीर का समग्र कार्य कलाप सुचारु रूप से संचालित होना, इसी प्रकार मनःसिद्धि का अर्थ है–मन की निर्मलता, एकाग्रता, शांतता, स्थिरता, वासना-विकार, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार आदि दोषों से मुक्तता है। पंच प्राणों पर नियंत्रण से काय-सिद्धि होती है और श्वास को सम्यक् साध लेने पर मन की सिद्धि प्राप्त होती है।

शरीर पंचभूतात्मक है, पंच तत्त्वों से निर्मित हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। वायु तत्त्व ही प्राण है। प्राण के द्वारा ही समस्त शरीर और मन, बुद्धि, इन्द्रियां आदि सक्रिय रहते हैं। प्राण, अपान आदि पांच मुख्य प्राण तथा पांच उपप्राण वायु के ही अलग अलग स्थानों से अलग-अलग नाम हैं। प्राणों के अशुद्धि से शरीर अस्वस्थ होता है, आलस्य, प्रमाद आदि दोषों से युक्त होता है। इससे प्राणमय कोश और अन्नमयकोश भी विकृत होता है। पांच प्राणों के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्थान और कार्य को हम अपने ध्यान में लेकर फिर इन्हें सुव्यवस्थित रखने का प्रयत्न करें तो कायसिद्धि सहज प्राप्त हो सकती है।

## पंच प्राणों की अवस्थिति तथा कार्य

१. **प्राण**–शरीर में कंठ से लेकर हृदय पर्यन्त जो वायु कार्य करता है, उसे 'प्राण' कहा जाता है।

कार्य–यह प्राण नासिका मार्ग, कंठ, स्वर-तंत्र, वाक्-इन्द्रिय, अन्ननलिका, श्वसन तंत्र, फेफड़ों एवं हृदय को क्रियाशीलता तथा शक्ति प्रदान करता है।

२. **अपान**–नाभि के नीचे से लेकर पैर के अंगुष्ठ पर्यन्त जो प्राण कार्यशील रहता है, उसे 'अपान' प्राण कहते है।

कार्य–शरीर में संगृहीत हुए समस्त प्रकार के विजातीय तत्त्वों अर्थात् मल व मूत्र आदि को बाहर कर देह-शुद्धि का कार्य 'अपान प्राण' करता है।

३. **उदान**–कंठ के ऊपर से लेकर सिर पर्यन्त देह में अवस्थित प्राण को 'उदान' कहते है।

कार्य–कंठ से ऊपर शरीर के समस्त अंगों–नेत्र, श्रोत्र, नासिका व सम्पूर्ण मुख मंडल को ऊर्जा व आभा प्रदान करता है। पिच्युटरी व पिनियल ग्रंथि सहित पूरे मस्तिष्क को 'उदान' प्राण क्रियाशीलता प्रदान करता है।

४. **समान**–हृदय के नीचे से लेकर नाभि पर्यन्त शरीर में क्रियाशील प्राण को 'समान' कहते है।

कार्य–यकृत, आन्त्र, प्लीहा व अग्न्याशय (Pancreas) सहित सम्पूर्ण पाचन-तंत्र की आंतरिक कार्य प्राणाली को नियंत्रित करता है।

५. **व्यान**–यह जीवनी प्राण-शक्ति पूरे शरीर में व्याप्त है। यह शरीर की समस्त गतिविधियों को नियमित तथा नियंत्रित करता है। सभी अंगों, मांस-पेशियों, तन्तुओं, संधियों एवं नाड़ियों को क्रियाशीलता व ऊर्जा शक्ति 'व्यानप्राण' ही करता है।

इन पांच प्राणों के अतिरिक्त शरीर में 'देवदत', 'नाग', 'कृकल', 'कूर्म' व 'धनजय' नामक पांच उपप्राण हैं जो क्रमशः छींकना, पलक झपकना, जंभाई लेना, खुजलाना तथा हिचकी लेना आदि क्रियाओं को संचालित करते हैं।

वायु–प्राण और मन का संघर्ष सतत चलता रहता है। अनेक लोग इसे नहीं जानते है और यह भी नहीं जानते कि इस संघर्ष में विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है। अन्य युद्धों से यह युद्ध अति विकट है। इसमें दूसरा कोई नहीं होता। स्वयं को स्वयं की वृत्तियों के साथ युद्ध करना होता है और उस पर विजय प्राप्त करनी होती है। प्राण में जब मन लय होता है तब तमोगुण की वृत्तियां जोर पकड़

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लेती है। व्यक्ति उनके अधीन हो जाता है। मन में यदि प्राण का लय होता है तब सतोगुण की वृद्धि होती है। संकल्प विकल्पों की अवस्था में मन प्राण के द्वारा कार्य करने लगता है। उस अवस्था में प्राण की गति सामान्य रहती है। किन्तु संकल्प-विकल्प होने लगते हैं। तमोगुण की स्थिति में श्वास की गति तेज हो जाती है। मन और प्राण का परस्पर घनिष्ट संबंध है। कहा है—**'चले प्राणे चलं चित्तं'** प्राण के चंचल होने पर चित्त चंचल हो जाता है और प्राण के स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है।

श्वास का संयम व श्वासप्रेक्षा के प्रयोग में कुशलता हासिल कर लेने पर मन की सिद्धि व कायसिद्धि दोनों सहज प्राप्त की जा सकती हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म-शरीर तथा मन इनके नियमन में प्राणायाम व प्राण की स्थिरता महत्त्वपूर्ण है। श्वास स्थिर व शांत होगा उतना ही अधिक व्यक्ति स्वस्थ तथा शांति का अनुभव करेगा। श्वास की संख्या भी औसत से कम होने लगेगी। श्वास दीर्घ होगा तो आयुष्य भी दीर्घ होगा। आयुष्य भी सांसों के साथ बंधा हुआ है। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्राणायाम का प्रयोग तथा श्वास के साथ मन को संयुक्त कर उसी पर एकाग्र रहने का अभ्यास किया जाए तो सहज में ही व्यक्ति आत्म-विजेता बन सकता है।

**६२. प्राणे संसाधिते सम्यक्, कायसिद्धिर्भवेत् ध्रुवम्।**
**श्वासे संसाधिते सम्यक्, मनःसिद्धिर्भवेत् ध्रुवम्॥**

**प्राण, अपान आदि पंचविध प्राणशक्ति की सम्यक् साधना कर लेने पर निश्चित रूप से कायसिद्धि हो जाती है। श्वास की सम्यक् साधना कर लेने पर निश्चित रूप से मन की सिद्धि हो जाती है।**

**६३. पदे पदे निधानानि, योजने रसकूपिका।**
**भाग्यहीना न पश्यन्ति, बहुरत्ना वसुन्धरा॥**

**प्रत्येक पद पर निधान है, प्रत्येक योजन पर रसकूपिका है। भाग्यहीन व्यक्ति उन्हें देख नहीं पाते। यह वसुन्धरा बहुत रत्न वाली है।**

**६४. पदे पदे सदानंदः, शक्तिस्रोतः पदे पदे।**
**ध्यानहीना न पश्यन्ति, बहुरत्नं शरीरकम्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**प्रत्येक पद पर आनंद है और प्रत्येक पद पर शक्ति का स्रोत है। ध्यानहीन उन्हें देख नहीं पाते। यह शरीर बहुत रत्न वाला है।**

वसुंधरा—वसु का अर्थ है—रत्न, हीरे, आदि। पृथ्वी इन्हें धारण करती है, अतः इसे वसुंधरा कहते हैं। इसमें अगणित धनराशि है। लेकिन प्राप्त उसे ही होती है, जो पुण्यशाली है, भाग्यवान है, भाग्य हीन को नहीं। भाग्य की अनुकूलता हो तो व्यक्ति के लिए वह सुलभ है। वह कहां से कहां छलांग लगा लेता है और भाग्य प्रतिकूल हो तो जो है उससे भी हाथ धो बैठता है। ठीक इसी प्रकार मानव शरीर बहुत रत्नों का खजाना है। उससे जैसे बाह्य सामग्री प्राप्त होती है वैसे ही अंतः समृद्धि। दोनों का माध्यम शरीर है। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**—धर्म-साधना का प्रथम साधन देह है। इसी शरीर से साधक भगवान् बनता है। शरीर में जो शक्ति है वह आत्म-चेतना की है। अनंत आनंद, अनंत ज्ञान, अनंत बल का दर्शन इसी में होता है। इनके अतिरिक्त गौण शक्तियां भी कम नहीं हैं। जितनी भी विस्मयकारक चेष्टाएं, दृश्य, चमत्कार, विशिष्ट शक्तियां परिलक्षित होती हैं, उन सबका आधार शरीर ही है। इन सबकी अभिव्यक्ति का साधन है—ध्यान।

चित्त जैसे-जैसे सघन होता जाता है वैसे-वैसे दिव्यताएं प्रकट होती जाती हैं। ध्यान भाग्य है। भाग्यवान को विशेष वस्तुएं, विशिष्टताएं प्राप्त होती हैं वैसे ध्यानवान व्यक्ति को ही आत्मास्थित अनन्त क्षमताएं उपलब्ध होती हैं। देव और देवियां सेवा में उपस्थित रहकर अपने को धन्य मानती हैं। अष्टसिद्धि और नवनिधि भी उनके चरण चूमती है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस इनसे संपन्न थे। आचार्य शांतिसागर के पास जया, विजया, अपराजिता, लक्ष्मी—चार देवियां हाजिर रहती थीं। पद्मावती और सरस्वती भी उनकी सन्निधि का लाभ लेती थी। भक्त नरसिंह के 'मायरे' की बात प्रसिद्ध है। भक्त रैदास ने कठोती में गंगा को प्रकट कर दिया था। तब से यह कहावत भी चल पड़ी की 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'

भगवान् महावीर, गौतम गणधर, महात्मा बुद्ध, कबीर, नानक, दादू, मीरा, सीता, सुभद्रा, आचार्य भिक्षु आदि असंख्य विभूतियों के बिखरे बीजों को संगृहीत किया जाए तो ग्रंथों के ग्रंथ भरे जा सकते हैं। यह सब ध्यान, भक्ति, जप की शक्तियों का ही प्रभाव है।

**६५. उपधीनाञ्च भावानां, क्रोधादीनां परिग्रहः।**
**परित्यक्तो भवेद् यस्य, व्युत्सर्गस्तस्य जायते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**उपधि—वस्त्र, पात्र, भक्त-पान तथा क्रोध आदि भावों के परिग्रह के परित्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। व्युत्सर्ग उस व्यक्ति के होता है, जिसके उक्त परिग्रह परित्यक्त होता है।**

वस्तुएं बंधन नहीं होतीं। बंधन है आसक्ति। वस्त्र, पात्र, आहार आदि शारीरिक सहायक सामग्री है। अनासक्त दशा में इनका उपयोग होता है तो ये संयमपोषक बन जाती हैं, अन्यथा शरीरपोषक। शरीरपोषण आत्म-धर्म नहीं है। आत्म-धर्म है संयम। संयम की साधना में रत साधक देहाध्यास का परित्याग कर आत्मोपासना में दृढ़ होता है। व्युत्सर्ग की साधना के बिना देहाध्यास, ममत्व और आकर्षण छूटता नहीं।

**६६. भावनाभाविते चित्ते, ध्यानबीजं प्ररोहति।**
**संस्काराः परिवर्तन्ते, चिन्तनं च विशुद्ध्यति॥**

**जो चित्त भावना से भावित होता है, उसमें ध्यान का बीज अंकुरित होता है, संस्कारों का परिवर्तन होता है और चित्त विशुद्ध बनता है।**

**६७. प्रेक्षया सत्यसंप्रेक्षा, तत्प्राप्तिश्चानुप्रेक्षया।**
**पुनः पुनस्तदभ्यासाद्, भावना जायते ध्रुवम्॥**

**प्रेक्षा से सत्य का दर्शन होता है। सत्य की उपलब्धि अनुप्रेक्षा अथवा स्वतःसूचना से होती है। अनुप्रेक्षा का बार-बार किया जाने वाला अभ्यास भावना बन जाता है!**

प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा दो शब्द है। प्रेक्षा प्रथम है और अनुप्रेक्षा है उसके बाद होनेवाली चिंतनधारा। एक में सत्य का स्पर्श होता है और दूसरे में सत्य की पृष्ठभूमी सुदृढ़ होती है। अनुप्रेक्षा का अभ्यास भावना में बदल जाता है। भावना संस्कारों को बदलती हैं, दृढ़बद्ध मिथ्या धारणा को विखंडित करती है, सत्य के साक्षात्कार में उसकी अहं भूमिका होती है। चित्त को विशुद्ध बनाती है। आज की भावना कल का साकार दर्शन है। यथार्थ की भावना से भावित चित्त यथार्थ का अनुभव करता है।

साधना के क्षेत्र में भावना का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह सकारात्मक सोच

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का प्रकृष्टतम रूप है, साधक के आंतरिक ऐश्वर्य के प्रकटन में इसकी भूमिका असंदिग्ध है। इसका अवलंबन प्रायः साधकों के लिए अनिवार्य बन जाता है। जाने-अनजाने इस मार्ग से उन्हें चलना ही होता है।

६८. अनित्यो नाम संसारः, त्राणाय कोऽपि नो मम।
भवे भ्रमति जीवोऽसौ, एकोऽहं देहतः परः॥

६९. अपवित्रमिदं गात्रं, कर्माकर्षणयोग्यता।
निरोधः कर्मणां शक्यो, विच्छेदस्तपसा भवेत्॥

७०. धर्मो हि मुक्तिमार्गोऽस्ति, सुकृता लोकपद्धतिः।
दुर्लभा वर्तते बोधिः, एता द्वादशभावनाः॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

१. संसार अनित्य है—यह चिंतन अनित्य भावना है। २. मेरे लिए कोई शरण नहीं है—यह चिंतन अशरण भावना है। ३. यह जीव संसार में भ्रमण करता है—यह चिंतन भव भावना है। ४. 'मैं एक हूं'—यह चिंतन एकत्व भावना है। ५. 'मैं देह से भिन्न हूं'—यह चिंतन अन्यत्व भावना है। ६. शरीर अपवित्र है—यह चिंतन अशौच भावना है। ७. आत्मा में कर्मों को आकृष्ट करने की योग्यता है—यह चिंतन आस्रव भावना है। ८. कर्मों का निरोध किया जा सकता है—यह चिंतन संवर भावना है। ९. तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया जा सकता है—यह चिंतन तप भावना है। १०. मुक्ति का मार्ग धर्म है—यह चिंतन धर्म भावना है। ११. लोक पुरुषाकृति वाला है—यह चिंतन लोक भावना है। १२. बोधि दुर्लभ है—यह चिंतन बोधिदुर्लभ भावना है। ये बारह भावनाएं हैं।

७१. मैत्री सर्वत्र सौहार्दं, प्रमोदो गुणिषु स्फुरेत्।
करुणा कर्मणात्तेषु, माध्यस्थ्यं प्रतिगामिसु॥

१. सब जीव मेरे सुहृद् हैं—यह चिंतन मैत्री भावना है। २. गुणी व्यक्तियों के प्रति अनुराग होना प्रमोद भावना है। ३. कर्मों से आर्त्त बने हुए जीव दुःख से मुक्त बनें—यह चिंतन करुणा भावना है। ४. प्रतिकूल अथवा विपरीत वृत्ति वाले व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा रखना—यह माध्यस्थ भावना है।

७२. संस्काराः स्थिरतां यान्ति, चित्तं प्रसादमृच्छति।
वर्धते समभावोऽपि, भावनाभिर्ध्रुवं नृणाम्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इन भावनाओं से संस्कार स्थिर बनते हैं, चित्त प्रसन्न होता है और समभाव की वृद्धि होती है।

७३. भावनाभिर्विमूढाभिः, भावितं मूढतां व्रजेत्।
चित्तं ताभिरमूढाभिः, भावितं मुक्तिमर्हति॥

मोहयुक्त भावनाओं से भावित चित्त मूढ बनता है और मोह-रहित भावनाओं से भावित होकर वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

७४. आत्मोपलब्ध्यै जीवानां, भावनालम्बनं महत्।
तेन नित्यं प्रकुर्वीत, भावनाभावितं मनः॥

आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिए भावना महान् आलंबन है, इसलिए मन को सदा भावनाओं से भावित करना चाहिए।

७५. भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिव विद्यते।
नौकेव तीरसंपन्नः, सर्वदुःखाद् विमुच्यते॥

भावनायोग—अनित्य आदि भावनाओं से जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, वह जल में नाव की भांति होती है। जैसे नाव किनारे पर पहुंचती है, वैसे ही वह दुःखों का पार पा जाता है, मुक्त हो जाता है।

७६. भवेदास्रविणी नौका, न सा पारस्य गामिनी।
या निरास्रविणी नौका, सा तु पारस्य गामिनी॥

जो नाव आस्रविणी है—छेद वाली है, वह समुद्र के पार नहीं पहुंचती और जो निरास्रविणी है—छेद रहित है, वह समुद्र के उस पार चली जाती है।

भावना—भावना का एक अर्थ होता है—वासना या संस्कार। मनुष्य का जीवन अनंत जन्मों की वासना का परिणाम है। व्यक्ति जैसी भावना रखता है वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्य जो कुछ कर रहा है—वह सब भावना का पुनरावर्तन है। साधना का अर्थ है—एक नया संकल्प या सत्य की दिशा में अभिनव भावना का अभ्यास, जिससे आत्म-विमुख भावना के मंदिर को तोड़कर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्माभिमुखी भावना द्वारा नये भवन का निर्माण करना। किन्तु यह एक दूसरी अति न हो जाए, जिसमें व्यक्ति अन्य भावना द्वारा पहले की तरह संमोहित हो जाए। इसलिए भावना का दूसरा अर्थ है—जिस भावना से अपने को संस्कारी बना रहे हैं, ध्यान द्वारा उसे प्रत्यक्ष अनुभव करना। यदि केवल संकल्प को दोहराते चले जाएं तो फिर वह सम्मोहन हो जाएगा। एक टूटेगी, दूसरी निर्मित होगी। किन्तु अनुभूति नहीं होगी।

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन की जन्म-शताब्दी मनाई जाने वाली थी। लिंकन से मिलते-जुलते व्यक्ति को उसकी भूमिका निभाने के लिए चुना गया। उसने वर्ष भर यात्रा की। लिंकन का पार्ट अदा किया। वह संस्कार इतना सघन हो गया कि वह अपने आपको लिंकन समझने लगा। वर्ष पूरा हो गया, किन्तु उसका सपना नहीं टूटा। लोगों ने बहुत समझाया कि तुम लिंकन नहीं हो। लेकिन वह किसी तरह इसको स्वीकार करने के लिए राजी नहीं हुआ। कुछ लोगों ने कहा, जैसे लिंकन को गोली मारी वैसे ही इसको भी गोली मार दो। अंततोगत्वा एक मशीन का निर्माण किया गया, जो असल को प्रगट कर सके। अनेक परीक्षण सफल हुए। किन्तु वह मशीन पर खड़ा हुआ। उसने सोचा, सब कहते हैं—तू लिंकन नहीं है, कह दूं और उससे पीछा छुड़ा लूं। वह बोला—मैं लिंकन नहीं हूं, किन्तु मशीन ने बताया कि तू लिंकन है, वह फेल हो गई। भावना का इतना गहरा असर हुआ कि लिंकन न होते हुए भी लिंकनाभास अवचेतन मन में पेठ गया। इसलिए यह अपेक्षित है कि साधक भावना के साथ-साथ सचाई के दर्शन से पराङ्मुख न हो। वह ध्यान के अभ्यास के साथ-साथ भावना का अनुशीलन करता रहे।

महावीर ने भावना को नौका कहा है। जैसे नाव से समुद्री यात्रा सानन्द सम्पन्न होती है, वैसे ही भावना रूपी नौका से चित्त को साध्य के अनुरूप सुवासित कर भव-सागर को पार किया जा सकता है। सूफी संतों ने एक सुझाव साधकों को दिया है कि जो भी दिखाई पड़े, उसे परमात्मा मानकर चलना। अनुभव हो तब भी और कल्पना करनी पड़े तब भी। क्योंकि वह कल्पना एक दिन सिद्ध होगी। जिस दिन सिद्ध होगी, उस दिन किसी से क्षमा नहीं मांगनी पड़ेगी।' इसमें भावना और अनुभूति—दोनों का स्पष्ट दर्शन है।

साधक ध्यान के पूर्व और ध्यान के बाद भावनाओं के अभ्यास का सतत स्मरण करता रहे। उनसे एक शक्ति मिलती है, धीरे-धीरे मन तदनुरूप परिणत होता है। मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर सत्य की दिशा में अनुगमन होता है और एक दिन स्वयं को तथानुरूप प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। भावना और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यान के सहयोग से मंजिल सुसाध्य हो जाती है। साधक इन दोनों की अपेक्षा को गौण न समझे। सभी धर्मों ने भावना का अवलंबन लिया है।

भावनाएं विविध हो सकती हैं। जिनसे चित्त विशुद्धि होती है तथा अविद्या का उन्मूलन और विद्या की उपलब्धि होती है–ये सब संकल्प और विचार भावनाओं के अंतर्गत हैं। फिर भी संतों ने उनका कुछ वर्गीकरण किया है। उन्हें बारह और चार–इस प्रकार दो भागों में विभक्त किया है।

**बारह भावनाएं**

**१. अनित्य भावना**–जो कुछ भी दृश्य है, वह सब शाश्वत नहीं है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। बुद्ध ने कहा है–'सब क्षणिक है।' एक समय से अधिक कोई नहीं ठहरता। साधक की दृष्टि अगर खुल जाये तो उसे सत्य का दर्शन संसार का प्रत्येक पदार्थ दे सकता है, वही उसका गुरु हो सकता है। एक शिष्य वर्षों तक आचार्य के पास रहा परन्तु उसकी दृष्टि नहीं खुली। शिष्य हताश हो गया। गुरु ने कहा–'अब तू यहां से जा, यहां नहीं सीख सकेगा।' वह आश्रम से चला आया। एक पीपल के वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। एक पत्ता टूट कर नीचे गिरा और दृष्टि मिल गई। गुरु के पास आया और बोला–घटना घट गई। गुरु ने पूछा–कैसे? वृक्ष के नीचे बैठा था। पत्ता गिरा और अचानक मुझे स्मरण हो आया कि मुझे भी मरना–गिरना है। गुरु ने कहा–'बस, उसे ही नमस्कार करना था, वही तेरा गुरु है।'

भरत चक्रवर्ती अपने कांच-महल में सिंहासन स्थित शरीर का अवलोकन कर रहे थे। अचानक उन्हें शरीर के परिवर्तन का बोध हुआ। यह वह शरीर है जो बचपन में था और अब जवानी में है, कितना बदल गया। सब कुछ परिवर्तन हो रहा है, किन्तु इस परिवर्तन के पीछे जो एक अपरिवर्तनीय सत्ता है, वह जैसे पहले थी अब भी वैसी ही है और आगे भी वैसी ही रहेगी। दृष्टि उपलब्ध हो गई। एक के अनित्य का दर्शन सबका दर्शन है। जैसे यह शरीर बदल रहा है वैसे ही संपूर्ण पुद्गलों का परिवर्तन चल रहा है। वे संबोधि–केवलज्ञान को उपलब्ध हो गए।

कारलाइल के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी। वह अस्सी वर्ष की अवस्था पार कर चुका था। अनेक बार बाथरूम में गया था। किन्तु जो घटना उस दिन घटी, वह कभी नहीं घटी। स्नान के बाद शरीर को पोंछते-पोंछते देखता है। वह शरीर कितना बदल गया। जीर्ण हो गया। किन्तु भीतर जो जानने और देखने वाला है वह जीर्ण नहीं हुआ, वह वैसा ही है। परिवर्तनीय के साथ अपरिवर्तनीय की झांकी मिल गई।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वैज्ञानिक कहते हैं, सात साल में पूरा शरीर बदल जाता है! सत्तर वर्ष की अवस्था में दश बार सब कुछ नया उत्पन्न हो जाता है। लेकिन इस परिवर्तन की ओर दृष्टि बहुत कम जाती है। साधक के पास सबसे निकट शरीर है। और भी जड़-चेतन जगत् जो निकट है, वह उसे एक विशिष्ट दृष्टि से देखे और अनुभव करे कि यह जगत् उसके लिए एक बड़ी प्रशिक्षण शाला है जो निरंतर प्रशिक्षण दे रही है। अनित्य भावना में क्षण-क्षण बदलते हुए इस जगत् को और स्वयं के निकट जो है उसका दर्शन करे। केवल संकल्प न दोहराये कि सब कुछ अनित्य है, अनित्य है, किन्तु उसका अनुभव करे और उसके साथ अंतःस्थित अपरिवर्तनीय आत्मा की झलक भी पाये।

२. अशरण भावना—यह भावना हमारे उन संस्कारों पर प्रहार करती है जो बाहर का सहारा ताकते हैं। यदि मनुष्य की समझ में यह तथ्य आ जाए कि अंततः मेरा कोई शरण नहीं है, तब सहज ही बाह्य वस्तु-जगत् की पकड़ ढीली हो जाये। अन्यथा आदमी धन, परिवार, स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान आदि सबको पकड़ता है। वह समझता है कि अंत में कोई न कोई मुझे अवलंबन देगा। यह भ्रम ही संग्रह का हेतु बनता है। धर्म कहता है—'कोई त्राण नहीं है। छोड़ो अपनी पकड़। क्यों व्यर्थ ममत्व, मोह और पाप का संग्रह करते हो। बस, सिर्फ पकड़ छोड़ दो। जीवन से भागने की जरूरत नहीं। वाल्मीकि ने जब जाना तब एक क्षण में उससे मुक्त हो गया। अनाथी मुनि ने जब देखा—कोई मुझे रोग से मुक्त नहीं कर पा रहा है। सब असफल हो गये। तब दृष्टि भीतर की तरफ मुड़ी और देखा—जो है, रोग उससे दूर है, मृत्यु दूर है, सब कुछ दूर है तो क्यों नहीं उसे ही अपना शरण बनाऊं। वह उसकी खोज में चला गया। सम्राट् श्रेणिक ने कहा—'मैं तुम्हारा मालिक बनूंगा।' अनाथी मुनि ने कहा—'तुम मेरे मालिक क्या बनोगे? पहले अपने खुद के मालिक बनो। अभी जिनके मालिक हो उनके गुलाम भी हो। मैंने खोजा, वह अपने भीतर है। जिस दिन तुम भी खोज लोगे, मालकियत टूट जाऐगी और एक नई मालकियत का जन्म होगा।'

डेनमार्क के एक विचारक ने लिखा है—'असली चिंता तो तब पकड़ती है जब तुम्हें लगता है कि पैर के नीचे से जमीन खिसक गई।' यही एक ऐसा क्षण है जो भविष्य का फैसला करता है। किन्तु यदि इसके पूर्व में सच्चाई का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया हुआ हो तो प्रायः व्यक्ति भविष्य को अंधकारपूर्ण बना लेते हैं। वे मरते क्षण में शरीर को छोड़ रहे हैं किन्तु वासना को नहीं। वासना अपने ही लोगों और वस्तुओं के आस-पास चील की तरह मंडराती रह जाती है, और प्राणी मर कर पुनः उनके ही इर्द-गिर्द पैदा हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महावीर, बुद्ध आदि ने कहा है–'अपनी ही शरण जाओ। 'धम्मं सरणं पवज्जामि–स्वभाव की शरण खोजो।' साधक बाहर से अत्राण को देखे और भीतर देखे जो है उसे। वह सदा है, उसी को पकड़ने से त्राण पाया जा सकता है। उसकी स्मृति एक क्षण भी विस्मृत न हो। यह सुरति-स्मृति योग है। गुरु नानक ने कहा है, जो उसे नहीं भूलता, वही वस्तुतः महान् है। वह सच्ची संपत्ति है जो हमारे साथ जा सकती है।

३. **भव-भावना**–आज के वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते हैं कि विश्व में पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होते, केवल परिवर्तन होता रहता है। धार्मिक सदा से ही यह कहते आये हैं कि जीव और अजीव, चेतन और जड़–ये दो स्वतंत्र द्रव्य हैं। यह सम्पूर्ण विश्व इन दोनों की सृष्टि है। ये दोनों अनादि हैं। आत्मा विजातीय तत्त्व से सर्वथा मुक्त नहीं होता, तब तक उसे संसार में भ्रमण करना होता है। भव-भावना में साधक यह देखता है, अनुभव करता है कि मैं इस संसार में कब से भ्रमण कर रहा हूं। ऐसी कोई योनि नहीं है जहां मैं जन्मा नहीं हूं। प्रत्येक गति में अनेकशः उत्पन्न हो चुका हूं। क्या मैं इस प्रकार भ्रमण करता रहूंगा? वह देखता है योनियों में विविध कष्टों को और इस भव-भ्रमण के बंधन को चाहता है तोड़ता। राग और द्वेष भव-भ्रमण के मुख्य हेतु हैं। जब तक ये विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा का पूर्ण स्वातंत्र्य प्रगट नहीं होता। विविध योनियों के विविध रूपों में भ्रमण का चिंतन करना भव-भावना है।

४. **एकत्व भावना**–

**'एगो से सासओ अप्पा, णाणदंसण लक्खणो।**
**सेसो मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥'**

ज्ञान-दर्शन स्वरूप शाश्वत आत्मा है, यही मैं हूं। इसके सिवा शेष सांयोगिक पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, वे 'मैं नहीं हूं।' दूसरों के साथ अपने को इतना संयुक्त न करे कि जिससे स्वयं के होने का पता ही न चले। इस एकत्व भावना में अपने को समस्त संयोगों से पृथक् देखता है। प्लोटिस ने कहा है–FLIGHT OF THE ALONE TO THE ALONE. 'अकेले ही अकेले के लिए उड़ान है।' नमि राजर्षि ने कहा–'संयोग ही दुःख है। दो में शब्द होते हैं, अकेले में नहीं। रानियां चंदन घिस रही थीं। चूड़ियों के शब्द कानों में चुभ रहे थे। नमि राजर्षि ने कहा–बंद करो। रानियां हाथ में एक-एक चूड़ी रख चंदन घिसने लगीं। शब्द बंद हो गया। नमि राजर्षि ने पूछा–क्या चंदन घिसना बंद कर दिया? उत्तर मिला–नहीं, घिसा जा रहा है।' तो शब्द क्यों नहीं हो रहा है, नमि ने पूछा। तब कहा–'एक-एक चूड़ी है। एक चूड़ी कभी शब्द नहीं करती।' तत्क्षण यह सुनते

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ही वे प्रतिबुद्ध हो गये। और साधना-पथ पर चल पड़े। साधक सर्वत्र स्वयं के अकेले का अनुभव करे। यह सिर्फ कल्पना के स्तर पर ही नहीं, वस्तुतः जो है—अस्तित्व वह एक है, अकेला है। जिस दिन चैतन्य की अनुभूति में निमज्जन होने लगता है, शांति उस दिन स्वयं ही उसके द्वार खटखटाने लगती है।

**५. अन्यत्व भावना**—एकत्व और अन्यत्व—दोनों परस्पर संबंधित हैं। अन्य—दूसरों से स्वयं को पृथक् देखना एकत्व है और अपने से दूसरों को भिन्न देखना अन्यत्व है। 'पर' 'पर' है और 'स्व' 'स्व' है। 'पर' को अपना न माने। 'पर के और अपने बीच जो दूरी है, वह सदा बनी रहती है। किसी ने एक होटल के मालिक से पूछा—'वह व्यक्ति ठीक आप जैसे लगता है, क्या आप भाई-भाई हैं? एक ही हैं आप?' उसने कहा—'नहीं', बहुत दूरी है। हम अपने पिताजी के बारह लड़के हैं। पहला मैं हूं और वह बारहवां है।

यह सृष्टि संयोगात्मक है। यह एक सराय है जहां पथिक विभिन्न दिशाओं से आकर मिलते हैं, विश्राम करते हैं और फिर लौट जाते हैं। पथिकों के साथ तादात्म्य कैसा? उनका संयोग कितने दिनों का हो सकता है। एक सूफी साधक के घर बुढ़ापे में दो बच्चे पैदा हुए। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। बच्चों के प्रति उसका असीम प्यार था। वह उन्हें बिना देखे नहीं रहता था। भोजन साथ में करता, मस्जिद साथ में ले जाता। एक दिन वे दोनों बच्चे खेल रहे थे। अचानक छत ऊपर से गिरी और दोनों बच्चे उसके नीचे दब कर मर गये। पत्नी ने सोचा—अब कैसे समझाऊं? भोजन के लिए साधक आया, बच्चों को देखा नहीं, पूछा—कहां है? पत्नी ने कहा—आप भोजन कर लीजिये, खेलते होंगे। भोजन कर लिया। पत्नी ने पूछा—'एक आदमी दो हीरे अमानत रखकर गया था, बहुत वर्ष हो गये, वह मांगने के लिए आया है, क्या वापिस कर देने चाहिए?' उसने कहा—'इसमें पूछने की क्या बात है? अपना है ही नहीं, आया है तो जल्दी वापिस लौटा देने चाहिए।' पत्नी ने कहा—आओ, मैं बताऊं।' वह वहां ले गई। कपड़ा हटाया और कहा—छत गिरने से दोनों की मृत्यु हो गयी। साधक बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'नहीं थे तब भी प्रसन्न था और अब नहीं हैं तब भी प्रसन्न। यह बीच का खेल था।'

समस्त योग-वियोग में अपने को अन्यों से न जोड़कर जीना ही अन्यत्व भावना का ध्येय है।

**६. अशौच भावना**—साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर का सम्यक्दर्शन करे। आसक्ति का मूल शरीर है। शरीर के साथ सभी व्यक्ति बंधे हैं। शरीर का ममत्व नहीं टूटे तो साधना में प्रगति नहीं होती। अशौच भावना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उस बंधन को शिथिल करती है, तोड़ती है। बुद्ध ने इसके लिए **'कायगता स्मृति'** का पूरा प्रयोग बतलाया है। **'कायगता स्मृति'** की विशेषता के संबंध में बुद्ध कहते हैं 'भिक्षुओ! एक धर्म भावना करने और बढ़ाने से महा संवेग के लिए होता है, महा अर्थ (कल्याण) के लिए होता है, महा योग-क्षेम (निर्वाण) के लिए होता है, महा स्मृति-सम्प्रजन्य के लिए होता है, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए होता है। इसी जीवन में सुख से विहरने के लिए होता है। विद्या-विमुक्ति-फल के साक्षात्कार के लिए होता है।' भिक्षुओ, वे अमृत का परियोग करते हैं जो कि कायगता स्मृति का परियोग करते हैं और भिक्षुओ, वे अमृत का परियोग नहीं करते जो कि कायगता-स्मृति का परियोग नहीं करते।

कायगता-स्मृति में संलग्न भिक्षु की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—'वह अरति (उदासी) और रति (कामभोगों की इच्छा) को पछाड़ने वाला होता है। उसे अरति नहीं पछाड़ती है। वह उत्पन्न अरति को हटा-हटा कर विहरता है। वह भय-भैरव को सहने वाला होता है। उसे भय-भैरव नहीं पछाड़ते। वह उत्पन्न भय-भैरव को हटा-हटाकर विहरता है। जाड़ा, गर्मी सहने वाला होता है। प्राण लेने वाली शारीरिक वेदनाओं को (सहर्ष) स्वीकार करने वाला होता है।'

आगम साहित्य में भी शरीर को अशुचि और अशुचि से उत्पन्न कहा है। महावीर गौतम को संबोधित कर कहते हैं—गौतम! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं, इन्द्रिय और शरीर-बल सब क्षीण हो रहा है। तू देख और क्षणभर भी प्रमाद मत कर।' मदिरा के घड़े को कितना ही धोओ, वह अपनी गंध नहीं छोड़ता, ठीक इसी प्रकार शरीर को कितना ही स्वच्छ करो वह शुद्ध नहीं होता। प्रतिक्षण अनेकों द्वारों से अशुद्धि बाहर की ओर प्रवाहित हो रही है। मूढ़ मनुष्य उसमें शुद्धि का भाव आरोपित कर लेते हैं। किन्तु विज्ञ व्यक्ति उसकी यथार्थता से परिचित होते हैं। साधक शरीर का सम्यक् निरीक्षण करे और उसकी आसक्ति को उखाड़कर अपने स्वरूप में अधिष्ठित बने। यद्यपि शरीर अपवित्र है, अशुचि है, किन्तु परमात्मा का मंदिर भी है। अशुद्धि का दर्शन कर ममत्व से मुक्त हो और साथ में परम-शुद्ध सनातन-शिव—आत्मा का दर्शन भी करे। केवल शरीर के प्रति घृणा का भाव प्रगाढ़ करने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यही अशौच भावना का आशय है।

**७-८. आस्रव-संवर भावना**—आस्रव क्रिया है, प्रवृत्ति है और संवर अप्रवृत्ति तथा अक्रिया है। आस्रव में विजातीय तत्त्व का संग्रह होता है और उससे भव-भ्रमण होता है। संवर विजातीय का अवरोधक है और संगृहीत जो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, उसका रेचन करता है, उसे बाहर फेंकता है निर्जरा तत्त्व प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है।

९. **तपोभावना**—योग और ध्यान प्रकरण के अंतर्गत तप का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।[1]

१०. **धर्म भावना**—धर्म का अर्थ है स्वभाव और वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है। धर्म को त्राण, द्वीप, प्रतिष्ठा और गति कहा है। व्यक्ति जब धर्म को जान लेता है, उससे सम्यक् परिचित हो जाता है तब उसके लिए जो कुछ है वह सब धर्म ही है।

एक संत का कंबल चोरी में चला गया। उसने रिपोर्ट लिखाई कि मेरा बिछौना, सिरहाना, रजाई, कंबल चोरी में चला गया। एक दिन चोर पकड़ा गया। कंबल भी उसके पास था। थानेदार ने पूछा यह किसका है? कहा—'संत का है।' पूछा—'और क्या-क्या चीजें वहां से लाया?' कहा—'कुछ भी नहीं, बस यही कंबल।' संत को बुलाया और पूछा—'क्या यही है आपका कंबल?' कहा—'हां।' थानेदार ने कहा—'चोर कहता है आपकी रिपोर्ट झूठी है। इसके सिवाय वहां कुछ था ही नहीं। फिर आपने इतनी चीजें कैसे लिखाई।' संत ने हंसते हुए कहा—'यही तो सब कुछ है। सर्दी में ओढ़ लेता हूं, गर्मी में बिछा लेता हूं, सिरहाने भी दे लेता हूं।'

धर्म जब सब कुछ हो जाता है तभी धर्म की सुगंध आ सकती है।

धर्म का संबंध बाह्य पदार्थ-जगत् से नहीं, वह आत्मा का गुण है और उससे वही मिलना चाहिए, जो कि उसके द्वारा प्राप्य है। धर्म से अन्य उपलब्धियों की चर्चा केवल रोते हुए बच्चे को खिलौना देकर चुप करने जैसी है। वे उसका स्वभाव नहीं हैं। विभाव से स्वभाव की उपलब्धि आकाश-कुसुम जैसी है। धर्म ज्ञान-दर्शन-चारित्र है। धर्म निज का उदात्त, शुद्ध, आनंदमय स्वरूप है। उस धर्म का अनुचिंतन कर, उसकी शरण में स्वयं को छोड़ कर साधक अंतःस्थित महान् साथी (स्वयं) को प्राप्त कर लेता है।

सुकरात को जहर दिया जा रहा था। किसी ने कहा—'यदि आप बोलना बंद कर दें तो सजा माफ की जा सकती है।' सुकरात रूढ़ियों के विरुद्ध और धर्म के यथार्थ स्वरूप की चर्चा करते थे। परम्परा के विरुद्ध बोलना लोगों को कैसे सहन हो सकता था? सुकरात ने कहा—'जीवन को देख लिया, अब मृत्यु को भी देख लूंगा। किन्तु बोलना कैसे रुक सकता है? मेरा होना ही सत्य के लिए है। मैं और सत्य भिन्न नहीं हैं। मेरे होने का अर्थ है—सत्य का उद्घाटन।

१. तप की विस्तृत जानकारी के लिए देखें—परिशिष्ट।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इसलिए विष बड़ी चीज नहीं है, सत्य बड़ा है।' सुकरात को जहर दे दिया गया और वे अपनी मृत्यु की घटना को देखते-देखते विदा हो गये। अपने स्वरूप का परिचय करना धर्म भावना है।

११. **लोक भावना**—सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है, का चिंतन करना लोक भावना है। जड़ और चेतन का यह आवास-स्थल है। मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर, सूर्य, चन्द्र, नारक, देव और मुक्तात्मा (सिद्धि-स्थान)—ये सब लोक की सीमा के अंतर्गत हैं। साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओं का विचार कर अपने अंतःस्थित चेतना (आत्मा) का ध्यान करें। वह सोचे—राग और द्वेष की उठने वाली तरंगों का यह परिणाम है। लोक-भावना का अभिप्राय है—इस वैविध्य और वैचित्र्य का सम्यग् अवलोकन कर स्वयं को सतत तटस्थ बनाये रखना।

१२. **बोधि-दुर्लभ भावना**—मनुष्य का जन्म दुर्लभ है और बोधि उससे अधिक दुर्लभ है। मौनीज यहूदी संत के मृत्यु की सन्निकट वेला थी। पुरोहित पास में खड़ा मंत्र पढ़ रहा था। उसने कहा—'मूसा का स्मरण करो, यह अंतिम क्षण है।' मौनीज ने आंखें खोली और कहा, 'हटो यहां से। मेरे सामने नाम मत लो मूसा का।' पुरोहित को आश्चर्य हुआ, सब देखते रहे, यह कैसी बात? पुरोहित ने कहा—'जीवन भर जिनका गीत गुनगुनाया, हजारों लोगों को सन्देश दिया और अब यह क्या कह रहे हो? जिन्दगी की सारी प्रतिष्ठा धूल में मिला रहे हो?' मैनीज ने कहा, 'मैं जानता हूं। किन्तु अभी प्रश्न वैयक्तिक है। मूसा यह नहीं पूछेगा कि तुम मूसा क्यों नहीं हुए। वह पूछेगा कि तुम मौनीज क्यों नहीं हुए? स्वयं का होना बोधि है। जीवन में सब कुछ पाकर भी जिसने बोधि नहीं पाई, उसने कुछ नहीं पाया और बोधि पाकर जिसने कुछ नहीं पाया उसने सब कुछ पा लिया। मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है, खो जाता है, वह हमारी अपनी सम्पत्ति नहीं है। संबोधि अपनी सम्पत्ति है, उसे खोजना है। अनेक-अनेक योनियों में पैदा हुए और मरे, किन्तु स्वयं के अस्तित्व को नहीं पहचाना। जन्म के पूर्व और मरने के बाद भी जिसका अस्तित्व अखंड रहता है, उसकी खोज में निकलना बोधि भावना का अभिप्राय है। आचार्य शुभचंद्र ने लिखा है—'भावनाओं में रमण करता हुआ साधक इसी जीवन में दिव्य मुक्तानंद का स्पर्श कर लेता है। कषायाग्नि शांत हो जाती है, पर-द्रव्यों के प्रति जो आसक्ति है वह नष्ट हो जाती है, अज्ञान का उन्मूलन होता है और हृदय में बोध-प्रदीप प्रज्वलित हो जाता है।'

बारह भावनाओं के अतिरिक्त चार भावनाओं का और उल्लेख मिलता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। वे है–१. मैत्री २. प्रमोद ३. करुणा ४. उपेक्षा। बुद्ध ने इन चारों को 'ब्रह्म विहार' कहा है। पतंजलि ने–**'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'** सुख, दुःख, पुण्य और पाप–इन भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, करुणा, आनंद, प्रसन्नता और उपेक्षा का भाव धारण करने से चित्त प्रसन्न होता है, ऐसा कहा है।

**१. मैत्री भावना**–मनुष्य के ज्ञात संबंधों की कड़ी बहुत छोटी है और अज्ञात की शृंखला बहुत प्रलंब है। ज्ञात स्पष्ट है और अज्ञात अस्पष्ट, इसलिए शत्रु-मित्र आदि की कल्पनाएं खड़ी होती हैं। अज्ञात सामने आ जाए तो ये भाव स्वतः शांत हो सकते हैं। जन्म-मृत्यु की लंबी परंपरा कौन अपरिचित है? किन्तु इसे साधारण लोग नहीं समझते। साधक आत्म-तुला के पथ पर अग्रसर होता है, उसे यह स्पष्ट हो जाए तो बहुत अच्छा है, किन्तु बहुत कम व्यक्तियों को अतीत ज्ञात होता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूं और आगे भी रहूंगा। अतीत में था तो कहां था, कौन मेरे संबंधी थे, आदि प्रश्न स्वतः खड़े हो जाते हैं। इस दृष्टि से साधक का मन सबके प्रति मित्रभाव धारण कर लेता है। **'मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई'**–मेरा सबके साथ मैत्री-भाव है। कोई मेरा शत्रु नहीं है।' अंतश्चेतना से जैसे-जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे साधक के मन में शत्रुता का भाव नष्ट होता जाता है। मित्र-मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और अमित्र-मन अप्रसन्न। शत्रु-मन अशांत, हिंसक, घृणायुक्त और क्लिष्ट रहता है। उसमें प्रतिशोध की आग निरंतर प्रज्वलित रहती है। मित्र-मन में ये सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसे भय नहीं रहता।

मैत्री-भावना का साधक स्वयं अपने को कष्ट में डाल सकता है, किन्तु दूसरों को कष्ट नहीं देता। उसकी दृष्टि में पर–शत्रु जैसा कोई रहता ही नहीं। शत्रु का भाव ही अनिष्ट करता है। खलीफा अली अपने शत्रु के साथ वर्षों लड़ता रहा। एक दिन शत्रु हाथ में आ गया। उसकी छाती पर बैठ भाला मारने वाला ही था, इतने में शत्रु ने मुंह पर थूक दिया। अली को एक क्षण गुस्सा आया और बोला–'आज नहीं लड़ेंगे।' लोगों ने कहा, 'कैसी मूर्खता कर रहे हैं?' वर्षों से शत्रु हाथ आया और आप छोड़ रहे हैं।' अली ने कहा–'कुरान का वचन है–क्रोध में मत लड़ो।' मुझे गुस्सा आ गया। शत्रु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा–'इतने वर्षों क्या आप बिना क्रोध के लड़ रहे थे?' अली ने उत्तर दिया–'हां।' शत्रु चरणों में गिर पड़ा। उसे पता ही आज चला कि बिना क्रोध के भी लड़ा जा सकता है। वह मित्र हो गया। लड़ने का हेतु भिन्न हो सकता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

किन्तु क्रोध में नहीं लड़ना—यह मित्रता का परिचायक है। मैत्रीभाव का विराट् रूप जब सामने आता है तब द्वैत नहीं रहता। **'आयतुले पयासु'**—प्राणियों को अपने समान देखो—यह उसका फलितार्थ है।

**२. प्रमोद भावना**—प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता। जो स्वयं में प्रसन्न नहीं होता, प्रमोद भावना को समझना उसके लिए कठिन होता है। जो अपना मित्र बनता है, वही प्रमोद—प्रसन्न रह सकता है। जिसकी अपने में प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है। वह अप्रसन्नता को देखता नहीं। अपने से जो राजी नहीं है, वही दूसरों के दोष देखता है, दूसरों की प्रसन्नता—विशिष्टता से ईर्ष्या करता है। दूसरों के गुणों को देखकर व्यक्ति स्वयं का प्रमोद भावना के द्वारा कितना ही भावित करे, किन्तु ईर्ष्या की ग्रंथि खुलनी कठिन है, भले ही कुछ देर के लिए मन को तृप्त करले। जिसे ईर्ष्या से मुक्त होना है उसे सतत प्रसन्नता का जीवन जीना चाहिए। यह कोई असंभव नहीं है। जो कुछ प्राप्त है, उसमें सदा प्रसन्न रहे। अतृप्ति को पास फटकने न दे। जैसे-जैसे हम अपने से राजी होते जाएंगे, कोई वासना नहीं रहेगी। तब सहज ही दूसरों की विशेषताएं या अविशेषताएं हमारे लिए कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होंगी। विशेषताएं जहां प्रसन्नता के लिए होंगी वहां अविशेषताएं करुणा उत्पन्न करेंगी। जैसे एक व्यक्ति विकास के चरम पद को पा सकता है वैसे दूसरा भी पा सकता है, किन्तु वह अपने को गलत दिशा में नियोजित कर रहा है, इसलिए करुणा का पात्र है। स्वयं में प्रसन्न रहना सीखें, फिर दूसरों से अप्रसन्नता भी नहीं आयेगी और दूसरों के गुणों के उत्कर्ष से अप्रसन्नता भी नहीं होगी।

**३. करुणा भावना**—करुणा मैत्री का प्रयोग है। जिसका सब जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। उस करुणा का संबंध पर-सापेक्ष नहीं होता। वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है। महावीर, बुद्ध, जीसस आदि संत इसके अनन्यतम उदाहरण हैं। महायान बौद्ध कहते हैं—बुद्ध का निर्वाण हुआ। वे निर्वाण के द्वार पर रुक गये। कहा—भीतर आओ। बुद्ध कहते हैं—जब तक समस्त प्राणी दुःख से मुक्त नहीं होते तब तक मैं भीतर कैसे आ सकता हूं? प्रेम का हृदय-सागर जब छल-छला जाता है, तब करुणा की ऊर्मियां तट पर टकराने लगती हैं। जितने भी संत बोले हैं, वे सब प्रेम मैत्री के मूर्त्त रूप थे और वह प्रेम करुणा के माध्यम से वाणी के द्वारा बाहर बहा है।

अमेरीकन विचारक हेनरी थारो से एक व्यक्ति मिलने के लिए आया। हाथ मिलाया और तत्क्षण हेनरी ने हाथ छोड़ दिया। कहा—यह हाथ जीवंत नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, मृत है। इसमें प्रेम, करुणा, सौहार्द्र, सहानुभूति नहीं है। यह उदात्त प्रेम की सूचना है। करुणा सौहार्द्र आदि गुण मनुष्य की आंतरिक चेतना की शुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हजरत उमर ने एक व्यक्ति को किसी प्रान्त का गर्वनर नियुक्त किया। नियुक्ति पत्र लिखा और आवश्यक सूचना दी। इतने में एक छोटा बच्चा आ गया। हजरत उसे प्रेम करने लगे। उसने कहा, 'मेरे दस बच्चे हैं, किन्तु मैंने इतना प्रेम और इस प्रकार आलाप-संलाप कभी नहीं किया।' हजरत ने वह नियुक्त-पत्र वापिस लेकर फाड़ते हुए कहा—'जब तुम अपने बच्चों से भी प्रेम नहीं कर सकते, तब प्रजा से प्रेम की आशा मैं कैसे करूं?

एक संत के पास एक व्यक्ति संन्यासी बनने आया। संत ने पूछा—'क्या तुम किसी से प्रेम करते हो?' उसने कहा·····'आप क्या बात कर रहे हैं? मेरा किसी से प्रेम नहीं है।' संत ने कहा—'तब मुश्किल है। प्रेम अगर हो तो उसे व्यापक बनाया जा सकता है, किन्तु है ही नहीं, तब मैं क्या करूं?' प्रेम. करुणा, सहानुभूति ये अंतस्तल के सूचना-संस्थान हैं। दुःखी, पीड़ित, त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जागृत होता है वह यह सूचना है कि आपका चित्त कोमल, मृदु और प्रेम से शून्य नहीं है। उसी करुणा को आत्मा से जोड़ना है, दुःख के कारणों को मिटाना है, जिससे अनंत करुणा का जन्म हो सके।

**४. उपेक्षा भावना**—अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों ही स्थितियों में सर्वत्र सम रहना 'उपेक्षा' है। साधक को न पदार्थों से जुड़ना है और न बिछुड़ना है। पदार्थ पदार्थ है। उसमें राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष है अपने भीतर। जब आदमी किसी से जुड़ता है तो राग और बिछुड़ता या घृणा करता है तो द्वेष आता है। साधक को कहीं भी राग और द्वेष दिखाई दे, वह तत्काल उनकी उपेक्षा कर अपने भीतर चला जाये। यह जैसे पदार्थों के साथ होता है, वैसे व्यक्ति के व्यक्तित्व, रूप, विशिष्ट कौशल आदि पर भी होता है। भिक्षु वक्कलि बुद्ध के रूप पर इतना मुग्ध हो गया, उसे ही निहारता रहता। बुद्ध ने कहा—'क्या है वक्कलि मेरे इस शरीर में? जैसा हाड़, मांस, रक्त आदि तुम्हारे शरीर में है, वैसे ही इसमें है। रूप को देखना है, तो बुद्ध के धर्म-कार्य का रूप देखो। जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है। यह भी बंधन है। आनंद बुद्ध से बंधे रहे। गौतम महावीर से बंधे रहे। बंधन का मार्ग सरल है। मनुष्य बंधन-प्रिय है। पर वह बंधन छोड़ता है तो दूसरा कहीं न कहीं जोड़ लेता है। उपेक्षा करना कठिन है। उपेक्षा भावना का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साधक कहीं किसी भी जड़ और चेतन के साथ बंधता नहीं। वह आने वाले समस्त बंधनों की उपेक्षा कर तटस्थ भाव से अपने ध्येय में गति करता रहता है।

अब्राहम लिंकन राष्ट्रपति बने। संसद में भाषण देने जब खड़े हुए, तब किसी ने व्यंग्य कसा। कहा—आपको याद है, आप चमार के लड़के हैं। लिंकन ने कहा—धन्यवाद, आपने पिता का स्मरण दिलाया और मैं आगे आपसे कहना चाहता हूं, मेरे पिताजी कुशल चमार थे। मैं इतना कुशल राष्ट्रपति नहीं बन सकूंगा। दूसरी बार फिर कहा—'वे जूते बनाते थे।' लिंकन बिल्कुल उत्तेजित नहीं हुए। उसी तटस्थ भाव से कहा—'हां, किन्तु किसी ने कभी कोई शिकायत नहीं की। क्या आपको कोई शिकायत है?'

साधक जब उपेक्षा भावना में निष्णात हो जाता है तब हर्ष और विषाद, सुख और दुःख, सम्मान और अपमान आदि द्वंद्व सहजतया क्षीण होते चले जाते हैं।

भावना के अभ्यास के लिए एक सहज सरल विधि का प्रयोग आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इस प्रकार बतलाया है—'भावना का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट प्रक्रिया से करना इष्ट सिद्धि में अधिक सहायक हो सकता है। साधक पद्मासन आदि किसी सुविधाजनक आसन में बैठ जाए। पहले श्वास को शिथिल करे। फिर मन को शिथिल करें। पांच मिनट तक उन्हें शिथिल करने के लिए सूचना देता जाए। वे जब शिथिल हो जाएं तब उपशम आदि पर मन को एकाग्र करें। इस प्रकार निरंतर आधा घंटा तक अभ्यास करने से पुराने संस्कार विलीन हो जाते हैं और नए संस्कारों का निर्माण होता है।'

**७७. सम्यग्दर्शनसंपन्नः, श्रद्धावान् योगमर्हति।**
**विचिकित्सां समापन्नः, समाधिं नैव गच्छति॥**

**जो सम्यग् दर्शन से संपन्न और श्रद्धावान् है, वह योग का अधिकारी है। जो संशयशील है, वह समाधि को प्राप्त नहीं होता।**

**७८. आस्तिक्यं जायते पूर्वं, आस्तिक्याज्जायते शमः।**
**शमाद् भवति संवेगो, निर्वेदो जायते ततः॥**

**७९. निर्वेदादनुकंपा स्याद्, एतानि मिलितानि च।**
**श्रद्धावतो लक्षणानि, जायन्ते सत्यसेविनः॥**
**(युग्मम्)**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**पहले आस्तिक्य होता है, आस्तिक्य से शम होता है, शम से संवेग होता है, संवेग से निर्वेद होता है और निर्वेद से अनुकंपा उत्पन्न होती है। ये सब सत्यसेवी श्रद्धावान् अर्थात् सम्यग्दृष्टि के लक्षण हैं।**

इन श्लोकों में सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के लक्षणों का निरूपण किया गया है। वे पांच हैं :

१. आस्तिक्य—आत्मा, कर्म आदि में विश्वास।

२. शम—क्रोध आदि कषायों का उपशमन।

३. संवेग—मोक्ष के प्रति तीव्र अभिरुचि।

४. निर्वेद—वैराग्य। उसके तीन प्रकार हैं—संसार-वैराग्य, शरीर-वैराग्य और भोग-वैराग्य।

५. अनुकंपा—कृपा भाव, सर्वभूतमैत्री—आत्मौपम्य भाव। प्राणीमात्र के प्रति अनुकंपा।

अहिंसा दया का पर्यायवाची नाम है। पंचाध्यायी में इसका बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है। उसमें कहा है—'जो समग्र प्राणियों के प्रति अनुग्रह है, उस अनुकंपा को दया जानना चाहिए। मैत्रीभाव, मध्यस्थता, शल्य-वर्जन और वैर-वर्जन ये अनुकंपा के अंतर्गत हैं। इससे दया का विशद स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। जिस दया में किसी का भी उत्पीड़न नहीं होता, वस्तुतः वही सच्ची अनुकंपा है, दया है।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?' भगवान् ने कहा—'गौतम! दर्शन-सम्पन्नता से विपरीत दर्शन का अंत होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तरज्ञान से आत्मा को भावित करता रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी गति का आयुष्य नहीं बांधता।'

**८०. योगी व्रतेन संपन्नो, न लोकस्यैषणाञ्चरेत्।**
**भावशुद्धिः क्रियाश्चापि, प्रथयन् शिवमश्नुते॥**

**व्रतों से संपन्न योगी लोकैषणा में नहीं फंसता। वह मानसिक शुद्धि और सत्क्रियाओं का विस्तार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**८१. न क्षीयन्ते न वर्धन्ते, सन्ति जीवा अवस्थिताः।**
**अजीवो जीवतां नैति, न जीवो यात्यजीवताम्॥**

**जीव अवस्थित हैं, न घटते हैं और न बढ़ते हैं। अजीव कभी जीव नहीं बनता और जीव कभी अजीव नहीं बनता।**

**८२. अवस्थानमिदं ध्रौव्यं, द्रव्यमित्यभिधीयते।**
**परिवर्तनमत्रैव, पर्यायः परिकीर्तितः॥**

**अवस्थान को ध्रौव्य कहा जाता है और इसी में जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहा जाता है। ध्रौव्य और परिवर्तन–दोनों द्रव्य के अंश हैं। द्रव्य का अर्थ है–इन दोनों की समष्टि।**

एक बार गौतम ने पूछा–'भगवन्! तत्त्व क्या है?' भगवान् ने कहा–'उत्पाद तत्त्व है।' गौतम की समस्या सुलझी नहीं। उन्होंने फिर पूछा–'भगवन्! तत्त्व क्या है?' भगवान् ने कहा–'विनाश तत्त्व है।' अभी भी मन समाहित नहीं हुआ। तीसरी बार गौतम ने पूछा–'भगवन्! तत्त्व क्या है?' भगवान् ने कहा–'ध्रुव तत्त्व है।'

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–यह तत्त्व-त्रयी है। गौतम गणधर ने इसी के आधार पर वाङ्मय का विस्तार किया था। उत्पाद और व्यय प्रत्येक चेतन और जड़ दोनों पदार्थों की अवस्थाएं हैं। जड़ और चेतन दोनों ध्रुव हैं। जड़ चेतन नहीं होता और चेतन जड़ नहीं होता। अवस्थाओं का परिवर्तन इन दोनों में सतत चालू रहता है। चेतन एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में जाता है। यह आत्मा की अमरता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा–'पुराने कपड़े के फट जाने पर जिस प्रकार नया कपड़ा धारण किया जाता है, ऐसी प्रकार आत्मा भी अपनी वर्तमान जीर्ण स्थिति को त्यागकर नया रूप स्वीकार करती है। कभी देवत्व, कभी पशुत्व, कभी नारकीय, कभी मानवीय आकार में आत्मा का परिवर्तन होता रहता है। वह बालक से युवक और युवक से बूढ़ा बन मृत्यु का आलिंगन करती है। इन सबमें आत्मा विद्यमान रहती है। ये उनकी विभिन्न अवस्थाएं हैं। चेतनत्व का विनाश नहीं होता।

जड़ में भी यही परिवर्तन मिलता है। मिट्टी के अनेक आकार बनते हैं और बिगड़ते हैं। सोने की कितनी अवस्थाएं होती हैं। लेकिन स्वर्णत्व सब में वैसा ही रहता है। एक व्यक्ति सोने का घड़ा लेना चाहता है, एक व्यक्ति मुकुट

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और एक व्यक्ति केवल सुवर्ण। सोने का घड़ा बनने पर एक को प्रसन्नता होती है और मुकुटवाले को विषाद। लेकिन सुवर्णवाले व्यक्ति को न प्रसन्नता है, न विषाद। स्वर्ण ध्रौव्य है। घट और मुकुट उनकी अवस्थाएं हैं। पुद्गल—जड़ के गुण किसी भी दशा में मिटते नहीं। मिट्टी भले सोने के रूप में परिणत हो जाए, शरीर चिता में जलकर राख भी क्यों न बन जाये, इन सबमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श—ये सदा अवस्थित रहेंगे। एक परमाणु से लेकर अनंत परमाणुओं के स्कंध में भी इनकी अवस्थिति है।

संसार की अपेक्षा से मुक्त होने वाले जीव कम हो जाते हैं। वे अपने परमात्म-स्वरूप को पाकर जन्म और मृत्यु के घर को लांघ जाते हैं। किन्तु इससे आत्मा की संख्या में कोई कमी नहीं होती। आत्मत्व यहां और वहां सतत विद्यमान रहता है। संसारी आत्माएं अनंत हैं और मुक्त आत्माएं भी अनंत हैं। मुक्त जीवों की अपेक्षा संसारी जीव सदा अनंत रहे हैं और रहेंगे। संसार कभी शून्य नहीं होगा। मुक्ति जाने के योग्य जीव भी सदा यहां मिलते रहेंगे।

श्राविका जयन्ती के प्रश्न से इनका स्पष्ट हल सामने आ जाता है। जयंती ने भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! क्या सभी जीव मुक्त हो जायेंगे? यदि सभी मुक्त हो जायेंगे तो संसार जीवशून्य हो जायेगा।' भगवान् ने कहा—'ऐसा नहीं होता। मोक्ष में वे ही जीव जाते हैं, जो भव्य होते हैं। इससे एक प्रश्न और पैदा हो जाता है कि भव्य जीव सब मोक्ष में चले जायेंगे, तो क्या संसार भव्य-शून्य नहीं हो जायेगा?' भगवान् ने कहा—'ऐसा भी नहीं होगा। मोक्ष में जाने वाले भव्य जायेंगे। लेकिन वैसी अनुकूल स्थिति उत्पन्न होने पर ऐसा होता है। सबको ऐसे अवसर सुलभ नहीं होते।'

**मेघः प्राह**

**८३. कथं चित्तं न जानाति? कथं जानन् न चेष्टते?**
**चेष्टमानं कथं नैति, श्रद्धानं चरणं विभो!।**

**मेघ बोला—प्रभो! चित्त क्यों नहीं जानता? जानता हुआ उद्योग क्यों नहीं करता? उद्योग करता हुआ भी वह श्रद्धा और चारित्र को क्यों नहीं प्राप्त होता?**

आत्मा ज्ञानमय है। मन को सब कुछ बोध होना चाहिए। उसके लिए यह अज्ञेय क्यों है कि वह कहां से आया है? कहां जायेगा? भविष्य की घटनाएं क्यों अज्ञात रहती हैं? मेघ के मन में ये ही कुछ आशंकाएं हैं। ज्ञान की पूर्णता, श्रद्धा और आचरण के विकास में कौन बाधक है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

८४. आवृतं नहि जानाति, प्रतिहतं न चेष्टते।
मूढं विकारमाप्नोति, श्रद्धायां चरणेऽपि च॥

भगवान् ने कहा—जो चित्त आवृत होता है, वह नहीं जानता। जो चित्त प्रतिहत होता है, वह उद्योग नहीं करता। जो चित्त मूढ होता है, वह श्रद्धा और चारित्र को प्राप्त नहीं होता।

मेघः प्राह

८५. केन स्यादावृतं चित्तं? केन प्रतिहतं भवेत्?
मूढं च जायते केन? ज्ञातुमिच्छामि सर्ववित्!

मेघ बोला—हे सर्वज्ञ! चित्त किससे आवृत होता है? किससे प्रतिहत होता है? और किससे मूढ बनता है? यह मैं जानना चाहता हूं।

भगवान् प्राह

८६. आवृतं जायते चित्तं, ज्ञानावरणयोगतः।
हतं स्यादन्तरायेण, मूढं मोहेन जायते॥

भगवान् ने कहा—चित्त ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत होता है, अंतराय कर्म से प्रतिहत होता है और मोह कर्म से मूढ बनता है।

भगवान् महावीर की दृष्टि में ज्ञानावरणीय, अंतराय और मोहनीय—ये तीन कर्म बाधक हैं। ज्ञान पर जो आवरण है, वह ज्ञानावरणीय है, आत्मा को जानने में यह बाधा डालता है। जब यह हट जाता है तब ज्ञान का क्षेत्र व्यापक बन जाता है। आत्म-विकास में विघ्न डालने वाला कर्म अंतराय है। वह आत्म-शक्ति के अजस्र स्रोत को रोकता है। मनुष्य यथार्थ को जानता हुआ भी उसमें उद्योग नहीं करता। यथार्थ के प्रति श्रद्धाशील न होना और न उसको स्वीकार करना—यह मोहनीय कर्म की देन है। मोहोदय से मनुष्य भौतिक आकर्षणों में फंसा रहता है। सत्य के प्रति न उसकी अभिरुचि होती है, न वह सत्य का आचरण ही करता है। किन्तु उल्टा इसे अपनी शांति में बाधक मानता है। यह मूढ़ता मोहजन्य है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

८७. स्वसम्मत्याऽपि विज्ञाय, धर्मसारं निशम्य वा।
मतिमान् मानवो नूनं, प्रत्याचक्षीत पापकम्॥

**बुद्धिमान् मनुष्य धर्म के सार को अपनी सहज बुद्धि से जानकर या सुनकर पाप का प्रत्याख्यान करे।**

बुद्ध ने कहा–भिक्षुओ! मैं आदरणीय, श्रद्धेय और सम्मानीय हूं, इसलिए मेरी वाणी को स्वीकार मत करो, किन्तु अपनी मेधा–बुद्धि से परीक्षण करके स्वीकार करो–**'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।'** महावीर भी यही कहते हैं–अपनी बुद्धि से परखो–**'मइमं पास।'** और भी आत्मद्रष्टा ऋषियों का यही स्वर है। मुहम्मद ने कहा है–'सब जगह मुझे ही प्रमाण मत मानो।' किन्तु व्यवहार में यह कम ही होता है। मनुष्य की बुद्धि कुछ परिपक्व होती है उससे पूर्व ही वह धर्म को पकड़ लेता है। जन्म के साथ धर्म का जन्म होना देखा जाता है। कहते हैं–दुनियां में हजारों मत-मतान्तर हैं। प्रायः व्यक्ति अपनी सीमा में खड़े मिलते हैं। हिन्दु, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुस्लिम, सिक्ख आदि का चोला जन्म के साथ धारण हो जाता है।

मनुष्य में धर्म की भूख–जिज्ञासा पैदा ही नहीं होती। उससे पूर्व धर्म का भोजन उसे प्राप्त हो जाता है। सत्य का मार्ग उद्घाटित नहीं होता। सत्य की प्यास पैदा होना कठिन है और प्यास पैदा हो जाए जो फिर पानी मिलना सरल नहीं है। जीसस ने कहा है–धन्य हैं वे जिन्हें धर्म की भूख है क्योंकि उनकी भूख तृप्त हो जाएगी।' सबसे पहले यह अपेक्षित है कि व्यक्ति में धर्म की भूख जागृत हो। पाप कर्म से निवृत्त होना कठिन नहीं है जितना कि धर्म की भूख का जागरण होना है। अर्जुनमाली, अंगुलिमान, वाल्मिकी आदि प्रसिद्ध हैं जिनको धर्म की प्यास पैदा होते ही मार्ग मिला और उनके पाप छूटते चले गए।

८८. उपायान् संविजानीयाद्, आयुःक्षेमस्य चात्मनः।
क्षिप्रमेव यतिस्तेषां, शिक्षां शिक्षेत पण्डितः॥

**संयमशील पण्डित अपने जीवन के कल्याणकर उपायों को जाने और उनका शीघ्र अभ्यास करे।**

८९. यथा कूर्मः स्वकाङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत्।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मेन समाहरेत्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, उसी प्रकार मेधावी पुरुष अध्यात्म के द्वारा अपने पापों को समेट ले।**

कछुए की उपमा साधक के लिए गीता, बुद्ध वचन, महावीर वाणी आदि में सर्वत्र प्रयुक्त हुई है। कछुवा भय-भीत स्थान में तत्काल अपने अंगों को समेट कर सुरक्षित हो जाता है।

साधक के लिए कछुए की वृत्ति आवश्यक है। वह अपनी प्रवृत्तियों को सतत समेटे रखे। बाहर भय ही भय है। जहां भी अनुपयुक्त–प्रमत्त हुआ कि बंधा। मुक्ति के लिए अप्रमत्तता आवश्यक है।

**९०. संहरेत् हस्तपादौ च, मनः पंचेन्द्रियाणि च।**
**पापकं परिणामञ्च, भाषादोषञ्च तादृशम्॥**

**मेधावी पुरुष हाथ, पांव, मन, पांच इन्द्रियों, असद् विचार और वाणी के दोष का उपसंहार करे।**

**९१. कृतञ्च क्रियमाणञ्च, भविष्यन्नाम पापकम्।**
**सर्वं तन्नानुजानन्ति, आत्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः॥**

**जो पुरुष आत्मगुप्त और जितेन्द्रिय हैं, वे अतीत, वर्तमान और भविष्य के पापों का अनुमोदन नहीं करते।**

पाप अशुभ प्रवृत्ति है। अशुभ प्रवृत्ति में व्यक्ति पहले अपने को सताता है और जो स्वयं को दुःख देता है वही दूसरे को सताता है, इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि पाप है अपने को दुःख देना। जो आत्मस्थ हैं, स्वयं में स्थित हैं और जिनकी इन्द्रियां शांत हो गई हैं वे स्वयं में प्रसन्न हैं, आनंदित हैं। सुखी व्यक्ति न स्वयं को सताता है और न दूसरों को कष्ट देता है। इसलिए पाप का अनुमोदन उसके द्वारा संभाव्य नहीं होता। अध्यात्म की साधना है–स्वयं में प्रतिष्ठित होना। पाप से बचने की अपेक्षा स्वयं में स्थित होने का प्रयत्न अधिक सशक्त है। अपने से बाहर जाना ही पाप है।

**मेघः प्राह**

**९२. प्रभो! प्रसादमासाद्य, चेतः पुलकितं मम।**
**वाणी सुधारसासिक्ता, संतापं हरते नृणाम्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मेघ बोला—प्रभो! आपका प्रसाद प्राप्त कर मेरा मन पुलकित हो उठा। आपकी सुधारस से सिक्त वाणी मनुष्यों के संताप का हरण कर लेती है।**

मन्दिर में प्राप्त होने वाला प्रसाद स्थूल है और गुरु सान्निध्य में प्राप्त होने वाला भिन्न है। एक सीधा और शीघ्र प्रभावकारी होता है। 'गुरु' शब्द में ही कुछ विशिष्टता है, उस विशिष्टता से युक्त व्यक्ति हो गुरु होता है। जो 'गु' अंधकार से 'रु' प्रकाश की ओर ले जाए वह गुरु होता है। 'गु' अर्थात् ग्रंथातीत और 'रु' यानी रूपातीत—जो शिष्य का तीन गुणों व नाम-रूप के मिथ्या जगत् से सम्यग् बोध देकर मुक्ति की दिशा में अग्रसर करता है, वह गुरु होता है। ऐसे ही गुरु की उपासना संताप का उन्मूलन करती है, दिव्यदृष्टि प्रदान करती है और अज्ञान-तम को विध्वंस करती है। जिस स्वरूप-बोध के अभाव में अनंत दुःखों को भोगा, दुःखों में ही अनंत जीवन गुजरे, गुरु उस स्वरूप-बोध को देकर दुःखों की जड़ें हिला देते हैं और सुख का स्रोत भीतर प्रकट कर देते हैं। शिष्य जन इस स्थिति को प्राप्त करता है, तब उसके आनंद की सीमा नहीं रहती। स्वतः ही उसके मुख से अनिर्वचनीय शब्द फूट पड़ते हैं। मेघ का स्वर इसी सत्य का द्योतक है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**हेय-ज्ञेय-उपादेयनामा द्वादशोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १३

# साध्य-साधन-संज्ञान

आत्मा का शुद्ध स्वरूप उपादेय है। वही साध्य है। वह कैसे प्राप्त होता है, इसकी विधि का नाम साधना है। साधना को एक शब्द में बांधा जाए तो वह है संयम। संयम का अधिकारी वही होता है, जो संदेह के वातावरण में सांस नहीं लेता। साध्य की प्राप्ति में इंद्रिय, मन और शरीर बाधक होते हैं। आत्मा के साथ इनका गहरा संपर्क है। ये आत्मा को अपने जाल में यदा-कदा फंसाते ही रहते हैं। अबुद्ध आत्मा इस जाल से मुक्त नहीं हो सकती। प्रबुद्ध आत्मा मन आदि के घेरे में नहीं आती। यदि मोहवश उनका शिकार हो जाती है तो वह तत्क्षण उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करती है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। उसे यह ज्ञात है कि बंधन के स्रोत कहां-कहां हैं। जिसे बंधन के मार्गों का अवबोध नहीं है वह प्रतिक्षण उनका संग्रह करता रहता है। एक के बाद दूसरी बंधन की शृंखला जुड़ती चली जाती है। इसलिए साध्य, साधन और उसके ज्ञान की ज्ञप्ति अत्यंत आवश्यक है।

इस अध्याय में इन्हीं का विशद विवेचन है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# साध्य-साधन-संज्ञान

**मेघः प्राह**

१. किं साध्यं? साधनं किञ्च? केन तन्नाम साध्यते?
साध्यसाधनसंज्ञाने, जिज्ञासा मम वर्तते॥

**मेघ बोला—भगवन्! साध्य क्या है? साधन क्या है? साध्य की साधना कौन करता है? मैं साध्य और साधन के विषय को जानना चाहता हूं।**

**भगवान् प्राह**

२. प्रश्नो वत्स! दुरूहोऽयं, नानात्वेन विभज्यते।
नानारुचिरयं लोको, नानात्वं प्रतिपद्यते॥

**भगवान् ने कहा—वत्स! यह प्रश्न दुरूह है। यह अनेक प्रकार से विभक्त होता है। लोग भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं, अतः साध्य भी अनेक हो जाते हैं।**

मार्ग विविध हैं और उनके प्रवर्तक भी विविध हैं। जीवन का लक्ष्य एक होते हुए भी प्रवर्तकों की दृष्टि से उसमें भिन्नता आ जाती है। कुछ व्यक्ति आस्थावान होते हैं और कुछ अनास्थावान। कुछ ज्ञानवादी होते हैं पर आचारवान नहीं। कुछ आचार पर बल देते हैं तो ज्ञान पर नहीं। कुछ मोक्ष, स्वर्ग और नरक को केवल धार्मिकों की कल्पना मात्र कहकर उसका मखौल उड़ाते हैं। कुछ **'अस्ति चेन् नास्तिको हतः'** कहते हैं। यदि मोक्ष आदि है तो बेचारे नास्तिक का क्या होगा? आत्मा को न मानने वाले कर्म का फल भी नहीं मानते हैं। अतः उनका विश्वास हिंसा में होता है। कुछ आत्मा को मोक्ष में जड़ मानते हैं। जितने वाद हैं उनकी पृष्ठभूमि में विविधता भरी है। दार्शनिकों के मतवादों से मनुष्य अनेक मान्यताओं में विभक्त है। इसलिए उनका साध्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भी एक नहीं है। साध्य की अनेकता में साधनों की अनेकता भी अखरने वाली नहीं है।

साध्य और साधन के स्पष्ट विवेक में अनेकता एकता का वरण कर लेती है। वहां सत्य का आग्रह होता है, मिथ्या का नहीं। सत्याग्रही असंदिग्ध होता है। साधक के लिए दृढ़ आस्थावान होना आवश्यक है। संदिग्ध व्यक्ति साध्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

३. विद्यते नाम लोकोऽयं, न वा लोकोऽपि विद्यते।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति॥

लोक है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

४. विद्यते नाम जीवोऽयं, न वा जीवोऽपि विद्यते।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति॥

जीव है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

५. विद्यते नाम कर्मेदं, न वा कर्मापि विद्यते।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति॥

कर्म है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

६. अस्ति कर्मफलं वेद्यं, न वा वेद्यं च विद्यते।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति॥

कर्म का फल भोगना पड़ता है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

७. अस्ति लोकोऽपि जीवोऽपि, कर्म कर्मफलं ध्रुवम्।
एवं निश्चयमापन्नः, साध्यं प्रति प्रधावति॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**लोक है, जीव है, कर्म है और कर्मफल भुगतना पड़ता है—इस प्रकार जो आस्थावान् है, वह साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।**

साध्य का अधिकारी आस्थावान है, अनास्थावान नहीं। जो अनास्थावान है वह धर्म में प्रवृत्त भी नहीं हो सकता। धर्म में वहीं प्रवृत्त हो सकता है जो आस्थावान चाहता है कि मैं क्लेश से मुक्त बनूं, जन्म और मृत्यु का विजेता बनूं। मेरी आत्मा परमात्मा है। जब मेरे बंधन छूट जायेंगे तब मैं आत्म-स्वरूप में अवस्थित हो सकूंगा। भोग मेरा साध्य नहीं है, मेरा साध्य है योग। जीव, लोक, कर्म और कर्म-फल—ये आस्था के मूल-सूत्र हैं। इनमें आस्था रखना प्रत्येक आस्तिक का कर्तव्य है।

**८. निरावृतिश्च निर्विघ्नो, निर्मोहो दृष्टिमानसौ।**
**आत्मा स्यादिदमेवास्ति,साध्यमात्मविदां नृणाम्॥**

**आत्मविद्—आत्मा को जानने वाले पुरुषों के लिए निरावरण, निर्विघ्न—निरन्तराय, निर्मोह और दृष्टि-सम्पन्न सम्यग्दर्शन युक्त आत्मा ही साध्य है।**

अध्यात्म-द्रष्टा व्यक्तियों का साध्य आत्मा है। लेकिन वह शुद्ध आत्मा है, अशुद्ध नहीं। आत्मा की अशुद्धता वास्तविक नहीं है, वह कर्मजनित है, परकृत है। पर के जब संस्कार छूट जाते हैं तब आत्मा स्वरूप में स्थित हो जाती है। आत्मा का स्वरूप है—अनंत ज्ञानमय, अनंत दर्शनमय, अनंत आनंदमय और अनंत सुखमय।

**९. आवरणस्य विघ्नस्य, मोहस्य दृक्चरित्रयोः।**
**निरोधो जायते तेन, संयमः साधनं भवेत्॥**

**संयम से आवरण, विघ्न, दृष्टिमोह और चारित्रमोह का निरोध होता है इसलिए वह आत्मा की प्राप्ति—साध्य की सिद्धि का साधन है।**

अनंत ज्ञान, अनंत श्रद्धा, अनंत आनंद और अनंत शक्ति—यह आत्मा का मूल स्वभाव है। यह स्वभाव कर्म से तिरोहित—ढंका रहता है। जब तक स्वभाव

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साध्य को प्राप्त करने के लिए तीन उपायों का अबलंबन लेना होता है—संयम, श्रद्धा और शम। श्रद्धा के अभाव में संयम का स्वीकार नहीं होता। संयम भौतिक सुख-सुविधा का त्याग है। वह तब ही होता है जब कि मन आत्मलीन होता हैं। संयम के द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाएं नियंत्रित हो जाती हैं। शम संयम से भिन्न नहीं है। शम का अर्थ है—कषाय-विजय, लेकिन साधना के प्राग् अभ्यास के लिए पृथक् रूप से उल्लेख किया है, जिससे कि साधक सतत सावधान रहे कि मुझे कषाय-विजयी होना है।

**११. आत्मैव परमात्मास्ति, रागद्वेषविवर्जितः।**
**शरीरमुक्तिमापन्नः, परमात्मा भवेदशो॥**

**आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा राग-द्वेष और शरीर से मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है।**

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि आत्मा ही परमात्मा है। विश्वजनमत का बहुत बड़ा भाग आत्मा को परमात्मा नहीं मानता। वह कहता है कि परमात्मा एक है। अन्य आत्माएं उसी परमात्मा की अंश हैं। वे शुद्ध होने पर परमात्मा में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का अनावरण न हो तब तक आत्मा भ्रांत रहती है। वह पर-वस्तु को स्वकीय मान लेती है और स्व-वस्तु को परकीय। इसलिए यह अपेक्षित होता है कि यह आवरण हटे। प्रकाश के सद्भाव में तम की दीवार ढह जाती है। आवरण को हटाने की अपेक्षा प्रकाश को प्रकट करना जरूरी है। साधक आवरण हटाता नहीं। आवरण हटता है। वह स्वभाव को जागृत करता है। आवरण विलीन हो जाता है। स्वभाव जागरण की प्रक्रिया है संयम। संयम का अर्थ है—इन्द्रिय-विजय और मन-विजय। जब वह संयम अनुत्तर होता है, तब साध्य सिद्ध हो जाता है।

**१०. आत्मानं संयतं कृत्वा, सततं श्रद्धयान्वितः।**
**आत्मानं साधयेच्छान्तः, साध्यं प्राप्नोति स ध्रुवम्॥**

**जो श्रद्धा-संपन्न पुरुष अपने को संयमी बना आत्म-साधना करता है, वह शांत—कषायरहित पुरुष साध्य को प्राप्त होता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ही विलीन हो जाती हैं। स्वतंत्र रूप से उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

जैन-दर्शन इससे सहमत नहीं है। वह प्रत्येक आत्मा को पूर्ण स्वतंत्र मानता है। आत्मा एक अखंड द्रव्य है। उसके अंश कभी पृथक् नहीं हो सकते। अंशों को यदि पृथक् रूप से मानें तो जीवात्मा—आत्मा के जो सुख-दुःख के भोग होते हैं वे सब परमात्मा के होते हैं, इससे परमात्मा की शुद्धता नहीं रह सकती।

क्लेश, कर्म-फल और चेष्टाओं से जो अपरामृष्ट पुरुष विशेष है वह परमात्मा है। परमात्मा की इस परिभाषा से अन्य आत्माओं का उसमें समावेश होना संभव नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा वीतराग है और अन्य आत्माएं सराग। आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मान लेने पर परमात्मा की अनेकता में भी कोई बाधा नहीं आती। आत्मा की पृथक् सत्ता और अनंतता गीता से भी स्पष्ट है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—'ऐसा कोई समय नहीं था, जब मैं नहीं था, तू नहीं था, ये राजा नहीं थे और न कभी कोई ऐसा समय आएगा जब कि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे।'

आत्मा को एक मान लेने पर विविध व्यक्तियों में विविधता का हेतु क्या होगा, कर्म-फल की विभेदता क्यों है और मरने और जीने वाली आत्माएं क्या एक या अनेक हैं—कितने ही प्रश्न हमारे सामने हैं। आत्मा को अनेक मान लेने पर ये विरोध नहीं रहते।

आत्मा और परमात्मा एक है—यह एक ही शर्त पर माना जा सकता है, वह है स्वरूप।' एक आत्मा का जैसा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है, वही सबका है। जब आत्मा इस स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तब वह परम आत्मा बन जाती है। स्वरूपतः सब आत्माएं एक हैं, लेकिन सत्ता की दृष्टि से एक नहीं हैं। एक आत्मा का स्वरूप आज प्रकट हुआ है और एक का हजार वर्ष बाद। स्वरूप-प्राप्ति की दृष्टि से दोनों एक कैसे हो सकती हैं?

कई दार्शनिक एक ही परमात्मा को मानते हैं। उनका कहना है, अन्य कोई परमात्मा नहीं बन सकता। 'नर से नारायण' और आत्मा ही परमात्मा है'—इन लोकोक्तियों का क्या अभिप्राय है, यह भी हमें समझना होगा। जैन-दर्शन की मान्यता के आधार पर प्रत्येक आत्मा में परमात्मत्व का बीज विद्यमान है। जब इसे अनुकूल योग मिलता है वह परमात्मा बन जाती है।

परमात्मा वही आत्मा होती है, जो राग-द्वेष और शरीर से मुक्त होती है। आत्मा और परमात्मा में केवल आवरण और अनावरण का ही अंतर है। आवृत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा आत्मा है और अनावृत आत्मा परमात्मा। उनमें स्वरूप-भेद नहीं, केवल अवस्था-भेद है।

१२. स्थूलदेहस्य मुक्त्याऽसौ, भवान्तरं प्रधावति।
अन्तरालगतिं कुर्वन्, ऋजुं वक्रां यथोचिताम्॥

**आत्मा मृत्यु के क्षण में स्थूल शरीर से मुक्त होकर भवांतर—पुनर्जन्म के लिए प्रस्थान करती है। उस समय उत्पत्ति-स्थान के अनुसार उसकी ऋजु अथवा वक्र अंतराल गति होती है।**

१३. यावत् सूक्ष्मं शरीरं स्यात्, तावन्मुक्तिर्न जायते।
पूर्णसंयमयोगेन, तस्य मुक्तिः प्रजायते॥

**जब तक सूक्ष्म शरीर तैजस और सूक्ष्मतर शरीर कार्मण विद्यमान रहता है, तब तक आत्मा मुक्त नहीं होती। आत्मा की मुक्ति पूर्ण संयम—सर्व संवर की अवस्था में होती है, तब दोनों शरीर छूट जाते हैं।**

शरीर मुक्ति का बाधक है। मुक्तात्मा का पुनः जन्म नहीं होता। अवतार वही आत्माएं लेती हैं जो सशरीरी हैं। शरीर पांच हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। संसारी के दो और तीन शरीर सदा रहते हैं। कुछ आत्माओं में पांच शरीरों की योग्यता भी रहती है। दो शरीर में आत्मा अधिक देर नहीं रहती। उसे तीसरा शरीर शीघ्र ही धारण करना होता है। दो शरीरों का जघन्य कालमान एक समय है, और उत्कृष्ट दो, तीन या चार समय। ये दो सूक्ष्म शरीर अंतराल गति में होते हैं। आत्मा जब एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करती है, उस गमन को अंतराल गति कहते हैं।

## पांच शरीरों का स्वरूप-वर्णन

### औदारिक शरीर

जो शर्रीर स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न होता है वह औदारिक शरीर है। वैक्रिय आदि चारों शरीर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पुद्गलों से बने हुए होते हैं। औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद भी टिक सकता है। परन्तु वैक्रिय आदि शरीर आत्मा के अलग होते ही बिखर जाते हैं। औदारिक शरीर का छेदन-भेदन किया जा सकता है, परन्तु अन्य शरीर में छेदन-भेदन संभव

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नहीं। मोक्ष की प्राप्ति भी सिर्फ औदारिक शरीर से ही हो सकती है। औदारिक शरीर में हाड़, मांस, रक्त आदि होते हैं और इनका स्वभाव भी गलना, सड़ना, विनाश होना है।

**वैक्रिय शरीर**

जो शरीर छुटपन, बड़पन, सूक्ष्मता, स्थूलता, एकरूप, अनेक रूप आदि विविध क्रियाएं करता है, वह वैक्रिय शरीर है। जिस शरीर में हाड़, मांस, रक्त न हो तथा जो मरने के बाद कपूर की तरह उड़ जांए, उसको वैक्रिय शरीर कहते है।

**आहारक शरीर**

चतुर्दश-पूर्वधर मुनि आवश्यक कार्य उत्पन्न होने पर जो विशिष्ट पुद्गलों का शरीर बनाते हैं, वह आहारक शरीर है।

**तैजस शरीर**

जो शरीर आहार आदि के पचाने में समर्थ है और जो तेजोमय है वह तैजस शरीर है। इसे वैद्युतिक शरीर भी कहा जाता है।

**कार्मण शरीर**

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल समूह से जो शरीर बनता है, वह कार्मण शरीर है।

तैजस और कार्मण शरीर—ये दोनों सूक्ष्म शरीर हैं। आत्मा के साथ इनका अनादि-संबंध है। औदारिक शरीर जन्म-संबंधी है। वैक्रिय शरीर जन्म संबंधी और लब्धिजन्य भी होता है। आहारक शरीर योग-शक्तिजन्य होता है। ये तीनों शरीर सांगोपांग होते हैं। ये स्थूल शरीर हैं। स्थूल शरीर से मुक्त हो जाने पर आत्मा मुक्त नहीं होती है। आत्मा की मुक्ति तब होती है जब सूक्ष्म शरीर भी छूट जाते हैं। सूक्ष्म कार्मण शरीर से ही आत्मा स्थूल शरीर का निर्माण कर लेती है। 'कारणे सति कार्योत्पत्ति'—कार्य कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। सूक्ष्म शरीर न हो तो स्थूल शरीर कैसे हो सकता है? इसलिए एक शरीर से दूसरे शरीर के प्रवेश की कठिनाई नहीं रहती। आत्मद्रष्टा स्थूल शरीर को नहीं मिटाना चाहता, वह चाहता है मूल को उखाड़ना। जन्म और मृत्यु का मूल है सूक्ष्म-शरीर। सूक्ष्म शरीर का मूलोच्छेदन तब ही होता है जबकि आत्मा पूर्ण-संयम (निरोध) की स्थिति में पहुंच जाती है।

शरीर के तीन वर्ग हैं—

- स्थूल शरीर—औदारिक शरीर—हाड़-मांस का शरीर।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

- सूक्ष्म शरीर–वैक्रिय शरीर–नाना रूप बनाने में समर्थ शरीर।
  आहारक शरीर–विचार-संवाहक शरीर।
- सूक्ष्मतम शरीर–तैजस शरीर–तापमय शरीर।
  कार्मण शरीर–कर्ममय शरीर।

तैजस शरीर तापमय शरीर है। यह हमारी उष्मा, सक्रियता और शक्ति का संचालक है। यह न हो तो उष्मा पैदा नहीं हो सकती, पाचन नहीं हो सकता, रक्त का संचार नहीं हो सकता। यह तैजस शरीर ही हमारी स्थूल शरीर की सारी क्रियाओं (संरचनाओं) का संचालन करता है। स्थूल शरीर में शक्ति का सबसे बड़ा भंडार है–तैजस शरीर। जिसका तैजस शरीर मंद है–अग्नि मंद है, उसकी सारी क्रियाएं मंद हो जाती हैं। अग्नि तीव्र है तो सारी क्रियाएं तीव्र हो जाती हैं।

तैजस शरीर के दो कार्य हैं :

१. शरीर-तंत्र का संचालन।

२. अनुग्रह और निग्रह का सामर्थ्य।

**मेघः प्राह**

**१४. भगवन्! इन्द्रियग्रामं, चंचलं विधते भृशम्।**
**संयमः कथमाधेयः, तात्पर्यं तस्य साधय॥**

**मेघ बोला–भगवन्! इन्द्रिय-समूह बहुत चंचल है। उसे संयत कैसे किया जाए? आप उसका तात्पर्य मुझे समझाएं।**

मनुष्य को प्रकृति ने दिव्य देह, दिव्य इन्द्रियां, दिव्य मन, दिव्य बुद्धि और दिव्य चेतना प्रदान की है। आश्चर्य होता है फिर वह दुःखी क्यों है? लगता है वह अपनी दिव्य शक्ति का सम्यक् उपयोग नहीं कर रहा है। इसका कारण वह स्वयं तो है ही किन्तु इसके साथ-साथ उसके पूर्वोपार्जित संस्कार–कर्म भी है। वह नहीं चाहते हुए भी संस्कारों के कारण गलत दिशा में धकेल दिया जाता है। न उसका मन पर नियंत्रण है और न इन्द्रियों पर। मन और इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले बाह्य साधन भी उसे वैसे ही उपलब्ध हो जाते हैं, जिससे वह सहज ही गलत दिशा में जाने को विवश हो जाता है।

इसका मुख्य कारण है–इन्द्रियां, मन, बुद्धि व शरीर आदि अपने स्वामी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के सम्मुख नहीं है। अपने मालिक के साथ उनका जो संबंध या बोध होना चाहिए वह नहीं है। धर्म–अध्यात्म की प्रक्रिया उसे अपने स्वामी की दिशा में मोड़ने के लिए है। जिस दिन स्वामित्व का बोध होता है चंचलता की समस्या समाहित हो जाती है। जो-जो प्रयोग निर्दिष्ट हैं उनका लक्ष्य भी आवरणों-मलों को क्षीण कर सत्य तत्त्व से परिचित कराना है। मेघ ने जो प्रश्न खड़ा किया है उसका समाधान विविध प्रयोगों में निहित है।

**भगवान् प्राह**

**१५. बाध्यमानो ग्राम्यधर्मैः, रूक्षं भुञ्जीत भोजनम्।**
**प्रकुर्यादवमौदर्यं, ऊर्ध्वस्थानं स्थितो भवेत्॥**

**भगवान् ने कहा–मुनि ग्राम्य-धर्म–काम-विकार से पीड़ित होने पर रूक्ष भोजन करे, अवमौदर्य–मात्रा में कम खाए और ऊर्ध्वस्थान–कायोत्सर्ग करे।**

**१६. नैकत्र निवसेन्नित्यं, ग्रामं ग्राममनुव्रजेत्।**
**व्युच्छेदं भोजनस्याऽपि, कुर्यात् रागनिवृत्तये॥**

**मुनि सदा एक स्थान में निवास न करे, गांव-गांव में विहार करे और राग की निवृत्ति के लिए भोजन को भी छोड़े।**

काम-वासना (सेक्स) मनुष्य की मौलिकवृत्ति है, ऐसा मनोवैज्ञानिकों का कहना है। 'काम' ऊर्जा है। एक शक्ति है, किंतु उसके प्रयोग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक इसे विराट् शक्ति कहते हैं और वे कहते हैं कि इससे पार नहीं हुआ जा सकता। इसमें काफी सच्चाई है। बहुत कम व्यक्ति ही इस विराट् ऊर्जा को बचा सकते हैं। इसलिए साधना मार्ग को दुरूह, दुर्धर्ष कहा गया। आत्मपुराण में लिखा है–

**'कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरिः।**
**कामेन विजितो विष्णुः, शक्रः कामेन निर्जितः॥'**

काम ने ब्रह्मा को परास्त कर दिया, काम से शिव पराजित हैं, विष्णु को भी काम ने जीत लिया और इन्द्र भी काम से पराजित है। संसार इससे अतृप्त है। इस दृष्टि से वैज्ञानिकों की बात ठीक है। कबीर ने इसी सच्चाई को प्रकट करते हुए कहा है–**'विषयन वश त्रिहुं लोक भयो, जती सती संन्यासी।'** इसके

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पार पहुंचना बड़े-बड़े योगी और मुनियों के लिए भी सहज नहीं है। कुछ ही व्यक्ति इसके अपवाद होते हैं, जो इस विराट् ऊर्जा को परमात्मा की ऊर्जा के साथ संयुक्त कर देते हैं। शिव और शक्ति का संयोग साधना है। इस स्वाभाविक शक्ति को कैसे ऊपर उठाया जा सके और कैसे परमात्मा की विराट् ऊर्जा में इसका प्रयोग किया जा सके? साधक यदि इसमें दक्ष होता है तो शनैः शनै वह अपने को इस योग्य बना सकता है। यहां कुछ प्रयोग दिए हैं। इससे पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए और स्वीकार कर लेना चाहिए कि काम-वासना एक मौलिकवृत्ति है, सहज है। यह सृष्टि काम का ही विस्तार है। काम की निंदा और घृणा करने से वह नष्ट नहीं होता और न केवल दमन करने से। काम जन्म भी देता और मारता भी है। कहा है—**मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिंदुधारणात्।** ऊर्जा का क्षीण होना मृत्यु है और उसका संरक्षण जीवन है।

**'खणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा'**—सुख स्वल्प है और दुःख अनल्प है। काम-वासना के सुख से अतृप्त व्यक्ति पुनः उसी सुख के लिए काम-वासना में उतरता है। वह जो थोड़ा सा सुख है, वह है—दो के मिलन का। मनोवैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है—इस सुख की झलक ही आदमी को ध्यान समाधि की ओर प्रेरित करती है। ध्यान में व्यक्ति परम के साथ मिलता है। काम से मुक्त होने के लिए ध्यान है। गहन ध्यान समाधि में द्वैत नहीं रहता। इसलिए काम-ऊर्जा को ध्यान में रूपांतरित करना आवश्यक है। काम-ऊर्जा नीचे है, मूलाधार में स्थित है और परमात्मा ऊपर सहस्रार में स्थित है। उस ऊर्जा को सहस्रार तक ले जाना साधना है। उस परम मिलन के क्षण को शिव-शक्ति का योग कहा है—'हंसः'—हं शिव है और सः शक्ति। इसके विविध प्रयोग हैं। चित्त की एकाग्रता और निर्विचारता ऊर्जा को ऊपर उठाती है और सहस्रार में पहुंचाती है। कुछ मननीय बिन्दु—

(१) सबसे पहले आवश्यक है—जागरण। साधक अपने मन, वाणी और शरीर के प्रति पूर्ण होश से भरे रहने का सतत प्रयत्न करे। जब भी चित्त में काम का तूफान उठे, उसे देखे, विचार करे, यह क्या हो रहा है? मैं कहां जा रहा हूं? क्यों अपना होश खो रहा हूं? क्या मिला है इससे? काम-वासना के साथ बहे नहीं, रुके और ध्यान करे, मन को ऊपर ले जाए और उसे सहस्रार पर स्थिर करे।

(२) मूलबंध—श्वास का रेचन कर नाभि को भीतर सिकोड़ कर गुदा को ऊपर खींचना मूलबंध है। मूलबंध का अभ्यास और पनः-पनः प्रयोग भी काम-विजय में सहायक है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

(३) आसन–सिद्धासन, पद्मासन, पादांगुष्ठासन आदि भी इसमें उपयोगी होते हैं। काम-केन्द्रों पर दबाव डालकर वासना को निर्जीव किया जा सकता है।

(४) योगियों ने इसके लिए विविध प्राणायामों का प्रयोग भी किया है जो वीर्यशक्ति को सहस्रार में स्थित कराता है, वैसा अभ्यास भी साधक के लिए अपेक्षित है। 'श्वास विज्ञान' पुस्तक में से एक प्राणायाम का प्रयोग नीचे प्रस्तुत किया जाता है–

जननशक्ति को परिवर्तित करना–प्राणशक्ति रज या वीर्य में संगृहीत है। जननेन्द्रिय प्राणियों के जीवन में प्राण का एक कोष रूप है। उत्पादन उसका कार्य है। इस शक्ति का प्रयोग विध्वंस में भी किया जा सकता है और विकास में भी। इस काम-शक्ति को विध्वंसात्मक न बनाकर विकास में योजित करना मानव की बुद्धिमत्ता है। इसका अभ्यास सरल है। ताल-युक्त श्वास एक साधन है। तालयुक्त श्वास का महत्त्व अत्यंत स्पष्ट और प्रभावकारी है तथा अनेक विध प्रयोगों को सफल बनाने वाला है।

'शांत होकर सीधे बैठ जाओ या लेट जाओ और कल्पना करो कि जनन-शक्ति को नीचे से खींचकर ऊपर सौयकिन्द्र में ला रहे हैं, जहां यह जननशक्ति परिवर्तित होकर प्राणरूप में संचित रहेगी। ध्यान शक्ति पर रहे। काम की कल्पना न हो, अगर आ जाये तो चिंता न करें। इस कल्पना के साथ अब तालयुक्त सम मात्रा में श्वास लें। प्रत्येक श्वास में मैं शक्ति को ऊपर खींच रहा हूं और दृढ़ इच्छा से आज्ञा दो कि शक्ति जननेन्द्रिय से खिंच कर सौर्य-केन्द्र में चली आये। यदि ताल ठीक जम गया और कल्पना स्पष्ट हो गयी होगी तो यह स्पष्ट पता चलेगा कि शक्ति ऊपर आ रही है और उसकी उत्तेजना का अनुभव भी हो रहा है। यदि मानसिक बल बढ़ाना हो तो शक्ति को मस्तिष्क में भेजो, उसी के अनुकूल आज्ञा दो और कल्पना करो। प्रत्येक श्वास में शक्ति को ऊपर खींचो और प्रत्येक निश्वास में निर्दिष्ट स्थान पर भेजो। इससे आवश्यक शक्ति कार्य में योजित होगी और शेष सौर्य-केन्द्र में संचित रहेगी।

वीर्य न ऊपर खींचा जाता है और न परिवर्तित होता है, किन्तु उसकी प्राण-शक्ति ही खींची जाती है। इस अभ्यास के समय सिर को थोड़ा आगे सरलतापूर्वक झुका लेना अच्छा होगा।

भोजन शक्ति देता है। जब शक्ति से व्यक्ति भरता है तब उसका स्व-नियंत्रण नहीं रहता। उत्तेजना पैदा होती है और उसका उपयोग उचित या अनुचित किसी भी तरह हो, यह संभव है। वैज्ञानिक कहते हैं–मौलिक जीवाणु

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अमीबा है। अमीबा स्त्री-पुरुष दोनों में है। उसमें जनन-प्रक्रिया अद्भुत है। वह सिर्फ भोजन करता है। शक्ति मिलने से टूटता है और दो में विभक्त हो जाता है। वे दोनों भी स्त्री-पुरुष दोनों हैं। फिर वे भोजन करते हैं, शक्ति बढ़ती है। शक्ति बढ़ने से दो टुकड़ों में विभक्त होकर अमीबा जन्म देता है। और आदमी में शक्ति बढ़ने से मिलता है। वासना जागती है, वह जो मिलन में सुख होता है—वह दो के मिलन—जुड़ने से होता है।' भोजन सर्वथा छोड़ना शक्य नहीं है। इसलिए यहां कहा है कि साधक वैसा भोजन न करे; जिससे विकृति को उत्तेजना मिले। वह निम्नोक्त तथ्यों पर ध्यान दे—

१. चालू भोजन में परिवर्तन करे। वह गरिष्ठ, रसयुक्त और उत्तेजनात्मक भोजन को छोड़कर निस्सार और रूखा भोजन करे।

२. भोज्य-पदार्थों में कमी करे और मात्रा से कम खाए। अधिक चीजें और अधिक भोजन दोनों ही स्वास्थ्य और साधना के शत्रु हैं।

३. कायोत्सर्ग करे—बार-बार शरीर का उत्सर्ग करने वाले व्यक्ति पर बाहरी परिस्थितियों का कोई असर नहीं होता।

४. एक स्थान पर सदा न रहे—एक स्थान पर अधिक रहने से स्थानीय व्यक्तियों के साथ ममत्व हो जाता है।

५. आहार का त्याग करे—काम-विकार यदि उग्र रूप से पीड़ित करने लगे तो साधक भोजन का भी निषेध करे। भोजन के न मिलने पर शरीर स्वयं ही शांत हो जाता है। शरीर की निश्चलता से मन भी उपशांत हो जाता है।

**१७. श्रद्धां कश्चिद् व्रजेत् पूर्वं, पश्चात् संशयमृच्छति।**
**पूर्वं श्रद्धां न यात्यन्तः, पश्चाच्छ्रद्धां निषेवते॥**

**१८. पूर्वं पश्चात् परः कश्चित्,श्रद्धां स्पृशति नो जनः।**
**पूर्वं पश्चात् परः कश्चित्, सम्यक्श्रद्धां निषेवते॥**
**(युग्मम्)**

**कोई पहले श्रद्धालु होता है और फिर लक्ष्य के प्रति संदिग्ध बन जाता है। कोई पहले संदेहशील होता है और पीछे श्रद्धालु। कोई न पहले श्रद्धालु होता है और न पीछे भी। कोई पहले भी श्रद्धालु होता है और पीछे भी।**

आत्मा इस संसार में अनंतकाल से भ्रमण करती है। उसे अपने स्वरूप

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का ज्ञान नहीं हुआ। यह अज्ञान ही सारे क्लेशों की जड़ है। मोह कर्म का जब उपशम या क्षयोपशम होता है तब आत्मा को अपना बोध होता है। अपने में उसकी श्रद्धा बढ़ जाती है। क्षय अवस्था में वह बोध चिरस्थायी बन जाता है, अन्यथा अज्ञान की फिर भी संभावना बनी रहती है। वह संदेहशील बन जाती है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें कभी आत्म-बोध का अवसर ही नहीं मिलता। वे सदा मोह से आवृत रहते हैं। इसी आधार पर व्यक्तियों के चार विभाग किए गए हैं–

**१. श्रद्धालु और संदिग्ध**

आचार्य आषाढ़भूमि चातुर्मास के लिए अपने सौ शिष्यों के साथ उज्जयिनी आये। चातुर्मास चल रहा था। लोग धर्म रस का रसास्वाद कर रहे थे। अकस्मात् नगर में महामारी का प्रकोप हो गया। अनेक लोग काल-कवलित होने लगे। महामारी की मार से आचार्य का शिष्य-परिवार भी वंचित नहीं रहा। एक-एक कर निन्यानवे साधु उसकी चपेट में आ गये। आचार्य ने सबको समाधिस्थ रहने का मंत्र देते हुए कहा–'मरना सबको है। उसकी मृत्यु नहीं है जिसने स्वयं को जान लिया है। यह अवसर है, अपने मन को स्वयं में योजित करो।' सबके-सब शिष्य समाधि-मृत्यु को प्राप्त हुए। आचार्य ने एक-एक कर सबको कहा था–एक बार स्वर्ग से पुनः लौटकर आना। किंतु आश्चर्य की बात है, कोई नहीं आया। छोटा शिष्य जो अंत में विदा हुआ था, वह भी नहीं आया। तब आचार्य की आस्था का आधारभूत भवन प्रकंपित हो गया। उन्होंने सोचा न स्वर्ग है और न नरक। ये सब झूठ हैं। साधु जीवन को छोड़कर आचार्य आषाढ़भूति ने अपना मुख पुनः संसार की ओर कर लिया।

जैसे ही आचार्य साधु जीवन का त्यागकर निकले कि उस छोटे शिष्य का (देव आत्मा का) आसन प्रकंपित हुआ। उसने अपने ज्ञान से जाना कि आचार्य विदा हो गए हैं। वह आया उसने मार्ग में एक नाटक रचा। आचार्य उसे देखने में व्यस्त हो गए। नाटक पूरा हुआ, आगे बढ़े। कुछ छोटे-छोटे छह बच्चे वन्दना करने सामने आये। गहनों से लदे थे। आचार्य के मन में लोभ जागा। उन्होंने छहों बच्चों को मारकर गहनों से झोली भर ली। आगे कुछ बढ़े ही थे कि इतने में अनेक लोग सामने आ गए। भोजन के लिए लोगों ने हठ किया। आचार्य के इंकार करने पर भी लोग जबरदस्ती से झोली पकड़ कर उसमें भोजन डालने लगे। जब पात्र में गहनों को देखा तो लोग अवाक् रह गए। किसी ने कहा–यह मेरे लड़के का है और किसी ने कहा–यह मेरे लड़के का। लोग धिक्कारने लगे। मन ही मन कहने लगे–भगवन्! यह क्या? इतने में शिष्य ने सब माया समेटी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और बोला—आंखें खोलो गुरुवर! आपका शिष्य सामने खड़ा है। आंखें खोली। न कोई आदमी, न गांव। पूछा—क्या बात है? देव ने कहा—यह सब मैंने किया था। देर हो गयी मेरे आने में। आप समझें, स्वर्ग है, देव है, नरक है। गुरु आश्वस्त हो गए। उन्होंने अपने को साधना पथ पर पुनः अधिरूढ़ कर जीवन का लक्ष्य प्राप्त किया।

**२. संदिग्ध और श्रद्धालु**

भवदेव और भावदेव दो भाई थे। भवदेव बड़े थे। माता के विशुद्ध संस्कारों से संस्कारित होकर वे यौवन में साधक-संत हो गए। भावदेव जवान हुए। विवाह हुआ। पत्नी को लेकर आ रहे थे। मार्ग में भवदेव के दर्शन हुए। भाई ने नश्वरता का बोध-पाठ दिया। थोड़े से जीवन को वासना की अग्नि में भस्मसात् करना क्या उचित है? मन तो नवोढ़ा में था, किंतु भाई से संकोचवश कुछ बोले नहीं। संन्यास ले लिया। मन बार-बार पत्नी का स्मरण करता है। वे सोचते हैं—भाई की मृत्यु हो जाये तो घर जाऊं। भाई आत्मसमाधि पूर्वक मरण को प्राप्त हुए ओर उधर भावदेव घर की ओर चल पड़े। गांव के बाहर आकर उपाश्रय में ठहरे। लोगों से पूछा अपनी मां श्राविका रेवती के लिए। लोगों ने कहा—उसका स्वर्गवास हो गया। फिर अपनी पत्नी नागला के लिए पूछा। संयोग की बात थी कि जिसे पूछ रहे थे वह नागला ही थी। नागला समझ गई कि मुनि का मन अस्थिर है। वे घर आना चाहते हैं। उन्हें प्रतिबोध देना चाहिए। उसने कहा—'मुनिवर! वह अपनी 'सास' जैसी दृढ़ धर्मात्मा है, तत्वज्ञा है और शीलधर्म से सुशोभित है।' मुनि ने कहा—'मैं यह नहीं पूछता। मैं तो पूछता हूं, वह है तो सही।' उत्तर देकर वह चली गयी। एक-दो बहिनों को लेकर वह वहां पुनः चली आयी, वंदन किया और सामायिक लेकर बैठ गयी। इतने में एक छोटा बच्चा आया। वह गोद में बैठ गया और कहने लगा—'मां! तूने जो खीर खाने को मुझे दी थी, मैंने खाई। किंतु तत्क्षण वमन हो गया। किंतु मां! मैंने उसे यों ही नहीं जाने दिया वमन खा लिया।' मां सराहने लगी। भवदेव से रहा नहीं गया। उन्होंने कहा—क्या यह है तुम्हारी सामायिक? क्या सामायिक में यह सब करना है? जिसको कौवे, कुत्ते खाते हैं तुम उसकी प्रशंसा करती हो?' अवसर देख नागला ने कहा—'मुनिवर! आप क्या करने के लिए आये? क्या कै खाने के लिए नहीं? जिनको त्याग दिया, फिर उस ओर मुंह करना क्या है?' मुनि सचेत हो गए। नागला ने कहा—'मैं ही नागला हूं। यह आपको सुस्थिर करने के लिए मैंने किया।' मुनि पुनः संयम-पथ पर आरूढ़ हो गए।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**३. न पहले श्रद्धालु और न पीछे**

एकनाथ तीर्थयात्रा के लिए चले। अनेक लोग साथ में सम्मिलित हो गए। एक चोर ने भी अपनी इच्छा प्रकट की। एकनाथ ने स्वीकृति दे दी। लोगों ने कहा—यह चोर है। एकनाथ ने समझाया। चोर ने कहा—अब चोरी नहीं करूंगा। सब रवाना हो गए। चोरी की आदत थी। एक-दो दिन तो वह चुप रहा। फिर वह एक-दूसरे की वस्तुओं को इधर-उधर करने लगा। लोगों ने देखा, यह क्या मामला है। चीजों की चोरी नहीं होती किंतु किसी की कहीं मिलती है और किसी की कहीं। एकनाथ से शिकायत की। एक दिन सब सो गए। एकनाथ सोये-सोये देख रहे थे। समय हुआ। चोर उठा और अपना काम शुरू कर दिया। चोरी का नियम था। एकनाथ ने पूछा—'कौन है?' उसने कहा—'मैं'।' अरे क्या करता है?' उसने कहा—'चोरी नहीं करता, चीजें इधर-उधर करने का नियम नहीं है।'

जो भीतर से नहीं बदलता उसका बाहर बदलना भी मुश्किल है।

ठाकर मंगलदास तीर्थयात्रा पर गए। साथ में बहुत से व्यक्ति थे। एक कवि भी था। आदतवश वहां भी शराब आदि चलने लगा। कवि से रहा नहीं गया। उसने एक दोहा बोल दिया—

**'मंगलियो तीरथ गयो, करी कपट मन चोर।**
**नौ मन पाप आगै हुंतो, सौ मन लायो और॥'**

**४. पहले भी श्रद्धालु और पीछे भी**

मुनि गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। भगवान् अरिष्टनेमि द्वारका नगरी में आये। भाई के साथ गजसुकुमाल भी गए। प्रवचन सुना और विरक्त हो गए। माता और भाई श्रीकृष्ण ने बहुत समझाया। 'तुम सुकुमार हो, यह कांटों का पथ है।' सबको संतुष्ट कर वे भगवान के चरणों में समर्पित होकर बोले—'भंते! आत्मदर्शन का पथ प्रदर्शित करें।' भगवान् ने कहा—मन और इन्द्रियों को भीतर मोड़कर स्वयं को देखो। ध्यान ही इसका सहज-सरल मार्ग है। भगवान् का आदेश लेकर वे श्मशान में रात को ध्यान के लिए अकेले आ पहुंचे और ध्यानस्थ हो गए।

सोमिल नामक ब्राह्मण को पता चला कि गजसुकुमाल मुनि हो गए। मेरी लड़की से अब विवाह संबंध नहीं होगा। वह दुःखी हुआ, उद्विग्न हो गया। वह श्मशान में आया, ध्यानस्थ मुनि को देखा और क्रोध में पागल हो गया। उसने गीली मिट्टी से सिर पर पाल बांध कर श्मशान के अंगारे मुनि के सिर पर रख दिये। सिर जलने लगा। मुनि शांत रहे और स्वयं को देखते रहे। न किसी पर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

राग और न किसी पर द्वेष। शांत, मौन, समतायुक्त वे मुनि उसी रात्रि में निर्वाण को उपलब्ध हो गए। पहले और पीछे एक समान भावधारा में विहरण करते हुए वे सदा-सदा के लिए संसार से मुक्त हो गए।

**१९. सम्यक् स्यादथवाऽसम्यक्, सम्यक् श्रद्धावतो भवेत्।**
**सम्यक् चापि न वा सम्यक्, श्रद्धाहीनस्य जायते॥**

**कोई विचार सम्यक् हो या असम्यक्, श्रद्धावान् पुरुष में वह सम्यक्रूप से परिणत होता है और अश्रद्धावान् में सम्यक् विचार भी असम्यक्रूप से परिणत होता है।**

विचार अपने आप में न सम्यक् है, न असम्यक्। ग्राहक की बुद्धि के अनुसार वे ढल जाते हैं। शब्दों को जिस रूप में हम ओढ़ लेते हैं उसी रूप में वे दिखाई देते हैं। एक आस्थावान् व्यक्ति के लिए असम्यक् विचार भी सम्यक् रूप में परिणत हो जाते हैं और अनास्थावान् के लिए सम्यक् विचार भी असम्यक् रूप में। राग-द्वेष और स्वार्थवश सम्यक् विचारों को असम्यक् का रूप देने वाले व्यक्ति कम नहीं हैं, कम हैं प्रतिकूल को अनुकूल में बदलने वाले। भगवान् महावीर के लिए संगम-कृत अनुकूल और प्रतिकूल कष्ट भी कर्म-निर्जरण के लिए बन गए। अनार्य मनुष्यों की त्रासना से वे उद्विग्न नहीं बने।

आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा—तुम्हारा मुंह देखा है इसलिए मुझे नरक मिलेगा। आचार्य भिक्षु ने पूछा—तुम्हारा मुंह देखने से क्या मिलता है? वह बोला—स्वर्ग। आचार्य भिक्षु ने कहा—मेरी यह मान्यता नहीं है लेकिन तुम्हारे कहने से मैं स्वर्ग में जाऊंगा और तुम! वह खिसियाना मुंह बनाकर चलता बना।

अमेरिका के छह राष्ट्रपतियों के सलाहकार बनार्ट वरूच की वाणी अध्यात्म-निष्ठा की एक गहरी छाप छोड़ती है। किसी ने उनसे पूछा—'क्या आप अपने शत्रुओं के आक्षेपों से दुःखी होते हैं?'

उन्होंने कहा—'कोई व्यक्ति मुझे न तो दुःखी कर सकता है और न नीचा दिखा सकता है। मैं उसे ऐसा कभी करने नहीं दूंगा। लाठियां तथा पत्थर मेरी पीठ को तोड़ सकते हैं, पर शब्द मुझे चोट नहीं पहुंचा सकते।'

**२०. ऊर्ध्वं स्रोतोऽप्यधस्स्रोतः, तिर्यक्स्रोतो हि विद्यते।**
**आसक्तिर्विद्यते यत्र, बंधनं तत्र विद्यते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**उपर स्रोत है, नीचे स्रोत है और मध्य में भी स्रोत है। जहां आसक्ति—स्रोत है, वहां बंधन है।**

**२१. यावन्तो हेतवो लोके, विद्यन्ते बन्धनस्य हि।**
**तावन्तो हेतवो लोके, मुक्तेरपि भवन्ति च॥**

**इस लोक में जितने कारण बंधन के हैं, उतने ही कारण मुक्ति के हैं।**

कर्म परमाणु हैं। वे समस्त लोकाकाश में परिव्याप्त हैं। आत्म-प्रदेशों में उनके समागमन का मार्ग कोई एक नहीं है। वे सब ओर से आत्मा में आते रहते हैं। पूर्ण निवृत्त—निरोध-अवस्था में ही उनका आकर्षण नहीं होता; क्योंकि उस समय आत्मा की समस्त प्रवृत्तियों की चंचलता रुक जाती है। जहां प्रवृत्तियों का प्रवाह है वहां बंधन भी है। प्रवृत्तियों के दो रूप हैं—अशुभात्मक और शुभात्मक। कहीं तीन प्रवृत्तियों का उल्लेख भी मिलता है—अशुभात्मक, शुभात्मक और शुद्धात्मक। अशुभात्मक प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का संग्रह होता है और शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म का। शुद्धात्मक प्रवृत्ति केवल आत्मा की शुद्ध अवस्था है। वस्तुतः वह प्रवृत्ति नहीं, किंतु आत्मा का मूल स्वभाव है। वहां कर्म का आकर्षण नहीं होता। आत्मा की शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के साथ ही कर्म परमाणुओं का प्रवेश होना प्रारंभ हो जाता है।

बन्धन और मुक्ति सापेक्ष शब्द हैं। बंधन का क्षय मुक्ति है और मुक्ति की अप्रवृत्ति बंधन है। मुक्ति के और बंधन के कारणों में कोई विशेष अंतर नहीं होता। अंतर इतना ही होता है कि एक दूसरे रूप में बदलना होता है। स्थूल दृष्टि से दोनों बिलकुल विरोधी लगते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति ही बंधन का विनाश है। बंधन के कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये सब बहिरात्मा की प्रवृत्तियां हैं। आत्मा जब स्वरूपस्थ होती है तब उसकी प्रवृत्तियां बन जाती हैं—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। इनका भाव उनका अभाव है और उनका भाव इनका अभाव।

**२२. सर्वे स्वरा निवर्तन्ते, तर्कस्तत्र न विद्यते।**
**ग्राहिका न मतिस्तत्र, तत्साध्यं परमं नृणाम्॥**

**जिसे व्यक्त करने के लिए सारे स्वर—शब्द अक्षम हैं, तर्क की जहां पहुंच नहीं है, बुद्धि जिसे पकड़ नहीं सकती, वह आत्मा मनुष्यों का परम साध्य है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इस श्लोक में आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन है। आत्मा अमूर्त है। वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती। वह अनुभूतिगम्य है। उसे तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। आचारांग सूत्र में इसके स्वरूप का विशेष वर्णन है।

अस्तित्व का बोध असीम है। शब्द ससीम है। ससीम में असीम को बांधने से भ्रम पैदा होता है। इसलिए सभी ने स्वरूप–अस्तित्व को अवाच्य कहा है। 'अवाङ्मनसो गोचरम्' वाणी और मन का वह विषय नहीं बनता। 'नेति नेति' यह भी नहीं है, यह भी नहीं है–जो शेष रह जाता है वह 'अस्तित्व' है। 'लाओत्से' ने कहा है–जो उसके संबंध में लिखूंगा तो वह झूठ होगा। जो लिखना है वह लिखा नहीं जाएगा। जब चीन के सम्राट् ने लिखने को विवश कर दिया, तब यह लिखते हुए प्रारंभ किया कि 'बड़ी भूल हुई जा रही है–'जो कहना है वह कहा नहीं जाता और जो नहीं कहना है वह कहा जाएगा।' मैं जानकर लिखने बैठा हूं, इसलिए जो आगे पढ़ें वे जानकर पढ़ें कि सत्य बोला नहीं जा सकता, कहा नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं हो सकता।' महावीर ने सत्य को अवक्तव्य कहा है। इसमें भी यही कहा है कि यहां न मन पहुंचता है, न शब्द और न बुद्धि। अस्तित्व का न आकार है, न रूप है, न वह स्त्री, न पुरुष, न नपुंसक है, न जाति है आदि। बुद्ध ने इसके संबंध में प्रश्न करने से भी मना कर दिया कि कोई पूछे ही नहीं। वस्तुतः यह शब्द का विषय नहीं, अनुभूति का है। शब्दों को अनुभूति समझ ली जाए तो यात्रा रुक जाती है। शब्द सिर्फ संकेतवाहक हैं।

**२३. ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये, न ग्रामे नाप्यरण्यके।**
**रागद्वेषलयो यत्र, तत्र सिद्धिः प्रजायते॥**

**सिद्धि गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। वह न गांव में हो सकती और न अरण्य में। सिद्धि वहीं होती है, जहां राग और द्वेष का विलय हो जाता है।**

साधना का घनिष्ठ संबंध आत्मा से है। इसलिए साधना आत्मा ही है। आत्मा की सिद्धि में बाहरी निमित्तों का खास महत्त्व नहीं है। लेकिन फिर भी वे बनते हैं क्योंकि वे सिद्धि में सहायक हैं। कहीं-कहीं हम साधनों का उल्टा प्रभाव भी देखते हैं। एकांत स्थान जहां आत्म-साधन में सहायक है वहां वह बाधक भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बन जाता है। इसलिए एकांततः हम किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते। साधना के बाहरी निमित्तों पर बल देने की अपेक्षा आंतरिक पक्ष पर बल देना अधिक उपयोगी है।

साधना का आंतरिक पक्ष है—राग-द्वेष पर विजय। जो राग-द्वेष का विजेता है, उसके लिए गांव, नगर, उपवन, नदी, तट आदि सब समान हैं।

केवल बाह्य साधनों से साध्य सिद्ध नहीं होता। इस श्लोक में उन एकांतवासियों का खंडन है, जो यह कहते थे कि साधना जंगल में ही होती है, या नगर में ही होती है। भगवान् महावीर ने दोनों का समन्वय कर साधना का क्षेत्र सबके लिए खोल दिया।

**२४. न मुण्डितेन श्रमणः, न चोंकारेण ब्राह्मणः।**
**मुनिर्नारण्यवासेन, कुशचीरैर्न तापसः॥**

**सिर को मूंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार को जप लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और कुश के बने हुए वस्त्र पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।**

**२५. श्रमणः समभावेन, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।**
**ज्ञानेन च मुनिर्लोके, तपसा तापसो भवेत्॥**

**श्रमण वह होता है, जो समभाव रखे। ब्राह्मण वह होता है, जो ब्रह्मचर्य का पालन करे। मुनि वह होता है, जो ज्ञान की उपासना करे और तापस वह होता है, जो तपस्या करे।**

**'बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम्।**
**आगमतत्त्वं तु बुद्धः, परीक्षते सर्वयत्नेन॥'**

तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं—

(१) बाल—सामान्यजन, जो विवेक और बुद्धि से परिहीन है वह केवल बाह्य वेष—लिंग को देखता है। उसकी दृष्टि बाह्य आकार-प्रकार से दूर नहीं जाती।

(२) मध्यम बुद्धि—वह कुछ परिपक्व होता है। बुद्धि गहरी तो नहीं किंतु व्यावहारिक दृष्टि में पटु होती है। वह देखता है आचार-विचार को। वह देखता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है कि रीति-रिवाज, नियमों का जो ढांचा बना हुआ है, उस चौखटे में पूरा ठीक बैठता है या नहीं।

(३) तीसरा जो ज्ञानी है, जिसने सत्य का स्पर्श किया है, जाना है कि बंधन राग-द्वेष है, अध्यात्म समता है, राग-द्वेष की परिक्षीणता आत्म-रमण है, उसका परीक्षण यही होता है कि साधक कहां तक पहुंचा है? उसका आकर्षण-बिन्दु-जगत् है या आत्मा? अविद्या का बंधन टूटा है या नहीं? वह यह नहीं देखता कि लिंग, चिह्न–वेष कैसा है? आचरण कैसा है? इनका महत्त्व बाह्य दृष्टि से है, अंतर्दृष्टि से नहीं।

महावीर की दृष्टि भी अंतःस्थित है। वेष से अधिक महत्त्व है उनकी दृष्टि में समता, ज्ञान-दर्शन और चारित्र का। वेष है और ज्ञान दर्शन नहीं है तो महावीर की दृष्टि में यह केवल आत्मघाती है। इसलिए वे कहते हैं–केश-लुंचन या सिर को मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता। श्रमण वह होता है जो सर्वदा समस्त स्थितियों में संतुलन बनाए रखता है, राग और द्वेष की तरंगें जिसे प्रकंपित नहीं करती। ब्रह्म–आत्मा में निवास करने वाला ब्राह्मण होता है। मुनि वह होता है जो सम्यग् ज्ञान में स्थित है और तापस वह है जो स्वभाव की दिशा में अग्रसर होता है। चारों के चार मार्ग भिन्न नहीं हैं। शब्द भिन्न हैं, दिशा सबकी आत्मोन्मुखी है। एक दिशा का परिवर्तन ही जीवन का परिवर्तन है। वेष-भूषा है संत की और जीवन का मुख है संसार की तरफ तो उससे वांछित सिद्धि नहीं होती।

**२६. कर्मणा ब्राह्मणो लोकः कर्मणा क्षत्रियो भवेत्।**
**कर्मणा जायते वैश्यः, शूद्रो भवति कर्मणा॥**

**ब्रह्मविद्या का कर्म करने वाला ब्राह्मण, सुरक्षा का कर्म करने वाला क्षत्रिय, व्यवसाय-कर्म करने वाला वैश्य और सेवाकर्म करने वाला शूद्र होता है।**

**२७. न जातिर्न च वर्णोऽभूद्, युगे युगलचारिणाम्।**
**ऋषभस्य युगादेषा, व्यवस्था समजायत॥**

**यौगलिक युग में न कोई जाति थी और न कोई वर्ण था। भगवान् ऋषभ के युग में जाति और वर्ण की व्यवस्था का प्रवर्तन हुआ।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२८. एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते।
जातिगर्वो महोन्मादो, जातिवादो न तात्त्विकः॥

**मनुष्य जाति एक है। उसका विभाग आचार अथवा वर्ण के आधार पर होता है। जाति का गर्व करना सबसे बड़ा उन्माद है क्योंकि जातिवाद तात्त्विक वस्तु नहीं है।**

२९. जातिवर्णशरीरादि-बाह्यैर्भेदैर्विमोहितः।
आत्माऽऽत्मसु घृणां कुर्याद्,एष मोहो महान् नृणाम्॥

**जाति, वर्ण, शरीर आदि बाह्य भेदों से विमूढ बनकर एक आत्मा दूसरी आत्मा से घृणा करे—यह मनुष्यों का महान् मोह है।**

जाति व्यवहाराश्रित है और धर्म आत्माश्रित। आत्म-जगत् में प्रत्येक प्राणी समान है। वहां जातियों के विभाग इन्द्रियों के आधार पर हैं। धर्म के आधार पर व्यक्तियों का बंटवारा करना धर्म को कभी प्रिय नहीं है। धर्म के उपदेष्टा-ऋषियों ने कहा—प्रत्येक प्राणी को अपने जैसा समझो। उनकी दृष्टि में भाषा-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भेद, जाति-भेद आदि का महत्त्व नहीं था। जातियों की कल्पना केवल कर्म-आश्रित की गयी थी। 'मनुष्य जाति एक है'—ऐसा कहकर सबमें भातृत्व के बीज का वपन किया था। किन्तु मनुष्य इस इकाई—सत्य को भूलकर अनेकता में विभक्त हो गया। वह जाति के मद में एक को ऊंचा और एक को नीचा देखने लगा। फलस्वरूप समाज में घृणा की भावना फैली।

युग के आरंभ में जातियों की व्यवस्था नहीं थी। वह यौगलिक युग था। जनसंख्या भी अधिक नहीं थी। जो भाई-बहन के रूप में एक साथ उत्पन्न होते और पति-पत्नी बनकर एक साथ ही मरते उन्हें युगलचारी यौगलिक कहा जाता था। यौगलिक युग पलटा और कर्म का युग आया। तब भगवान् ऋषभनाथ ने कर्म के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन किया। समय के साथ-साथ उनमें कितने उतार-चढ़ाव आए हैं, इसे इतिहासज्ञ जानते हैं।

१. ब्राह्मण—ब्रह्म—आत्मा की उपासना करना, औरों को इसका उपदेश करना ब्राह्मण का काम था। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—ब्राह्मण का काम 'माहण माहण'—'हिंसा मत करो' यह उपदेश देना था। 'माहण' शब्द ही ब्राह्मण के रूप में व्यवहृत होने लगा। गीता में प्रशान्तता, आत्मसंयम, तपस्या, पवित्रता,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सहनशीलता, ईमानदारी, ज्ञान-विज्ञान और धर्म में श्रद्धा—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं।

२. क्षत्रिय—आततायियों से देश आदि की रक्षा करने वाला वर्ग।

३. वैश्य—व्यापार, कृषि आदि से वृत्ति करने वाला वर्ग।

४. शूद्र—समाज की सेवा करने वाला वर्ग।

इस व्यवस्था में काम की मुख्यता है। जन्म मात्र से कोई ऊंचा और नीचा नहीं होता। एक ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है और एक शूद्र भी ब्राह्मण। यह सारी एक मनोवैज्ञानिक पद्धति थी। श्री गेलार्ड ने अपनी पुस्तक 'मैन दी मास्टर' में समाज के चतुर्विध संगठन की आवश्यकता पर जोर दिया है।

भगवान् महावीर जातिवाद के विरोधी थे। उन्होंने कहा—यह अधर्म है, उन्माद है, जो अतात्त्विक को तात्त्विक मानता है। जो व्यक्ति इन्हें शाश्वतता का चोला पहनाता है, वह मूढ़ है।

**३०. यस्तिरस्कुरुतेऽन्यं स, संसारे परिवर्तते।**
**मन्यते स्वात्मनस्तुल्यान्, अन्यान् स मुक्तिमश्नुते॥**

**जो दूसरे का तिरस्कार करता है, वह संसार में पर्यटन करता है और जो दूसरों को आत्म-तुल्य मानता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है।**

मुक्ति विषमता में नहीं, समता में है। घृणा, तिरस्कार, अपमान में विषमता है। इनका प्रयोग प्रयोक्ता पर ही प्रहार करता है। वह कभी उठ नहीं सकता। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—तीनों ही दृष्टि से उसका पतन होता है। आज के मनोवैज्ञानिकों ने इसे कसौटी पर कसा ह। 'शत्रु को बार-बार क्षमा कर दो'—इस प्रकार का आचरण कर रक्तचाप, हृदयरोग, उदर-व्रण आदि अन्य कई व्याधियों से दूर रह सकते हैं। मिल्वो की पुलिस-विभाग के एक बुलेटिन में लिखा है—'जब आप जैसे के साथ तैसा करते हैं तो अपने शत्रु को दुःखी करने के बजाय आप स्वयं दुःखी बन जाते हैं। घृणा का परिणाम कभी भी अच्छा नहीं होता।' अब्राहम लिंकन ने कहा था—'उदारता सबके लिए करो, पर घृणा किसी के लिए नहीं।' बाइबिल कहती है—'प्यार से खिलाए गए कंद-मूल घृणा से खिलाये गए पकवान से अधिक स्वादिष्ट लगते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३१. अनायको महायोगी, मौनं पदमुपस्थितः।
साम्यं प्राप्तः प्रेष्यप्रेष्यं, वन्दमानो न लज्जते॥

जिसका कोई नायक नहीं है, वह चक्रवर्ती मौनपद—श्रामण्य में उपस्थित होकर महायोगी बना और समत्व को प्राप्त हुआ, वह अपने से पूर्व दीक्षित अपने भृत्य के भृत्य को भी वंदना करने में लज्जित नहीं होता।

साधुत्व समता की आराधना है। छोटे और बड़े के विचारों में अहं का जन्म होता है। साधक अहं से ऊपर विचरने वाला होता है। वहां छोटे और बड़े का भेद नहीं है। यह भेद कृत्रिम है। साधुत्व में मुख्यता है संयम की। दो व्यक्ति साथ-साथ दीक्षित होते हैं—एक चक्रवती है और दूसरा उसका नौकर। संयम की दृष्टि से दोनों समकक्ष हैं।

संयम में चक्रवर्ती और सेवक का भेद मिट जाता है। वहां समता का साम्राज्य रहता है।

**मेघः प्राह**

३२. केनोपायेन देवेदं, मनःस्थैर्यं समश्नुते?
स्वीकृतस्याध्वनो येनाऽप्रच्यवः सिद्धिमाप्नुयात्॥

मेघ बोला—देव! किस उपाय से मन की स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिससे स्वीकृत-मार्ग पर आरूढ़ रहने का मार्ग सिद्ध हो जाए।

**भगवान् प्राह**

३३. मनः साहसिको भीमो, दृष्टोऽश्वः परिधावति।
सम्यग् निगृह्यते येन, स जनो नैव नश्यति॥

भगवान् ने कहा—मन दुष्ट घोड़ा है। वह साहसिक और भयंकर है। वह दौड़ रहा है। उसे जो भली-भांति अपने अधीन करता है, वह मनुष्य नष्ट नहीं होता— सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

३४. उन्मार्गे प्रस्थिता ये च, ये च गच्छन्ति मार्गतः।
सर्वे ते विदिता यस्य, स जनो नैव नश्यति॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जो उन्मार्ग में चलते हैं और जो मार्ग में चलते हैं, वे सब जिसे ज्ञात हैं, वह मनुष्य नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

३५. आत्मायमजितः शत्रुः, कषायाः इन्द्रियाणि च।
जित्वा तान् विहरेन्नित्यं, स जनो नैव नश्यति॥

कषाय और इन्द्रियां शत्रु हैं। वह आत्मा भी शत्रु है, जो इनके द्वारा पराजित है। जो उन्हें जीतकर विहार करता है, वह मनुष्य नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

३६. रागद्वेषादयस्तीव्राः, स्नेहाः पाशा भयंकराः।
ताञ्छित्वा विहरेन्नित्यं, स जनो नैव नश्यति॥

प्रगाढ़ राग-द्वेष और स्नेह—ये भयंकर पाश हैं, जो इन्हें छिन्न कर विहार करता है, वह मनुष्य नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

३७. अन्तोहृदयसम्भूता, भवतृष्णा लता भवेत्।
विहरेत्तां समुच्छित्य, स जनो नैव नश्यति॥

यह भव-तृष्णा रूपी लता हृदय के भीतर उत्पन्न होती है। उसे उखाड़कर जो विहार करता है, वह मनुष्य नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

३८. कषाया अग्नयः प्रोक्ताः, श्रुत-शील-तपोजलम्।
एतद्धाराहता यस्य, स जनो नैव नश्यति॥

कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप—यह जल है। जिसने इस जलधारा से कषायाग्नि को आहत कर डाला—बुझा डाला, वह मनुष्य नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

इन श्लोकों में कुमारश्रमण केशी और गणधर गौतम के प्रश्न और उत्तर हैं।

कुमारश्रमण केशी भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा के चौथे पट्टधर थे। एक बार वे ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती में आए और 'तिन्दुक' उद्यान में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ठहरे। भगवान् महावीर के शिष्य गणधर गौतम भी संयोगवश उसी नगर में आए और 'कोष्टक' उद्यान में ठहरे। दोनों के शिष्यों ने एक-दूसरे को देखा। बाह्य वेशभूषा, व्यवहार आदि की भिन्नता के कारण उनमें ऊहापोह होने लगा। दोनों आचार्यों ने यह सुना। वे शिष्यों की शंकाओं का निराकरण करना चाहते थे, अतः वे एक स्थान पर मिले। आपस में संवाद हुआ। प्रश्नोत्तर चले।

केशी ने गौतम से पूछा—भंते! आप दुष्ट अश्व पर चढ़कर चले जा रहे हैं, क्या वह आपको उन्मार्ग में नहीं ले जाता?

गौतम ने कहा—मैंने उसे श्रुत की लगाम से बांध रखा है। वह मेरे वश में है। वह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व है वह मन है। वह मेरे अधीन है, उस पर मेरा पूरा नियंत्रण है। इस नियंत्रण के द्वारा वह मेरी आज्ञा का पालन करता है।

केशी ने पूछा—भंते! लोक में कुमार्ग बहुत हैं। आप उनमें कैसे नहीं भटकते?

गौतम ने कहा—मुने! जो मार्ग और कुमार्ग हैं, वे सब मुझे ज्ञात हैं। जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो वीतराग का मार्ग है, वह सन्मार्ग है, वह उत्तम मार्ग है। मैं दोनों को जानता हूं। अतः भटकने का प्रश्न ही नहीं आता।

केशी ने पूछा—भंते! तुम्हारा शत्रु कौन है?

गौतम ने कहा—मुने! एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है, कषाय और इंद्रियां शत्रु हैं। मैं उन्हें जीतकर विहरण करता हूं।

केशी ने पूछा—भंते! पाश—बंधन क्या है?

गौतम ने कहा—मुने! प्रगाढ़ राग, प्रगाढ़ द्वेष और स्नेह—ये पाश हैं, बंधन हैं। इनसे जीव कर्म-बद्ध होता है। ये संसार के मूल हैं।

केशी ने पूछा—भंते! हृदय के भीतर जो उत्पन्न लता है, जिसके विषतुल्य फल लगते हैं, उसे आपने कैसे उखाड़ा? वह लता क्या है?

गौतम ने कहा—मुने! भव-तृष्णा को लता कहा गया है। वह भयंकर है। उसमें भयंकर फलों का परिपाक होता है। मैंने उसे सर्वथा काटकर उखाड़ फेंका है। मैं विष-फल के खाने से मुक्त हूं।

केशी ने पूछा—भंते! अग्नि किसे कहते हैं?

गौतम ने कहा—मुने! क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार अग्नियां हैं। ये

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सदा प्रज्वलित रहती हैं। श्रुत, शील और तप—यह जल है। श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर, निस्तेज बनी हुई ये अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

**३९. येनात्मा साधितस्तेन, विश्वमेतत् प्रसाधितम्।**
**येनात्मा नाशितस्तेन, सर्वमेव विनाशितम्॥**

**जिसने आत्मा को साध लिया, उसने विश्व को साध लिया। जिसने आत्मा को गंवा दिया, उसने सब कुछ गंवा दिया।**

**४०. गच्छेद् दृष्टेषु निर्वेदं, अदृष्टेषु मतिं सृजेत्।**
**दृष्टाऽदृष्टविभागेन, नैकान्ते स्थापयेन्मतिम्॥**

**आत्मदर्शी साधक दृष्ट—पौद्गलिक वस्तु से विरक्त बने और अदृष्ट—आत्मिक तत्त्व की प्राप्ति के लिए बुद्धि लगाए। दृष्ट और अदृष्ट के विभाग को समझ कर एकांत—केवल दृष्ट में मति का नियोजन न करे।**

साध्य दृष्ट नहीं, अदृष्ट है। दृष्ट इन्द्रियां हैं और उनके विषय। जो व्यक्ति इनमें आकृष्ट होता है; वह अदृष्ट आत्मानंद से हाथ धो लेता है। आगम में कहा है—अमूर्त आत्मा मन और इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकती। इन्द्रिय सुख अनित्य है। आत्मिक सुख नित्य है। इसलिए भर्तृहरि ने साधक को सावधान करते हुए कहा है—'भोग क्षणभंगुर हैं, साधक! तू इनमें प्रेम मत कर।' साधक भोग में रोग-भय देखे, अदृष्ट के प्रति पूर्ण आस्थावान बने।

अदृष्ट के बिना दृष्ट का कोई अर्थ नहीं होता। दृष्ट के पीछे अदृष्ट की शक्ति काम कर रही है। यह स्पष्ट है किन्तु वहां तक पहुंच कठिन है। अंधी, बहरी 'हेलन कीलर' से पूछा—इस संसार में सबसे आश्चर्यजनक घटना क्या है? उसने कहा—लोगों के पास कान हैं, पर शायद ही कोई सुनता हो, लोगों के पास आंखें हैं पर शायद ही कोई देखता हो और लोगों के पास हृदय है पर शायद ही कोई अनुभव करता हो। बस, यही आश्चर्यजनक घटना है। 'हेलन कीलर' का आशय है—मनुष्य अपने सेंटर (केन्द्र) अदृश्य से परिचित नहीं है।

दृष्ट का आकर्षण व्यक्ति को मूढ़ बना देता है। जो बाहर में उलझ जाए वही मूढ़ होता है, भले, चाहे वह विद्वान् हो या अविद्वान्। वस्तुएं जब व्यक्ति को पकड़ लेती हैं। तब कैसे वह अदृष्ट को खोज सकता है। महावीर कहते हैं—दृश्य जगत ही सब कुछ नहीं है। दृश्य जगत की उपादेयता अदृश्य के होने पर ही है। इन्द्रियां, मन अदृश्य की शक्ति के बिना व्यर्थ हैं। इन्द्रिय जगत के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पीछे उनका एक संचालक है। उसे भूलना ही संसार है। साधक दृष्ट में विरक्त हो और अदृष्ट में अनुरक्त हो, दृष्ट से वियुक्त हो और अदृष्ट से संयुक्त हो, दृष्ट में अज्ञ हो और अदृष्ट में विज्ञ हो—इसी से जीवन में एक नया आयाम खुल सकता है।

**४१. श्रमणो वा गृहस्थो वा, यस्य धर्मे मतिर्भवेत्।**
**आत्माऽसौ साध्यते तेन, साध्ये कृत्वा स्थिरं मनः॥**

**जिसकी मति धर्म में लगी हुई है, वह श्रमण हो या गृहस्थ, साध्य में मन को स्थिर बनाकर आत्मा को साध लेता है।**

आत्मा की जब आत्मा में स्थिति हो जाती है, तब उसका कार्य सिद्ध हो जाता है। इसका अधिकारी मुमुक्षु है। मुमुक्षुभाव की जिसमें जितनी प्रबलता होती है, वह उतना ही आत्मा के निकट पहुंच जाता है। मुमुक्षु के लिए जाति, वर्ण, क्षेत्र आदि की कोई मर्यादा नहीं है।

चाहे गृहस्थ हो या साधु, जो संयम के मार्ग पर बढ़ रहा है, जिसका मुमुक्षाभाव प्रज्वलित है, वह लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

भगवान् महावीर इतने उदारचेता थे कि उन्होंने लक्ष्य-सिद्धि की बात किसी वेश, लिंग या व्यक्ति से नहीं जोड़ी। उन्होंने स्पष्ट कहा—'चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, चाहे जैन हो या जैनेतर, चाहे स्त्री हो या पुरुष—सब मुक्त हो सकते हैं, यदि वे अनुत्तर संयम का पालन करते हैं।'

आत्मा सबमें है, किन्तु उसके होने का अनुभव सबको नहीं है। जिसमें अनुभव है, आत्मा का जन्म वहीं है। जो उसे प्रकट करने में उद्यत होता है वही साधक होता है। फिर वह चाहे श्रमण-मुनि, भिक्षु हो या गृहस्थ। आत्मा का संबंध बाहर से नहीं, अंतर्जागरण से है। उसके लिए अभीप्सा प्रबल चाहिए। महावीर का यही घोष है कि आत्मवान बनो। अपने भीतर है उसे खोजो। अनात्मवान कोई भी हो सब समान है। जिसने आत्मा को साधा, पाया वही धन्यवादार्ह है। बुद्ध ने आनंद से कहा—'आनंद तू धन्य है, जो प्रधान साधना में लग गया।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**साध्यसाधनसंज्ञाननामा त्रयोदशोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १४

# गृहस्थ-धर्म प्रबोधन

आचरण की दो प्रेरणाएं हैं—मूर्च्छा और विरति। मूर्च्छा-प्रेरित आचरण धर्म नहीं है। विरति-प्रेरित आचरण धर्म है। गृहस्थ पदार्थ का संग्रह करता है, पदार्थ के बीच जीता है और पदार्थ का भोग करता है। सहज ही प्रश्न होता है—पदार्थ के मध्य रहने वाला गृहस्थ धर्म की आराधना कैसे कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर ने विभज्यवादी दृष्टिकोण से दिया—गृहस्थ धर्म की आराधना कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता। मूर्च्छा या आसक्ति की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है। प्रत्याख्यान की शक्ति को विकृत बनाने वाली मूर्च्छा उपशांत या क्षीण होती है, तब विरति की चेतना प्रकट होती है। इस अवस्था में पदार्थ के मध्य रहने वाला गृहस्थ भी विरत हो सकता है, धर्म की आराधना कर सकता है। जितनी मूर्च्छा उतनी अविरति/असंयम। जितनी अमूर्च्छा उतनी विरति/संयम। अविरति और विरति अथवा मूर्च्छा और अमूर्च्छा के आधार पर भगवान् महावीर ने धर्म को दो भागों में विभक्त किया। प्रस्तुत अध्याय में इसी विषय की परिक्रमा है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# गृहस्थ-धर्म प्रबोधन

**मेघः प्राह**

१. गृहप्रवर्तने लग्नो, गृहस्थो भोगमाश्रितः।
धर्मस्याराधनां कर्तुं, भगवन्! कथमर्हति?

**मेघ बोला—भगवन्! जो गृहस्थ भोग का सेवन करता है और गृहस्थी चलाने में लगा हुआ है, वह धर्म की आराधना कैसे कर सकता है?**

महावीर ने कहा है—व्यक्ति गृहस्थ वेश में भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है और साधु वेश में भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ में और इसके बाहर भी मुक्ति का द्वार बन्द नहीं है। यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण सत्य पर आधारित है। मेघ की दृष्टि में यह प्रतिपादन नवीन था। उसे शंका हुई कि गृहस्थ साध्य को कैसे प्राप्त कर सकता है, जब कि वह गृहकार्यों में संलग्न रहता है? मुक्त श्रमण ही हो सकता है, इसलिए लोग घर छोड़कर प्रव्रजित होते हैं। यदि गृहस्थ जीवन में मुक्ति साध्य हो सकती है तो कौन श्रमण, भिक्षु बनने का कष्ट उठाएगा?

दूसरा कारण यह भी रहा कि श्रमण परम्परा में श्रमण होने पर बल दिया गया। गृहस्थ जीवन में सत्य की घटना घटने के विरल ही उदाहरण हैं। श्रमण ही सब पापों से मुक्त हो सकता है—ऐसे संस्कारों के कारण लोगों का झुकाव श्रामण्य की ओर हुआ, श्रमण सम्मानित हुए और गृहस्थ अपूज्य। गृहस्थों के लिए मोक्ष का द्वार प्रायः बन्द जैसा रहा। गृहस्थ कितनी ही ऊंची साधना करे, वह श्रमण से नीचा ही है—ऐसी स्थिति में यह शंका कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

**भगवान् प्राह**

२. देवानुप्रिय! यस्य स्याद्, आसक्तिः क्षीणतां गता।
धर्मस्याराधनां कुर्यात्, स गृहे स्थितिमाचरन्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जिस व्यक्ति की आसक्ति क्षीण हो जाती है वह घर में रहता हुआ भी धर्म की आराधना कर सकता है।

३. गृहेऽप्याराधना नास्ति, गृहत्यागेऽपि नास्ति सा।
आशा येन परित्यक्ता, साधना तस्य जायते॥

धर्म की आराधना न घर में है और न घर को छोड़ने में। उसका अधिकारी गृहस्थ भी नहीं है और गृहत्यागी भी नहीं है। उसका अधिकारी वह है, जो आशा को त्याग चुका है।

भगवान् का कथन है—मैंने साधक और गृहस्थ में कोई भेद-रेखा नहीं खींची है। साध्य की साधना के लिए प्रत्येक क्षेत्र खुला है। साधना हर कहीं हो सकती है। वह दिन में भी हो सकती है और रात में भी हो सकती है। अकेले में भी हो सकती है, बहुतों के बीच भी हो सकती है। सोते भी हो सकती है और जागते हुए भी। घर में भी हो सकती है और घर का त्याग करने पर भी। इसके लिए कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रतिबंध एक ही है और वह है—आसक्ति का त्याग होना चाहिए। इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयों में जब तक अनुराग है तब तक मुक्ति नहीं है, फिर भले वह साधक हो या गृहस्थ। आशा, इच्छा और आकर्षण ही बंधन है।

४. नाशा त्यक्ता गृहं त्यक्तं,नासौ त्यागी न वा गृही।
आशा येन परित्यक्ता, त्यागं सोऽर्हति मानवः॥

जिसने घर का त्याग किया किन्तु आशा का त्याग नहीं किया, वह न त्यागी है और न गृहस्थ। वही मनुष्य त्याग का अधिकारी है, जो आशा को त्याग चुका है।

त्यागी वह नहीं है जिनके पास वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री, शय्या आदि भोग-सामग्री नहीं है किन्तु त्यागी वह है जो प्राप्त भोग-सामग्री को विरक्त होकर ठुकराता है। पदार्थों के प्रति फिर उसका कोई आकर्षण नहीं रहता। भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! प्रत्याख्यान से आत्मा को क्या प्राप्त होता है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् ने कहा–'त्याग से व्यक्ति वितृष्ण हो जाता है। मन को भाने वाले और न भाने वाले पदार्थों में उसका राग-द्वेष नहीं रहता।'

**'उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टिया मया।**
**दोवि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई॥'**

(उत्तर० २५/४०)

'सूखे और गीले दो मिट्टी के गोले हैं। दोनों को भीत पर फेंका जाता है, जो सूखा होता है वह भीत पर नहीं चिपकता, किन्तु जो गीला है वह चिपक जाता है।'

यह आसक्ति का स्वरूप है। आसक्ति स्नेह है। स्नेह पर रजकण चिपकते हैं, अनासक्त पर नहीं। वस्तुएं निर्जीव हैं, उनमें न बंधन है और न मुक्ति। बंधन व मुक्ति आशा और अनाशा में है।

**५. पदार्थत्यागमात्रेण, त्यागी स्याद् व्यवहारतः।**
**आसक्तेः परिहारेण, त्यागी भवति वस्तुतः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जो व्यक्ति केवल पदार्थों का त्याग करता है, किन्तु उसकी वासना का त्याग नहीं करता वह व्यवहार-दृष्टि से त्यागी है, वास्तव में नहीं। वास्तव में त्यागी वही है जो आसक्ति का त्याग करता है।

६. पूर्णत्यागः पदार्थानां, कर्तुं शक्यो न देहिभिः।
आसक्तेः परिहारस्तु, कर्तुं शक्योऽस्ति तैरपि॥

देहधारियों के लिए पदार्थों का सर्वथा परित्याग करना संभव नहीं होता किन्तु वे आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर सकते हैं।

७. यावानाशापरित्यागः, क्रियते गेहवासिभिः।
तावान् धर्मो मया प्रोक्तः, सोऽगारधर्म उच्यते॥

गृहवासी मनुष्य आशा का जितना परित्याग करते हैं, उसी को मैंने धर्म कहा है और वही अगार-धर्म कहलाता है।

शरीर की विद्यमानता में इन्द्रियां हैं और इन्द्रियों की सत्ता में विषयों का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ग्रहण भी। किन्तु ये अपने आप में बंधनकारक नहीं हैं। बंधन का निमित्त है—आशा, इच्छा, अनुराग और आसक्ति। व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों से उपरत नहीं हो सकता लेकिन उनमें जो आकर्षण है, इच्छा है, उसे वह छोड़ सकता है। आशा-त्याग ही धर्म है। गीता का अनासक्त-योग और जैन धर्म का आशा-त्याग एक ही है। किसी भी देहधारी आदमी के लिए कर्म का पूर्ण त्याग कर देना असंभव है। परन्तु जो कर्मों के फलों को त्याग देता है वही त्यागी कहलाता है। आसक्ति त्याग का जिस मात्रा में अभ्यास है उसी मात्रा के अनुसार आत्मा धर्म या मोक्ष के सन्निकट है।

८. सम्यक्श्रद्धा भवेत्तत्र, सम्यक्ज्ञानं प्रजायते।
सम्यक्चारित्रसम्प्राप्तेः, योग्यता तत्र जायते॥

**जिसमें सम्यक्-श्रद्धा होती है, उसी में सम्यक्-ज्ञान होता है और जिसमें ये दोनों होते हैं उसी में सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति की योग्यता होती है।**

९. योग्यताभेदतो भेदो, धर्मस्याधिकृतो मया।
एक एवान्यथा धर्मः, स्वरूपेण न भिद्यते॥

**योग्यता में तारतम्य होने के कारण मैंने धर्म के भेद का निरूपण किया है। स्वरूप की दृष्टि से वह एक है। उसका कोई विभाग नहीं होता।**

१०. महाव्रतात्मको धर्मोऽनगाराणां च जायते।
अणुव्रतात्मको धर्मो, जायते गृहमेधिनाम्॥

**अनगार के लिए महाव्रतरूप धर्म और गृहस्थ के लिए अणुव्रतरूप धर्म का विधान किया गया है।**

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र (आचरण) धर्म है। जिसकी दृष्टि सम्यग् हो गई, पर-पदार्थों या मान्यताओं से जो घिरा नहीं है, वह सम्यग् द्रष्टा होता है। सम्यग् ज्ञान भी वहीं होता है और सम्यग् चारित्र की योग्यता भी वहीं होती है। विभाजन योग्यता के आधार पर है। श्रमण और गृहस्थ—दोनों की गति एक ही दिशा की ओर है। किन्तु गति का अंतर है। एक की यात्रा 'जेट विमान' पर होती है और दूसरे की यात्रा 'कार' या 'साइकिल' पर होती है। पहुंचते दोनों हैं पर पहुंचने के समय में अंतर हो जाता है। महाव्रत की यात्रा जेट मिमान की यात्रा है। महाव्रती का मुख संसार से उदासीन होता है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और परमात्मा के सम्मुख। बस, वह एकमात्र आत्मा को धुरी मानकर अनवरत उसी दिशा में बढ़ता रहता है। उसकी दृष्टि इधर-उधर नहीं जाती और जाती भी है तो तत्काल वह अपने ध्येय पर उसे पुनः ले आता है। श्रमण होकर फिर जो अपने ध्येय—आत्मदर्शन में अप्रवृत्त रहता है तो समझना चाहिए श्रामण्य केवल बाहर से आया है, भीतर से उत्पन्न नहीं हुआ। गृहस्थ के और उसके जीवन में वेष के अतिरिक्त विशेष अंतर नहीं रहता।

गृहस्थ अनासक्ति और आसक्ति के मध्य गति करता रहता है। वह सर्वथा इन्द्रिय और मन के अनुराग से मुक्त नहीं हुआ है। उसके पैर दोनों दिशाओं में चलते हैं। लेकिन वह जानता है कि मंजिल यह नहीं है। उसे ममत्व से मुक्त होना है। इसलिए वह स्थूल से सूक्ष्म, दृश्य से अदृश्य और भ्रांति से सत्य की तरफ सचेष्ट रहता है।

अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह यह व्यक्त करता है कि व्यक्ति भीतर में आसक्त है। आसक्ति के टूटने पर वस्तुओं का संग्रह हो, यह अपेक्षित-सा नहीं लगता। उसके पीछे कोई अन्य कारण हो तो भिन्न बात है। त्याग वही कर सकता है जो आसक्ति से मुक्त है। आसक्त व्यक्ति छोड़कर भी बहुत इकट्ठा कर लेता है।

सामान्य व्यक्ति वस्तुओं को पकड़ते हैं और उन पर राग-द्वेष का आरोपण करते हैं, किन्तु राग-द्वेष पर प्रहार नहीं करते। जब कि मूल है—राग-द्वेष। धर्म की मूल साधना है—समता, राग-द्वेष-मुक्त प्रवृत्ति। यदि धार्मिकों का जीवन राग-द्वेष से मुक्त होता तो निःसंदेह यत् किंचित् मात्रा में सफलता मिलती। लकीर को पीटने से सांप नहीं मरता।

महावीर ने कहा है—परिग्रह—मूर्च्छा आसक्ति है। आसक्ति का त्याग न कर, केवल जिसने घर को छोड़ दिया, वह न मुनि है और न गृहस्थ। कबीर ने कहा है—**'आसन मारके बैठा रे योगी आश न मारी जोगी'**—योगी आसन जमा कर बैठा है किन्तु आशा—आकांक्षा को नहीं मारा।

वस्तुओं का संग्रह आसक्ति से होता है। आसक्त व्यक्ति बाहर से स्वयं को भरने का यत्न करता है। अनासक्त भीतर के रस से आप्लावित होता है। वह बाहर से भरने में कोई सार नहीं देखता। वस्तुओं के प्रति उसके मन में कोई आकर्षण नहीं रहता। वह देखता है—पदार्थ पदार्थ हैं। इनकी उपयोगिता बाहर के लिए है, भीतर के लिए नहीं। ध्रुवीय प्रदेशों में एक एस्किमों परिवार है। धार्मिकों को भी उनसे बहुत कुछ सीखने जैसा है। एक फ्रेंच यात्री पहली बार गया। उसने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लिखा है–मैंने उनसे ज्यादा सम्पन्न व्यक्ति नहीं देखे। वह उनके रीति-रिवाजों से अपरिचित था। जिस घर में वह ठहरा था, उसने वहां देखा, जूते बड़े सुन्दर हैं। मन प्रसन्न हो गया। उसने कहा–जूते सुन्दर हैं। तत्काल वे उसे दे दिए। उनके पास दूसरा जोड़ा नहीं था। और भी कोई सुन्दर चीज देखी और उसने कहा, वैसी ही चीज उसे मिल गई। उसने सोचा वह क्या बात है? घर में एक वृद्ध सज्जन थे। उसने पूछा क्या बात है? वृद्ध ने जो कहा, वह बहुत गहरे धर्म की बात है–

'चीजें-चीजें हैं वे किसी की नहीं। जिनके पास हैं उनके लिए अब व्यर्थ हो गई हैं, कोई आकर्षण नहीं रहा, किन्तु जिसके पास नहीं हैं वह सम्मोहित हो रहा है, लेने को ललचा रहा है। यदि उसे नहीं मिलेगी तो सम्मोहन–आकर्षण टूटेगा नहीं।

'जो चीज हमारी है हम मालिक हैं तो उसकी मालकियत तभी है जब किसी को दे देते हैं, अन्यथा उसके गुलाम होते हैं।' वर्ष भर में एक दिन आता है जिस दिन सभी घरों में अनावश्यक और आवश्यक वस्तुओं की छंटनी कर दी जाती है और फिर अनावश्यक लाते ही नहीं।

**मेघः प्राह**

**११. अगारिणां कथं धर्मो, व्यापृतानाञ्च कर्मसु।**
**गृहिणां यदि धर्मः स्यादनगारो हि को भवेत्॥**

**मेघ बोला–भंते! गृहस्थी में लगे हुए गृहस्थों में धर्म कैसे हो सकता है? यदि गृहस्थ भी धर्म के अधिकारी हों तो फिर साधु कौन बनेगा?**

**भगवान् प्राह**

**१२. सत्यं देवानुप्रियैतद्, मुमुक्षा यस्य नोत्कटा।**
**स वृत्तिमनगाराणां, न नाम प्रतिपद्यते॥**

**भगवान् ने कहा–देवानुप्रिय! यह सच है कि जिसमें मुक्त होने की प्रबल इच्छा नहीं है, वह मुनि-धर्म को स्वीकार नहीं करता।**

**१३. मुमुक्षा यावती यस्य, समतां तावतीं श्रितः।**
**आचरति गृही धर्मं, व्यापृतोऽपि च कर्मसु॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिस गृहस्थ में मुक्त होने की जितनी भावना होती है, वह उतनी ही मात्रा में समता का आचरण करता है और जितनी मात्रा में समता का आचरण करता है, उतनी ही मात्रा में धर्म का आचरण करता है। इस प्रकार वह गृहस्थ के कार्यों में लगा रहने पर भी धर्म की आराधना करने का अधिकारी है।**

मुनि वही हो सकता है, जो संसार से उद्विग्न है, जिसमें आत्म-हित की उत्कृष्ट अभिलाषा है। भोग का वियोग देखने वाला व्यक्ति ही योग का अनुसरण कर सकता है। संवेग (मुक्ति-अभिलाषा) और निर्वेद (भव-विरक्ति) ही व्यक्ति को मुनि बना सकती है। इन दोनों की अपूर्णता में मुनि-जीवन संभव नहीं होता।

किन्तु इससे हम संवेग और निर्वेद की आंशिकता का निषेध नहीं कर सकते। गृहस्थ में भी विचारों की तरतमता देखी जाती है। कुछ व्यक्ति गीता की दृष्टि में तमोगुणी होते हैं, कुछ रजोगुणी और कुछ सतोगुणी। सतोगुणी व्यक्ति सद्ज्ञान प्रधान होते हैं। वे कर्तव्य-अकर्तव्य के बीच विवेक कर सकते हैं। रजोगुणी व्यक्तियों में लोभ, इच्छा, भोग आदि की प्रधानता होती है। तमोगुणी अज्ञान और मूढ़ता से आच्छन्न रहते हैं। ये व्यक्ति उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। विचारों की इस त्रिविधता को हम धर्म और अधर्म के शब्दों में बांधें तो राजसिक और तामसिक गुण अधर्म है और सात्विक गुण धर्म है। सरलता, समता, सद्भावना, सहिष्णुता, मनःशौच आदि गुणधर्म हैं। जिन व्यक्तियों को इनका पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है वे गुणातीत दशा को पा लेते हैं। लेकिन अभ्यासकाल में इन गुणों के आधार पर ही वे धार्मिक होते हैं। गृहस्थ भी समता, संवेग आदि भावों से धार्मिक हैं। जितने अंशों में इनका विकास है वह उतने ही अंशों में धार्मिक भी है।

**१४. द्विविधं विद्यते वीर्यं, लब्धिश्च करणं तथा।**
**अन्तरायक्षयाल्लब्धिः, करणं वपुषाश्रितम्॥**

**वीर्य के दो प्रकार हैं—लब्धिवीर्य—योग्यतात्मक शक्ति और करणवीर्य—क्रियात्मक शक्ति। अंतराय के दूर होने पर लब्धि का विकास होता है और शरीर के माध्यम से करण का प्रयोग होता है।**

**१५. वपुष्मतो भवेद् वाणी, मनोऽप्यस्यैव जायते।**
**शारीरिकं वाचिकञ्च, मानसं तत् त्रिधा भवेत्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिसके शरीर होता है उसी के वाणी और मन होते हैं। इसलिए करणवीर्य तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक।**

धर्म का अभ्यास शक्ति पर निर्भर रहता है। शक्ति के दो रूप हैं—लब्धि-वीर्य और करणवीर्य। धर्म का संबंध केवल शारीरिक शक्ति से ही नहीं है। शारीरिक शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी अनेक व्यक्ति हिंसा, झूठ, कुकृत्य आदि कर्मों में संलग्न रहते हैं। इसके विपरीत शरीर-बल से क्षीण व्यक्ति अहिंसा, अभय, आत्म-दमन आदि क्रियाओं में सावधान देखे जाते हैं। वे लब्धि-वीर्य से सम्पन्न हैं। आत्म-शक्ति को आवृत करने वाली कर्म-वर्गणाएं जब सक्रिय होती हैं, तब व्यक्ति का सामर्थ्य व्यक्त नहीं होता। उसका मन आत्मोन्मुख न होकर बहिर्मुख होता है। वह आत्म-जागरण में स्वशक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। करणवीर्य शरीर के माध्यम से व्यक्त होता है।

**१६. योगः कर्म प्रवृत्तिर्वा, व्यापारः करणं क्रिया।**
**एकार्थका भवन्त्येते, शब्दाः कर्माभिधायकाः॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

योग, कर्म, प्रवृत्ति, व्यापार, करण और क्रिया—ये कर्म के पर्यायवाची शब्द हैं।

१७. सदसतो प्रभेदेन, द्विविधं कर्म विद्यते।
निवृत्तिरसतः पूर्वं, ततः सतोऽपि जायते॥

कर्म के दो प्रकार हैं—सत् और असत्। साधना के प्रारंभ में असत्कर्म की निवृत्ति होती है और जब साधना अपने चरम रूप में पहुंचती है तब सत्कर्म की भी निवृत्ति हो जाती है।

१८. निरोधः कर्मणां पूर्णः, कर्तुं शक्यो न देहिभिः।
विनिवृत्ते शरीरेऽस्मिन्, स्वयं कर्म निवर्तते॥

जब तक शरीर रहता है तब तक देहधारी जीव कर्म—क्रिया का पूर्ण रूप से निरोध नहीं कर सकते। शरीर के निवृत्त होने पर कर्म अपने आप निवृत्त हो जाता है।

१९. विद्यमाने शरीरेऽस्मिन्, सततं कर्म जायते।
निवृत्तिरसतः कार्या, प्रवृत्तिश्च सतस्तथा॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जब तक शरीर विद्यमान रहता है, तब तक निरंतर कर्म होता रहता है। इस दशा में असत्कर्म की निवृत्ति और सत्कर्म की प्रवृत्ति करनी चाहिए।

मेघः प्राह

२०. कुर्वन् कृषिञ्च वाणिज्यं, रक्षां शिल्पं पृथग्विधम्।
सत्प्रवृत्तिं कथं देव! गृहस्थः कर्तुमर्हति?

मेघ बोला—भगवन्! कृषि, वाणिज्य, रक्षा, शिल्प आदि विभिन्न प्रकार के कर्म करता हुआ गृहस्थ सत्प्रवृत्ति कैसे कर सकता है?

भगवान् प्राह

२१. अर्थजानर्थजा चेति, हिंसा प्रोक्ता मया द्विधा।
अनर्थजां त्यजन्नेष, प्रवृत्तिं लभते सतीम्॥

भगवान् ने कहा—मैंने हिंसा के दो प्रकार बतलाए हैं—अर्थजा और अनर्थजा। गृहस्थ अनर्थजा—अनावश्यक हिंसा का परित्याग कर सकता है और जितनी मात्रा में वह उसका त्याग करता है, उतनी मात्रा में उसकी प्रवृत्ति सत् हो जाती है।

२२. आत्मने ज्ञातये तद्वद्, राज्याय सुहृदे तथा।
या हिंसा क्रियते लोकैरर्थजा सा किलोच्यते॥

अपने लिए, परिवार, राज्य और मित्रों के लिए जो हिंसा की जाती है, वह अर्थजा हिंसा कहलाती है।

२३. परस्परोपग्रहो हि, समाजालम्बनं भवेत्।
तदर्थं क्रियते हिंसा, कथ्यते सापि चार्थजा॥

परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करना समाज का आधारभूत तत्त्व है। इस दृष्टि से समाज के लिए जो हिंसा की जाती है, उसे भी अर्थजा हिंसा कहा जाता है।

२४. कुर्वन्नप्यर्थजां हिंसां, नासक्तिं कुरुते दृढाम्।
तदानीं लिप्यते नासौ, चिक्कणैरिह कर्मभिः॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**अर्थजा हिंसा करते समय जो प्रबल आसक्ति नहीं रखता, वह चिकने कर्म-परमाणुओं से लिप्त नहीं होता।**

**२५. हिंसा न क्वापि निर्दोषा, परं लेपेन भिद्यते।**
**आसक्तस्य भवेद् गाढोऽनासक्तस्य भवेन्मृदुः॥**

**हिंसा कहीं भी निर्दोष नहीं होती परन्तु उसके लेप में अंतर होता है। आसक्त का लेप गाढ़ और अनासक्त का लेप मृदु होता है।**

हिंसा हिंसा है। वह कभी अहिंसा नहीं होती और अहिंसा कभी हिंसा नहीं होती। अहिंसा अबंधन है और हिंसा बंधन। अहिंसा में भावों की तरतमता नहीं होती। उसका सदा पवित्र भावनाओं से संबंध है। हिंसा में राग और द्वेष की नियतता है। देखना यही है कि राग और द्वेष का प्रवाह कितना तीव्र है। एक व्यक्ति साधारण कर्म करता हुआ भी उसमें अनुरक्त होता है और एक असाधारण कार्य करता हुआ भी उसमें आसक्त नहीं रहता।

महाराज जनक की एक घटना से यह स्पष्ट हो जाता है। एक बार जनक किसी अन्य राजा के अतिथि बने। वे कुछ दिन वहां रुककर जब जाने लगे तो राजा ने अतिथि से पूछा–'यहां आपको कैसा लगा?' जनक का भी संक्षिप्त-सा सहज उत्तर था–'बहुत बड़े भव्य महल में एक तुच्छ जीवन।' वहां से आते हुए मार्ग में एक साधु की कुटिया थी। कुछ दिन वहां रहने का भी सौभाग्य मिला। वे सत्संग, ध्यान, भजन आदि नियमित कार्यों में सतत भाग लेते रहे। जब वहां से विदा होने लगे तो संत ने सहज प्रश्न किया–'यहां आपको कैसा लगा?' जनक का भी संक्षित उत्तर था–'एक छोटी-सी झोंपड़ी में एक महान् जीवन।'

जिस कार्य में आसक्ति की मात्रा अधिक होती है वहां कर्म का बंधन भी दृढ़ होता है, उसका फल भी कटुक होता है। जहां आसक्ति नहीं है वहां कर्म का बंधन गाढ़ नहीं होता और फल भी दारुण नहीं होता। असत् कर्म से बंधन अवश्य होता है, भले वह अनासक्तिपूर्वक हो या आसक्तिपूर्वक। जैन दर्शन में अनासक्ति का पूर्णरूप वहां निखार पाता है जहां सत् और असत् के प्रति भी आकांक्षा छूट जाती है। सत् कर्म में भी पुण्य कर्म प्रवाहित होता रहता है किन्तु उसका फल दारुण नहीं होता। आसक्ति की तीव्रता और अतीव्रता से उसके फल में वैसा ही रस पड़ता है।

गीता का अनासक्ति योग और जैन के अनासक्त योग में साम्य नहीं है। अनासक्तिपूर्वक किया गया कोई भी और कैसा भी कार्य बंधन-रहित है, यह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म को स्वीकार नहीं है। स्थितप्रज्ञ और अनासक्त के लक्षणों को देखने से लगता है, वह एक उच्च सीमा की अनासक्ति है, जहां राग, द्वेष, मोह आदि को स्थान नहीं है।

मन और इन्द्रियों का भी बहिर्मुखता में अवकाश नहीं है। आत्मा क्रमशः स्वयं में ही विलीन हो जाती है। 'परमाप्नोति पुरुषः'—आत्मा परमात्मा बन जाती है। परमात्मदशा वीतराग दशा है, वहां कर्म का प्रवाह मंदतम होता है। शरीर-त्याग की स्थिति में वह सर्वथा रुक जाता है।

२६. सम्यग्दृष्टेरिदं सारं, नानर्थं यत्प्रवर्तते।
प्रयोजनवशाद् यत्र, तत्र तद्वान्न मूर्च्छति॥

सम्यग्दृष्टि बनने का यह सार है कि वह अनर्थ– प्रयोजन बिना प्रवृत्ति नहीं करता और प्रयोजनवश जो प्रवृत्ति करता है, उसमें भी सम्यग्दृष्टि वाला आसक्त नहीं होता।

२७. सम्मतानि समाजेन, कुर्वन् कर्माणि मानसम्।
अनासक्तं निदधीत, स्याल्लेपो न यतो दृढः॥

समाज द्वारा सम्मत कर्म को करता हुआ व्यक्ति मन को अनासक्त रखे, जिससे वह उसके दृढ़ लेप से लिप्त न हो।

२८. अविरतिः प्रवृत्तिश्च, द्विविधं बन्धनं भवेत्।
प्रवृत्तिस्तु कदाचित् स्यादविरतिर्निरन्तरम्॥

बंधन के दो प्रकार हैं—अविरति और प्रवृत्ति। प्रवृत्ति कभी-कभी होती है, अविरति निरंतर रहती है।

२९. दुष्प्रवृत्तिमकुर्वाणो, लोकः सर्वोऽप्यहिंसकः।
परन्त्वविरतेस्त्यागान्, मानवः स्यादहिंसकः॥

दुष्प्रवृत्ति नहीं करने वाला यदि अहिंसक हो तो सारा संसार ही अहिंसक हो सकता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति निरंतर दुष्प्रवृत्ति नहीं करता। परन्तु अहिंसक वह होता है, जो अविरति का त्याग करे अर्थात् कभी और किसी प्रकार की हिंसा न करने का दृढ़ संकल्प करे।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३०. दुष्प्रवृत्तः क्वचित् साधुर्नाऽव्रती स्यान्मुनिः क्वचित्।
सत्प्रवृत्तोऽपि नो साधुरव्रती जायते क्वचित्॥

**साधु कहीं-कहीं प्रमादवश दुष्प्रवृत्त हो सकता है पर अव्रती कहीं भी मुनि नहीं हो सकता। अव्रती सत्प्रवृत्ति करने पर भी कभी साधु नहीं बनता।**

अनासक्ति और आसक्ति के परिणामों के कर्मफल में भेद होता है। लेकिन प्रश्न यह होता है कि अनासक्त व्यक्ति के बंधन का हेतु क्या है, जबकि वह निःस्वार्थ वृत्ति से कार्य करता है।

बंधन का मुख्य हेतु है अविरति। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की सूक्ष्म या स्थूल जो प्रवृत्ति है या अत्यागवृत्ति है उसका नाम अविरति है। व्यक्ति जब तक अविरति से मुक्त नहीं होता तब तक कर्म का आगमन निरुद्ध नहीं होता।

अविरति आत्मा की बहिर्दशा है और विरति अंतर्दशा। विरत व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में हिंसा आदि न करता है, न कराता है और न करते हुए व्यक्तियों का अनुमोदन ही करता है। हिंसा आदि कार्यों में व्यक्ति अनवरत प्रवृत्त नहीं रहता, किन्तु अविरति का प्रवाह सतत चलता रहता है। तन्द्रा और मूर्च्छित स्थिति में भी वह बंद नहीं होता। प्रवृत्ति को ही यदि हिंसा आदि का कारण मानें तो वह सबके सदा नहीं होती। व्यक्ति उसके अभाव में अहिंसक बन सकता है। यह स्थूल सत्य है, वास्तविक नहीं। सूक्ष्म सत्य वही है जहां अविरति का त्याग है। अविरति के त्याग में सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही प्रवृत्तियां विशुद्ध हो जाती हैं।

प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार की साधना में प्रवृत्त व्यक्ति के मन में क्या दुष्प्रवृत्ति कभी नहीं आती? यदि आती है तो फिर वह अहिंसक कैसे हो सकता है?

अहिंसक का साध्य विशुद्ध आत्मा है। वह लक्ष्य से जब भटक जाता है, तब दुष्प्रवृत्ति का शिकार हो जाता है। लेकिन वह उसका साध्य नहीं है। अतः वह पुनः अपने मार्ग में लौट आता है। उस प्रवृत्ति के प्रति उसका मन ग्लानि से भर जाता है, वह शुद्ध हो जाता है। इससे उसके साध्य में कोई अंतर नहीं आता। किन्तु जो अविरत है वह कभी मुनि नहीं बन सकता। अविरत की सत् प्रवृत्ति अच्छी है, आत्मोन्मुखी है। लेकिन वह सर्वथा विरत नहीं है। अतः सत् प्रवृत्ति वाला होते हुए भी मुनि नहीं कहला सकता। साधुत्व के लिए एक ही मार्ग

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है और वह है अविरति-त्याग।

गृहस्थ के लिए यह अपेक्षित है कि वह मन, वाणी और शरीर को सत् की ओर लगाये। योगों की सरलता, समता और शालीनता धार्मिक साधना की कसौटी है। वह अनर्थ हिंसा, झूठ, चोरी आदि से बचे और आवश्यक हिंसा आदि में भी मन को अनासक्त रखे, जिससे सहज में ही कर्म-बंधनों के प्रगाढ़ लेप से बच सके।

**३१. इतस्ततः प्रसर्पन्ति, जना लोभाविलाशयाः।**
**तेन दिग्विरतिः कार्या, गृहिणा धर्मचारिणा॥**

**लोभी मनुष्य अर्थार्जन के लिए इधर-उधर सुदूर प्रदेश तक जाते हैं इसलिए धार्मिक गृहस्थ को दिग्विरति– दिशाओं में गमनागमन का परिमाण करना चाहिए।**

पांच अणुव्रतों में स्थूल रूप से मर्यादा की जाती है। विश्व विशाल है। मन की आकांक्षाएं भी विशाल हैं। आकांक्षा का संवरण करने के लिए व्यक्ति क्षेत्र (स्थान) का भी संवरण करे। मर्यादावान् व्यक्ति अपने सीमित क्षेत्र से बाहर व्यापार आदि नहीं करता। यह मन पर एक बहुत बड़ा नियंत्रण है। अपनी त्याग वृत्ति के अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर हर तरह के सावद्य कार्यों से निवृत्ति करना दिग्विरति व्रत है।

**३२. उपभोगः पदार्थानां, मोहं नयति देहिनः।**
**भोगस्य विरतिः कार्या, तेन धर्मस्पृशा विशा॥**

**पदार्थों का भोग मनुष्य को मोह में डालता है इसलिए धार्मिक पुरुष को भोग की विरति करनी चाहिए, उसका परिमाण करना चाहिए।**

मनुष्य का जीवन सीमित है, लेकिन भोग्य पदार्थ सीमित नहीं हैं। वह स्वल्प जीवन में असीमित पदार्थों का भोग नहीं कर सकता।

अतृप्ति उसे सदा सताती रहती है। भर्तृहरि ने कहा है–'भोगों को हमने नहीं भोगा किन्तु भोगों ने हमें भोग लिया है। हमने तप नहीं किया किन्तु बिना तप किए हम तप्त हो गए। काल नहीं आया, हम काल के निकट पहुंच गए हैं और तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम जीर्ण हो गए।' अतृप्ति दुःख है और संतोष सुख।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन दर्शन में पन्द्रह प्रकार के कर्मादान और छब्बीस प्रकार के भोगोपभोग का वर्जन है। इनकी प्रवृत्ति में मर्यादा करना–परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

**३३. कल्पनाभिः प्रमादेन, दण्डः प्रयुज्यते जनैः।**
**अनर्थदण्डविरतिः, कार्या धर्मस्पृशा विशा॥**

**मनुष्य अनेक प्रकार की कल्पनाओं और प्रमाद के वशीभूत होकर दंड–हिंसा का प्रयोग करता है। धार्मिक पुरुष को अनर्थदंड–अनावश्यक हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।**

धार्मिक व्यक्ति अनावश्यक हिंसा से बचता है। अनावश्यक हिंसा के कारण हैं–मिथ्या-कल्पना, प्रमाद और अविश्वास। शीत युद्ध स्पष्टता में नहीं होता। यह अस्पष्ट हृदय की देन है। कल्पनाओं के आधार पर किया गया निर्णय नब्बे प्रतिशत मिथ्या होता है। एक-दूसरे के प्रति व्यक्ति संदिग्ध हो जाता है। संदेह भय को जन्म देता है और प्रतिकार के प्रति सचेष्ट करता है। यहीं से द्वैध बढ़ता है। प्रमाद, असावधानी, आलस्य तमोगुणी व्यक्ति का लक्षण है। प्रमादी व्यक्ति अकारण ही हिंसा कर बैठता है। अपने प्रयोजन के लिए मनुष्य पाप-कर्म करता है, अधर्म-व्यापार करता है, यह स्वाभाविक है परंतु बिना प्रयोजन, बिना स्वार्थ, व्यर्थ में अधर्म व्यापार करना, बुरे कार्य करना कहां तक उचित है? बिना मतलब किसी पाप-कार्य में प्रवृत्ति करने का त्याग करना, अनर्थ-दण्ड-विरति व्रत है। गृहस्थ को अपने स्वार्थ के लिए सब कुछ करना पड़ता है। आठवां व्रत हमें यह सिखाता है कि कम-से-कम अनर्थ पाप से तो बचें। बिना प्रयोजन चलते-फिरते किसी को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, बत्ती को जलाकर छोड़ देना, घी-तेल के बर्तनों को खुला छोड़ देना इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं जिनसे बचना या परहेज करना अहिंसा की दृष्टि से तो प्रशंसनीय है ही किन्तु व्यवहार-दृष्टि से भी अच्छा है।

दिग्विरति, भोगोपभोग विरति और अनर्थदंड विरति–ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, अतः इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

**३४. सावद्ययोगविरतेरभ्यासो जायते ततः।**
**समभावविकासः स्यात्, तच्च सामायिकं व्रतम्॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जिससे सावद्य—पापकारी प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का अभ्यास होता है, समभाव का विकास होता है, वह 'सामायिक' व्रत कहलाता है।**

धर्म समतामय है। राग-द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है राग-द्वेष का अभाव। विषमता है राग-द्वेष का भाव। समभाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

यह आत्मविकास की सुन्दर प्रक्रिया है। पूर्वोक्त व्रतों की अपेक्षा इसमें आत्मा का सान्निध्य अधिक साधा जाता है। इसका काल-मान ४८ मिनट का है। इसमें मानसिक, वाचिक और कायिक समस्त असत् प्रवृत्तियों का परित्याग किया जाता है। सर्वारंभ-परित्यागः शब्द से सामायिक की तुलना की जा सकती है। यह स्थूल रूप से मुनि जीवन की-सी साधना है। साधक यहां आकर समता में लीन हो जाता है। उसका मन लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में सम बन जाता है। **'समलोष्टकांचनः'**—उसके लिए पत्थर और सोना एक समान है। गीता में जो भक्त के लक्षण हैं वे समभावी व्यक्ति के जीवन में अक्षरशः चरितार्थ होते हैं—जो न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, न दुःख मानता है, न इच्छा करता है और जिसने भले और बुरे दोनों का परित्याग कर दिया है इस प्रकार जो मेरी भक्ति करता है, वह मुझे प्रिय है। जो शत्रु और मित्र दोनों के साथ एक-सा बर्ताव करता है, जो सर्दी-गर्मी और दुःख-सुख में एक-जैसा रहता है और जो आसक्ति से रहित है, वह मुझे प्रिय है।'

ईसा के शब्दों में—'वह अपने सूर्य को बुरे और भले दोनों पर उदित करता है और वर्षा को न्यायी और अन्यायी दोनों पर बरसाता है।'

**३५. सावधिकञ्च हिंसादेः, परित्यागो यथाविधि।**
**क्रियते व्रतमेतत्तु, देशावकाशिकं भवेत्॥**

**एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक जो हिंसा का परित्याग किया जाता है वह 'देशावकाशिक' व्रत कहलाता है।**

समभाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल-पल जागरूक रहता है, वही समभाव की ओर बढ़ सकता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३६. सावद्ययोगविरतिः, सोपवासा विधीयते।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन, पौषधं तद् भवेद् व्रतम्॥

**उपवासपूर्वक–१. द्रव्य–वस्तुओं की मर्यादा करना। २. क्षेत्र–क्षेत्र-संबंधी मर्यादा करना। ३. काल–अहोरात्र। ४. भाव–राग-द्वेष रहित।–इन चार प्रकार से सावद्य योग–असत् प्रवृत्ति की विरति करना पौषध व्रत कहलाता है।**

इस साधना में पूर्ण उपवास व्रत से युक्त होकर व्यक्ति एक दिन के लिए साधुचर्या में आ जाता है। उसकी गति, अगति आदि शारीरिक क्रियाएं प्रमाद-रहित होती हैं। समभाव की साधना को पुष्ट करने के लिए ऐसे लम्बे समय की अपेक्षा रहती है, वह इसमें पूर्ण हो जाती है। यह साधु-जीवन का पूर्वाभ्यास है।

३७. प्रासुकं दोषमुक्तञ्च, भक्तपानं प्रदीयते।
मुनये संविभज्याऽथ, संविभागोऽतिथेर्व्रतम्॥

**अपनी वस्तु का संविभाग कर, स्वयं कुछ कम खाकर साधु को प्रासुक–अचित्त और दोष-रहित जो भोजन दिया जाता है, उसे अतिथि-संविभाग व्रत कहा जाता है।**

दान के विशुद्ध अधिकारी साधु ही हैं, जो केवल अहिंसा, आत्मसाधना और अध्यात्म-जागरण के लिए जीते हैं। वे केवल लेना ही नहीं जानते, दान का प्रतिदान भी करते हैं। किन्तु उनका प्रतिदान भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। वे मनुष्यों की अंतश्चेतना को जागृत करते हैं, उन्हें नैतिक और धर्मनिष्ठ बनाते हैं।

साधुओं का भोजन विशुद्ध होता है। विशुद्ध का अभिप्राय है–जो भोजन मुनि के लिए निर्मित न हो, सचित्त–सजीव न हो, सचित्त वस्तुओं से स्पृष्ट न हो और जो मुनि के योग्य हो।

गृहस्थ श्रावक का यह धर्म है कि वह स्वनिर्मित भोजन में से मुनि को आहार दे। दान धर्म है। दान की विशुद्ध भावना से कर्म-निर्जरा होती है और उत्कट भाव-विशुद्धि से व्यक्ति संसार का अंत कर देता है। इस दान में कोई स्वार्थ नहीं रहता। यह आत्मशुद्धिमूलक होने से मोक्ष का एक अंग है। इसी को अतिथि-संविभाग व्रत कहा है। श्रावकों के व्रतों के साथ इसका अभिन्न संबंध है। पांच अणुव्रतों की पुष्टि के लिए और आत्म-पवित्रता के लिए इन अन्य व्रतों की रचना की गई है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**३८. संलेखनां प्रकुर्वीत, श्रावको मारणान्तिकीम्।**
**मृत्युं सन्निहितं ज्ञात्वा, मृत्योरविचलाशयः॥**

**मृत्यु से न डरने वाला श्रावक मृत्यु को सन्निहित– पास में जानकर मारणान्तिक संलेखना करे।**

जीना जैसे एक कला है वैसे मरना भी। सहस्रों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति जीने की कला में अभिज्ञ होता है। मरने की कला जीने की कला से कोई कम नहीं है। जिसे जीने की कला आती है उसे मरने की कला भी सीखनी चाहिए। जैन दर्शन जीने और मरने दोनों की कलाएं सिखाता है। जीवन उसके लिए हर्ष नहीं है और मृत्यु विषाद नहीं है। जैन दर्शन साधक को यह संदेश देता है कि देह का भेद करो, मृत्यु से डरो मत लेकिन मौत को डरा दो। साधकों ने मृत्यु को महोत्सव माना है।

व्रतों की साधना में संलग्न श्रावक भी मृत्यु से डरे नहीं। वह जब देख ले कि देह जीर्ण हो रहा है, तब मृत्यु से पहले ही मौत की तैयारी कर ले। इस तैयारी का नाम संलेखना है। इसमें वह भोग्य पदार्थों से अपने मन को हटाता है। उसका चिंतन होता है–'मैंने संसार के समस्त पदार्थों का अनन्त कालचक्र में उपभोग किया है। यह सब उच्छिष्ट है। इन उच्छिष्ट पदार्थों में मेरा क्या आकर्षण? विज्ञ पुरुषों के लिए वान्त भोजन स्वीकार्य नहीं होता। वह यों सोच सारहीन पदार्थों से जीवन-निर्वाह करने लगता है। इसके बीच कभी एक दिन का उपवास, कभी दो दिन का उपवास, कभी एक बार भोजन, कभी केवल रोटी खाकर पानी पीकर रह जाना आदि क्रियाओं के द्वारा शरीर को आमरण-अनशन के लिए प्रस्तुत कर लेता है।

अनशन आत्महत्या नहीं, किन्तु स्वेच्छापूर्वक देह का त्याग है, देह के ममत्व का विसर्जन है। देह के प्रति आकर्षण बढ़ता है तब तक व्यक्ति मौत से कतराता रहता है। वह डॉक्टर और दवाइयों के आश्रित पलता है किंतु जब मोह विलीन होता है तभी अनशन स्वीकृत किया जा सकता है। अमरत्व की यह सबसे सुन्दर संजीवनी है कि देह के प्रति ममत्व का विसर्जन किया जाए। जैन दर्शन हर अवस्था में अनशन की अनुमति नहीं देता। उसका कथन है कि जब साधक को यह लगे कि शरीर शिथिल हो रहा है, उससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना होनी कठिन है, तब वह खान-पान के विसर्जन से देह-विसर्जन की बात सोचता है। इस दिशा में वह क्रमशः गति करता है और एक दिन संपूर्ण त्याग कर समाधि-मरण को प्राप्त करता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३९. संयमस्य प्रकर्षाय, मनोनिग्रहहेतवे।
प्रतिमाः प्रतिपद्येत, श्रावकः साधनारुचिः॥

संयम के उत्कर्ष और मन का निग्रह करने के लिए साधना में रुचि रखनेवाला श्रावक प्रतिमाओं को स्वीकार करे।

४०. दर्शनप्रतिमां तत्र, सर्वधर्मरुचिर्भवेत्।
दृष्टिमाराधयंल्लोकः, सर्वमाराधयेत्परम्॥

४१. व्रतसामायिकपौषधकायोत्सर्गा मिथुनवर्जनकम्।
सच्चित्ताहारवर्जनस्वयमारम्भवर्जने चापि॥

४२. प्रेष्यारम्भविवर्जनमुद्दिष्टभक्तवर्जनञ्चापि।
श्रमणभूत एकादश प्रतिमा एता विनिर्दिष्टाः॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं हैं—१. दर्शन-प्रतिमा—दर्शन प्रतिमा को स्वीकार करने वाला सब धर्मों—साधना के सभी प्रकारों में रुचि रखता है। दृष्टि की आराधना करने वाला सबकी आराधना कर लेता है। २. व्रत-प्रतिमा ३. सामायिक-प्रतिमा ४. पौषध-प्रतिमा। ५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा। ६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा। ७. सचित्ताहारवर्जन-प्रतिमा। ८. स्वयं आरंभवर्जन-प्रतिमा। ९. प्रेष्यारंभवर्जन-प्रतिमा। १०. उद्दिष्टभक्तवर्जन-प्रतिमा। ११. श्रमणभूत-प्रतिमा।

प्रतिमा का अर्थ है अभिग्रह—अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा, संकल्प। उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :

**दर्शनश्रावक :**

यह पहली प्रतिमा है। इसका कालमान एक मास का है। इसमें सर्वधर्म विषयक रुचि होती है, किन्तु अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि का आत्मा में प्रतिष्ठापन नहीं होता। केवल सम्यग् दर्शन उपलब्ध होता है।

**कृतव्रतकर्म :**

यह दूसरी प्रतिमा है। इसका कालमान दो महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धि के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि का सम्यक् प्रतिष्ठापन करता है, किन्तु वह सामायिक और देशावकाशिक का अनुपालन नहीं करता।

**कृतसामायिक :**

यह तीसरी प्रतिमा है। इसका कालमान तीन महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक प्रातः और सायंकाल सामयिक और देशावकाशिक का पालन करता है, परंतु पर्व-दिनों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास नहीं करता।

**पौषधोपवासनिरत :**

यह चौथी प्रतिमा है। इसका कालमान चार महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी आदि पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषध करता है परन्तु 'एकरात्रिक उपासक प्रतिमा' का अनुगमन नहीं करता।

**दिन में ब्रह्मचारी : (कायोत्सर्ग प्रतिमा)**

यह पांचवी प्रतिमा है। इसका कालमान पांच महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक 'एकरात्रिकी उपासक प्रतिमा' का सम्यक् अनुपालन करता है तथा स्नान नहीं करता, दिवाभोजी होता है, धोती के दोनों अंचलों को कटिभाग में टांक लेता है—नीचे से नहीं बांधता, दिवा ब्रह्मचारी और रात्रि में अब्रह्मचर्य का परिमाण करता है।

**दिन और रात में ब्रह्मचारी :**

यह छठी प्रतिमा है। इसका कालमान छह महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक दिन और रात में ब्रह्मचारी रहता है। किन्तु सचित्त का परित्याग नहीं करता।

**सचित्त-परित्यागी :**

यह सातवीं प्रतिमा है। इसका कालमान सात महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक सम्पूर्ण सचित्त का परित्याग करता है, किन्तु आरंभ का परित्याग नहीं करता।

**आरंभ-परित्यागी :**

यह आठवीं प्रतिमा है। इसका कालमान आठ महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक आरंभ—हिंसा का परित्याग करता है, किंतु प्रेष्यारंभ का परित्याग नहीं करता।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**प्रेष्य-परित्यागी :**

यह नौवीं प्रतिमा है। इसका कालमान नौ महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक प्रेष्य आदि हिंसा का परित्याग करता हैं, किंतु उद्दिष्टभक्त का परित्याग नहीं करता।

**उद्दिष्टभक्त-परित्यागी :**

यह दसवीं प्रतिमा है। इसका कालमान दस महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करता है। वह सिर को क्षुर से मुंडवा लेता है या चोटी रख लेता है। घर के किसी विषय में पूछे जाने पर जानता हो तो कहता है–' मैं जानता हूं' और न जानता हो तो कहता है–'मैं नहीं जानता।'

**श्रमण-भूत :**

यह ग्यारहवीं प्रतिमा है। इसका कालमान ग्यारह महीनों का है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक सिर को क्षुर से मुंडवा लेता है या लुंचन करता है। वह साधु का वेश धारण कर ईर्यासमिति आदि साधु-कर्मों का अनुपालन करता हुआ विचरण करता है। वह भिक्षा के लिए गृहस्थों के घरों में प्रवेश कर 'प्रतिमा सम्पन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो'–ऐसा कहता है। यदि कोई उससे पूछे कि 'तुम कौन हो?' तो वह यह कहता है–'मैं प्रतिमा सम्पन्न श्रमणोपासक हूं।'

प्रायः वे लोग इनका स्वीकरण करते हैं :

१. जो अपने आपको श्रमण बनने के योग्य नहीं पाते किन्तु जीवन के अंतिम काल में श्रमण-जैसा जीवन बिताने के इच्छुक होते हैं।

२. जो श्रमण जीवन बिताने का पूर्वाभ्यास करते हैं।

साधक गृहस्थ जैसे-जैसे अपने साधना-अभ्यास में सफल, प्रसन्न और आनंदित हो जाता है वैसे-वैसे ममत्व, आसक्ति और भ्रांति के क्षीण होने पर सत्य की दिशा में तीव्रगति से बढ़ने को आतुर हो जाता है। साध्य-धर्म के अतिरिक्त फिर उसका मन अन्यत्र रमण नहीं करता। वह चलता है–मंजिल, लक्ष्य को प्राप्त करना। इस दृष्टि से जो कुछ बाह्य रूप में स्वीकृत किया था अब उसे प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप में देखना चाहता है। अनुभूति समय-सापेक्ष है। प्रतिमाओं के अभ्यास-काल में बाह्य क्रियाओं से निवृत्त होकर वह सत्य की आराधना में जीवन समर्पित करता है और सारा समय साधना की प्रक्रियाओं में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

योजित करता है। सफलता समय, श्रद्धा, धैर्य और निरंतरता पर आधारित है।

आनंद श्रावक भगवान् का प्रमुख उपासक था। उसने चौदह वर्षों तक बारहव्रती का जीवन बिताया। पन्द्रहवें वर्ष के अंतराल में एक दिन उसके मन में धर्म-चिंता उत्पन्न हुई और वह आत्मा या सत्य की खोज तथा उसके लिए समर्पित जीवन बिताने के लिए कृतसंकल्प हुआ। दूसरे दिन अपने ज्येष्ठपुत्र को घर का भार सौंपकर भगवान् महावीर के पास उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार कर लीं। इनके प्रतिपूर्ण पालन में साढ़े पांच वर्ष लगे। तत्पश्चात् उसने अपश्चिम-मरणांकि-संलेखना की और अंत में एक मास का अनशन किया।

उपासक आनंद के इस वर्णन से यही फलित होता है कि उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वीकरण जीवन के अंतिम भाग में किया जाता था। उसकी पूर्व-भूमिका के रूप में वर्षों तक बारह व्रतों का पालन करना होता था और ये प्रतिमाएं भावी अनशन के लिए भी पृष्ठभूमि बनाती थीं।

**४३. असंयमं परित्यज्य, संयमस्तेन सेव्यताम्।**
**असंयमो महद् दुःखं, संयमः सुखमुत्तमम्॥**

**इसलिए असंयम को छोड़कर संयम का सेवन करना चाहिए। असंयम महान् दुःख है। संयम उत्तम सुख है।**

असंयम बहिर्मुखता है और संयम स्व-मुखता (अंतर्मुखता) है। स्वभाव संयम है और विभाव असंयम। आत्म-विस्मृति असंयम है और आत्मस्मृति संयम। दुःख विस्मृति है और सुख स्व-स्मृति। जिसे सुख प्रिय है उसे संयम प्रिय होना चाहिए। संयम का फल सुख है और असंयम का दुःख। संयम के सिवाय सुख की आकांक्षा करना मृग-मरीचिका में पानी की तलाश करना है। बाहर से सुख नहीं मिला, किंतु सुखाभास अवश्य मिलता है। मनुष्य उसी सुखाभास में मुग्ध होकर पुनः पुनः दुःख, अशांति और कष्टों का अनुभव करता चला जा रहा है। इसीलिए महावीर कहते हैं—अपने अंतश्चक्षुओं को उद्घाटित कर देखो, यहां क्या मिला है? यदि दुःख के सिवा कुछ नहीं मिला तो अब उसे छोड़कर सत्य के पथ का अनुसरण करो।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**गृहस्थधर्मप्रबोधननामा चतुर्दशोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १५

# गृहिधर्मचर्या

धर्म जीवन का एक आवश्यक अंग है। इसे जो भूलता है, वह अपने आपको भूलता है। जीवन के लिए अन्य कार्य आवश्यक हैं, वैसे धर्म भी। जो इसे जानता है और विश्वास करता है, वह धर्म का आचरण भी करता है। धर्म केवल जानने का ही विषय नहीं है, वह आचरण का भी विषय है। प्रत्येक कार्य में धर्म को सामने रखा जाए तो मनुष्य अनैतिक और अधार्मिक नहीं हो सकता।

आत्मा का एक शरीर में नियत-वास नहीं है। आस्तिक इसे स्वीकार करते हैं इसलिए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि हिंसा किसी अन्य की नहीं, अपनी ही होती है। हिंसा के निमित्त हैं—राग, द्वेष, मोह, प्रमाद आदि।

श्रुत और आचार की उपासना आत्म-धर्म है। श्रुत और आचार से भिन्न धर्म कर्त्तव्य और स्वभाव की दृष्टि से है। आत्म-विकास में वे सहयोगी नहीं बनते। मोक्ष श्रुत और आचरण का योग है। आत्मा का विकास इन्हीं के द्वारा होता है। इस अध्याय में ये ही विवेच्य विषय हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# गृहिधर्मचर्या

**भगवान् प्राह**

**१. यावद् देहो भवेत् पुंसां, तावत्कर्मापि जायते।**
**कुर्वन्नावश्यकं कर्म, धर्ममप्याचरेद् गृही॥**

**भगवान् ने कहा—जब तक मनुष्य के शरीर होता है तब तक क्रिया होती है। आवश्यक क्रिया को करता हुआ मनुष्य धर्म का भी आचरण करे।**

**'किं कर्म किमकर्म च कवयोप्यत्रमोहिताः।'** गीता में कहा है—'कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस निर्णय में बड़े-बड़े विद्वान भी मूढ़ हो जाते हैं।' कर्म वस्तु का स्वभाव है। जो स्वभाव है वह किया नहीं जाता, प्रतिक्षण होता रहता है। इसलिए उसे अकर्म—अक्रिया कहा जाता है। अकर्म को कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। **'अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा'**—धीर व्यक्ति अकर्म के द्वारा कर्म (विजातीय) को नष्ट कर स्वभाव में प्रतिष्ठित होते हैं। कुछ कर्म निषिद्ध हैं और कुछ विहित, किन्तु अकर्म की दृष्टि से दोनों ही अविहित हैं। अकर्म की स्थिति प्राप्त न हो तब विहित कर्म व्यक्ति करता है, किन्तु जो अकर्म के मर्म को जानता है वह कर्म करता हुआ भी अकर्म रहता है। सामान्यतया यह कठिन है। मनुष्य कर्म करता है अकर्म को भूलकर। कर्त्तृत्व का अहंकार और बाह्य प्रेरणाएं कर्म के लिए प्रेरित करती हैं। जिसे अकर्म का बोध नहीं है, वह कर्म के फल से भी सहजतया मुक्त नहीं हो सकता। यश, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि में वह प्रसन्न हो जाता है और विपरीत में अप्रसन्न। अहंकार को रस प्रदर्शन में आता है, अपनी विशिष्टता का बोध दूसरों को हो वह बताना चाहता है। अकर्म का साधक कर्म में रस नहीं लेता। वह सिर्फ अपने को एक निमित्त समझेगा और कर्म का साक्षी, द्रष्टा रहेगा। अकर्म की साधना है—आप स्वयं कुछ करें नहीं, आप सिर्फ जो पीछे अकर्मक खड़ा है, उसे देखते रहें। जेन साधक लिंची ने अपने शिष्यों से कहा····'अगर चित्र बनाने में तुम्हें जरा भी श्रम

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मालूम पड़े तो समझना अभी कलाकार नहीं हुए हो। जिस दिन श्रम का पता न लगे उसी दिन कलाकार बनोगे।'

जर्मन विचारक हैरीगेली धनुर्विद्या सीखने जापान आया। तीन साल श्रम किया। अचूक निशानेबाज हो गया। फिर भी गुरु ने कहा—अभी कुछ नहीं हुआ। अभी तू चलाता है, तीर चलता नहीं। थक गया। कहा—अब मैं आज जाता हूं। उसने घर जाने की सब तैयारी कर ली। विदा लेने आया। गुरु सिखा रहे थे। बैठ गया। अचानक उठा और तीर उठाकर चल दिया। गुरु ने कहा—हो गया काम। इतने दिन प्रयत्न में था, आज अप्रयत्न में।' साधक के लिए यह बहुत बड़ा पाठ है जो उसे पढ़ना है।

**२. यथाहारादि कर्माणि, भवन्त्यावश्यकानि च।**
**तथात्माराधनं चापि, भवेदावश्यकं परम्॥**

**जिस प्रकार भोजन आदि क्रियाएं आवश्यक होती हैं, उसी प्रकार आत्मा की साधना करना भी अत्यंत आवश्यक है।**

**३. सद्यः प्रातः समुत्थाय, स्मृत्वा च परमेष्ठिनम्।**
**प्रातःकृत्यान्निवृत्तः सन्, कुर्यादात्मनिरीक्षणम्॥**

**सबेरे जल्दी उठकर नमस्कार मंत्र का स्मरण कर, शौच आदि प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर मनुष्य आत्म-निरीक्षण करे।**

आत्म-निरीक्षण के लिए एक कवि ने कहा है—'सूर्य जीवन का एक भाग लेकर चला जा रहा है। उठो और देखो, आज कौन सा सुकृत काम किया है।' यह धर्म का एक अंग है। सबके लिए इसकी अपेक्षा है। किन्तु एक धार्मिक व्यक्ति के लिए अति आवश्यक है। आत्मदर्शन के बिना वृत्तियों का परिमार्जन नहीं होता। इसके लिए तीन चिंतन हैं :

१. मैंने क्या किया है?

२. मेरे लिए क्या करना बाकी है?

३. ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे मैं नहीं कर सकता?

जैसे शरीर के लिए आवश्यक किए जाते हैं वैसे आत्मा के लिए भी होने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चाहिए। एक विचारक ने कहा है–मनुष्य शरीर को खुराक देता है, किन्तु आत्मा को नहीं।' आत्मा को बिना भोजन दिए मनुष्य का जीवन अंत में अर्थहीन सिद्ध होता है। उसमें रस उत्पन्न नहीं होता। आदमी करीब-करीब मरा हुआ जीता है। इसीलिए यहां कहां गया है कि अपने को देखो, जानो।

मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? क्या है जीवन का उद्देश्य? क्या मैं उसकी पूर्ति का प्रयत्न कर रहा हूं? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो स्वयं से पूछने को हैं। उत्तर की जल्दी नहीं करना है, प्रश्नों की प्यास बढ़ानी है।

**४. सामायिकं प्रकूर्वीत, समभावस्य लब्धये।**
**भावना भावयेत् पुण्याः,सत्संकल्पान् समासृजेत्॥**

**समभाव की प्राप्ति के लिए सामायिक करे, आत्मा को पवित्र भावनाओं से भावित करे और शुभ संकल्प करे।**

संकल्प का अर्थ है–दृढ़ निश्चय। हम क्या हैं? अपने संकल्पों से भिन्न और कुछ नहीं हैं। जैसे हम संकल्प करते हैं वैसे ही बन जाते हैं। अच्छे संकल्प अच्छा बनाते हैं, बुरे संकल्प बुरा। मनुष्य अच्छा बनने के लिए बुरे संकल्पों के स्थान पर अच्छों को स्थान दे। मैं दीन हूं, दुर्बल हूं, अज्ञ हूं, रोगी हूं, दुःखी हूं, अभागा हूं आदि हीन संकल्प मनुष्य को वैसा ही बना देते हैं। यदि इनके स्थान पर मनुष्य पवित्र संकल्पों को संजोए तो वह स्वस्थ, सशक्त, विज्ञ, सुखी और सौभाग्यशाली बन सकता है।

'मेरा मन पवित्र संकल्प वाला हो। हम दीन बन कर न जिएं। कार्य करते हुए हम 'सौ वर्ष तक जिएं'–ये क्या हैं जो हजारों वर्षों से संकल्प का महत्त्व समझाते आ रहे हैं। आज वैज्ञानिकों ने मानस की अपार क्षमता को परखा है और वे कहते हैं–'तुम अपने संकल्प से भिन्न कुछ नहीं हो।' श्रावक आत्म-शोधन करता हुआ संकल्पवान बने। उसे क्या करना है और क्या होना है, भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया वह इस अध्याय के दसवें श्लोक में है।

**५. स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने।**
**तीर्थसेवा भवन्त्येता, भूषाः सम्यग्दृशो ध्रुवम्॥**

**धर्म में स्थिरता, प्रभावना–धर्म का महत्त्व बढ़े वैसा कार्य करना, धर्म या धर्म-गुरु के प्रति भक्ति रखना, जैन शासन में कौशल प्राप्त करना और तीर्थसेवा–चतुर्विध संघ को धार्मिक सहयोग देना–ये सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सम्यक्त्व का शरीर सहज, सुन्दर होता है। जिसे वह प्राप्त है उसकी सुगंध स्वतः ही प्रस्फुटित होती है। उसका जीवन स्वयं ही एक पाठ है। वह जो कुछ करता है समभाव से भिन्न नहीं करता, दिखावा नहीं करता। जिसका होना ही धर्म को अभिव्यक्त करता है, उसका व्यवहार, आचरण भीतर से स्फूर्त होता है। कथनी और करनी में वैमनस्य का दर्शन नहीं होता। स्वभाव का स्वाद जिसने चख लिया है, वह फिर उससे भिन्न जी नहीं सकता। जो केवल बाहर से सम्यक्त्व का चोला पहन लेते हैं, उनका जीवन इनसे मेल नहीं खाता। वे अपने स्वार्थ के लिए अन्यथा आचरण कर धर्म को भी दूषित कर देते हैं। सम्यक्त्व के ये भूषण उसके शरीर की आभा को और प्रस्फुटित कर देते हैं। सौम्यता, सौहार्द, करुणा, निश्छलता और सत्यपूर्ण व्यवहार धर्म की शोभा में चार चांद लगा देते हैं।

६. भारवाही यथाश्वासान्, भाराक्रान्तेऽश्नुते यथा।
तथारम्भभराक्रान्त, आश्वासान् श्रावकोऽश्नुते॥

जिस प्रकार भार से लदा हुआ भारवाहक विश्राम लेता है, उसी प्रकार आरंभ–हिंसा के भार से आक्रांत श्रावक विश्राम लेता है।

७. इन्द्रियाणामधीनत्वाद्, वर्ततेऽवद्यकर्मणि।
तथापि मानसे खेदं, ज्ञानित्वाद् वहते चिरम्॥

इंद्रियों के अधीन होने के कारण वह पापकर्म–हिंसात्मक क्रिया में प्रवृत्त होता है, फिर भी ज्ञानवान् होने के कारण वह उस कार्य में आनंद नहीं मानता, उदासीन रहता है।

८. आश्वासः प्रथमः सोऽयं, शीलादीन् प्रतिपद्यते।
सामायिकं करोतीति, द्वितीयः सोऽपि जायते॥

व्रत आदि स्वीकार करना श्रावक का पहला विश्राम है। सामायिक करना दूसरा विश्राम है।

९. प्रतिपूर्णं पौषधञ्च, तृतीयः स्याच्चतुर्थकः।
संलेखनां श्रितो यावज्जीवमनशनं सृजेत्॥

उपवासपूर्वक पौषध करना तीसरा विश्राम है और संलेखनापूर्वक आमरण अनशन करना चौथा विश्राम है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मकान, धर्मशाला, वृक्ष, नदी-तट आदि शारीरिक विश्राम-स्थल हैं। धर्म आत्म-विश्राम का केन्द्र है। गृही-जीवन आरंभ-व्यस्त जीवन है। वहां आत्म-साधना के लिए अवकाश कम मिलता है। मनुष्य का मन मोह-प्रधान है। उसे भोग, वासना और विषयों से जितना अनुराग होता है उतना धर्म से नहीं। धर्म के बिना आत्मा को शांति नहीं मिलती। श्रावक संसार के कार्यों में उलझा हुआ भी धर्म को विस्मृत नहीं करता। वह अपने और पराये व्यक्तियों के लिए हिंसा करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता। वह मानता है कि मेरी दुर्बलता है। वह उदासीन होकर काम करता है। उसका केन्द्र-बिन्दु आत्मा है। वह आत्म-शांति के लिए जो अवलंबन लेता है वे ही विश्राम-स्थल हैं।

जैसे भारवाहक के चार विश्राम-स्थल हैं :

१. गठरी को बाएं से दाएं कंधे पर रखना।

२. देह-चिंता से निवृत्त होने के लिए उसे नीचे रखना।

३. सार्वजनिक स्थान में विश्राम करना।

४. स्थान पर पहुंचकर उसे उतार देना।

वैसे ही श्रावक के चार विश्राम हैं :

१. शीलव्रत, गुणव्रत तथा उपवास ग्रहण करना।

२. सामायिक और देशावकाशिक व्रत लेना।

३. अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिक्रमणपूर्वक पौषध करना।

४. मारणांतिक संलेखना करना।

**१०. परिग्रहं प्रहास्यामि, भविष्यामि कदा मुनिः।**
**त्यक्ष्यामि च कदा भक्तं, ध्यात्वेदं शोधयेन्निजम्॥**

**'मैं कब परिग्रह छोड़ूंगा, मैं कब मुनि बनूंगा, मैं कब भोजन का परित्याग करूंगा'—श्रावक इस प्रकार के चिंतन अथवा मनोरथ से आत्मशोधन करे।**

श्रावक श्रावकत्व में ही संतुष्ट रहना नहीं चाहता। मुमुक्षु व्यक्ति का साध्य होता है—पूर्ण आत्म-स्वातन्त्र्य। आत्मा की स्वतंत्रता के लिए अर्थ और काम बंधन हैं। श्रावक परिग्रह के परिमाण से अपरिग्रह की ओर बढ़ना चाहता है। मुनि-जीवन के लिए पूर्ण अकिंचनता अपेक्षित है। अतः उसका पहला

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संकल्प है परिग्रह-त्याग का। धन, स्वर्ण, चांदी, मुक्ता, दास-दासी आदि सभी परिग्रह हैं। शरीर के प्रति जो आसक्ति है वह उसे छोड़ने का संकल्प करता है। परिग्रह बंधन है। एक कवि के शब्दों में देखिए—अर्थ की उत्पत्ति में दुःख उठाना होता है। उत्पन्न अर्थ की सुरक्षा करनी होती है। उसमें भी दुःख है। आय में दुःख है और व्यय में भी दुःख है। अतः अर्थ दुःख का स्थान है। श्रावक परिग्रह से मुक्त होने के लिए प्रतिदिन यह संकल्प करता है कि कब मैं अल्पमूल्य या बहुमूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा।

दूसरा आदर्श उसके सामने मुनि का है, जिसका जीवन निश्चित, निराबाध, निर्द्वन्द्व और निरापद है। एक कवि ने गाया है—जिस साधु-जीवन में न राज्य-भय है, न चोरों का डर है, न आजीविका भय है और न किसी के वियोग का भय है, वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन के लिए कल्याणकारी है। वहां समस्त असत् प्रवृत्तियों का निरोध होता है। आत्मा को निकट से देखने के लिए यह अति उत्तम जीवन है। अतः वह कहता है.....कब मैं मुंड हो, गृहस्थपन छोड़, साधुव्रत स्वीकार करूंगा।

शरीर सब कुछ नहीं है। आत्म-धर्म के सामने यह गौण है। भोजन से शरीर टिकता है। शरीर साधन है। साध्य-सिद्धि के लिए उसे भोजन दिया जाता है। जब वह जीर्ण हो जाता है, साध्य में सहायक नहीं होता, तब उसका त्याग किया जाता है। शरीर के प्रति जो कुछ लगाव होता है उससे हटकर साधक सम बन जाता है। फिर उसे मृत्यु का डर नहीं सताता। शरीर छूटता है, चाहे साधक उसे छोड़े या साधक को वह छोड़े। इसलिए तीसरा संकल्प है....कब में समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त करूंगा।

**११. श्रमणोपासना कार्या, श्रवणं तत्फलं भवेत्।**
**ततः सञ्ज्ञायते ज्ञानं, विज्ञानं जायते ततः॥**

**श्रमणों की उपासना करनी चाहिए। उपासना का फल धर्म-श्रवण है। धर्म-श्रवण से ज्ञान और ज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है।**

**१२. प्रत्याख्यानं ततस्तस्य, फलं भवति संयमः।**
**अनास्रवस्तपस्तस्माद्, व्यवदानञ्च जायते॥**

**विज्ञान का फल है प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल है संयम। संयम**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**का फल है अनाश्रव–कर्म-निरोध। अनास्रव का फल है तप और तप का फल है व्यवदान–कर्म-निर्जरण।**

**१३. अक्रिया जायते तस्मान्निर्वाणं तत्फलं भवेत्।**
**महान्तं जनयेल्लाभं, महतां संगमो महान्॥**

**व्यवदान का फल है अक्रिया–मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध और अक्रिया का फल है निर्वाण। इस प्रकार महापुरुष के संसर्ग से बहुत बड़ा हित होता है।**

उपासना का अर्थ है–समीप बैठना। अच्छाई की उपासना करने से व्यक्ति अच्छा बन जाता है और बुराई की उपासना करने से बुरा। हम जिनकी उपासना करते हैं वैसे ही बन जाते हैं। श्रावक के उपास्य हैं–अरिहंत, सिद्ध और धर्म। उपासना केवल शारीरिक न हो, वह मानसिक भी होनी चाहिए। मन और शरीर की एकाग्रता मनुष्य को साध्य तक पहुंचा देती है। श्रावक के निकटतम उपास्य है–मुनि, श्रमण।

श्रमण की उपासना व्यक्ति को केवल श्रमण ही नहीं बनाती, वह मुक्त भी करती है। उपासना का आदि-चरण है श्रवण–सुनना और अंतिम चरण है–निर्वाण।

उपासना के दस फल ये हैं :

१. श्रवण–तत्त्वों को सुनना।

२. ज्ञान–सत् और असत् का विवेक।

३. विज्ञान–तत्त्वों का सूक्ष्म और तलस्पर्शी ज्ञान।

४. प्रत्याख्यान–हेय का त्याग और उपादेय का स्वीकार।

५. संयम–आत्माभिमुखता।

६. अनाश्रव–कर्म आने के मार्गों का अवरोध।

७. तप–आत्मा को विजातीय तत्त्व से वियुक्त कर अपने आप में युक्त करना। यह बारह प्रकार का है।

८. व्यवदान–पूर्व-संचित कर्मों के क्षय होने से होने वाली विशुद्धि।

९. अक्रिया–आत्मा के समस्त कर्म जब पृथक् हो जाते हैं तब मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति रुक जाती है, वह अक्रिया है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१०. निर्वाण—आत्मा का पूर्ण उदय, कर्मों का सर्वथा विलय।

सत्संगति का एक क्षण भी संसार-सागर से पार कर देता है। नारद ने भगवान् से कहा—मुझे मुक्ति दो। भगवान् ने कहा—मैं स्वर्ग दे सकता हूं, और कुछ दे सकता हूं, किन्तु मुक्ति नहीं। मुक्ति के लिए संतों के पास जाओ।' संत वह है जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। संत होने का अर्थ है—अपने पूरे जीवन को सत्य के लिए समर्पित करना, परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं चाहना। अस्तित्व के उद्घाटन में जो अपने जीवन को लगा देता है, जिसनें सत्य का साक्षात्कार कर लिया—ऐसे व्यक्ति के समीप होने का अर्थ है—उपासना। उसके पास धर्म होता हैं। वह धर्म सुना सकता है। जिसके पास धर्म न हो, वह धर्म कैसे दे सकता है? महावीर कहते हैं—संत की उपासना से व्यक्ति को धर्म का सुनना मिलता है।

जीवन में सबसे पहला कदम ही मुख्य होता है। अगर वह गलत दिशा में उठ जाता है तो आदमी भटक जाता है। यदि वह सही दिशा में उठ जाए तो मंजिल निकट हो जाती है। यह कहना चाहिए कि प्रथम कदम में ही प्रायः व्यक्ति चूक जाता है। इस उलझन भरे विश्व में सही दिशा-बोधक कठिनतम है। एक कवि ने कहा है—'कुछ व्यक्ति अज्ञान के कारण नष्ट होते हैं, कुछ व्यक्ति प्रमाद के कारण नष्ट होते हैं, कुछ ज्ञान के अवलेप (विद्या के घमंड) के कारण नष्ट होते हैं और कुछ दूसरे नष्ट व्यक्तियों के संपर्क में आकर नष्ट होते हैं।' धर्म की दिशा में पहला पाठ ठीक मिल जाए तो आत्म-दर्शन कोई असाध्य नहीं है।

महावीर ने इसकी पूरी कड़ी प्रस्तुत की है। धर्म के श्रवण से उसका ज्ञान होता है और उस ज्ञान से व्यक्ति को विज्ञान—सत्यासत्य के निर्णय की क्षमता मिलती है। वह असत्य को असत्य और सत्य को सत्य देख लेता है। फिर उसके प्रत्याख्यान होता है। वह असत्य के आवरण-जाल से मुक्त हो जाता है। फिर उसके संयम होता है। वह स्वभाव में चला आता है। स्वभाव में स्थिर होने पर विजातीय तत्त्वों के आगमन का द्वार बन्द हो जाता है। भीतर तप की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। वह अग्नि कर्म (विजातीय मल) को जलाकर भस्म कर देती है। साधक शुद्ध हो जाता है। वह स्वयं के ही स्वभाव से छलाछल भर जाता है और पूर्ण अक्रिय हो जाता है। यह समुचित कदम का सुफल है।

**१४. निश्चये व्रतमापन्नो, व्यवहारपटुः गृही।**
**समभावमुपासीनोऽनासक्तः कर्मणीप्सिते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जो गृहस्थ अंतरंग में व्रतयुक्त है और व्यवहार में पटु है, वह समभाव की उपासना करता हुआ इष्टकार्य में आसक्त नहीं होता।**

श्रावक एक सामाजिक व्यक्ति होता है। उस पर घरेलू, सामाजिक और राजनैतिक जिम्मेदारियां भी होती हैं। धर्म की आराधना करता हुआ वह उनसे विमुख नहीं हो सकता। संयम और व्रत–त्याग में निष्ठा रखता हुआ भी व्यवहार जगत् से अपने संबंध बनाये रखता है। लेकिन अंतर इतना है कि यदि वह संयमयुक्त है तो गृह-कार्य करता हुआ भी उनमें अनुरक्त नहीं होता; जबकि एक असंयमवान व्यक्ति उन्हीं कार्यों में रचा-पचा रहता है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा–'जो केवल व्यवहार जगत् में जागरूक रहता है, वह आत्म-जगत् की दृष्टि से सुप्त है और जो आत्म-जगत् में जागृत रहता है वह व्यवहार जगत् में सुप्त है। आत्म-जगत् में जागृत रहने से हमारा व्यवहार बंद नहीं होता, किन्तु व्यवहार में जो आसक्ति होती है वह खत्म हो जाती है।

साधक के लिए व्यवहार गौण है और आत्मा प्रधान है। वह आत्म-हित को खोकर कहीं प्रवृत्त नहीं हो सकता। भगवती आराधना में कहा है–'आभ्यन्तर शुद्धि के साथ बाह्य–व्यवहार-शुद्धि तो अवश्यंभावी है। बहिरंग दोष इस बात के प्रमाण हैं कि व्यक्ति भीतर में शुद्ध नहीं है।' व्यवहार-शुद्धि धोखा भी हो सकती है। गृहस्थ श्रावक जो अपनी अंतश्चेतना में उतर गया, वह बाहर में लिप्त नहीं होता।

**'अभोगी नोवलिप्पइ'**–आत्मानुरक्त व्यक्ति उपलिप्त नहीं होता। जीवन-चर्या उसकी भी होती है, वह व्यवहार में कार्य भी करता है, किन्तु अपने केन्द्र को छोड़ता नहीं।

**१५. अज्ञानकष्टं कुर्वाणा, हिंसया मिश्रितं बहु।**
**मुमुक्षां दधतोऽप्येके, बध्यन्तेऽज्ञानिनो जनाः॥**

**अविवेकपूर्ण ढंग से बहुत सारे हिंसा मिश्रित कष्टों को झेलने वाले अज्ञानी लोग मुक्त होने की इच्छा रखते हुए भी कर्मों से आबद्ध होते हैं।**

**१६. कर्मकाण्डरताः केचिद्, हिंसां कुर्वन्ति मानवाः।**
**स्वर्गाय यतमानास्ते, नरकं यान्ति दुस्तरम्॥**

**क्रियाकाण्ड में आसक्त होकर जो लोग हिंसा करते हैं, वे स्वर्ग-प्राप्ति का प्रयत्न करते हुए भी दुस्तर नरक को प्राप्त होते हैं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महावीर कष्ट-सहिष्णु थे और कष्टों के आमंत्रक भी थे। समागत या आमंत्रित कष्टों में उनकी धृति अविच्युत थी। उनकी दृष्टि आत्मा पर थी। वे आत्म-निखार में सतत जागरूक थे। इसलिए उन्होंने आत्म-विस्मृत होकर कष्ट सहने का समर्थन नहीं किया? और न हिंसापूर्ण वृत्तियों का। रत्नसार में आचार्य कहते हैं—क्रोध को दंडित नहीं कर शरीर को दंडित करना बुद्धिमानी नहीं है। उससे शुद्धि नहीं होती। सांप को न मार कर सर्प के बिल पर मार करने से सर्प नहीं मारा जाता।' केवल देह-दंड से नहीं, आंतरिक कषाय शत्रुओं को परास्त करने से ही आत्म-बोध संभव है। जिस प्रक्रिया से दूसरों को उत्पीड़न न हो और विजातीय तत्त्व का रेचन हो, वह तप है। आत्म-बोध यदि तप से नहीं होता है तो वह तप अज्ञान तप की कोटि में चला जाता है। महावीर अज्ञान तप के प्रशंशक नहीं; अपितु उसके प्रबल विरोधक थे। वे शुद्ध क्रिया के समर्थक थे। चाहे कोई भी व्यक्ति कहीं पर करता हो, उनकी दृष्टि में वह समादरणीय था। अनेक अन्य मतावलंबी व्यक्तियों की भी महावीर ने प्रशंसा की थी। किन्तु हिंसापूर्ण क्रिया और आत्मज्ञान को आवृत करने वाले कार्यों से वांछित वस्तु की प्राप्ति को वे असंभव मानते थे।

वे ही क्रियाकांड महत्त्वपूर्ण और उपादेय हैं जो व्यक्ति को आत्मा के निकट ले जाते हैं। जिनसे आत्मा दूर होती है वे कैसे उपादेय हो सकते हैं।' योगसार में कहा है—'गृहस्थ हो या साधु, जो आत्मस्थ होता है, वही सिद्धि-सुख को प्राप्त कर सकता है, ऐसा जिन-भाषित है।' परमात्म प्रकाश में कहा है—'संयम, शील, तप, दर्शन और ज्ञान सब आत्म-शुद्धि में है। आत्म-शुद्धि से ही कर्मक्षय होता है, इसलिए आत्म-शुद्धि प्रधान है।' महावीर कहते हैं—गलत दिशा में चलकर कोई भी व्यक्ति अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकता। इससे तो वह वहीं पहुंचता है जहां पहुंचना नहीं चाहता। साध्य और साधन—दोनों की शुद्धि अत्यंत अपेक्षित है।

**१७. आत्मानः सदृशाः सन्ति, भेदो देहस्य दृश्यते।**
**आत्मनो ये जुगुप्सन्ते, महामोहं व्रजन्ति ते॥**

स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान हैं। उनमें केवल शरीर का अन्तर होता है। जो आत्माओं से घृणा करते हैं, वे महा-मोह में फंस जाते हैं।

**१८. उच्चगोत्रो नीचगोत्रः, सामग्र्या कथ्यते जनैः।**
**न हीनो नातिरिक्तश्च, क्वचिदात्मा प्रजायते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**प्रशस्त सामग्री के प्राप्त होने से आत्मा उच्चगोत्र वाला और अप्रशस्त सामग्री के प्राप्त होने से वह नीचगोत्र वाला कहलाता है। वस्तुतः कोई भी आत्मा किसी भी आत्मा से न उच्च है और न नीच।**

**१९. प्रज्ञामदं नाम तपोमदञ्च, निर्णामयेद् गोत्रमदञ्च धीरः।**
**अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतं, न तस्य जातिः शरणं कुलं वा॥**

**धीर पुरुष वह होता है जो बुद्धि, तप और गोत्र के मद का उन्मूलन करे। जो दूसरे को प्रतिबिम्ब की भांति तुच्छ मानता है, उसके लिए जाति या कुल शरणभूत नहीं होते।**

जो धार्मिक हैं, किन्तु जिनके अज्ञान का आवरण हटा नहीं है, वे धार्मिक होते हुए भी वृत्तियों से धार्मिक नहीं होते। उनकी दृष्टि अभी बाहर स्थित है। वे बाह्य वातावरण से प्रभावित हैं तथा बाह्य वस्तुओं के संयोग-वियोग से महान् और क्षुद्र की कल्पनाएं करते हैं। धर्म का अभ्युदय होने पर बाह्य-वस्तुओं का वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है। एक साथ दो चीजें नहीं रह सकती। जीसस ने कहा है–'कोई दो स्वामियों की सेवा एक साथ नहीं कर सकता। चाहे ईश्वर की आराधना करो या कुबेर की। ईश्वर चाहता है–त्याग और समर्पण, और कुबेर चाहता है–संग्रह तथा शोषण।' एक और भी उनका महत्त्वपूर्ण वचन है–'मैं तुम्हारा भगवान् बड़ा मानी हूं। मैं किसी दूसरे की सत्ता को नहीं सह सकता। चाहे तुम मुझे प्रसन्न कर लो या शैतान को।' धर्म की ज्योति प्रज्वलित होने के बाद भेदों की दीवार खड़ी नहीं रह सकती। धुंएं की दीवार के लिए तेज हवा का झोंका पर्याप्त है। मायाजन्य मान्यताएं–मैं बड़ा हूं, विद्वान हूं, पूज्य हैं, उच्च हूं–आदि ज्ञान के प्रकाश में कब तक टिक सकती है? व्यक्ति दूसरों को तुच्छ और घृणित तब तक ही समझता है जब तक उसे स्वयं का बोध नहीं है। मंसूर एक महान् सूफी साधक हुआ है। उसने कहा–'अगर परमात्मा भी मुझे मिल जाय तो क्षमा नहीं मांगनी पड़ेगी, क्योंकि उसके सिवा मैंने किसी में कुछ देखा ही नहीं।' जो सबमें आत्मा को देखने लगता है वह कैसे दूसरों का तिरस्कार कर सकेगा? आत्म-बुद्धि जागृत हो जाए तब द्वैत का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु उससे पूर्व भी यदि धार्मिक व्यक्ति दूसरों में आत्मा-परमात्मा को देखने लगे तो अनेक आंतरिक और बाह्य समस्याएं तिरोहित हो सकती हैं और वह व्यर्थ के क्षुद्रतम पापों से निवृत्त रह सकता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२०. नात्मा शब्दो न गन्धोऽसौ,रूपं स्पर्शो न वा रसः।
न वर्त्तुलो न वा त्र्यस्रः, सत्ताऽरूपवती ह्यसौ॥

**आत्मा न शब्द है, न गंध है, न रूप है, न स्पर्श है, न रस है, न वर्तुल—गोलाकार है और न त्रिकोण है। वह अमूर्त्त सत्ता है।**

वृहदारण्य उपनिषद् में जनक याज्ञवल्क्य से पूछता है कि आत्मा क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो वह विज्ञान-स्वरूप और ज्योतिर्मय है वह आत्मा है। यह आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निरूपण है। क्या आत्मा के शरीर, वाणी, मन, बुद्धि, आंख, नाक, कान, हाथ, पैर, मुंह, आदि है? इनके उत्तर में हम वेदों में **'नेति'** पाते हैं। ये आत्मा नहीं हैं। इनसे आत्मा का बोध होता है।

आत्मा अमूर्त है। शरीर, इन्द्रिय इत्यादि मूर्त हैं। मूर्त वस्तु अमूर्त को ग्रहण नहीं कर सकती। आकार-प्रत्याकार पौद्गलिक वस्तुओं के होता है, चेतन में नहीं। आत्मा की खोज आत्मा से ही होती है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—'तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मा की खोज करो।'

शब्दों का प्रयोग करने वाला, गंध का अनुभव करने वाला, स्पर्श और रस की अनुभूति करने वाला आत्मा है। शरीर की लंबी-चौड़ी रचना में आत्मा का योग है। जड़ शरीर में संवर्धन की शक्ति नहीं है। आत्मा अक्षुण्ण है। उसमें घटने और बढ़ने की क्रिया नहीं होती।

२१. न पुरुषो न वापि स्त्री, नैवाप्यस्ति नपुंसकम्।
विचित्रपरिणामेन, देहेऽसौ परिवर्तते॥

**आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक। वह विचित्र परिणतियों द्वारा शरीर में परिवर्तित होता रहता है।**

पुरुष, स्त्री आदि शब्दों का व्यवहार शरीर-रचना साप्रेक्ष है। शरीर आत्मा नही है किंतु आत्मा का निवासस्थान है। आत्मा विभिन्न शरीरों को धारण कर तद्रूप बन जाती है। उसे अनेक संज्ञाएं मिल जाती हैं। लेकिन आत्मा इन सबसे पृथक् है। वह चिदानंद स्वरूप है।

२२. असवर्णः सवर्णो वा, नासौ क्वचन विद्यते।
अनन्तज्ञान-सम्पन्नः, संपर्येति शुभाशुभैः॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**आत्मा न सवर्ण है और न असवर्ण। वह स्वरूप की दृष्टि से अनन्तज्ञान से युक्त है। शुभ, अशुभ कर्मों के द्वारा बद्ध होने के कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है।**

वर्णसंकर-स्वर्णिक और स्पृश्य-अस्पृश्य की मान्यताएं तात्त्विक नहीं हैं। ये व्यवहार-भेद पर आश्रित हैं। आत्मा अनंत ज्ञानमय है। वह एक स्पृश्य में है, वैसे ही अस्पृश्य में है। मनुष्येतर प्राणियों में भी आत्मा के मूलरूप में कोई अंतर नहीं है। गीता कहती हैं—पंडित लोग सुशिक्षित और विनयशील ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते या चांडाल को समान दृष्टि से देखते हैं।

**२३. गेहाद् गेहान्तरं यान्ति, मनुष्याः गेहवर्तिनः।**
**देहाद् देहान्तरं यान्ति, प्राणिनो देहवर्तिनः॥**

**घर में रहने वाले मनुष्य जैसे एक घर को छोड़कर दूसरे घर में जाते हैं उसी प्रकार शरीर में रहने वाली प्राणी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हैं।**

शुद्ध आत्मा का संसरण नहीं होता। शरीरधारी आत्मा संसरण करती है। एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर धारण करने से आत्मा का स्वभाव परिवर्तन नहीं होता। यदि शरीर के साथ आत्मा का विनाश माना जाये तो उसका चैतन्य स्वरूप नहीं रह सकता।

चैतन्य आत्मा का अनन्य सहचारी धर्म है। वह कभी पृथक् नहीं हो सकता। आत्मा अजर और अमर है! गीता में भी कहा है—'वह कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता ही है। उसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। वह अजन्मा, शाश्वत, नित्य और प्राचीन है। शरीर के मर जाने पर भी वह नहीं मरता।

**२४. नासौ नवो नवा जीर्णो, नवोपि च पुरातनः।**
**आद्या द्रव्यार्थिकी दृष्टिः, पर्यायार्थगता परा॥**

**आत्मा न नया है और न पुराना—यह द्रव्यार्थिक दृष्टि है। आत्मा नया भी है और पुराना भी—यह पर्यायार्थिक दृष्टि है।**

**२५. नवोऽपि च पुराणोऽपि, देहो भवति देहिनाम्।**
**शैशवं यौवनं तत्र, वार्धक्यञ्चापि जायते॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**जीवों का शरीर नया भी होता है और पुराना भी। शरीर में शैशव, यौवन और वार्धक्य–बुढ़ापा भी होता है।**

आत्मा पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। नये और पुराने का व्यवहार आत्मा में इसलिए नहीं होता कि वह सर्वकालिक है। न उसका स्वरूप पुराना होना है न नया। दोनों शब्द सापेक्ष हैं। एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप में आना नया है और जिसे छोड़ा जाता है वह पुराना है। आत्मा में वैसा नहीं होता। द्रव्यार्थिकदृष्टि से वस्तु का स्वभाव–धर्म अपरिवर्तित होता है।

पर्यायार्थिकदृष्टि भिन्न है। वह पदार्थों की अवस्थाओं को देखती है। अवस्थाएं बदलती हैं अतः नये और पुराने शब्दों का व्यवहार इसमें हो जाता है। आत्मा एक अवस्था का त्याग कर दूसरी अवस्था में आती है तब वह पहले की अपेक्षा नयी है और नये की अपेक्षा पुरानी।

शैशव, यौवन और बुढ़ापा एक ही शरीर की तीन अवस्थाओं से आत्मा में बालक, युवक और वृद्ध शब्दों का व्यवहार हो जाता है।

गीता कहती है–'इस शरीर में आत्मा बचपन, यौवन और वार्धक्य में से गुजरती है। यह शरीर की दशा है। आत्मा उसमें वही है। शरीर का अंत हो जाता है। तब आत्मा नये शरीर को बना लेती है। यह क्रम मुक्ति के अनंतर रुक जाता है। प्राणों के वियोजन से धीर मनुष्य खिन्न नहीं होते। वे सत्य को जानते हैं।

**२६. देहस्योपाधिभेदेन, यो वात्मानं जुगुप्सते।**
**नात्मा तेनावबुद्धोऽस्ति, नात्मवादी स मन्यताम्॥**

**शरीर की भिन्नता होने के कारण जो दूसरी आत्मा से घृणा करता है, उसने आत्मा को नहीं जाना। उसे आत्मवादी नहीं मानना चाहिए।**

शरीर की भिन्नता के पीछे आत्मा की भिन्नता नहीं है। आत्मा एक है, सदृश है। जिसे आत्मा ज्ञात है, दृष्ट है वह आकृति को महत्त्व नहीं देता और न शरीर-भेद के आधार पर किसी का आदर और अनादर करता है। शरीर को महत्त्व देने का अर्थ है–राग-द्वेष को महत्त्व देना। देहाश्रित सम्मान व अपमान दोनों ही उसके लिए बंधन के कारण होते हैं। आत्मवादी बाह्य को प्राधान्य नहीं देता। वह जानता है, समझता है कि यह आकार-भेद है, चैतन्य-भेद नहीं किन्तु

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनात्म-द्रष्टा की दृष्टि ऊपर की ओर नहीं उठती। वह इन्द्रियों के पार के जगत् को देखने में सक्षम नहीं होती। इसलिए वह बाहर ही उलझा रहता है।

जनक की सभा में स्वयं को आत्मवादी मानने वाले अनेक विद्वज्जन सम्मिलित हुए। तर्क-वितर्क भी चल रहे थे। अष्टावक्र मुनि के पिता भी वहीं थे। वे पराजित हो रहे थे। अष्टावक्र को पता चला। वे जनक की सभा में आए। विद्वानों ने देखा अष्टावक्र को, जो आठ स्थानों से टेड़े-मेढ़े थे। सभी विद्वान खिल-खिलाकर हंसने लगे। अष्टावक्र ने राजा जनक से कहा—'क्या यह चमारों की सभा है? केवल मेरी चमड़ी को देखने वाले चमार ही हो सकते हैं।' सभी सभासद् अवाक् रह गए। जनक को लगा यह बालक ज्ञानी है। उसने सिंहासन से नीचे उतर कर निवेदन किया—महलों में पधारें और मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करें। 'अष्टावक्र गीता' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

उम्मर खय्याम ने कहा है—जब मैं जवान था तो बहुत पंडितों के द्वार पर गया, वे बड़े ज्ञानी थे। मैंने उनकी चर्चा सुनी, पक्ष-विपक्ष में विवाद सुने। जिस दरवाजे से गया, उसी दरवाजे से वापस लौट आया।

**मेघः प्राह**

**२७. विशालवपुषः केचित्, केचित् तुच्छशरीरकाः।**
**किमस्ति सदृशो दोषः, तेषां प्राणातिपातने?**

**मेघ बोला—कुछ जीवों का शरीर विशाल है और कुछ जीवों का शरीर छोटा है। क्या उनकी हिंसा में दोष एक जैसा होता है?**

**भगवान् प्राह**

**२८. ये केचित् क्षुद्रका जीवा, ये च सन्ति महालयाः।**
**तद्वधे सृदशो दोषोऽसदृशो वेति नो वदेत्॥**

**भगवान् ने कहा—कुछ जीवों का शरीर छोटा है और कुछ का बडा। उन्हें मारने में समान पाप होता है या असमान—इस प्रकार नहीं कहना चाहिए।**

यहां यह बताया गया है कि शरीर के छोटे-बड़े आकार पर हिंसा-जन्य पाप का माप नहीं हो सकता। जो व्यक्ति यह मानते हैं कि छोटे प्राणियों की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हिंसा में कम पाप होता है और बड़े प्राणियों की हिंसा में अधिक पाप होता है, भगवान् महावीर की दृष्टि से यह मान्यता सम्यक् नहीं है। पाप का संबंध जीव-वध से नहीं किन्तु भावना से है। भावों की क्रूरता से जीव-हिंसा के बिना भी पापों का बंधन हो जाता है। मन, वाणी और शरीर की हिंसासक्त चेष्टा से छोटे जीव की हिंसा में भी पाप का बंध प्रबल हो जाता है और परिणामों की मंदता से वहां बड़े जीव की हिंसा में भी पाप का बंध प्रबल नहीं होता। अल्पज्ञ व्यक्तियों के लिए यह कहना कठिन है कि 'पाप कहां अधिक है और कहां कम।' परिणामों की तरतमता ही न्यूनाधिकता का कारण है।

२९. हन्तव्यं मन्यसे यं त्वं, स त्वमेवासि नापरः।
यमाज्ञापयितव्यञ्च, स त्वमेवासि नापरः॥

३०. परितापयितव्यं यं, स त्वमेवासि नापरः।
यञ्च परिग्रहीतव्यं, स त्वमेवासि नापरः॥

३१. अपद्रावयितव्यं यं, स त्वमेवासि नापरः।
अनुसंवेदनं ज्ञात्वा, हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

(त्राभावशषकम्)

**जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है कोई दूसरा नहीं है। जिस पर तू अनुशासन करना चाहता है, वह तू ही है, कोई दूसरा नहीं है। जिसे तू संतप्त करना चाहता है, वह तू ही है, कोई दूसरा नहीं। जिसे तू दास-दासी के रूप में अपने अधीन करना चाहता है, वह तू ही है, कोई दूसरा नहीं। जिसे तू पीड़ित करना चाहता है, वह तू ही है, कोई दूसरा नहीं। सब जीवों में संवेदन—कष्टानुभूति होती है, यह जानकर किसी को मारने की इच्छा न करे।**

आत्मवादी के लिए कोई 'दूसरा' नहीं होता और अनात्मवादी के लिए कोई 'एक' नहीं होता। एक बाहर देखता है और एक भीतर। जो भीतर उतरा, उसने पाया अभेद और जो बाहर खोजता रहा उसने पाया भेद। असुर और देवता एक आत्मद्रष्टा ऋषि के पास पहुंचे। ऋषि से आत्मबोध की याचना की। संत ने कहा—'तत्त्वमसि'—जिसे खोज रहे हो वह तुम ही हो। दोनों चले आए। दोनों को संतोष हो गया कि यह देह ही आत्मा है। दोनों भोग-विलास में मस्त हो गए। किन्तु देवता को संतोष नहीं हुआ। उसे लगा—गुरु संत इस शरीर के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लिए नहीं कह रहे हैं। यह शरीर तो प्रत्यक्ष मरणधर्मा है। वह आया और पूछा—क्या आपका अभिप्राय आत्मा शब्द से शरीर से है? किन्तु शरीर विनश्वर है, आत्मा नहीं। संत ने उसी तत्त्व का उपदेश फिर दिया—वह तू ही है। प्राण के विषय में सोचा, किन्तु लगा प्राण तो उससे ही स्पंदित होते हैं। वह न हो तो प्राणों का क्या मूल्य! फिर मन के संबंध में सोचा। मन चंचल हैं। प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह आत्मा तो अपरिवर्तनीय है। मैं मन से पार जो अनंत शक्ति सम्पन्न, अजर, अमर है 'वह हूं।' जिज्ञासा से अपने भीतर जो था उसे खोज लिया। असुर देह पर रुक गए। देवता मंजिल पर पहुंच गए। देवता अभेद में जीने लगे और असुर द्वैत में।

महावीर का यह स्वर पूर्ण अद्वैतवाद का है। वे कह रहे हैं—दूसरा कोई नहीं है। किन्तु जिनकी प्रज्ञा-चक्षु निमीलित है, वे बाह्य भेद के आधार पर दूसरों का उत्पीड़न करते हैं, शोषण करते हैं। उन्हें अपने अधीनस्थ बनाते हैं और उन पर अनुशासन करते हैं। वस्तुतः वे स्वयं की हिंसा करते हैं; स्वयं को पीड़ित करते हैं। स्वयं की असत् प्रवृत्ति से स्वयं ही बंधन में फंसते हैं। प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है। दूसरों के निमित्त से हम अज्ञानवश स्वयं को दंड देते हैं। ज्ञान के प्रकाश में गल्ती करने वाला दंडनीय है। उसे बोध नहीं है। वह तो करुणा का पात्र है। उस पर क्रोध कर स्वयं को दंड नहीं दिया जाए। खलील जिब्रान ने कहा है—'अच्छी तरह आंख खोलकर देख, तुझे हर सूरत में अपनी सूरत नजर आएगी। अच्छी तरह कान खोल कर सुन, तुझे हर आवाज में अपनी आवाज सुनाई देगी।'

**३२. परिणामिनि विश्वेऽस्मिन्, अनादिनिधने ध्रुवम्।**
**सर्वे विपरिवर्तन्ते, चेतना अप्यचेतनाः॥**

**यह संसार नाना रूपों में निरंतर परिणमनशील और आदि-अंत रहित है। इसमें चेतन और अचेतन— सब पदार्थों की अवस्थाएं परिवर्तित होती रहती हैं।**

**मेघः प्राह**

**३३. उत्पादव्ययधर्माणो, भावा ध्रौव्यान्विताः तदा।**
**किमात्मा शाश्वतो देहोऽशाश्वतो विद्यते विभो!**

**मेघ बोला—प्रभो! सब पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यधर्मयुक्त हैं, तब फिर आत्मा शाश्वत और देह अशाश्वत क्यों?**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**भगवान् प्राह**

**३४. पर्यायापेक्षया धीमन् आत्माप्येषु न शाश्वतः।**
**पुद्गलापेक्षया नूनं, शरीरञ्चापि शाश्वतम्॥**

**भगवान् ने कहा—धीमन्! पर्याय की अपेक्षा से आत्मा भी शाश्वत नहीं है और पुद्गल की अपेक्षा से शरीर भी शाश्वत है।**

इस जगत में जितने भी द्रव्य हैं, वे शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं, द्रव्यत्व की अपेक्षा से शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत है। गुण और पर्याय इन दोनों का समन्वित रूप द्रव्य है? द्रव्य अपने मौलिक गुण को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता। वह सतत उसके साथ रहता है। आत्मा का स्वभाव—गुण चैतन्य है, वह चैतन्य एकेन्द्रिय वाली आत्माओं में भी विद्यमान है, पंचेन्द्रिय जीवों में विद्यमान है और अतीन्द्रिय सिद्ध अवस्था में भी विद्यमान है। गीता में कहा है—वस्त्रों के जीर्ण होने पर नये वस्त्रों को जैसे धारण किया जाता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को त्याग कर नये शरीरों का धारण करता है, किन्तु आत्मा वैसा का वैसा ही रहता है। यह शरीरों का धारण करना पर्यायें हैं। जैसे शरीर धारण आत्मा की पर्यायें है वैसे पुद्गलात्मक है। पुद्गलों का अपना गुण है—वे अवस्थाएं बदलने के साथ गुण को नहीं बदलते। एक ही जीवन में एक ही शरीर कितनी पर्यायें बदल लेता हैं। सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाएं तो परिवर्तन का क्रम अनवरत चलता है। बौद्ध इसी पर्यायदृष्टि को प्रधान रखकर कहते हैं—सब कुछ क्षणक्षयी है। जो पदार्थ इस क्षण है वह दूसरे क्षण में नहीं है। नदी का पानी जो बह रहा है, दूसरे क्षण वह नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा—पर्यायों का परिवर्तन प्रतिक्षण सब द्रव्यों में होता है।

आत्मा गुण की दृष्टि से शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत है। वैसे शरीर भी पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत है और पुद्गल के पर्याय-परिवर्तन की अपेक्षा से अशाश्वत है।

**मेघः प्राह**

**३५. आत्मास्तित्वमुपेतोऽपि, कथं दृश्यो न चक्षुषा?**

**मेघ बोला—भगवन्! आत्मा का अस्तित्व है फिर भी वह चक्षु के द्वारा दृश्य क्यों नहीं है?**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवान् प्राह

जीवपुद्गलयोगेन, दृश्यं जगदिदं भवेत्॥

भगवान् ने कहा—वत्स! यह जगत् जीव और पुद्गल के संयोग से दृश्य बनता है।

३६. आत्मा न दृश्यतामेति, दृश्यो देहस्य चेष्टया।
देहेऽस्मिन् विनिवृत्ते तु, सद्योऽदृश्यत्वमृच्छति॥

आत्मा स्वयं दृश्य नहीं है, वह शरीर की चेष्टा से दृश्य बनता है। शरीर की निवृत्ति होने पर वह तत्काल अदृश्य बन जाता है।

विज्ञान और धर्म में कोई दूरी है तो यह है कि विज्ञान जितना दृश्य को स्वीकार करता है, उतना अदृश्य को नहीं। विज्ञान की दृष्टि है कि जिसका माप हो वही तत्त्व है। धर्म कहता हैं—अमाप्य भी तत्त्व है। आप सब कुछ माप सकते हैं। किन्तु आत्मा या अमूर्त को नहीं। दृश्य ही सब कुछ नहीं है। यह स्वयं निष्चेष्ट-निष्क्रिय है, यदि उसके पीछे अदृश्य का हाथ न हो तो। दृश्य महान् नहीं है। महान् है—अदृश्य, जिसकी सत्ता सर्वत्र काम कर रही है। पांच फुट के इस छोटे शरीर में जो स्वचालित प्रक्रिया हो रही है, यह क्या उस अदृश्य की सूचना नहीं दे रही है? वैज्ञानिक कहते हैं—'यदि इस शरीर का निर्माण हमें करना पड़े तो कम से कम दस वर्गमील में एक कारखाना बनाना पड़े।' दृश्य शरीर की चेष्टा से अदृश्य का बोध होता है। उसे नकारा नहीं जाता। आज वैज्ञानिक भी उसके निकट पहुंच रहे हैं और उसकी सत्ता को स्वीकार कर रहे हैं। बहुतों ने अपनी खोज के संबंध में कहा है—इस तथ्य का पता हमें किसी अज्ञात जगत् से मिला है। शरीर के सो जाने पर भी चेतना नहीं सोती।

३७. स्पर्शाः रूपाणि गन्धाश्च, रसा येन जिहासिताः।
आत्मा तेनैव लब्धोऽस्ति,स भवेदात्मवित् पुमान्॥

जिसने स्पर्श, रूप, गंध और रसों की आसक्ति को छोड़ना चाहा, आत्मा उसी को प्राप्त हुआ है और वही आत्मवित् है।

आत्मा का अनुभव इन्द्रिय-विषयों से परे हटने पर होता है। जब तक इन्द्रिय और मन की हलचल होती रहती है तब तक आत्मा सुप्त रहती है। जब

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा जागती है तब वे सो जाते हैं। गीता में लिखा है–'इन्द्रियों के विषय उस शरीर-धारिणी आत्मा से विमुख हो जाते हैं, जो उसका आनंद लेने से दूर रहती है। परंतु उनके प्रति रस (लालसा) फिर भी बनीं रहती है। जब भगवान् (आत्मा) के दर्शन हो जाते हैं तब वह रस भी जाता रहता है।'

फारसी धर्म में भी दो प्रकार की बुद्धि का उल्लेख है–प्राकृतिक बुद्धि और शिक्षा के द्वारा होने वाली बुद्धि। प्राकृतिक बुद्धि आत्मा के निकट की बुद्धि है। वह प्रत्येक गलत चरण को रोकने के लिए संकेत देती है। इसके ढंक जाने पर मनुष्य बाहर की दुनिया में चला जाता है। आत्मविद् वह है जो आत्म-जगत् के आनंद का अनुभव करता है।

३८. श्रुतवन्तो भवन्त्येके, शीलवन्तोऽपरे जनाः।
श्रुतशीलयुता एके, एके द्वाभ्यां विवर्जिताः॥

**पुरुष चार प्रकार के होते हैं–१. श्रुतसंपन्न–ज्ञानवान् २. शीलसंपन्न–आचारवान् ३. श्रुतसंपन्न और शीलसंपन्न ४. न श्रुतसंपन्न और न शीलसंपन्न।**

३९. श्रुतवान् मोक्षमार्गस्य, देशेन स्याद् विराधकः।
शीलवान् मोक्षमार्गस्य, देशेनाराधको भवेत्॥

**जो पुरुष केवल श्रुतसंपन्न होता है, वह मोक्ष-मार्ग का देश-विराधक–आंशिक रूप से विराधक होता है। जो पुरुष केवल शीलसंपन्न होता है, वह मोक्ष-मार्ग का देश-आराधक–आंशिक रूप से आराधक होता है।**

जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया–दोनों से मोक्ष मानता है। जो एकांतवादी दर्शन हैं वे केवल ज्ञान या केवल क्रिया से मोक्ष मानते हैं। यह अयथार्थ है। जहां श्रुत और आचार का समन्वय है, वहीं लक्ष्य की प्राप्ति होती है। केवल ज्ञान व्यक्ति को मूढ़ बनाता है और ज्ञानशून्य क्रिया निराधार होती है। इसलिए ज्ञान से समन्वित क्रिया और क्रिया से समन्वित ज्ञान ही लक्ष्य-साधक होता है।

४०. इदं दर्शनमापन्नो, मुच्यते नेति संगतम्।
श्रुतशील-समापन्नो, मुच्यते नात्र संशयः॥

**कुछ लोगों का अभिमत है कि अमुक दर्शन को स्वीकार करने से व्यक्ति मुक्त हो जाता है किन्तु यह संगत नहीं है। सचाई यह है कि जो श्रुत और शील से युक्त होता है, वह निःसंदेह मुक्त हो जाता है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**४१. श्रुतशील-समापन्नः, सर्वथाऽऽराधको भवेत्।**
**द्वाभ्यां विवर्जितो लोकः,सर्वथा स्याद् विराधकः॥**

**जो श्रुत और शील से संपन्न है, वह मोक्ष-मार्ग का सर्वथा आराधक है। जो श्रुत और शील–दोनों से रहित है, वह मोक्ष-मार्ग का सर्वथा विराधक है।**

**'सयं सयं उवट्ठाणे, सिद्धि मेव न अन्नहाः'**.....सम्प्रदायों का यह स्वर सदा ही प्रबल रहा है। सभी यह दावा करते हैं कि मेरे सम्प्रदाय में आओ तुम्हारी मुक्ति होगी। मानो परमात्मा ने सम्प्रदायों के हाथों में प्रमाणपत्र दे दिया हो। मुक्ति का सूत्र सम्प्रदायों के पास हो सकता है किन्तु मुक्ति सम्प्रदायों में नहीं है। मुक्ति का अस्तित्व सबसे मुक्त है, स्वतंत्र है। सम्प्रदाय मुक्त नहीं करते, और न कोई व्यक्ति बंधन-मुक्त करता है। 'बोधिधर्म' ध्यान परंपरा के एक महान् आचार्य हुए हैं। शिष्य ने उनसे जिज्ञासा की–'बुद्ध का नाम लेना चाहिए या नहीं?' कहा–'नहीं'। अगर नाम मुंह में आ जाए तो कुल्ला कर साफ कर लेना चाहिए। मार्ग में आते हुए मिल जाएं तो देखना नहीं, भाग जाना।' शिष्य को यह आशा नहीं थी। वह डरा। क्या कह रहे हैं? बोधिधर्म बोले–'सुनो! यह तो कुछ भी नहीं है। जब मेरी सत्संग होती है तब एक बार स्थिति इतनी विकट हो गई थी कि तलवार लेकर गर्दन काट देनी पड़ी, तभी मैं अपने को पा सका। शिष्य अवाक् रह गया। उसे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि गुरु रोज बुद्ध-प्रतिमा की पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं।

शिष्य ने पूछा–'फिर यह पूजा और नमस्कार क्यों करते हैं? 'बोधिधर्म' ने कहा.....वे गुरु हैं। उन्होंने स्वयं ही मुझे यह समझाया था कि जब मुझे छोड़ दोगे तभी अपने को प्राप्त कर सकोगे। यह तो सिर्फ अनुग्रह है।

महावीर भी ठीक ऐसा ही गौतम से कह रहे हैं–**'वोच्छिंदि सिणेहमप्पणो'**–मेरे साथ जो स्नेह है, उसे छोड़कर स्वयं में प्रतिष्ठित हो।

महावीर ने कहा है–जो सम्यक्ज्ञान और सम्यग् आचरण–चरित्र सम्पन्न होते हैं, वे मुक्त होते हैं। बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का सूत्र दिया है। सम्यग् ज्ञान से स्वयं का बोध होता है, और चरित्र से स्वभाव में अवस्थित रहता है। जिसने स्वयं को जान लिया और स्वयं में अपनी प्रतिष्ठा बना ली, मुक्ति उससे कैसे दूर हो सकती है? साध्य के लिए ज्ञान और आचरण अपेक्षित है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**४२. प्रशस्ताभिर्भावनाभिः, भावितः सुगतिं व्रजेत्।**
**अप्रशस्तभावनया, सद्गतिः स्याद् विराधिता॥**

**प्रशस्त भावना से भावित पुरुष सद्गति को प्राप्त होता है। अप्रशस्त भावना से सद्गति विराधित होती है, दुर्गति प्राप्त हो जाती है।**

वर्तमान की नई चिंतन शैली ने इसे सिद्ध कर दिया है कि सुखी, शांत, प्रसन्न, स्वस्थ और चिंतनमुक्त व्यक्ति वही है–जिसका चिंतन सदा सकारात्मक होता है। सकारात्मक सोच, चिंतन व भाव में न अपना अहित होता है और न दूसरों का। निषेधात्मक भाव स्व और पर दोनों के लिए अनिष्टकारक होते हैं, किन्तु वे पर के लिए इतने नहीं होते जितने अपने लिए होते है। मनुष्य स्वास्थ्य चाहता है, शांति चाहता है किन्तु वह पॉजिटिव चिंतन को महत्त्व नहीं देता।

पॉजिटिव सोच एक तपस्या है, एक साधना है और यह साधना ऐसी साधना है कि व्यक्ति इसके द्वारा सब कुछ प्राप्त कर लेता है। यह कथन सर्वथा सत्य है कि आप जैसा सोचते हैं वैसा ही बनते हैं। बुरा सोचना नरक है और अच्छा सोचना स्वर्ग है। इसके लिए एक ही अपेक्षा है कि व्यक्ति अपने मन मैं क्षुद्र विचारों, भावों को प्रवेश न करने दें, जैसे ही लगे कि दूषित भाव की तरंगें उठ रही हैं इन्हें वहीं रोक दे, उनका नियमन कर लें और उनके स्थान पर शुभ, पवित्र, मंगलमय और कल्याणकारी भावों को विराजित करे लें। ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, बीमारी, अहंकार, दूसरों का अहित चिंतन, माया, दम्भ, भय, लालच आदि असंख्य नकारात्मक भाव हैं–ये सब हमारे मन, मस्तिष्क और हृदय को संकीर्ण, दूषित व रुग्ण बनाते हैं। इसलिए आगम तथा ऋषि साहित्य में सत्संकल्पों की एक लंबी धारा प्रवाहित हो रही है, उन संकल्पों का चयन कर चित्त को भावित करते हुए नकारात्मक सोच से अपने को मुक्त कर जीवन को स्वर्णिम बताये। **'दैवीसंपद्विमोक्षाय'** मुक्ति के लिए दैवी गुणों का अवलंबन लेना। यह प्रशस्त भावना का ही रूप है। सद्गति का यह सीधा सरल पथ है। इससे उल्टे अप्रशस्तभाव आसुरी संपद् बंधन के लिए है, दुर्गति के लिए है।

**४३. वाचः कायस्य कौकुच्यं, कन्दर्पं विकथा तथा।**
**कृत्वा विस्मापयत्यन्यान्, कान्दर्पी तस्य भावना॥**

**वाणी और शरीर की चपलता, कामचेष्टा और विकथा के द्वारा जो दूसरों को विस्मित करता है, उसकी भावना 'कान्दर्पी' भावना कहलाती है।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४४. मन्त्रयोगं भूतिकर्म, प्रयुंक्ते सुखहेतवे।
अभियोगी भवेत्तस्य, भावना विषयैषिणः॥

विषय की गवेषणा करने वाला जो व्यक्ति सुख की प्राप्ति के लिए मंत्र और जादू-टोने का प्रयोग करता है, उसकी भावना 'अभियोगी' भावना कहलाती है।

४५.' ज्ञानस्य ज्ञानिनो नित्यं, संघस्य धर्मसेविनाम्।
वदन्नऽवर्णानाप्नोति, किल्विषिकीञ्च भावनाम्॥

ज्ञान, ज्ञानवान्, संघ और धार्मिकों का जो अवर्णवाद बोलता है, उसकी भावना 'किल्विषिकी' भावना कहलाती है।

४६. अव्यवच्छिन्नरोषस्य, क्षमणान्न प्रसीदतः।
प्रमादे नानुतपतः, आसुरी भावना भवेत्॥

जिसके रोष निरंतर बना रहता है, जो क्षमायाचना करने पर भी प्रसन्न नहीं होता और जो अपनी भूल पर अनुताप नहीं करता, उसकी भावना 'आसुरी' भावना कहलाती है।

४७. उन्मार्गदिशको मार्गनाशकश्चात्मघातकः।
मोहयित्वात्मनात्मानं, संमोही भावनां व्रजेत्॥

जो उन्मार्ग का उपदेश करता है, जो दूसरों को सन्मार्ग से भ्रष्ट करता है, जो आत्महत्या करता है, जो अपनी आत्मा को आत्मा से मोहित करता है, उसकी भावना 'संमोही' भावना कहलाती है।

एडमंड वर्क भुलक्कड़ स्वभाव के थे। एक बार उन्हें किसी छोटे गांव के चर्च में भाषण देना था। समय था सात बजे का। पहुंच गये घोड़े पर बैठकर चार बजे। वहां कोई नहीं था। सिगरेट पीने लगे। घोड़े का मुंह फेर दिया। वापिस घर चले आये। दिशा के परिवर्तन होते ही सब बदल गया। जीवन भी ऐसा ही है। जीवन की दिशा बदल जाए तो संपूर्ण जीवन कांतिमय हो जाता है। भावनाओं का अभ्यास इसीलिए विकसित किया गया। मनुष्य भावना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह जो कुछ करता है, वह सारा अर्जित भावना का प्रतिफल है। भावना सत् और असत् दोनों प्रकार की होती है। ये पांच भावनाएं असत् हैं। इन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भावनाओं से वासित व्यक्तियों का अधःपतन होता है। वे स्वयं ही अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। जीसस ने कहा है–'तुम अपने मुंह में क्या डालते हो, उससे स्वर्ग का राज्य नहीं मिलेगा। किंतु तुम्हारे मुंह से क्या निकलता है उससे स्वर्ग का राज्य मिलेगा।' जैसा बीज बोओगे वैसा फल मिलेगा। विचारों से व्यक्ति की आंतरिकता अभिव्यक्त होती है। ये पांच भावनाएं व्यक्तियों की विविध असत् चेष्टाओं के आधार पर निर्दिष्ट हैं।

(१) कंदर्पी भावना–राबर्ट रिप्ले नामक व्यक्ति के मन में प्रसिद्ध होने का भूत सवार हो गया। किसी व्यक्ति से सलाह मांगी। उसने कहा–'अपने सिर के आधे बाल कटवा लो और अपना नाम लिखा कर घूमो।' हिम्मत की और शहर में घूम गया। दूसरे दिन अखबारों में फोटो आ गया। मन का संकोच भी मिट गया। अपने सामने कांच रखकर उल्टा चल अमरीका की यात्रा की। लोगों का मन रंजित करने में प्रसिद्ध हो गया। लोगों का मनोरंजन करने लगा। किंतु अंत में अनुभव हुआ कि सब व्यर्थ गया। उसने लिखा है कि–'प्रदर्शन में जीवन खो दिया।'

(२) अभियोगी भावना–इस संसार में अंततः सब विनष्ट होता है। सुख भी मिलता हुआ लगता है किंतु पास आते ही दुःख में बदल जाता है। फिर भी मनुष्य वैषयिक सुखों के लिए किस तरह प्रयत्नरत है, यह कम आश्चर्यजनक नहीं है। भर्तृहरि ने कहा है–'मैंने धन की आशंका से जमीन को खोदा, पहाड़ की धातुओं को फूंका, मंत्र की आराधना में संलग्न होकर श्मशान में रात्रियां बिताई, राजाओं की सेवा की और समुद्री यात्राएं भी की किंतु फिर भी एक कानी-कोड़ी नहीं मिली। हे तृष्णा! अब तो तू मेरा पीछा छोड़।'

(३) किल्विषिकी भावना–देवदत्त बुद्ध के चचेरा भाई था। बुद्ध उसका भी हित चाहते थे। किंतु वह ईर्ष्यालु था। बुद्ध को मारने के लिए उसने चट्टान नीचे गिराई।

गोशालक ने महावीर से बहुत कुछ पाया। शिष्यत्व स्वीकार किया। किंतु इन सबको नकार कर उसने महावीर को भस्म करने के लिए तेजोलब्धि का प्रयोग किया तथा बहुत बुरा-भला कहा।

(४) सिंधु देश में वीतभयपुर का शासक राजा उदाई था। अभीचिकुमार उसका पुत्र था। राजा धार्मिक प्रवृत्ति का और श्रमणोपासक था। एक दिन अपने साधना कक्ष में अवस्थित राजा धर्म जागरण में दिन रात के एक-एक क्षण यापन कर रहा था। जीवन के परम लक्ष्य के प्रति अगाध निष्ठा और संप्राप्त करने की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अदम्य भावना बढ़ रही थी। मन ही मन में सोचा—यदि भगवान् महावीर का यहां आगमन हो जाए तो मैं अपने लक्ष्य के लिए उनके चरणों में पूर्णतया सब कुछ त्याग कर समर्पित हो जाऊं। राजा के इस दृढ़ निश्चय को भगवान् ने जाना और उनके चरण वीतभय नगर की दिशा में बढ़ चले। लंबी दूरी तय कर भगवान् महावीर आ पहुंचे। राजा को सन्देश मिला। प्रसन्नता का सागर हिलौरें मारने लगा। वाणी सुनी और निश्चय अभिव्यक्त किया।

राज्य के कार्यभार का वाहक अभीचिकुमार था। वह सर्वथा योग्य था किंतु सम्राट उदाई ने उसे राज्य ने देकर अपने भानजे केशिकुमार को दिया। इस घोषणा से सबको बड़ा आघात लगा। अभिचिकुमार भी सन्न रह गया। अपने पिता की भावना को समझ नहीं सका। वे चाहते थे कि पुत्र राज्य-भार में आसक्त होकर स्वयं को न भूले। किंतु यह सब व्यक्ति के विचारों पर निर्भर होता है। पुत्र की इच्छा का सम्मान न कर अपनी भावना को थोपना हितकर नहीं होता। राजा ने किसी की नहीं सुनी और यह कहकर कि मैंने उचित किया है, दीक्षा स्वीकार कर ली।

अभीचिकुमार नगर छोड़कर चम्पा नगरी में कोणिक राजा के पास चला आया। धार्मिक था। धर्माचरण भी बराबर करता था। धार्मिक पर्वों में पूर्णतया धर्माराधन कर सबसे क्षमायाचना करता था अपने पिता को छोड़कर। उदायी नाम से उसके मन में घृणा हो चुकी थी। पिता द्वारा कृतकार्य का स्मरण कर वैराग्नि हृदय में प्रज्वलित हो उठती थी। क्रोध की जड़ें अंतःकरण में इतनी गहरी जम चुकी थी कि वे किसी तरह उखड़ नहीं पाती थीं। जैसे दुर्योधन ने कहा था कि मैं धर्म को भी जानता हूं और अधर्म को भी। किंतु धर्म में प्रवृत्त नहीं होता और अधर्म को छोड़ नहीं पाता। मेरे भीतर जो आसुरी भाव है, वह मुझे जैसे नियुक्त करता है वैसा ही करता हूं।

(५) संमोही भावना—जमालि भगवान् महावीर का दामाद था। वह भगवान् महावीर के पास पांच सौ व्यक्तियों के साथ दीक्षित हुआ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना में स्वयं को समर्पित किया। श्रुतसागर का पारगामी बना। तपःसाधना भी दुर्धर्ष थी।

एक दिन वह भगवान् महावीर के पास आया। वंदना की और बोला—'भगवन्! मैं आपकी आज्ञा पाकर पांच सौ निर्ग्रंथों के साथ जनपद विहार करना चाहता हूं। भगवान् ने सुना और मौन रहे। जमालि ने दूसरी बार, तीसरी बार अपनी भावना प्रकट की, किंतु भगवान् मौन रहे। वह वंदना-नमस्कार कर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पांच सौ निर्ग्रंथों को ले अलग यात्रा पर निकल पड़ा।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में ठहरा हुआ था। संयम और तप की साधना चल रही थी। कठिन तप के कारण उसका शरीर रोग से घिर गया। शरीर जलने लगा। वेदना से पीड़ित जमालि ने साधुओं से बिछौना करने के लिए कहा। साधु बिछौना करने लगे। कष्ट से एक-एक क्षण भारी हो रहा था। पूछा—बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो? श्रमणों ने कहा—किया नहीं, किया जा रहा है। दूसरी बार कहने पर भी यही उत्तर मिला। जमालि इस उत्तर से चौंक उठा। आगमिक आस्था हिल उठी। वह सोचने लगा—भगवान् का सिद्धांत इसके विपरीत है। वे कहते हैं—क्रियमाणकृत और संस्तीर्णमाण संसृत—करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया वह बिछा लिया गया—यह सिद्धांत गलत है। कार्य पूर्ण होने पर ही उसे पूर्ण कहना यथार्थ हैं। उसने साधुओं को बुलाया और मानसिक चिंतन कह सुनाया। कुछ एक श्रमणो को यह विचार ठीक लगा और कुछ एक को नहीं। जमालि पर जिनकी श्रद्धा थी वे जमालि के साथ रहे। मिथ्या आग्रह से वह आग्रही हो गया। दूसरों को भी उस मार्ग पर लाने का वह प्रयत्न करता रहा। अनेक लोग उसके वाग्जाल से प्रभावित होकर सत्य मार्ग से च्युत हो गए।

**४८. मिथ्यादर्शनमापन्नाः, सनिदानाश्च हिंसकाः।**
**म्रियते प्राणिनस्तेषां, बोधिर्भवति दुर्लभा॥**

**जो मिथ्यादर्शन से युक्त हैं, जो भौतिक सुख की प्राप्ति का संकल्प करते हैं और जो हिंसक हैं, उन्हें मृत्यु के बाद भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है।**

**४९. सम्यग्दर्शनमापन्नाः, अनिदाना अहिंसकाः।**
**म्रियते प्राणिनस्तेषां, सुलभा बोधिरिष्यते॥**

**जो सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, जो भौतिक सुख का संकल्प नहीं करते और जो अहिंसक हैं, उन्हें मृत्यु के उपरान्त बोधि सुलभ होती है।**

जीवन का परम ध्येय बोधि है। बोधि के अनुभव के अभाव में संसार-प्रवाह प्रक्षीण नहीं होता। जीसस ने कहा है—'पहले प्रभु का राज्य प्राप्त कर ले। शेष सब अपने आप मिल जाएगा।' अपने को पा लेने के बाद व्यक्ति को और क्या चाहिए? सभी चाह मिट जाती हैं। वह स्वयं सम्राट् हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

'चाह मिटी चिंता मिटी, मनवा बेपरवाह।
जिसको कुछ नहीं चाहिए सो शाहन को शाह।।'

बोधि का न मिलना ही दरिद्रता है। सच्ची संपत्ति वही है जो हमारे साथ जा सके। किन्तु जो केवल बाहर से ही समृद्ध होना चाहते हैं, वे असली सम्पत्ति से चूक जाते हैं। जिनकी दृष्टि सम्यग् नहीं है, विचार पवित्र नहीं है, ऐसे व्यक्तियों को बोधि अगले जन्म में भी दुर्लभ है।

लेकिन जो बाहर से हटकर भीतर की यात्रा में चल पड़ते हैं, बाहर के सुखों में आसक्त नहीं होते और न उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं उनका समस्त श्रम स्वयं की खोज में होता है। ऐसे व्यक्ति बोधि से वंचित नहीं रहते।

५०. अपापं हृदयं यस्य, जिह्वा मधुरभाषिणी।
उच्यते मधुकुम्भः स, नूनं मधुपिधानकः।।

जिस व्यक्ति का हृदय पाप-रहित है और जिसकी जिह्वा मधुरभाषिणी है, वह मधुकुंभ है और मधु के ढक्कन से ढंका हुआ है।

५१. अपापं हृदयं यस्य, जिह्वा कटुकभाषिणी।
उच्यते मधुकुम्भः स, नूनं विषपिधानकः।।

जिस व्यक्ति का हृदय पाप-रहित है, किन्तु जिसकी जिह्वा कटुकभाषिणी है, वह मधुकुम्भ है और विष के ढक्कन से ढंका हुआ है।

५२. सपापं हृदयं यस्य, जिह्वा मधुरभाषिणी।
उच्यते विषकुम्भः स, नूनं मधुपिधानकः।।

जिस व्यक्ति का हृदय पाप-सहित है, किन्तु जिसकी जिह्वा मधुरभाषिणी है, वह विषकुंभ है और मधु के ढक्कन से ढंका हुआ है।

५३. सपापं हृदयं यस्य, जिह्वा कटुकभाषिणी।
उच्यते विषकुम्भः स, नूनं विषपिधानकः।।

जिस व्यक्ति का हृदय पाप-सहित है और जिसकी जिह्वा कटुभाषिणी है, वह विषकुंभ है और विष के ढक्कन से ढंका हुआ है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कुम्भ चार प्रकार के होते हैं :

१. मधुकुम्भ मधुढक्कन।

२. मधुकुम्भ विषढक्कन।

३. विषकुम्भ मधुढक्कन।

४. विषकुम्भ विषढक्कन।

इसी प्रकार मनुष्य चार प्रकार के होते हैं :

१. शुद्ध हृदय मधुरभाषी।

२. अशुद्ध हृदय कटुभाषी।

३. शुद्ध हृदय कटुभाषी।

४. अशुद्ध हृदय मधुरभाषी।

महावीर को 'सङ्गम' देवता ने छह महीने तक यंत्रणाएं, ताड़णाएं और मारणांतिक कष्ट दिये। महावीर मौन-शांत सब सहते गये। अंत में देवता थक गया। जब जाने लगा तब अपने असद् व्यवहार की क्षमा मांगी। महावीर ने कहा—तुमने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया। असाधु असाधु के सिवाय और क्या कर सकता है? तथा साधु साधुता से अन्यथा व्यवहार नहीं कर सकता। मुझे दुःख है कि मेरा जीवन विश्व कल्याण के लिए है और तुम मेरे ही कारण अपना पतन कर रहे हो।

बुद्ध एक गांव में आये। एक व्यक्ति बुद्ध पर क्रुद्ध था। वह आया और गालियां बकने लगा। बुद्ध सुनते रहे और हंसते रहे। क्रोध का उबाल इतना सघन हो गया कि वह उतने से ही शांत नहीं रहा। उसने क्रोधावेश में बुद्ध के मुंह पर थूक दिया। मुंह पोंछ कर बुद्ध बोले—'वत्स! और कुछ कहना है?' आनंद गुस्से में आ गया। बुद्ध ने कहा—'इसके पास शब्द नहीं रहे, तब थूक कर अपना क्रोध बाहर फैंक रहा है। तुम अपने को दंड मत दो।' वह व्यक्ति घर चला आया। क्रोध का नशा उतरा। रातभर अनुताप किया। सुबह फिर चरणों में उपस्थित हुआ। सिर चरणों में रख दिया। कहा—क्षमा करो! बुद्ध ने कहा—'किस बात की। मैं प्रेम ही करता हूं। चाहे कोई कुछ भी करे! प्रेम के सिवा मेरे पास और कुछ है ही नहीं।'

सूफी साधक वायजीद रात को अपनी मस्ती में भजन करते जा रहे थे। सामने एक युवक बाजे पर संगीत गाता हुआ आ रहा था। उसे वह भजन व्यवधान लगा। बाजे को वायजीद के सिर पर पटका और गालियां दी। बाजा टूट गया। सुबह वायजीद ने अपने आदमी के साथ एक मिठाई का थाल और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पैसे भेजे। युवक से पूछा—क्यों! उस आदमी ने कहा—'आपका बाजा टूट गया, इसलिए ये पैसे और गालियों से मुंह खराब हो गया इसलिए यह मिठाई भेजी है। युवक बड़ा शर्मिन्दा हुआ।

बांकेई साधक के पास टोकियो युनिवर्सिटी का दर्शन-शास्त्री प्रोफेसर आया और पूछा—'धर्म क्या है? सत्य क्या है? ईश्वर क्या है?' बांकेई ने कहा—'इतनी दूर से चल कर आये हो, विश्राम करो, पसीना सुखाओ और चाय पीओ। शायद चाय से उत्तर मिल जाए।' उसने सोचा—क्या पागल है? कहां आ गया? खैर, रुका। चाय लेकर आया, कप भर दिया। नीचे तश्तरी थी वह भी भर गई। फिर भी बांकेई चाय उडेल रहा था। प्रोफेसर ने कहा—आप क्या कर रहे हैं? कहां है अब जगह? बांकेई ने कहा—मैं भी तो यही देखता हूं कि तुमने प्रश्न तो इतने बड़े पूछे हैं, किन्तु भीतर जगह कहां है? जब खाली हो तब आना। उठकर चलने लगा। चलते-चलते कहा—अच्छा, खाली होकर आऊंगा। बांकेइ हंसा और बोला—फिर क्या आओगे?

धूर्त व्यक्ति बाहर मीठा होता है और भीतर अशुद्ध। वह विश्वास योग्य नहीं होता। 'खुला कुंआ खतरनाक नहीं होता। वह स्पष्ट होता है। किन्तु ऊपर से ढंका हुआ कुंआ खतरनाक होता है। एक बुढ़िया शहर से सामान खरीदकर अपने गांव लौट रही थी! कुछ देर बाद पीछे से एक घुड़सवार आया। वह उस गांव में ही जा रहा था। बुढ़िया ने पूछा और कहा—यह मेरी गठरी चौराहे पर रख देगा क्या भाई? घुड़सवार ने एक बार इन्कार कर दिया। थोड़ी दूर जाकर सोचा—न यह मुझे जानती है और न मैं इसे। अपने घर ले जाता गठरी। वापिस लौटा और मधुर स्वर में कहा—मां! लाओ गठरी ले जाऊं? बुढ़िया समझ गई। वह बोली—बेटा! जो तेरे मन में कह गया वह मेरे कान में भी कह गया। अब मैं ही ले जाऊंगी।

## चार संज्ञाएं और उनके कारण

**५४. रिक्तोदरतया मत्या, क्षुधावेद्योदयेन च।**
**तस्यार्थस्योपयोगेनाऽऽहारसंज्ञा प्रजायते॥**

**आहारसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है—१. खाली पेट होना। २. भोजन संबंधी बातें सुनना तथा भोजन को देखना। ३. क्षुधा-वेदनीय कर्म का उदय। ४. भोजन का सतत चिंतन करना।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

५५. हीनसत्त्वतया मत्या, भयवेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन, भयसंज्ञा प्रजायते॥

भयसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है–१. बल की कमी। २. भय संबंधी बातें सुनना तथा भयानक दृश्य देखना। ३. भय-वेदनीय कर्म का उदय। ४. भय का सतत चिंतन करना।

५६. चितमांसरक्ततया, मत्या मोहोदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन, मैथुनेच्छा प्रजायते॥

मैथुनसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है–१. मांस और रक्त की वृद्धि। २. मैथुन संबंधी बातें सुनना तथा मैथुन बढ़ाने वाले पदार्थों को देखना। ३. मोहकर्म का उदय। ४. मैथुन का सतत चिंतन करना।

५७. अविमुक्ततया मत्या, लोभवेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन, संग्रहेच्छा प्रजायते॥

परिग्रहसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है–१. अविमुक्तता–निर्लोभता न होना। २. परिग्रह की बातें सुनना और धन आदि को देखना। ३. लोभ-वेदनीय कर्म का उदय। ४. परिग्रह का सतत चिंतन करना।

'जैन आगम में दो शब्द व्यवहृत होते हैं–संज्ञोपयुक्त और नो-संज्ञोपयुक्त। चेतना दो प्रकार की है–संज्ञोपयुक्त चेतना और नो-संज्ञोपयुक्त चेतना। जिसमें संज्ञा होती है वह संज्ञोपयुक्त चेतना है और जिसकी संज्ञा समाप्त हो जाती है वह नो-संज्ञोपयुक्त चेतना है। वीतराग नो-संज्ञोपयुक्त होते हैं। उनके उपयोग में, चेतना में कोई संज्ञा नहीं होती। वह संज्ञातीत चेतना होती है। 'संज्ञातीत' चेतना का अर्थ है–विशुद्ध चेतना, केवल चेतना। जिसके साथ संज्ञा का मिश्रण होता है, जो चेतना संज्ञा से प्रभावित होती है, जो चेतना संवेदनात्मक होती है वह संज्ञोपयुक्त चेतना कहलाती है। संज्ञाएं दस हैं–

| | |
|---|---|
| १. आहार संज्ञा | ६. मान संज्ञा |
| २. भय संज्ञा | ७. माया संज्ञा |
| ३. मैथुन संज्ञा | ८. लोभ संज्ञा |
| ४. परिग्रह संज्ञा | ९. लोक संज्ञा |
| ५. क्रोध संज्ञा | १०. ओघ संज्ञा |

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हमारी साधना का एकमात्र उद्देश्य है—चेतना में से इन सारी संज्ञाओं को निकाल देना अर्थात् वीतराग बन जाना। यही उद्देश्य है हमारी अध्यात्म साधना का। चेतना के साथ जो संवेदन जुड़ा हुआ है, संज्ञा जुड़ी हुई है, उसको समाप्त कर देना, यह हमारा स्पष्ट लक्ष्य है। इसमें न कोई चमत्कारिक शक्ति प्राप्त करने का उद्देश्य है और न कोई और। केवल अपनी चेतना का संशोधन, परिमार्जन या परिष्कार करना है। जब व्यक्ति की चेतना परिमार्जित और परिष्कृत होती है तब विकास प्रारंभ हो जाता है। क्या हम आहार नहीं करें? क्या आहार संज्ञा को समाप्त करने का यही अर्थ है? नहीं। शरीर के रहते हुए ऐसा संभव नहीं है कि हम आहार न करें। आहार किए बिना साधना नहीं हो सकती। साधना के लिए यदि शरीर जरूरी है तो शरीर के लिए आहार जरूरी है। आहार को नहीं छोड़ा जा सकता किन्तु आहार के प्रति होने वाली आसक्ति या वासना को छोड़ा जा सकता है।

५८. कारुण्येन भयेनापि, संग्रहेणानुकम्पया।
लज्जया चापि गर्वेण, अधर्मस्य च पोषकम्॥

५९. धर्मस्य पोषकं चापि, कृतमितिधिया भवेत्।
करिष्यतीति बुद्ध्यापि, दानं दशविधं भवेत्॥
(युग्मम्)

**दान दस प्रकार का होता है—१. अनुकंपा दान—किसी व्यक्ति की दीनावस्था से द्रवित होकर उसके भरण-पोषण के लिए दिया जाने वाला दान। २. संग्रह-दान—कष्ट में सहायता देने के लिए दान देना। ३. भय-दान—भय से दान देना। ४. कारुण्य-दान—शोक के प्रसंग में दान देना। ५. लज्जा-दान—लज्जा से दान देना। ६. गर्व-दान—यशोगान सुनकर एवं बराबरी की भावना से दान देना। ७. अधर्म-दान—हिंसा आदि पांच आस्रव-द्वार सेवन के लिए दान देना। ८. धर्म-दान—प्राणी मात्र को अभय, संयमी को विशुद्ध भिक्षा, किसी को ज्ञान, सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति करवाना। ९. करिष्यति-दान—लाभ के बदले की भावना से दान देना। १०. कृत-दान—किये हुए उपकार को याद कर दान देना।**

दान शब्द का अर्थ है—देना, छोड़ना, विसर्जन करना। दान को चार प्रकार के धर्मों में एक धर्म कहा है। मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे एक भाव रहता है। प्रवृत्ति मुख्य नहीं होती, भाव मुख्य होता है। समान्यतया मनुष्य प्रत्येक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

क्रिया के पूर्व—यह क्यों करनी चाहिए? क्या फल है? इसे जान लेना चाहेगा। फलाकांक्षा का त्याग साधारण बात नहीं। गीता का सार है—त्याग, फलाकांक्षा छोड़ देना। 'राबिया' एक सूफी साधिका थी। वह एक हाथ में मशाल और एक हाथ मैं पानी की बाल्टी लेकर भागी जा रही थी। लोगों ने पूछा—आज क्या मामला है? 'राबिया' ने कहा—स्वर्ग को जलाने और नरक को डुबोने जा रही हूं। लोगों ने पूछा—किसलिए? कहा—तुम्हारे धर्म के मध्य में ये दो महान् व्यवधान हैं। नरक का भय और स्वर्ग का प्रलोभन, व्यक्ति इन दोनों से मुक्त हो कर ही शुद्ध, सत्य धर्म का स्पर्श कर सकता है। दान के पीछे जो मानसिक भाव-दशा होती है, उसी को आधार मानकर ये भेद किए गए हैं। कामना से मुक्त होने के बाद जो प्रवृत्ति होती हैं, वह वास्तविक प्रवृत्ति होती है। उसमें कोई आकांक्षा—प्रत्याशा नहीं रहती। दान के साथ व्यक्ति को सीखना है—फलाकांक्षा और प्रत्याशा से मुक्त होने का पाठ। सहज कर्त्तव्य बुद्धि से कार्य करना एक सही कला है। इस कला में जो निष्णात होता है, वह फिर दुःखी नहीं होता।

प्राप्ति का मोह बड़ा जटिल होता है। प्रलोभन देकर आदमी से कुछ भी कराया जा सकता है। धर्म के नाम पर या धर्म होगा—बस इतना सुनना चाहिए, मनुष्य का मन द्रवित हो जाता है। लोभ का एक प्रकार नहीं है। वह जैसे धन का होता है वैसे स्वर्ग का भी होता है। दान के सभी प्रकारों से अवबुद्ध होकर व्यक्ति अपनी बुद्धि को भ्रमित न करे और यह भी न भूले कि जीवन का ध्येय है—समस्त आशंसा से मुक्त होना। अपने को केवल एक निमित्त समझना है। फलाकांक्षा और प्रत्याशा की भावना से मुक्त होने पर स्वयं को यह अनुभव होगा कि जो कुछ कर रहा हूं—वह कैसा है? स्वभाव की उपलब्धि वस्तुतः सबसे बड़ा दान है, जिसमें पर का विसर्जन स्वतः निहित है। स्व के अतिरिक्त फिर पकड़ या प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

**६०. धर्मो दशविधः प्रोक्तो, मया मेघ! विजानता।**
**तत्र श्रुतञ्च चारित्रं, मोक्षधर्मो व्यवस्थितः॥**

**मेघ! मैंने दस प्रकार का धर्म कहा है—१. ग्राम-धर्म—गांव की व्यवस्था—आचार-परम्परा। २. नगर-धर्म—नगर की व्यवस्था—आचार-परंपरा। ३. राष्ट्र-धर्म—राष्ट्र की व्यवस्था—आचार-परंपरा। ४.पाषण्ड-धर्म—विविध संप्रदायों द्वारा सम्मत आचार-व्यवस्था। ५. कुल-धर्म—कुल का आचार। ६. गण-धर्म—गण-राज्य की आचार-मर्यादा। ७. संघ-धर्म—संघ-**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**गण समूह की सामाचारी–आचार-मर्यादा। ८,९. श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म–आत्म उत्थान के हेतुभूत धर्म, मोक्ष के साधक धर्म। १०. अस्तिकाय-धर्म–पंचास्तिकाय का स्वभाव।**

**'चरण नयणे करि मारग जोवतां भूल्यो सकल संसार।**
**जेणे नयणे करि मारग जोइए नयन ते दिव्य विचार॥'**

आनंदघन जी ने कहा–चर्म-चक्षुओं से देखते हुए व्यक्ति मार्ग को नहीं देख सकते। मार्ग को देखने के लिए दिव्य-नेत्र, अंतः चक्षु चाहिए। धर्म की अनुभूति भी अंतर्चक्षु से होती है, बाहर की आंखें धर्म को देख नहीं सकतीं। धर्म शब्द अनेकार्थक है। वस्तु के स्वभाव अर्थ में प्रयुक्त होते हुए भी वह अपने में अन्य अर्थों को भी समाहित रखता है। भ्रांति एकार्थता या स्पष्टता के कारण नहीं होती। वह होती है अस्पष्टता तथा अनेकार्थता के कारण। इसलिए सत्य को देखने के लिए साधारण आंखें पर्याप्त नहीं होतीं। दश विध धर्म में यह अनेकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। स्वभाव, व्यवस्था, रीति-रिवाज या परंपरा आदि धर्म के अनेक अर्थ हैं। साधक को इन सबका विवेक कर स्वधर्म (आत्म-स्वभाव) में प्रवृत्त होना चाहिए। आत्म-धर्म सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप है। प्रस्तुत श्लोक में आठवां-नौवां भेद आत्मधर्म है, शेष व्यवहार धर्म है।

जो प्रक्रिया या नियम आत्म-बोध को उजागर करे, अज्ञान का विध्वंश करे, वही धर्म है। धर्म से आत्मा आवृत नहीं होती। जो धर्म आत्मा को अनावृत न करे यह वस्तुतः धर्म नहीं होता। धर्म स्वयं को जानने की प्रक्रिया है। 'कन्फ्यूशियस' ने कहा–'अज्ञानी दूसरों को जानने की कोशिश करता है और ज्ञानी स्वयं की खोज में लगा रहता है।' महावीर का समग्र बल आत्मा को जागृत करने में है। इस लिए यह स्पष्ट विवेक दिया है और कहा है–आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**गृहीधर्मचर्यानामा पञ्चदशोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १६

# मनःप्रसाद

धर्म का चरम फल है आत्मा का पूर्ण विकास। मनुष्य धर्म का आचरण करता है और सतत अभ्यास से अपने लक्ष्य तक पहुंचता है। जब मोहकर्म का संपूर्ण विलय हो जाता है, तब उसमें वीतरागता का प्रादुर्भाव होता है। वीतरागता का अर्थ है—समता का चरम विकास। इससे सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्ध अवस्था को प्राप्त आत्मा अपने आनंद-स्वरूप में स्थित रहती है। दुःखों का अंत हो जाता है। न उसे बाहर से कुछ लेना होता है और न भीतर से कुछ छोड़ना होता है। जैसे वह था, है और रहेगा, उसे ही प्राप्त कर लेता है। यह अंतिम विकास की बात है, जहां न मन है, न वाणी है और न शरीर है।

धर्म की प्रारंभिक भूमिकाओं में मन, वाणी और शरीर रहता है। वाणी और शरीर स्वाधीन नहीं हैं। वे मन के अधीन हैं। मन की प्रसन्नता में वे प्रसन्न हैं और अप्रसन्नता में अप्रसन्न। धर्म सब दुःखों का अंत करता है। यह बात गीता भी कहती है—'जो धर्म मन को विषाद-मुक्त नहीं करता, वस्तुतः वह धर्म भी नहीं है।' मानसिक प्रसन्नता अध्यात्म का फल है। वह कैसे मिलती है? कहां से प्राप्त होती है? उसकी क्या साधना है? आदि प्रश्नों का समाधान इस अध्याय में है। पिछले सभी अध्यायों का निष्कर्ष यहां उपलब्ध है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# मनःप्रसाद

**मेघः प्राह**

**१. मनःप्रसादमर्हामि, किमालम्बनमाश्रितः।**
**कथं प्रमादतो मुक्तिं, आप्नोमि ब्रूहि मे विभो!**

**मेघ बोला–विभो! मैं किसे आलंबन बनाकर मानसिक प्रसन्नता को पा सकता हूं? और मुझे बताइए कि मैं प्रमाद से मुक्त कैसे बन सकता हूं?**

जोशुआलीवयेन ने अपने संस्मरणों में लिखा है–'जब मैं जवान था तब मुझे क्या पाना है? इसका स्वप्न देखा करता था। एक सूची बनाई थी जिसके सूत्र थे–

१. स्वास्थ्य २. सौन्दर्य ३. सुयश ४. शक्ति ५. सम्पत्ति। बस, सतत मैं इन्हीं का स्मरण करता था और समग्र प्रयास भी इन्हें पाने के लिए था। एक अनुभवी वृद्ध सज्जन थे। मैंने सोचा–इनसे सलाह ले लूं। मैं गया और अपनी सूची सामने रखी। वृद्ध हंसा और कहा–सूची सुन्दर है किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात छोड़ दी, जिसके अभाव में सब व्यर्थ है। जोशुआलीवयेन ने कहा–मेरी दृष्टि में जो भी आवश्यक है, वह सब आ गया। कोई बची हो ऐसा नहीं लगता। वृद्ध सज्जन ने सब काटने हुए कहा–Peace of Mind 'मन की शांति' यह महत्त्वपूर्ण है। ये सब हो, और अगर मन की शांति न हो तो क्या?

मेघ ने जानने की बहुत लंबी यात्रा तय की। किन्तु मन की शांति नहीं मिली। ज्ञान का परिचय और संग्रह एक अलग बात है और ज्ञान की अनुभूति भिन्न। प्रत्यक्ष पानी और अन्न की बात अलग है और शब्दमय अन्न तथा पानी की पृथक्। अन्न और पानी शब्द भूख और प्यास शांत नहीं करते। केवल परिचयात्मक तत्व के संबंध में भी यही सत्य है। अनुभूत्यात्मक ज्ञान ही मनुष्य की पिपासा शांत कर सकता है। इसलिए मेघ ने कहा–'प्रभो! मानसिक सुख,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रसन्नता की प्राप्ति कैसे हो और कैसे हो प्रमाद से मुक्ति? कृपया मुझे इसका मार्ग-दर्शन दें।'

मेघ जानता है कि वस्तुओं से होने वाला सुख, प्रसाद या आनंद अवास्तविक है। यह क्षणिक है। आया और गया। इसमें स्थिरता नहीं है। मन एक क्षण में प्रसन्न होता है और एक क्षण में अप्रसन्न। एक क्षण सुखी होता है और दूसरे क्षण दुःखी। मुझे वह प्रसाद सुख चाहिए जो स्थायी हो, शाश्वत हो। आचार्य विनय-विजयजी ने कहा है—यदि तुम्हारा मन संसार-भ्रमण के दुःख से ऊब गया हो और अनंत आनंद की प्यास तीव्र हो गई हो तो तुम अमृत रस से भरे हुए इस शांत सुधारस काव्य को सुनो।' सुख में पले-पुषे मेघ का मन संसार से उद्विग्न हो उठा और सुख और दुःख दोनों से परे जो प्रसाद—आनंद है उसके लिए बेचैन हो उठा। यह प्रश्न उसकी पात्रता को व्यक्त करता है।

**भगवान् प्राह**

**२. अनन्तानन्दसम्पूर्ण, आत्मा भवति देहिनाम्।**
**तच्चित्तस्तन्मना मेघ!, तदध्यवसितो भव॥**

**३. तद्भावनाभावितश्च, तदर्थं विहितार्पणः।**
**भुञ्जानोऽपि च कुर्वाणस्तिष्ठन् गच्छंस्तथा वदन्॥**

**४. जीवँश्च म्रियमाणश्च, युञ्जानो विषयिव्रजम्।**
**तल्लेश्यो लप्स्यसे नूनं, मनःप्रसादमुत्तमम्॥**
**(त्रिभिर्विशेषकम्)**

**भगवान् ने कहा—आत्मा अनन्त आनंद से परिपूर्ण है। मेघ! तू उसी में चित्त को रमा, उसी में मन को लगा और उसी में अध्यवसाय को संजोए रख।**

**मेघ! जब-जब तू खाए, कार्य करे, ठहरे, चले और बोले, तब-तब आत्मभावना से भावित बन और आत्मा के लिए सब कुछ समर्पित किए रह।**

**तू जीवनकाल में, मृत्युकाल में और इन्द्रियों का व्यापार करते समय आत्मा की लेश्या—भावधारा से प्रभावित होकर उत्तम मानसिक प्रसाद को प्राप्त होगा।**

मन की तीन अवस्थाएं हैं—चित्त, मन और अध्यवसाय। चित्त ज्ञानात्मक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अवस्था है। ज्ञान के अनंतर मनन–अभ्यासात्मक अवस्था मन है और अभ्यास की चिरपरिचित अवस्था अध्वयसाय है।

आनंद का स्रोत बाहर नहीं है। हमारी आत्मा ही अनंत-आनंद से संपन्न है। चित्त, मन और अध्यवसाय जब आत्मोन्मुख होते हैं तब आनंद का उद्भव होता हैं। जब वे बाहर घूमते है तब आनंद का आभास हो सकता है, किन्तु यथार्थ आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती। आनंद या मानसिक प्रसन्नता के लिए इनका आत्मा में विलीन होना आवश्यक है।

**५. आत्मस्थित आत्महित, आत्मयोगी ततो भव।**
**आत्मपराक्रमो नित्यं, ध्यानलीनः स्थिराशयः॥**

**तू आत्मा में स्थिर, आत्मा के लिए हितकर, आत्मयोगी, आत्मा के लिए पराक्रम करने वाला, ध्यान में लीन और स्थिर आशय वाला बन।**

महावीर मानसिक आनंद की सर्वोच्च प्रक्रिया प्रस्तुत कर रहे हैं। जब तक मन; चित्त और अध्यवसाय बाहर के आकर्षणों से मुक्त नहीं होते तब तक मानसिक प्रसाद का स्रोत प्रकट नहीं हो सकता। उसके समस्त प्रयास गज स्नानवत् होंगे। चित्त-शुद्धि सर्वप्रथम है। जो साधक ध्यान साधना में प्रविष्ट होना चाहता है उसे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मनःशुद्धि के बिना ध्यान साधना का प्रयोजन सफल नहीं होता। वह इधर-उधर कितनी ही छलांग मारे, अंततोगत्वा अपने को वहीं खड़ा पाएगा। मन की प्रसन्नता का पहला पाठ है–मनःशुद्धि। और दूसरा पाठ है–मन को बाहर से हटाकर चेतना के साथ संयुक्त करना।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा....'अब तू स्वयं कुछ नहीं है। जो कुछ करना है, वह मुझे समर्पित करके कर। तू प्रत्येक क्रिया में देख कि मैं नहीं हूं, बस, जो कुछ हैं वह सब श्रीकृष्ण है।'

अष्टावक्र ने जनक से कहा–'तू राज्य कर, पर अब यह राज्य तेरा नहीं है। तू अपना सर्वस्त्र मुझे दे चुका है। यह मेरा कार्य है और तुझे करना है। ऐसा मानकर कर।'

साधक के लिए 'मैं' को तोड़ना अनिवार्य है। मैं करता हूं, मैं खाता हूं, मैं देता हूं आदि। मैं को तोड़ने के लिए यह सरलतम उपाय हैं। वह बीच में न

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आए। सब कुछ है वह गुरु है, प्रभु है। महावीर इसी भावना को प्रस्तुत कर रहे हैं—मेघ! तू अपने मन, चित्त, अध्यवसाय को आत्मा में नियोजित कर, समस्त क्रियाएं करता हुआ आत्मा को सामने रख। जीवन और मृत्यु तथा इन्द्रियों के प्रवृत्तिकाल में आत्मा को एक क्षण भी विस्मृत मत कर। आत्मा की विस्मृति दुःख है और स्मृति सुख। प्रवृत्ति का स्रोत बदल जाने पर सब कुछ बदल जाएगा। अब तक जो कुछ करता आया था उसमें शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियों की प्रधानता थीं और अब आत्मा प्रधान हो जाएगी। बाहर की प्रवृत्ति चंचलता लाती है और अंतर् से दूर करती है। जीवन का परम सार-सूत्र है—आत्म-स्थित होना, आत्मा को सामने रखकर प्रवृत्त होना।

**६. समितो मनसा वाचा, कायेन भव सन्ततम्।**
**गुप्तश्च मनसा वाचा, कायेन सुसमाहितः॥**

**तू मन, वचन और काया से निरन्तर समित—सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला तथा मन, वचन और काया से गुप्त और सुसमाहित बन।**

निवृत्ति—अक्रिया जीवन का साध्य है। प्रवृत्ति साध्य नहीं, किन्तु जीवन की सहचरी है। कोई भी व्यक्ति शरीर की विद्यमानता में पूर्ण निवृत्त नहीं हो पाता। प्रवृत्ति का पहला चरण है कि वह प्रवृत्ति सुप्तदशा—यांत्रिक दशा में न हो, पूर्ण होश सजगतापूर्वक हो। प्रवृत्ति में होने वाली गन्दगी, अशुद्धि को सावधानता जला डालती है, वह उसे सम्यग् बना देती है। सजगता के अभाव में प्रवृत्ति के साथ क्रिया तन्मय होकर गन्दगी ले आती है। व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है। प्रवृत्ति का दूसरा चरण है प्रवृत्ति को निवृत्ति में बदलना।

गुप्ति है गोपन, संवरण। शरीर को स्थिरकर, मन को शांत कर, मौन होकर कुछ समय के लिए प्रवृत्ति को विश्राम देना, जिससे उस अक्रिय आत्मा की झांकी प्रतिबिंबित हो सके।

**७. अनुत्पन्नानकुर्वाणः, कलहांश्च पुराकृतान्।**
**नयन्नुपशमं नूनं, लप्स्यसे मनसः सुखम्॥**

**तू नये सिरे से कलहों को उत्पन्न मत कर और पहले किए हुए कलहों को उपशांत कर, इस प्रकार तुझे मानसिक सुख प्राप्त होगा।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

८. क्रोधादीन् मानसान् वेगान्, पृष्ठमांसादनं तथा।
परित्यज्याऽसहिष्णुत्वं,लप्स्यसे मनसः स्थितिम्॥

**क्रोध आदि मानसिक वेगों तथा चुगली और असहिष्णुता को छोड़, इस प्रकार तुझे मन की स्थिरता प्राप्त होगी।**

जार्ज गुरजिएफ ने कहा है–'तुमने जो पाप किए हैं इनके कारण परमात्मा तुम्हें नरक नहीं भेज सकता, क्योंकि ये सब तुमने बेहोशी में किए हैं। बेहोश को अदालत भी माफ कर देती है।' महावीर ने मेघ को शांतिसूत्र दिया है–वर्तमान क्षण में जीना–**'खणं जाणाहि पंडिए।'** आदमी जीते हैं अतीत और भविष्य में। स्मृति और कल्पना में जीने का अर्थ है–बेहोशी–प्रमाद में जीना। **'समयं गोयम मा पमायए'**–महावीर का यह जागरूकता–अप्रमत्तता का सन्देश लाखों, करोड़ों व्यक्तियों की जबान पर है, किन्तु कितने व्यक्तियों के जीवन का स्पर्श कर रहा है यह कहना कठिन है। वर्तमान या होश में जीने का अर्थ है–भविष्य में पाप का न होना। जो साधक मन के प्रति और शरीर के प्रति जागृत रहता है वह अंतर में उठनेवाली असत् तरंगों का वहीं निर्मूलन कर देता है, बाहर प्रकट नहीं होने देता और सतत शुभ भावों, संकल्पों से स्वयं को प्रभावित रखता है। क्रोधादि वेगों का प्रभाव बेहोशी में ही होता है। जार्ज गुरजिएफ साधकों को क्रोध करने के लिए कहता। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता कि व्यक्ति आग-बबूला हो जाता। जब पूरे क्रोध में आ जाता तब कहता–'देखो! क्या हो रहा है? आदमी चौंककर देखता–हाथ, चेहरा, होंठ, आंखें और शरीर को एक विपरीत अस्वाभाविक दशा में और वह एक क्षण में उससे पृथक् हो जाता। समस्त पापों, अशुभों से बचने और दूर रहने का मौलिक सूत्र है–देखना, सावधान रहना।

९. पादयुग्मञ्च संहृत्य, प्रसारितभुजोभयः।
ईषन्नतः स्थिरदृष्टिर्लप्स्यसे मनसो धृतिम्॥

**दोनों पैरों को सटाकर, दोनों भुजाओं को फैलाकर, थोड़ा झुककर तथा दृष्टि को स्थिर बना, इस प्रकार मानसिक धैर्य को प्राप्त होगा। यह जिनमुद्रा है।**

ध्यान के लिए चार मुद्राओं का उल्लेख मिलता है–

१. जिनमुद्रा, २. योगमुद्रा, ३. वंदनामुद्रा, ४. मुक्तासुक्ति मुद्रा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चित्त को स्थिर और एकाग्र करना मुद्राओं का प्रयोजन है। इससे कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास होता है, साधक की मानसिक धृति बढ़ती है।

**१०. प्रयत्नं नाधिकुर्वाणोऽलब्धांश्च विषयान् प्रति।**
**लब्धान् प्रति विरज्यंश्च, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि॥**

**अप्राप्त विषयों पर अधिकार करने का प्रयत्न मत कर और प्राप्त विषयों से विरक्त बन, इस प्रकार तू मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त होगा।**

'बलख' का बादशाह इब्राहिम साम्राज्य को छोड़ कर फकीर हो गया। वह फकीरी के वेष में भारत-यात्रा पर आया। एक संत से भेंट हुई। उसने पूछा—संत कौन होता है? संत ने कहा—मिले तो खा ले और ना मिले तो सन्तोष रखे। इब्राहिम ने कहा—यह तो कोई बहुत बड़ा लक्षण नहीं है। इतना तो एक कुत्ता भी कर लेता है। संत ने कहा—तो आप बताएं। उसने कहा—जो कुछ मिले उसे बांट कर खाएं और न मिले तो समझे चलो, आज उपवास व्रत ही सही। प्राप्त में सन्तोष और अप्राप्त का आकर्षण नहीं रखना शांति का सहज उपाय है। सन्तोष वही नहीं कि आप के पास है भी नहीं, और आप उसका सन्तोष करें। सन्तोष भविष्य में नहीं, वर्तमान में है। संतुष्ट आप आज रह सकते हैं, कल में नहीं। कल अशांति का लक्षण है। महावीर कहते हैं—अप्राप्त-पदार्थों को प्राप्त करने में जो व्यग्र नहीं और प्राप्त में परम संतुष्ट है, जो मिला है, उसमें प्रसन्न रह सकता है, वह संतुष्ट है।

**११. अमनोज्ञसंप्रयोगे, नार्त्तं ध्यायन् कदाचन।**
**मनोज्ञविप्रयोगे च, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि॥**

**अमनोज्ञ विषयों का संयोग होने और मनोज्ञ विषयों का वियोग होने पर तू आर्त्तध्यान मत कर—अपने मानस को चिंता से पीड़ित मन बना, इस प्रकार तू मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त होगा।**

**१२. रोगस्य प्रतिकाराय, नार्त्तं ध्यायंस्तथा त्यजन्।**
**फलाशां भोगसंकल्पान्, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि॥**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

रोग के उत्पन्न होने पर चिकित्सा के लिए आर्त्तध्यान मत कर तथा भौतिक फल की आशा और भोग-विषयक संकल्पों को छोड़, इस प्रकार तू मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त होगा।

१३. शोकं भयं घृणां द्वेषं, विलापं क्रन्दनं तथा।
त्यजन्नज्ञानजान् दोषान्, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि॥

शोक, भय, घृणा, द्वेष, विलाप, क्रंदन और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोषों को तू छोड़, इस प्रकार तू मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त होगा।

१४. लब्धानां नाम भोगानां, रक्षणायाचरेज्जनः।
हिंसां मृषा तथाऽदत्तं, तेन रौद्रः स जायते॥

मनुष्य प्राप्त भोगों की रक्षा के लिए हिंसा, असत्य और चोरी का आचरण करता है, और उससे वह रौद्र बनता है।

१५. तथाविधस्य जीवस्य, चित्तस्वास्थ्यं पलायते।
संरक्षणमनादृत्य, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि॥

जो मनुष्य रौद्र होता है उसका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होता है। तू भोगों की रक्षा का प्रयत्न मत कर, इस प्रकार तू मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त होगा।

१६. रागद्वेषौ लयं यातौ, यावन्तौ यस्य देहिनः।
सुखं मानसिकं तस्य, तावदेव प्रजायते॥

जिस मनुष्य के राग-द्वेष का जितनी मात्रा में विलय होता है, उसे उतनी ही मात्रा में मानसिक सुख प्राप्त होता है।

'मेकेरियस' नामक साधक से किसी ने पूछा—कृपया बताएं कि मोक्ष का मार्ग क्या है? संत ने कहा—'यह सामने कब्रिस्तान है। प्रत्येक कब्र पर जाओ और सबको गाली देकर आओ।' उसने सोचा कहां आ गया? इससे मोक्ष का संबंध है क्या? खैर, वह गया और गाली देकर आ गया। संत ने कहा—'एक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बार फिर जाओ, और इस बार उसकी स्तुति करके आओ।' वह सब की स्तुति करके चला आया। संत ने पूछा–'किसी ने कुछ उत्तर दिया? कहा नहीं।' बस यही साधना है। यही मोक्ष का मार्ग है। जीवन में राग-द्वेष, मान-अपमान आदि सभी स्थितियों में सम रहना, भीतर भी कोई उत्तर पैदा न होना, यही है मुक्ति का मार्ग। समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है–

**अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः।**
**नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः॥**

जिसका मन शांत नहीं है, विक्षिप्त है, अपमान आदि उसी को पीड़ित करते हैं। जिस का चित्त शान्त है, उसके लिए अपमान आदि कुछ नहीं हैं।' जितनी मात्रा में राग-द्वेष की क्षीणता है उतनी ही मात्रा में मानसिक आनंद भी परिपूर्ण रूप से अभ्युदित हो जाता है। साधक के चरण पूर्णता की ओर बढ़े।

इन श्लोकों (४-१६) में मानसिक स्वास्थ्य के उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। वे संक्षेप में ये हैं : (१) मानसिक आवेगों का निराकरण (२) कायोत्सर्ग का अभ्यास (३) विषयों की विस्मृति और विरक्ति (४) संयोग और वियोग में संतुलन (५) संकल्प-विकल्प से छुटकारा (६) अज्ञान का निराकरण (७) हिंसा आदि का त्याग (८) भोगों की रक्षा का त्याग (९) राग-द्वेष का विलय (१०) आत्मार्पणता (११) आत्मलीनता आदि।

**१७. वीतरागो भवेल्लोको, वीतरागमनुस्मरन्।**
**उपासकदशां हित्वा, त्वमुपास्यो भविष्यसि॥**

**जो पुरुष वीतराग का स्मरण करता है, वह स्वयं वीतराग बन जाता है। वीतराग का स्मरण करने से तू उपासक दशा को छोड़कर स्वयं उपास्य बन जाएगा।**

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा बन जाता है। भीतर यदि जागरण न हो तो वह सोचना सम्मोहन पैदा कर देता है। आचार्य नागार्जुन के पास एक व्यक्ति मुक्ति के लिए आया। नागार्जुन ने कहा–'तीन दिन का उपवास करो, नींद मत लो। और सामने खड़ी भैंस को दिखलाकर कहा, बस यही स्मरण करो कि मैं भैंस हो गया। वह एकांत गुफा में चला गया। तीन-दिन-रात यही कहता रहा। भरोसा हो गया कि मैं भैंस हो गया। चौथे दिन सुबह नागार्जुन आए और कहा–बाहर जाओ। वह भैंस की आवाज में चिल्लाया और कहा–कैसे आऊं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बाहर? नागार्जुन ने सिर पकड़कर हिलाया और कहा—कहां भैस हो तुम? सम्मोहन टूट गया।

वीतरागता साध्य है। वीतराग आदर्श है। साधक आदर्श को सतत सामने रखे। राग-द्वेष को जीतकर ही वीतराग बना जा सकता है। वह उसके प्रति सदा जागृत रहे। राग-द्वेष की मुक्ति ही उपासना की स्थिति को उपास्य में परिवर्तित करती है।

**१८. इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम्।**
**संस्पृशन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यसि॥**

**इन्द्रियों का संयम कर, चित्त का निग्रह कर, आत्मा से आत्मा का स्पर्श कर, इस प्रकार तू परमात्मा बन जाएगा।**

परमात्मा होने का राज इस छोटी सी प्रक्रिया में निहित है। प्रत्याहार, प्रतिसंलीनता—यह योग साधना का एक अंग है। इसमें यही सूचित किया है कि इन्द्रिय और मन को बाहर से समेट कर केन्द्र पर ले आओ, जहां से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है और उसी के साथ योजित कर दो। धीरे-धीरे इस अभ्यास को बढ़ाते जाओ। एक दिन परमात्मा का स्वर प्रगट हो जाएगा और तुम्हारा स्वर शांत हो जाएगा। जब तक तुम बोलते रहोगे, परमात्मा मौन रहेगा। उसे मुखरित होने का तुमने अवसर ही नहीं दिया। इन्द्रियों और मन की चेतना से जो युति है वही परमात्मा की अभिव्यक्ति का मूल स्रोत है।

**१९. यल्लेश्यो म्रियते लोकस्तल्लेश्यश्चोपपद्यते।**
**तेन प्रतिपलं मेघ! जागरूकत्वमर्हसि॥**

**यह जीव जिस लेश्या—भावधारा में मरता है उसी लेश्या के अनुरूप गति में उत्पन्न होता है। इसलिए हे मेघ! तू प्रतिपल आत्मा के प्रति जागरूक बन।**

**२०. जीवनस्य तृतीयेऽस्मिन्, भागे प्रायेण देहिनाम्।**
**आयुषो जायते बन्धः, शेषे तृतीयकल्पना॥**

**जीवों के जीवन के तीसरे भाग में नरक आदि आयु में से किसी एक आयु**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**का बंधन होता है। जीवन के तीसरे भाग में आयु का बंधन न हुआ तो फिर तीसरे भाग के तीसरे भाग में आयु का बंधन होता है। उसमें भी बंधन न हुआ हो तो फिर अवशिष्ट के तीसरे भाग में आयु का बंधन होता है। इस प्रकार जो आयु शेष रहती है, उसके तीसरे भाग में आयु का बंधन होता है।**

**२१. तृतीयो नाम को भागो, नेति विज्ञातुमर्हसि।**
**सर्वदा भव शुद्धात्मा, तेन यास्यसि सद्गतिम्॥**

**जीवन का तीसरा भाग कौन-सा है, इसे तू जान नहीं सकता। इसलिए सर्वदा अपनी आत्मा को शुद्ध रख, इस प्रकार तू सद्गति को प्राप्त होगा।**

जीवन ओस की बूंद की तरह है, कब गिर जाए यह पता नहीं है, इसलिए 'प्रमाद मत करो'—यह आत्म-द्रष्टाओं का उद्घोष है। मनुष्य यह बुद्धि से जानता है, किन्तु जागरूक नहीं रहता। जापानी कवि 'ईशा' के संबंध में कहा जाता है—बत्तीस, तेतीस वर्ष की उम्र में उसके परिवार के पांच सदस्य—पत्नी, बच्चे मर गए। बड़ा दुःखी हो गया। कहीं शांति नहीं मिली। किसी व्यक्ति ने उसे संत के पास भेज दिया। आया। संत ने कहा—'आंख खोलकर देखो', 'जीवन ओस की बूंद की तरह है, अब गया, तब गया। सबको जाना है।' शांति मिली। एक कविता लिखी—निश्चित ही जीवन एक ओस का कण है। मैं पूर्णतया सहमत हूं कि जीवन एक ओस का कण है। फिर भी यह आशा नहीं छूटती। सब देख लेने, जान लेने के बाद भी आदमी भविष्य की कल्पनाओं में जीने लगता है। वर्तमान को छोड़ देता है। महावीर कहते हैं.....गौतम! शांति का सूत्र है...जागरूकतापूर्वक जीना।

जागरूक व्यक्ति प्रमत्त नहीं होता। वह प्रत्येक क्षण शुभ भावना से भावित रहता है। इसलिए उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। मृत्यु कभी आए, उसका भविष्य सुरक्षित है। किन्तु जो प्रमत्त हैं, खतरा उन्हीं के लिए है। वे अशुभ भावों से घिरे रहते हैं। वे हिंसा, झूठ, ईर्ष्या, द्वेष, राग, कलह आदि से मुक्त नहीं होते। इन स्थितियों में वर्तमान और भविष्य दोनों सुखद नहीं होते। जैसे भावों में व्यक्ति मरता है वह वैसी ही गति में उत्पन्न होता है।

आयुष्य कर्म का बंध जीवन के तीसरे भाग में होता है। उस तीसरे का पता नहीं चलता कि यह तीसरा है। असावधान व्यक्ति वह क्षण चूक जाता है। और उस क्षण को चूकने का अर्थ है—जीवन को चूक जाना। इसलिए मैं कहता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हूं–क्षण-क्षण जागृत रहो। यह समझते रहो यह तीसरा ही क्षण है। जो इस प्रकार जीवनयापन करता है, सावधान, जागृत रहता है वह मृत्यु पर विजय पा लेता है, भय से मुक्त हो जाता है।

२२. कृष्णा नीला च कापोती, पापलेश्या भवन्त्यमूः।
तैजसी पद्मशुक्ले च, धर्मलेश्या भवन्त्यमूः॥

पाप-लेश्याएं तीन हैं–कृष्ण, नील और कापोत। धर्म लेश्याएं भी तीन हैं–तैजस, पद्म और शुक्ल।

२३. तीव्रारम्भपरिणतः, क्षुद्रः साहसिकोऽयतिः।
पञ्चास्रवप्रवृत्तश्च, कृष्णलेश्यो भवेत् पुमान्॥

जो तीव्र हिंसा में परिणत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करता है, भोग से विरत नहीं है और पांच आस्रवों में प्रवृत्त है, वह व्यक्ति कृष्णलेश्या वाला होता है।

२४. ईर्ष्यालुर्द्वेषमापन्नो, गृद्धिमान् रसलोलुपः।
अहीकश्च प्रमत्तश्च, नीललेश्यो भवेत् पुमान्॥

जो ईर्ष्यालु है, द्वेष करता है, विषयों में आसक्त है, सरस आहार में लोलुप है, लज्जाहीन और प्रमादी है, वह व्यक्ति नीललेश्या वाला होता है।

२५. वक्रो वक्रसमाचारो, मिथ्यादृष्टिश्च मत्सरी।
औपधिको दुष्टवादी, कापोतीमाश्रितो भवेत्॥

जिसका चिंतन, वाणी और कर्म कुटिल होता है, जिसकी दृष्टि मिथ्या है, जो दूसरे के उत्कर्ष को सहन नहीं करता, जो दंभी है, जो दुर्वचन बोलता है, वह व्यक्ति कापोतलेश्या वाला होता है।

२६. विनीतोऽचपलोऽमायी, दान्तश्चावद्यभीरुकः।
प्रियधर्मा दृढधर्मा, तैजसीमाश्रितो भवेत्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

२९. लेश्याभिरप्रशस्ताभिर्मुमुक्षो! दूरतो व्रज।
प्रशस्तासु च लेश्यासु, मानसं स्थिरतां नय॥

**हे मुमुक्षु! तू अप्रशस्त लेश्याओं से दूर रह और प्रशस्त लेश्याओं में मन को स्थिर बना।**

लेश्या जैन पारिभाषिक शब्द है। उसका संबंध मानसिक विचारों या भावों से है। यह पौद्गलिक है। मन, शरीर और इन्द्रियां पौद्गलिक हैं। मनुष्य बाहर से पुद्गलों को ग्रहण करता है और तदनुरूप उसकी स्थिति बन जाती है। आज की भाषा में इसे 'ओरा' या 'आभा मंडल' कहा जाता है। इस पर बहुत अनुसंधान हुआ है। इसके फोटो लिए गए हैं। जीवित और मृत का निर्णय इसी आधार पर किया जा सकता है। योग-सिद्ध गुरु के लिए आवश्यक है कि वह 'ओरा' का विशेषज्ञ हो। शिष्य की परीक्षा 'ओरा' देखकर करें। वह शिष्य पर दृष्टि डालकर प्रकाश को देखता है और निर्णय लेता है। 'ओरा' हमारी आंतरिक स्थिति का प्रतिबिंब हैं। आप अपने को कितना ही छिपाएं, किन्तु आभामंडल के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जो विनीत है, जो चपलता-रहित है, जो सरल है, जो इंद्रियों का दमन करता है, जो पापभीरु है, जिसे धर्म प्रिय है और जो धर्म में दृढ़ है, वह व्यक्ति तैजसलेश्या वाला होता है।

२७. तनुतमक्रोध-मान-माया-लोभो जितेन्द्रियः।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, पद्मलेश्यो भवेत् पुमान्॥

जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत अल्प हैं, जो जितेन्द्रिय है, जिसका मन प्रशांत है और जिसने आत्मा का दमन किया है, वह व्यक्ति पद्मलेश्या वाला होता है।

२८. आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्म्यशुक्ले च साधयेत्।
उपशान्तः सदा गुप्तः, शुक्ललेश्यो भवेत् पुमान्॥

जो आर्त्त और रौद्रध्यान का वर्जन करता है, जो धर्म्य और शुक्लध्यान की साधना करता है, जो उपशांत है और जो निरंतर मन, वचन और काया से गुप्त है, वह व्यक्ति शुक्ललेश्या वाला होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विशेषज्ञ व्यक्ति से गुप्त नहीं रह सकते। आपके विचारों या भावों का प्रतिनिधित्व शरीर से निकलने वाली आभा प्रतिक्षण कर रही है। वह रंगों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। हम महापुरुषों के सिर के पीछे आभा-वलय देखते हैं। वह और कुछ नहीं, मन की पूर्ण शांत-स्थिति में निर्मित 'ओरा'—आभा-मंडल है।

शरीर से निकलने वाले सूक्ष्म प्रकाश-किरणों का 'अंडाकार' आभा मंडल 'ओरा' है। इसे साइकिक एटमोसफियर, मेग्नेटिक एटमोसफियर भी कहते हैं। यह शरीर से दो-तीन फुट की दूरी तक रहता है। मानस परिवेश ६ से १० फुट तक रहता है। यह शरीर के मध्य में बहुत गहरा और आसपास हल्का होता है। जिनके आचार-विचार में स्थायित्व आ जाता है उनका 'ओरा' स्थायी बन जाता है, अन्यथा वह प्रतिक्षण भावों के साथ बदलता रहता है। ओरा के रंग तथा छाया आश्चर्यजनक व रुचिकर होते हैं. स्थूल शरीर की भांति मेण्टल—मानसिक शरीर भी बड़ा इण्टरेस्टिंग है। ओरा को समुद्र की तरह समझा जा सकता है। कभी शांत और कभी भयंकर अशांत।

मानव ओरा का मूल द्रव्य प्राण है। प्राण जीवन का आधार है। भावना का संबंध प्राण से है। प्राण का रंग भाव—विचारों के बदलते ही बदल जाता है। वही बाहर प्रकट होता है। प्राण ओरा के पार्टिकल्स सबके भिन्न भिन्न होते हैं। आदमी के चले जाने के बाद भी जो परमाणु शेष रहते हैं उनसे आदमी के संबंध में जाना जा सकता है। प्राण ओरा में बहुत अधिक प्रकाशशील स्फुलिंग होते हैं। व्यक्ति से प्रभावित और अप्रभावित होने में ओरा का हाथ है।

लेश्या के नामों से यह अभिव्यक्त होता है कि ये नाम अंतर् से निकलने वाली आभा के आधार पर रखे गए हैं। उनका जैसा रंग है, व्यक्ति का मानस भी वैसा ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त में रंगों का प्राधान्य है। कृष्ण, नील और कापोत—अप्रशस्त हैं, तैजस, पद्म और शुक्ल—प्रशस्त हैं। वैज्ञानिकों ने 'ओरा' के प्रायः ये ही रंग निर्धारित किए हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि बाहर के रंग भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। बाहरी रंगों का ध्यान—चिंतन कर हम आंतरिक रंगों को भी परिवर्तित कर सकते हैं।

रंग हमारे शरीर को प्रभावित करता है, हमारे मन को प्रभावित करता है। रंग चिकित्सा पद्धति आज भी चलती है। 'कलर थेरापी'—यह पद्धति चल रही है। एक पद्धति है 'कास्मिक थेरापी' अर्थात् दिव्य किरण चिकित्सा। इसका भी रंग के साथ संबंध है। रंग और सूर्य की किरण—दोनों के साथ इसका संबंध है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकाश के साथ यह संयुक्त है। रंग हमारे शरीर और मन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। उससे रोग मिटते हैं, फिर वे रोग शारीरिक हो या मानसिक। मानसिक रोग चिकित्सा में भी रंग का विशिष्ट स्थान है। पागलपन को रंग के माध्यम से समाप्त कर दिया जाता है। रंग थोड़ा सा विकृत हुआ कि आदमी पागल हो जाता है। रंग की पूर्ति हुई कि आदमी स्वस्थ हो जाता है। शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। 'कलर थेरापी का यह सिद्धांत है कि बीमारी के कोई कीटाणु नहीं होते। रंग की कमी के कारण बीमारी होती है। जिस रंग की कमी हुई, उसकी पूर्ति कर दो, आदमी स्वस्थ हो जाएगा, बीमारी मिट जाएगी। तो बीमारी का होना या बीमारी का न होना या स्वस्थ होना, यह सारा रंगों के आधार पर होता है।

हमारे चिंतन के साथ भी रंगों का संबंध है। मन में खराब चिंतन आता है, अनिष्ट बात उभरती है, अशुभ सोचते हैं, तब चिंतन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं। लेश्या कृष्ण होती है। अच्छा चिंतन करते हैं, हित-चिंतन करते हैं, शुभ सोचते हैं तब चिंतन के पुद्गल पीत वर्ण के होते हैं, पीले वर्ण के होते हैं। लाल वर्ण के भी हो सकते हैं और श्वेत वर्ण के भी हो सकते हैं। उस समय तेजोलेश्या होगी या पद्म लेश्या होगी या शुक्ल लेश्या होगी। बुरे चिंतन के पुद्गलों का वर्ण है काला और अच्छे पुद्गलों का वर्ण है पीला, लाल या श्वेत। कितना बड़ा संबंध है रंग का चिंतन के साथ! जिस प्रकार का चिंतन होता है उसी प्रकार का रंग होता है।

शरीर के साथ रंग का गहरा संबंध है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आस-पास रंग का एक आभामंडल है। उसमें अनेक रंग होते हैं। किसी के आभामंडल का रंग काला होता है, किसी के नीला और किसी के लाल और किसी के सफेद। अनेक वर्णो का भी होता है आभा-मंडल। आपकी आंखों को वे रंग नहीं दिखते। पर वे हैं अवश्य ही। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं होता जिसके चारों ओर आभा-मंडल न हो। इसका स्वयं पर भी असर होता है और दूसरों पर भी असर होता है। आप किसी व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। बैठते ही आपके मन में एक परिवर्तन होता है। लगता है कि आपको अपूर्व शांति का अनुभव हो रहा है। आप का मन आनंदित है और अन्दर ही अन्दर एक संगीत चल रहा है। आप किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। अकारण ही उदासी छा जाती है। मन उद्विग्न हो जाता है। मन में क्षोभ और संताप उत्पन्न हो जाता है। वहां से उठने की शीघ्रता होती है। यह सब क्यों होता है? भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास बैठ कर हम भिन्न-भिन्न भावनाओं से आक्रांत होते हैं। यह सब क्यों और कैसे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होता है? इसका कारण है व्यक्ति-व्यक्ति का आभामंडल—आभावलय। सामने वाले व्यक्ति का जैसा आभामंडल होता है, आभा-वलय होता है, उसके रंग होते हैं, वे पास वाले व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति चाहे या न चाहे वह उन रंगों से प्रभावित अवश्य होता है। जिस व्यक्ति का आभामंडल श्वेत वर्ण का है, नीले वर्ण का है, पीले वर्ण का है, उसके पास जाकर बैठते ही मन शांत हो जाता है। मन शांति से भर जाता है। उद्विग्नता मिट जाती है। प्रसन्नता से चेहरा खिल उठता है। जिसका आभामंडल विकृत है, कृष्णवर्ण के पुद्गलों से निर्मित है तो उस व्यक्ति के पास जाते ही अकारण ही चिंता उभर आती है, उदासी छा जाती है, मन उद्विग्नता से भर जाता है और ईर्ष्या, द्वेष, बुरे विचार मन में आने लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि रंग हमें प्रभावित करते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक रंग के सात प्रकार मानते हैं—लाल, हरा, पीला, आसमानी, गहरा नीला, काला और हल्का नीला। उसके अनुसार रंग मौलिक नहीं है। यह सात रंगों के एकीकरण से बनता है।

रंगों का प्राणी-जीवन के साथ गहरा संबंध है। ये हमारे शरीर तथा मानसिक विचारों को भी प्रभावित करते हैं। लेश्या के सिद्धांत द्वारा इसी भावना की व्याख्या की गई है।

वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा रंगों की प्रकृति पर काफी प्रकाश डाला गया है। देखिये यंत्र—

| नाम | प्रकृति |
|---|---|
| लाल | गर्म |
| नारंगी | गर्म |
| लाल नारंगी | बहुत गर्म |
| पीला | गर्म किन्तु लाल नारंगी से कम |
| हल्का गुलाबी | गर्म |
| बादामी | गर्म |
| हरा | गर्म |
| नीला | न अधिक गर्म, न अधिक ठंडा |
| गहरा नीला या आसमानी | ठंडा |
| शुभ्र (बफ़नशी) | न गर्म, न ठंडा |

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इनमें नारंगी लाल रंग के परिवार का रंग है। बैंगनी और जामुनी रंग नीले रंग के परिवार के हैं।

**रंगों का शरीर पर प्रभाव**

लाल : स्नायुमंडल को स्फूर्ति देना।

नीला : स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय, स्वप्न-दोष में लाभ पहुंचाना और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देना।

पीला : मस्तिष्क की शक्ति का विकास, कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगों को शांत करने में उपयोगी।

हरा : ज्ञान-तंतुओं और स्नायु-मंडल को बल देना, वीर्य-रोग के उपशम में उपयोगी।

गहरा नीला : गर्मी की अधिकता से होने वाले आमाशय संबंधी रोगों के उपशमन में उपयोगी।

शुभ्र : नींद के लिए उपयोगी।

नारंगी : दमा तथा वात-व्याधियों के रोगों को मिटाने में उपयोगी।

बैंगनी : शरीर के तापमान को कम करने में उपयोगी।

**रंगों का मन पर प्रभाव**

काला रंग मनुष्य में असंयम, हिंसा और क्रूरता के विचार उत्पन्न करता है।

नीला रंग मनुष्य में ईर्ष्या, असहिष्णुता, रसलोलुपता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।

कापोत रंग मनुष्य में वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है।

अरुण रंग मनुष्य में ऋजुता, विनम्रता और धर्म-प्रेम उत्पन्न करता है।

पीला रंग मनुष्य में शांति, क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय-विजय का भाव उत्पन्न करता है।

सफेद रंग मनुष्य में गहरी शांति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

मानसिक विचारों के रंगों के विषय में एक दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है, जिसका प्रथम वर्गीकरण के साथ पूर्ण सामंजस्य नहीं है। यह इस प्रकार है :

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

| विचार | रंग |
|---|---|
| भक्तिविषयक | आसमानी |
| कामोद्वेगविषयक | लाल |
| तर्कवितर्कविषयक | पीला |
| प्रेमविषयक | गुलाबी |
| स्वार्थविषयक | हरा |
| क्रोधविषयक | लाल-काले रंग का मिश्रण |

इन दोनों वर्गीकरणों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्रत्येक रंग दो प्रकार का होता है–प्रशस्त और अप्रशस्त।

कृष्ण, नील और कापोत–अप्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर बुरा प्रभाव डालते हैं तथा अरुण, पीला और सफेद–प्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर अच्छा प्रभाव डालते है।

**ओरा दर्शन की प्रक्रिया**

भौतिक रंगों की तरह ओरा के रंग भी सत्य है। आंखें अर्धनिमीलित रखें। इस प्रकार बंद करें कि नीचे की पलकों के नीचे देखा जा सके। फिर किसी स्वस्थ व्यक्ति को मंद प्रकाश में बैठाकर देखते रहें। कुछ समय बाद उसे ज्ञात होगा कि स्वस्थ व्यक्ति के शरीर से एक, दो इंच की दूरी तक कुछ कम्पन दीख रहे हैं। प्रतिदिन के अभ्यास से यह और स्पष्ट होता चला जाएगा।

जो व्यक्ति ध्यानस्थ या सद्विचारशील है उसके मस्तिष्क के पीछे इसे देखा जा सकता है।

इसी प्रकार अपनी अंगुलियों या हाथ की प्राण ओरा को भी देखा जा सकता है। हाथ या अंगुलि को काले गत्ते पर या बोर्ड पर रख, अधखुली पलकों से देखें। अभ्यास सधने पर उसकी 'ओरा' दीखने लग जाएगी।[1]

**३०. उपकारापकारौ च, विपाकं वचनं तथा।**
**कुरुष्व धर्ममालम्ब्य, क्षमां पञ्चावलम्बनाम्॥**

**पांच कारणों से मुझे क्षमा का सेवन करना चाहिए। वे पांच ये हैं–**

---

१. 'ओरा'–आभामंडल या लेश्या विज्ञान के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए आचार्य महाप्रज्ञ की पुस्तक 'आभामंडल' पठनीय है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

१. इसने मेरा उपकार किया है इसलिए इसके कथन या प्रवृत्ति पर मुझे क्रोध नहीं करना चाहिए। २. क्षमा नहीं रखने से अर्थात् क्रोध करने से मेरी आत्मा का अपकार–अहित होता है। ३. क्रोध का परिणाम बड़ा दुःखद होता है। ४. आगम की वाणी है कि क्रोध नहीं करना चाहिए। ५. क्षमा मेरा धर्म है।

३१. आर्जवं वपुषो वाचो, मनसः सत्यमुच्यते।
अविसंवादयोगश्च, तत्र स्थापय मानसम्॥

काया, वचन और मन की जो सरलता है, वह सत्य है। कथनी और करनी की जो समानता है, वह सत्य है। उस सत्य में तू मन को रमा।

'मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥'

–मन, वचन और कर्म में एकरूपता–यह महान् पुरुषों का लक्षण है, और भिन्नता साधारण पुरुषों का लक्षण है। साधक के लिए साधना का महान् सूत्र है कि वह जैसा कहे, वैसा करे और जैसा करे, वैसा ही कहे। अनेकरूपता साधक का धर्म नहीं होता। जिसमें भीतर और बाहर का एकत्व नहीं है, वह साधना के योग्य नहीं है।

३२. अश्रद्धानं प्रवचने, परलाभस्य तर्कणम्।
आशंसनं च कामानां, स्नानादिप्रार्थनं तथा॥

३३. एतैश्च हेतुभिश्चित्तं, उच्चावचं प्रधारयन्।
निर्ग्रन्थो घातमाप्नोति, दुःखशय्यां व्रजत्यपि॥
(युग्मम्)

मुनि के लिए चार दुःख-शय्याएं हैं–१. निर्ग्रंथ प्रवचन में अश्रद्धा करना। २. दूसरे श्रमणों द्वारा लाई हुई भिक्षा की चाह रखना। ३. काम-भोगों की इच्छा करना। ४. स्नान आदि की अभिलाषा करना। इन कारणों से साधु का चित्त अस्थिर बनता है और उसके संयम की हानि होती है, अतः निर्ग्रंथ के लिए ये चार दुःख-शय्याएं हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

३४. श्रद्धाशीलः प्रवचने, स्वलाभे तोषमाश्रितः।
अनाशंसा च कामानां, स्नानाद्यप्रार्थनं तथा॥

३५. एतैश्च हेतुभिश्चित्तं, उच्चावचमधारयन्।
निर्ग्रंथो मुक्तिमाप्नोति, सुखशय्यां व्रजत्यपि॥
(युग्मम्)

**मुनि के लिए चार सुख-शय्याएं हैं—१. निर्ग्रंथ प्रवचन में श्रद्धा करना। २. भिक्षा में जो वस्तुएं प्राप्त हों, उन्हीं से संतुष्ट रहना। ३. काम-भोगों की इच्छा न करना। ४. स्नान आदि की इच्छा न करना। इन कारणों से साधु का चित्त स्थिर बनता है और वह मुक्ति को प्राप्त होता है, अतः निर्ग्रंथ के लिए ये चार सुख-शय्याएं हैं।**

शय्या का अर्थ है—आश्रय-स्थान। सुख और दुःख के चार-चार आश्रय-स्थान हैं। मुनि का मन संयम से विचलित होता है। उसके मुख्य कारण चार हैं : (१) संयम के प्रति अश्रद्धा, (२) श्रम से जी चुराना, (३) विषयों में आसक्ति, (४) शृंगार की भावना। ये चार दुःख के आश्रय-स्थान हैं।

मुनि के संयम में स्थिर रहने के चार कारण हैं : (१) संयम के प्रति श्रद्धा, (२) श्रमशीलता, (३) विषय-विरक्ति, (४) शृंगार-वर्जन। ये चार सुख के आश्रय-स्थान हैं।

३६. दुष्टा व्युद्ग्राहिता मूढा, दुःसंज्ञाप्या भवन्त्यमी।
सुसंज्ञाप्या भवन्त्यन्ये, विपरीता इतो जनाः॥

**तीन प्रकार के व्यक्ति दुःसंज्ञाप्य होते हैं—दुष्ट, व्युद्ग्राहित—दुराग्रही और मूढ। इनसे भिन्न प्रकार के व्यक्ति सुसंज्ञाप्य होते हैं।**

द्वेष करने वाले, दुराग्रही और मोहग्रस्त—ये तीन प्रकार के व्यक्ति सद्ज्ञान (शिक्षा) के लिए पात्र नहीं हैं। शिक्षा या सद्बुद्धि का अंकुर वहीं पल्लवित हो सकता है जहां अनाग्रह, नम्रता और सरलता है। द्विष्ट-चित्त वाला व्यक्ति अपने मन में ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान, आग्रह आदि का पोषण करता है। वह अज्ञान और मोह से घिरा रहता है। मूढ़ मनुष्य को हिताहित का विवेक नहीं होता। भर्तृहरि ने मूढ़ और दुराग्रही के लिए यहां तक कहा है कि उन्हें ब्रह्मा भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

रंजित नहीं कर सकते–'अज्ञ व्यक्ति को समझाना सरल है। विद्वान् को समझाना सरलतम है किन्तु जो दोनों के बीच के अर्धपंडित हैं उन्हें ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता।'

भगवान् महावीर ने शिक्षा के योग्य व्यक्ति के लिए कुछ विशेष बातों की ओर संकेत किया है। वे हैं–'नम्रता, सहिष्णुता, दमितेन्द्रियता, अनाग्रह-भाव, सत्यरतता, क्रोधोपशांति, क्षमा, सद्भाव और वाक्-संयम।

**३७. पूर्वं कुग्राहिताः केचिद्, बालाः पण्डितमानिनः।**
**नेच्छन्ति कारणं श्रोतुं, द्वीपजाता यथा नराः॥**

**जो पूर्वाग्रह रखते हैं और जो अज्ञानी होने पर भी अपने को पंडित मानते हैं, वे द्वीपजात अर्थात् अशिष्ट पुरुषों की भांति बोधि के कारण को सुनना नहीं चाहते।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विकास के क्षेत्र में पूर्व-मान्यता या पूर्वाग्रह का स्थान नहीं है। पूर्वाग्रही व्यक्ति के लिए सत्य-स्वीकृति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उसे वही सत्य लगता है जो अपनी मान्यता पर खरा उतरता है। ऐसे व्यक्ति के लिए किसी ने कहा है—ये कुआं मेरे पिता का बनाया हुआ है। मैं इसी का पानी पीऊंगा। भले इसमें पानी खारा ही है। वे सम्यग् ज्ञान का उपदेश सुनना नहीं चाहते। अगर सुन भी लेते हैं तो उनके दिमाग में उसे प्रवेश नहीं मिल सकता। क्योंकि उनका दिमाग पहले से भरा रहता है। जब हम अपने दिमाग को रिक्त कर लेते हैं तब उसमें किसी अन्य शिक्षा का प्रवेश हो सकता है। भगवान् महावीर ने मेघ से कहा—मेघ! पंडित-मन्यता और पूर्वाग्रह—इन दोनों से मुक्त होने पर ही सत्य का मार्ग अनावृत हो सकता है।

एक बार दो चींटियां आपस में मिलीं। एक नमक के पहाड़ पर रहती थी और दूसरी चीनी के पहाड़ पर। चीनी के पहाड़ पर रहने वाली चींटी ने दूसरी चींटी को आमंत्रित किया। नमक के पहाड़ पर रहने वाली चींटी वहां गई और एक दाना चीनी का मुंह में लिया। उसने थूकते हुए कहा—'अरे, यह भी खारा है।' वहां की निवासिनी चींटी ने कहा—'बहन! चीनी मीठी होती है। वह कभी खारी नहीं होती।' आगन्तुक चींटी ने कहा—'मेरा मुंह तो खारा हो गया है। मैं कैसे मानूं कि चीनी मीठी होती है!' यह सुनकर वह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

असमंजस में पड़ गई। उसने आनतुक चींटी का मुंह देखा। उसमें नमक की एक डली थी। उसने कहा–'बहन! नमक को छोड़े बिना मुंह मीठा कैसे होगा?' यह संस्कारों के आग्रह की कहानी है। आग्रह को छोड़े बिना सत्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

३८. उपदेशमिदं श्रुत्वा, प्रसन्नात्मा महामना।
मेघः प्रसन्नया वाचा, तुष्टुवे पर्मेष्ठिनम्॥

**महामना मेघ यह उपदेश सुन बहुत प्रसन्न हुआ और प्रांजल वाणी से भगवान् महावीर की स्तुति करने लगा।**

मेघ की जागृत आत्मा आराध्य के प्रति कृतज्ञ हो गई। मन का मैल धुल गया, वाणी विशुद्ध हो गई और शरीर शांत हो गया। मन अनंत श्रद्धा से भगवान् की आत्मा में विलीन हो गया। वाणी में अनंत श्रद्धा है और शरीर श्रद्धा से नत है। आत्मा की श्रद्धा शब्दों का चोला नहीं पहन सकती और पहनाया भी नहीं जा सकता। किन्तु श्रद्धालु के पास उसके सिवाय कोई चारा भी नहीं है। वह नहीं चाहता कि अनन्य श्रद्धा शब्दों के माध्यम से बाहर आए, लेकिन वाणी मुखरित हो जाती है। श्रद्धा के वे अल्प शब्द अनंत श्रद्धालुओं के लिए प्राण, जीवन और संजीवनी बन जाते हैं।

मेघ की आलोकित आत्मा अंत में कृतज्ञ के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है, जिसका एक-एक शब्द श्रद्धा से स्पन्दित है और भावों की विशुद्धि लिए हुए है।

**कृतज्ञता के स्वर**

**मेघः प्राह**

३९. सर्वज्ञोऽसि सर्वदर्शी, स्थितात्मा धृतिमानसि।
अनायुरभयो ग्रन्थादतीतोऽसि भवान्तकृत्॥

**मेघ ने कहा–आर्य! आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, स्थितात्मा हैं, धैर्यवान् हैं, अमर हैं, अभय हैं, राग-द्वेष की ग्रंथियों से रहित हैं और संसार का अंत करने वाले हैं।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

४०. पश्यतामुत्तमं चक्षुर्ज्ञानिनां ज्ञानमुत्तमम्।
तिष्ठतां स्थिरभावोऽसि, गच्छतां गतिरुत्तमा॥

आप देखने वालों के लिए उत्तम चक्षु हैं, ज्ञानियों के लिए उत्तम ज्ञान हैं, ठहरने वालों के लिए उत्तम स्थान हैं और चलने वालों के लिए उत्तम गति हैं।

४१. शरणं चास्यऽबन्धूनां, प्रतिष्ठा चलचेतसाम्।
पोतश्चासि तितीर्षूणां, श्वासः प्राणभृतां महान्॥

आप अशरणों के शरण हैं, अस्थिर चित्त वाले मनुष्यों के लिए प्रतिष्ठान हैं, संसार से पार होने वालों के लिए नौका हैं और प्राणधारियों के लिए आप श्वास हैं।

४२. तीर्थनाथ! त्वया तीर्थमिदमस्ति प्रवर्तितम्।
स्वयंसम्बुद्ध! सम्बुद्ध्या, बोधितं सकलं जगत्॥

हे तीर्थनाथ! आपने इस चतुर्विध संघ का प्रवर्तन किया है। हे स्वयंसंबुद्ध! आपने अपने ज्ञान से समस्त संसार को जागृत किया है।

४३. अहिंसाराधनां कृत्वा, जातोऽसि पुरुषोत्तमः।
जातः पुरुषसिंहोऽसि, भयमुत्सार्य सर्वथा॥

भगवन्! आप अहिंसा की आराधना कर पुरुषोत्तम बने हैं, भय को सर्वथा छोड़ पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी बने हैं।

४४. पुरुषेषु पुण्डरीकः, निर्लेपो जातवानसि।
पुरुषेषु गन्धहस्ती, जातोऽसि गुणसम्पदा॥

निर्लेप होने के कारण आप पुरुषों में पुण्डरीक—कमल के समान हैं। गुण-संपदा से समृद्ध होने के कारण आप पुरुषों में गंधहस्ती के समान हैं।

४५. लोकोत्तमो लोकनाथो, लोकद्वीपोऽभयप्रदः।
दृष्टिदो मार्गदः पुंसां, प्राणदो बोधिदो महान्॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भगवन्! आप संसार में उत्तम हैं, संसार के एकमात्र नेता हैं, संसार के द्वीप हैं, अभयदाता हैं, महान् हैं तथा मनुष्यों को दृष्टि देने वाले हैं, मार्ग देने वाले हैं, प्राण और बोधि देने वाले हैं।

४६. धर्मवरचातुरन्त-चक्रवर्ती महाप्रभः।
शिवोऽचलोऽक्षयोऽनन्तो, धर्मदो धर्मसारथिः॥

प्रभो! आप धर्म-चक्रवर्ती हैं। आप महान् प्रभाकर हैं, शिव हैं, अचल हैं, अक्षय हैं, अनन्त हैं, धर्म का दान करने वाले हैं और धर्म-रथ के सारथि हैं।

४७. जिनश्च जापकश्चासि, तीर्णस्तथासि तारकः।
बुद्धश्च बोधकश्चासि, मुक्तस्तथासि मोचकः॥

प्रभो! आप आत्म-जेता हैं और दूसरों को विजयी बनाने वाले हैं। आप स्वयं संसार सागर से तर गए हैं और दूसरों को उससे तारने वाले हैं। आप बुद्ध हैं और दूसरों को बोधि देने वाले हैं। आप स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को मुक्त करने वाले हैं।

इस संसार में सबसे अलभ्य घटना है—शिष्य होना। किसी ने सत्य कहा है एक चीज ऐसी है जिसके देने वाले बहुत हैं और लेने वाले कम। वह है—उपदेश। सब गुरु बनना चाहते हैं, शिष्य नहीं। शिष्य वह होता है जिसमें सीखने की उत्कट अभिलाषा हो। 'इजिप्त' में कहावत है—'जब शिष्य तैयार होता है तो गुरु मौजूद हो जाता है। गुरु की उपलब्धि भी सहज-सरल नहीं है। जब शिष्य ही न हो तो गुरु का मिलना कैसे संभव हो? शिष्य कैसे गुरु की खोज करे? उसमें यदि इतनी योग्यता हो तो फिर वह गुरु से भी ऊंचा हो जाता है। कहते हैं—गुरु ही शिष्य को खोजते हैं।

वायजीद गुरु के पास वर्षों रहा। गुरु ने अनेक ऐसे अवसर दिए कि श्रद्धा प्रकंपित हो जाए। अनेक शिष्य चले गए किन्तु वायजीद स्थिर रहा। साधना पूरी हो गई। गुरु ने कहा—मेरे संबंध में कुछ पूछना है। वायजिद हंसा और बोला—वह सब नाटक था। मुझे अपने काम की जरूरत थी।

फ्रेंकक्रैन ने कहा है—सर्वोत्तम गुरु वह है जो आपको आत्म-परिचय कराने के लिए आपका पथ-दर्शन करे। गुरु बांधना नहीं चाहते, वे चाहते हैं मुक्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

करना। जापान के आश्रम में तब कोई शिष्य सीखने आता है तो गुरु उसे मार्ग-दर्शन दे देते और कहते–'यह चटाई है, आना, इस पर बैठकर अपना काम करना और जिस दिन कार्य पूर्ण हो जाए चटाई को गोल कर चले जाना। मैं समझ लूंगा कि काम हो गया है।' धन्यवाद की भी आकांक्षा नहीं रखते। शिष्य कैसे उस कृतज्ञता को भूल सकता है। गुरु लेन-देन, व्यवसाय की बात नहीं चाहते। किन्तु शिष्य का स्वर मुखरित हुए बिना कैसे रह सकता है?

मेघ ने जो कुछ कहा है, वह यही स्वर है। महावीर ने कह दिया–मुझे भी मत पकड़ना। मेरे साथ भी स्नेह मत करना, अन्यथा यात्रा बीच में रह जाएगी। बस, पकड़ना है केवल अपने को। मेघ ने महावीर को बीच से हटा दिया। वह अकेला, अनवरत साधना-पथ पर बढ़ता रहा। साधना सिद्ध हुई और महावीर सामने खड़े हो गए। अब मेघ और महावीर के बीच द्वैत नहीं रहा। कृतज्ञता के स्वरों में मेघ की आत्मा नर्तन करने लगी। साधक सहजोबाई ने कहा है–भगवान् को छोड़ सकती हूं पर गुरु को नहीं। भगवान् ने कांटे ही कांटे बिछाए और गुरु ने सबको दूर हटा दिया। उसने बड़े मीठे, सरस और उपालंभ भरे पद कहे हैं–

राम तजू पे गुरु न बिसारूं, गुरु को सम हरि को न निहारूं।
हरि ने जनम दिया जग मांही, गुरु ने आवागमन छुड़ाहि।
हरि ने पांच चोर दिए साथा, गुरु ने लाई छुड़ाया अनाथा।।
हरि ने कुटुम्ब जालन में गेरी, गुरु ने काटी ममता वेरी।
हरि ने रोग भोग उरझायो, गुरु जोगी कर सर्व छुड़ायो।
हरि ने मोसूं आप छिपायो, गुरु दीपक देताहि दिखायो।
फिर हरि बंधि मुक्ति गति लाये, गुरु ने सबही भर्म मिटाये।।
चरण दास पर तन मन बारूं, गुरु न तजूं हरि को तज डारूं।।

## संबोधि ग्रंथ की फलश्रुति

४८. निर्ग्रन्थानामधिपतेः, प्रवचनमिदं महत्।
प्रतिबोधश्च मेघस्य, शृणुयाच्छ्रद्दधीत यः।।

४९. निर्मला जायते दृष्टिः, मार्गः स्याद् दृष्टिमागतः।
मोहश्च विलयं गच्छेत्, मुक्तिस्तस्य प्रजायते।।

(युग्मम्)

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**निर्ग्रंथों के अधिपति भगवान् महावीर के इस महान् प्रवचन को और मेघकुमार के प्रतिबोध को जो सुनता है, श्रद्धा रखता है, उसकी दृष्टि निर्मल होती है, उसे सम्यग्-पथ की प्राप्ति होती है, मोह के बंधन टूट जाते हैं और वह मुक्त बन जाता है।**

मेघ के माध्यम से 'संबोधि' का जन्म हुआ। मेघ ने महावीर से सुना, समझा और श्रद्धा-पूर्वक उसका अनुशीलन किया।

मेघ मुक्त हो गया। और भी जो इसे सुनेंगे, समझेंगे और आचरण करेंगे वे भी मुक्त होंगे। हम सबके अंतस्तल में सच्ची प्यास प्रकट हो और हम महावीर के पवित्र चरणों में अपने आपको सहज भाव से समर्पित कर उस परम सत्य का रसास्वादन करें।

**इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचिते संबोधिप्रकरणे**
**मनःप्रसादनामा षोडशोऽध्यायः।**

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# उपसंहार

यह मेघ को दिया गया भगवान् महावीर का प्रतिबोध जन-जन कें लिए प्रतिबोध है। मोह-विजय, अज्ञान-विजय और आत्मानुशासन की साधना है।

जिसका मोह विलय होता है वह संबुद्ध है। 'संबोधि' की उपासना कर अनेक आत्माएं मेघ बन गईं और अनेक बनेंगी। आत्मा का शुद्ध स्वरूप सच्चिदानंद है। वह आत्मोपासना से प्रबुद्ध होता है। मोह और अज्ञान आत्मोत्तर हैं। इनके भंवर से वही निकल सकता है जो 'संबोधि' को आत्मसात् करता है। 'संबोधि' का संक्षेप रूप है—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र। यही आत्मा है। जो आत्मा में अवस्थित है वह इस त्रिवेणी में स्थित है और जो त्रिवेणी की साधना में संलग्न है वह आत्मा में संलग्न है।

आत्मा की अविकृत और विकृत दशा की यहां विस्तृत चर्चा है। विकृत से अविकृत बनाना 'संबोधि' का ध्येय है। जो धर्ममूढ़ता या आत्ममूढ़ता है वह मोह है। मोह का विलय मुक्ति है। मोह-विलय से दृष्टि-शुद्धि, ज्ञान-शुद्धि और आचार-शुद्धि होती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विशुद्धि का अधिकारी है किन्तु वह सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है जिसकी मोह-विजय में पूर्ण आस्था है। क्षेत्र, काल, प्रान्त आदि की सीमाएं आस्थावान् के लिए व्यवधान नहीं बन सकतीं। यह सबकी बपौती है। 'संबोधि' आस्था को जगाती है और व्यक्ति को आस्थावान् बनाती है, आत्मा की स्व में अटूट आस्था को प्रबल कर वह कृतकत्य हो जाती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# प्रशस्तिः

तवैवालोकोऽयं प्रसृत इह शब्देषु सततं
तवैषा पुण्यागीरमलतमभावानुपगता।
प्रभो! शब्दैरर्चामकृषि सुलभैः संस्कृतमयै-
स्तदेषाऽालोकाय प्रभवतु जनानां सुमनसाम्॥१॥

दीपावल्याः पावने पर्वणीह
निर्वाणस्यानुत्तरे वासरेऽस्मिन्।
निर्ग्रन्थानां स्वामिनो ज्ञातसूनो-
रर्चां कृत्वा मोदते नत्थमल्लः॥२॥

विक्रम द्विसहस्राब्दे, पावने षोडशोत्तरे।
कलकत्ता-महापुर्यां सम्बोधिश्च प्रपूरिता॥३॥

आचार्यवर्यतुलसीचरणाम्बुजेषु
वृत्तिं व्रजन् मधुकृतो मधुरामगम्याम्।
भिक्षोरनन्त-सुकृतोन्नत-शासनेऽस्मिन्,
मोदे प्रकाशमतुलं प्रसजन्नमोघम्॥४॥

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

# परिशिष्ट

## योग : क्या और कैसे?

### योग : एक अनुचिंतन

जैन साहित्य में योग शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। मुख्यतया योग शब्द मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति के अर्थ में प्रचलित है। योग-दर्शन का उद्देश्य भी मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों का संयमन है। इस दृष्टि से वहां भी यदि उसका अर्थ वही ग्रहण करें तो कोई आपत्ति नहीं होती। **'जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अनलसो धुवं'**—साधक आलस्य को त्यागकर सतत अपने योग (मन, वाक् और शरीर की प्रवृत्ति) को समत्व-साधना, श्रमण-धर्म में योजित करे। यह कथन भी किसी न किसी विधि का सूचक है।

जैन आचार्यों ने दर्शन, ज्ञान और चरित्र को योग कहा है। योग शब्द का प्रतिपाद्य और प्राप्य जो है वह दर्शन, ज्ञान और चरित्र ही है। जीवन की परिपूर्ण विकसित अवस्था इस त्रिवेणी का संयोग है। ऐसी कोई साधना-पद्धति नहीं है जो अज्ञान, मिथ्यात्व और आचरण को रूपान्तरित न करे। जिस साधना से व्यक्ति जैसा था वैसा ही रहता है तो समझना चाहिए कि कहीं भूल है। समस्त साधना-मार्ग उसी दिशा में ले जाते हैं।

### तप है योग

योग शब्द के द्वारा जो विधेय है, जैन परम्परा में वह तप के द्वारा लक्ष्य है। योग के स्थान पर 'तप' शब्द अधिक प्रचलित रहा है। योग के जैसे आठ अंग हैं, वैसे ही तप के द्वादश भेद हैं। यह शब्द स्वयं महावीर द्वारा प्रयुक्त है। **'तवेण परिसुज्झई'**—तप से शुद्धि होती है, कर्मों का निर्जरण होता है। जैन-साहित्य से जिनका यत्किंचित् परिचय है वे इसे सहजतया समझते हैं। अनेक स्थलों पर आगम और आगमेतर साहित्य में इसकी विशद चर्चा उपलब्ध है। निःसन्देह यह साधना-पद्धति के रूप में प्रचलित रहा है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कालान्तर में संभवतया वह पद्धति विस्मृत हो गई और उसके भेद-प्रभेद रह गए। प्रयोग छूट गया। प्रयोग के बिना किसी भी चीज का महत्त्व नहीं रहता। वह केवल रूढ़ हो जाती है।

आज व्यक्ति तप के समस्त अंगों की साधना न कर केवल दो-चार पूर्ववर्ती अंगों को अपनाकर तपस्वी या धार्मिकता का गौरव प्राप्त करते हैं। तप शब्द सामने आते ही व्यक्ति का ध्यान सीधा तपस्या—भूखे रहना, उपवास की ओर चला जाता है। महावीर की प्रतिमा भी जनता के सामने केवल दीर्घ-तपस्वी और कष्ट-सहिष्णु के रूप में खड़ी की। इस चरित्र-चित्रण के साथ-साथ अधिक-से-अधिक तप, उपवास आदि करने पर बल दिया जाने लगा। तपस्वियों की महत्ता और उत्साह संवर्द्धन के लिए विविध समारोह तथा स्तुति-गीत प्रदर्शित किये जाने लगे, जिससे सहजतया सामान्य व्यक्तियों का मन लालायित होने लगा। कुछ समाज में धारणाएं भी प्रचलित हो गईं कि अमुक-अमुक तप होने ही चाहिए। कोई न करे या किसी से न हो तो वह अपने आप में हीनता का अनुभव करने लगता है। दूसरे लोग भी जैसे-तैसे प्रेरित करते रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तप' तो जीवित रहा किन्तु उसका मूल हार्द गौण हो गया। एक और भी बात है कि तप अच्छा है, प्रीतिकार है तो किसी विशेष समय में कर उसकी इति श्री क्यों कर दी जाती है? मौसमी फूलों की तरह क्या उसका मौसम होता है? महावीर को उसमें आनंद था तो वह सतत चल रहा था। उन्होंने तप के अनुष्ठान के लिए कोई दिन, महीना निर्धारित नहीं किया था। उसकी उन्हें जरूरत थी, रस था और ध्येय में सहयोगी था, इसलिए सदा समुचित प्रयोग करते रहे। किन्तु बाद में कुछ तिथियां और महीने निश्चित से हो गए। बस, वह समय आता है और दौड़-धूप शूरू हो जाती है। बरसात की नदियों की तरह फिर वह शान्त हो जाता है। तप वैसा नहीं है। वह तो गंगा की पवित्रतम धारा की भांति है जो सागर में मिल कर ही आश्वस्त होती है।

ज्ञान और दर्शन चैतन्य का स्वभाव है। उसके लिए स्वतंत्र कोई विशेष आयास नहीं करना होता है। वे चरित्र-तप की साधना के परिणाम मात्र हैं। साधना जो है, वह है तपोयोग की। जो कुछ सार-सत्य होता है, वह इससे ही होता है। तप का महत्त्व इसलिए है कि वह समस्त आवरणों को जलाकर चैतन्य को अपने स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करता है। आवृत ज्ञान और दर्शन को अनावृत भी यही करता है। इस दृष्टि से तप के सम्बन्ध में बहुत सजग, विवेकवान् और विज्ञ होना चाहिए। अज्ञान तप कष्टकर होता है, साधना में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सहायक नहीं है। महावीर ने कहा है–

**'मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।**
**न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥**

अज्ञानी व्यक्ति महीने-महीने का उपवास कर कुश के अग्रभाग पर टिके इतना-सा भोजन करके भी शुद्ध धर्म की सोलवीं कला का भी स्पर्श नहीं करता। बुद्ध ने कहा है–'नासमझ तप भी करते हैं तो भी नरक में जाते हैं। जिन दो अतियों से बचने की बात कही है उनमें से एक है शरीर को व्यर्थ सताना। श्रोण नाम का राजकुमार भिक्षु भोग से तप की दूसरी अति पर जब उतर गया तब कुछ भिक्षुओं ने बुद्ध से कहा। बुद्ध श्रोण के पास आये और बोले–श्रोण! तुम कुशल वीणावादक थे।

'हां भन्ते।'

'वीणा बजाने के नियम से परिचित हो?'

'हां भन्ते।'

'क्या तार बिलकुल ढीले होते हैं तब वीणा बजती है?'

'नहीं।'

'क्या श्रोण! वीणा के तार बहुत कसे हुए होते हैं, तब वीणा बजती है।'

'नहीं भन्ते।'

'श्रोण! वही नियम साधना का है।'

**तप का यथार्थरूप**

तप क्या है? तप अग्नि है। अग्नि का स्वभाव है जलाना, ऊपर उठना और आकाश में व्याप्त हो जाना। तप का काम भी यही है। वह भीतर जो विजातीय तत्त्व एकत्रित हो गया है, उसे जला डालता है। मल-आवरण के जल जाने पर चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है और अन्त में साधक अपने चिदाकाश में समाहित हो जाता है। जीवनीशक्ति प्रतिक्षण दूसरों में उत्सुक होकर बाहर बह रही है, उसे रोकने की कला तप है। तप किया और चेतना का अतिक्रमण नहीं हुआ, वह स्वयं को पाने उत्सुक नहीं हुई तो समझना चाहिए कि तप का प्रयोजन सफल नहीं हुआ। आचार्य हेमचन्द्र ने उस उपवास को लंघन कहा है जिसमें कषाय (क्रोध, अहंकार, माया, कपट और लोभ) तथा इन्द्रिय-विषय का त्याग न कर केवल आहार का त्याग किया जाता है। भोजन को छोड़कर चेतना को ऊपर उठाना है, उसे सब तरफ से समेट कर अस्तित्व की दिशा में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रवाहित करना है। ऊर्जा का स्रोत बाहर जाने से बन्द होगा तब एक नया उत्ताप पैदा होगा। वही ताप अशुद्धि को जलाकर एक नई शक्ति से जीवन को भरेगा। महावीर का वास्तविक तप यही है। वे चाहते हैं कि ऊर्जा अपने भीतर ठहर जाये। इसीलिए उन्होंने यह प्रक्रिया दी। तप शब्द से भले ही कोई घबराये, किन्तु सब धर्मों में यह स्वीकृत है। सारे धर्म इस बात में एक है कि चेतना बाहर प्रवाहित न हो। चेतना का अंतर्मुखी जो प्रवाह है वह तप है। इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं आ सकती, इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से 'तपोयोग' में सभी धर्म सहमत है।

### तप का विवेक

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है–'तप से शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि क्षीण होने से देह और इन्द्रियों की सिद्धि उत्पन्न होती है।' गीता में श्रीकृष्ण ने मन, वाणी और काया के तपों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया है। पूज्य व्यक्तियों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा 'शरीर' तप है। किसी को उद्विग्न न करने वाले सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलना, आध्यात्मिक शास्त्रों का अध्ययन करना वाक्मय तप है। चित को सदा प्रसन्न रखना, सौम्य, मौन और आत्म-निग्रह करना 'मानस' तप है।' भूख-प्यास आदि पर उपवास–व्रत द्वारा विजय प्राप्त कर शरीर को साधना के अनुकूल बनाना तप है। इस प्रकार तप की अस्वीकृति का दर्शन कहीं नहीं है। तप का भयावह चित्र या निरादर जो सामने आया है, वह अविवेक के कारण आया है। तप के साथ विवेक रहता है तो निःसन्देह तप श्रद्धेय और समाचरणीय बनता है। बुद्ध ने तप की अति का वर्जन किया है, तप का नहीं। गीता में **'युक्ताहारविहारस्य'** कह कर सर्वत्र विवेक का स्वर प्रकटित किया है। महावीर को भी तप अतिप्रिय नहीं था। उन्होंने स्पष्ट किया है–'प्रत्येक कार्य में साधक सबसे पहले अपने शरीर-बल, मनोबल, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल–समय का यथोचित परिज्ञान कर फिर स्वयं को तप में नियोजित करें।' तप के साथ अगर इतना गहरा जागरण होता तो वह क्रमशः अनेक ग्रंथियों का उद्घाटन करता और अध्यात्मिक दिशा में एक नया कीर्तिमान स्थापित करता।

तप दुःख नहीं, आनंद का कारण है। जिससे शुद्धि हो, आवरण छिन्न हो, उसमें अनानंद का प्रश्न ही खड़ा नहीं हो सकता। वह उन लोगों के लिए दुःखद हो सकता है जिन्हें शुद्धि का बोध नहीं हैं। किन्तु इससे पूर्व शरीर और चेतना का भेद-विज्ञान अत्यंत अपेक्षित है। ज्ञान, दर्शन और तप तीनों की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संयुति है। एक के अभाव में पूर्णता कहीं नहीं होती। आचार्य ने स्पष्ट सूचना दी है कि तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप कृतार्थ नहीं होते। चाहे व्यक्ति कितना ही महान् तप का आचरण करे। यदि तप भेद-विज्ञान से शून्य है तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। समस्त शास्त्रों का पारायण, संयम का पालन और तप का सेवन भले करो किन्तु जब तक आत्म-दर्शन नहीं होता, तब तक मोक्ष नहीं है। समत्व के अभाव में बनवास, कायक्लेश, विचित्र प्रकार के उपवास, अध्ययन, मौन आदि आचरण क्या करेंगे? इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन में ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चारित्र की आराधना ये तीनों अनिवार्य हैं। इसमें भी सम्यग् दर्शन प्रमुख है। जो प्रमुख है उसे गौण न बनायें। प्रमुख के साथ ही 'तप' सोने में सुगन्ध का काम करेगा। तप से बल बढ़ता है। तप संवर और निर्जरा का हेतु है। तप शनैः शनै विषयों से वितृष्णा पैदाकर मुक्ति को सन्निकट करता है। महावीर के तप का सर्वांगीण अवलोकन कर हम समझ सकेंगे कि इसका इतना महत्त्व क्यों है?

**तप : बाह्य और आभ्यन्तर**

तप को महावीर ने योग की तरह दो भागों में विभक्त किया है, बाह्य तप और आंतरिक तप। ये भेद केवल औपचारिक हैं। स्थूल और सूक्ष्म शरीर की भांति ये भी संयुक्त हैं। सूक्ष्म की अभिव्यक्ति का माध्यम स्थूल है। आंतरिक तप का प्रभाव स्थूल पर आये बिना नहीं रह सकता है और स्थूल का भी सूक्ष्म पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। बाह्य तप इसलिए है कि उसका बाहर के पदार्थों के साथ संबंध है तथा वह परिदृश्य है। आंतरिक तप में दूसरों को भिन्न भी अनुभव हो सकता है। या वह अज्ञात भी रह सकता है। उसका संबंध केवल व्यक्ति से है। वह कब, कैसे कर रहा है यह ज्ञात नहीं होता। बाहर के संबंधों की वह पूर्णतया उपेक्षा कर देता है। उसका प्रमाण वह स्वयं ही है। जापान का सम्राट् महान् साधक रिझाई के पास पहुंचा और पूछा–'मैं कैसे जानूं कि आपने जान लिया है। रिझाई ने उत्तर दिया–'मुझे देखो, मेरे कार्यों को देखो, यदि समझ सको तो समझ लेना।' सम्राट् ने कहा–'आपको देखने से क्या होगा? कृपया कोई प्रमाण बतायें।' रिझाई ने कहा–और कोई गवाह-प्रमाण नहीं है। क्रियाओं से ही जान सको तो जानो।

आभ्यन्तर को छोड़कर केवल बाहर को पकड़ने के कारण धर्म की सरिता सूख गयी। उसका कोई स्वाद नहीं रहा। जीवन मुर्दे जैसा हो गया। सर्वत्र वीरान ही वीरान दृष्टिगत होता है। ऐसा लगता है, मनुष्य की महान् शक्ति किसी ने छीन ली हो। वह रस रहित गन्ने के छिलकों की तरह हो रहा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। प्रेम, करुणा, शांति, सरलता, सहजता आदि सद्गुणों के शुष्क स्रोतों को पुनः प्रवाहित करने का एक उपाय है कि बाहर के लगाव से मानव को मुक्त कर अन्दर के प्रति प्रोत्साहित, आकृष्ट और निष्ठावान् किया जाये। इसी में धर्म की जीवन्तता चेतनता है। धर्म को बचाने का एक मात्र यही उपाय है। बाह्य तप आभ्यन्तर के लिए है। आभ्यन्तर के बिना बाह्य तप की सार्थकता भी क्या है? आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है–

**'मनः शुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्, देहिनां नात्र संशयः।**
**वृथा तद्व्यतिरेकेण, कायस्यैव क्रदर्थनम्॥'**

'इसमें कोई संशय नहीं है कि मनुष्यों की शुद्धि, पवित्रता मानसिक शुद्धि से ही होती है। मानसिक पवित्रता के बिना केवल शरीर को कदर्थित करना बुद्धिमानी नहीं है।'

## बाह्य तप के प्रकार

### (१) अनशन

व्यवहार भाष्य में लिखा है–'साधक! सिर्फ स्थूल शरीर को क्यों कृश–कमजोर कर रहा है? कमजोर करना है तो सूक्ष्म शरीर–कार्मण शरीर, कषाय (क्रोध, अहंकार, माया, लोभ), गौरव (ऋद्धि गौरव, रस गौरव, सुख गौरव) और इन्द्रियों को कर।

महावीर ने कहा है–**'जायाए घासमेसेज्जा, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए'**– साधक रसलोलुप न बने। वह भोजन संयम और चेतना के जागरण के लिए करे। आहार करने का उद्देश्य इससे स्पष्ट होता है। साधक जिस ध्येय के लिए चला है, वह सतत उसकी आंखों के सामने परिदृष्ट रहे। एक क्षण भी ध्येय को विस्मृत न करे। चेतना की विस्मृति अधर्म है और स्मृति धर्म है। चेतना की सुषुप्ति हिंसा है, प्रमाद है, मृत्यु है और उसकी जागृति अहिंसा है, अप्रमाद है, अमृत है। साधक जागृति के लिए जीता है। आहार भी लेता है तो चेतना के जागरण के लिए और छोड़ता है तो भी जागरण के लिए। आहार के छोड़ने से अगर चेतना-जागरण में अवरोध होता है तो वह उसे ग्रहण करता है। आहार के ग्रहण और त्याग का सम्पूर्ण विवेक साधक पर निर्भर है। कैसा आहार करना? कितना करना? कब करना? कब-क्यों नहीं करना? साधक अगर इन प्रश्नों को उपेक्षित करता है तो वह साधना में सफल नहीं हो सकता। बाह्य तप के कुछ भेद इन्हीं संकेतों को प्रस्तुत करते हैं।

अनशन का अर्थ है–उपवास, आहार आदि का वर्जन। यह उनके लिए है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जिन्हें भोजन को छोड़कर भोजन का चिंतन भी नहीं सताता है। यदि व्यक्ति भोजन की चिंता से व्याकुल होते हैं और ध्यान पेट की तरफ चला जाता है तब उपवास सार्थक नहीं होता। उपवास शब्द की ध्वनि भी यही है कि चेतना के निकट निवास करना। चेतना वहीं आकृष्ट हो जाती है जहां दर्द, पीड़ा या कष्ट है। सिर में दर्द है तो ध्यान सिर पर चला जाता है। पैर में कांटा लगा तो ध्यान उस जगह आ जाता है। यह सबका स्पष्ट अनुभव है। भूख भी पीड़ा है। बुभुक्षित व्यक्ति का ध्यान पेट के आस-पास घूमने लगता है। उसे स्वप्न में भी भोजन का दर्शन होता है।

एक व्यक्ति अपने परिवार के साथ गांव आ रहा था, मार्ग में निर्जला एकादशी का महान् पर्व आ गया। मन्दिर में कथा सुनने लगा। पंडितजी ने कहा—आज के व्रत का महापुण्य होता है। यह सुन उसने व्रत रख लिया और अपने साथ वाले कुत्ते और बिल्ली को भी व्रत करा दिया। रात को सोये। सब उठे। बिल्ली ने कुत्ते से कहा—'रात को बड़ा अद्भुत स्वप्न आया।' पूछा—'क्या?' बिल्ली ने कहा—'आकाश बादलों से छाया हुआ था और चूहों की बरसात हो रही थी।' कुत्ते ने कहा—'पगली! ऐसा कभी होता है? स्वप्न तो मुझे भी आया था। मैंने हड्डियों की बरसात देखी।' मालिक सब सुनकर हंस रहा था। उसने कहा—'तुम दोनों ही नासमझ हो। न आकाश से चूहे बरसते हैं और न हड्डियां। स्वप्न मेरा सच था। मैंने देखा आकाश में भोजन की बरसात हो रही थी।'

बरसात तो थी नहीं, भूखे व्यक्तियों का सपना था। चेतना वहीं मंडरा रही थी।

बुद्ध के जीवन का एक प्रसंग है। वे एक नगर में आये। एक निर्धन किसान की इच्छा हुई कि आज कुछ सुनना है। किन्तु सुबह-सुबह एक बैल घर से निकल गया। बेचारे को खोजने जाना पड़ा। दोपहर में बैल मिला। दिन भर का थका-मांदा भूखा-प्यासा था। सुनने की तीव्र प्यास थी। घर नहीं आया। सीधा बुद्ध के समीप पहुंचा। दर्शन किये और कहा—'कृपया, कुछ मुझे भी उपदेश दें। बुद्ध ने देखा—प्यासा है आदमी, भूखा भी है। बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—इसे पहले भोजन दो।' भोजन कराया और उपदेश दिया। वह निर्धन किसान श्रोतापत्ति को उपलब्ध हो गया, धर्म के मार्ग—बुद्ध के मार्ग को प्राप्त हो गया। धर्म के स्रोत में गिर गया। बुद्ध जानते थे—भूख रोग है। अभी उपदेश सार्थक नहीं होगा। चेतना सुनती नहीं है। चेतना के सुनने का आयाम है—स्वस्थता।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महावीर ने अनशन का उपयोग किया और कहा—भोजन को छोड़कर चेतना को जागृत रखने का प्रयोग भी साधक को करना चाहिए और उनमें होने वाले अनुभवों से भी अपने को प्रशिक्षित करना चाहिए। साधक को यह देखते रहना चाहिए कि भूख कहां है? किसे है? मैं कौन हूं? शरीर के साथ जो तादात्म्य है उसे तोड़ते रहना चाहिए। मैं शरीर नहीं हूं, चेतन हूं। चेतना पेट के पास दौड़े तब उसे सावधान करे कि—'आज भोजन करना ही नहीं है, तब कैसा चिंतन? आत्म-जागरण में अपने का व्यस्त रखने का प्रयास करना तथा सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित कर चेतना की सन्निधि में पहुंचना ही उपवास का कार्य है।

**(२) ऊनोदरी**

इसका अर्थ है उदर को पूर्ण नहीं भरना। जैसे उपवास में कठिनाई है वैसे अति-भोजन में भी है। भोजन के अभाव में ध्यान पेट की तरफ रहता है, वैसे अति-भोजन कर लेने पर भी चेतना—ऊर्जा को विश्रान्ति नहीं मिलती। अब वह भरे हुए पेट के आस-पास पहुंचने में व्यस्त रहने लगती है। उपवास के पूर्व 'कल उपवास करना है', इसलिए आज अच्छी तरह खा लो—यह भी स्वस्थ चिंतन नहीं है। यह साधना के लिए अनुकूल नहीं है। साधक यहां पदच्युत हो जाता है। अधिक खा लेने का अर्थ होगा—जब तक भोजन का सात्मीकरण नहीं होगा तब तक ध्यान का प्रवाह चेतना की तरफ प्रवाहित कैसे होगा? अति भोजन और बिलकुल कष्ट पूर्ण निराहार—दोनों ही स्थितियों में आत्मा का स्वास्थ्य नष्ट होता है।

**'अइमायं न भुंजेज्जा'। 'मायण्णे एसणारए'**—जैसे आगम सूक्त अनेक स्थलों पर साधक को सचेत करते हैं कि अतिमात्रा में भोजन न करे। वह आहार की मात्रा का जानकार हो।

ऊनोदरी के लिए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—**'ऊनोदरी ए तप करवो दोहिलो वैराग्य बिना होवे नहीं'**—ऊनोदरी तप करना कठिन है। उसके लिए वैराग्य-विरक्ति चाहिए। भोजन करने के लिए बैठकर अपने पेट को थोड़ा-सा खाली रखना, पूर्ण से पहले ही अपने को संकुचित कर लेना, सरल नहीं है। अधिक खाने की बात प्रायः सुनी जाती है, किन्तु आज भूख से कुछ कम खाया है—ऐसा शायद ही कभी सुनने को मिलता हो। उपवास सरल हो जाता है, किन्तु ऊनोदरी कठिन। सम्राट् प्रसेनजित् का प्रसंग है—

भगवान् बुद्ध राजगृही में आये। नगरवासी दर्शन और श्रवण के लिए

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बुद्ध के चरणों में पहुंचे। सम्राट् प्रसेनजित् भी आया। आगे की पंक्ति में बैठा। सम्राट् अतिभोजी था। थोड़ी देर में जंभाइयां लेने लगा, ऊंघने लगा। लोगों को भी बुरा लगा। बुद्ध ने कहा–'राजन्! क्यों जीवन व्यर्थ गंवा रहे हो? क्या जीवन खाने के लिए ही है?' सम्राट् ने सकुचाते हुए कहा–'भंते! आप ठीक कहते हैं! यह भोजन का ही परिणाम है। बड़ी बुरी आदत है। बुद्ध ने सुदर्शन नामक प्रिय अनुचर से कहा–'सम्राट् जब भोजन करे तब यह गाथा सुनाया करो। यदि राजा मना भी करे तो मानना मत। सुदर्शन ने कहा–अच्छा।

**'मनुजस्स सदा सतीमतो, मत्तं जानतो लद्ध भोजने।**
**तनु तस्स भवन्ति वेदना , सणिकं जीरति आयुपालयं॥'**

'स्मृतिमान् व्यक्ति को प्राप्त भोजन में मात्रज्ञ होना चाहिए। जो मात्रज्ञ होता है उसकी वेदना नष्ट हो जाती है और वह पुष्ट शरीर वाला होता है। इसके विपरीत जो अतिभोजी होता है, वह अल्पायु, शीघ्र बूढ़ा और रोगी होता है।'

सम्राट् जब भी भोजन करता, सुदर्शन इस गाथा को प्रतिदिन सुनाता। सम्राट् की आदत बदल गयी, वह परिमित भोजी हो गया।

आचार्य ने उन व्यक्तियों के लिए अवमौदर्य तप का निर्देश किया है जो पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ हैं, जो उपवास से अधिक थकान महसूस करते हैं, जो अपने तप के माहात्म्य से भव्य जीवों को उपशांत करने में लगे हैं, जो अपने उदर में कृमि की उत्पत्ति का निरोध करना चाहते हैं और जो व्याधिजन्य वेदना के कारण अतिमात्रा में भोजन कर लेने से स्वाध्याय के भंग होने का भय करते हैं।

ऊनोदरी के फल ये हैं–

१. इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता मिट जाती है।

२. संयम का जागरण होता है।

३. दोषों का प्रशमन होता है।

४. संतोष की वृद्धि होती है।

५. स्वाध्याय की सिद्धि होती है।

ऊनादेरी–यह सांकेतिक शब्द है। इसे हम केवल भोजन से ही संबंधित न करें। भोजन स्थूल है। जहां भी जिस वस्तु में मात्रा का अतिक्रमण होता हो, वहां सर्वत्र संयम को साधना है। आसक्ति के प्रवाह को अमर्यादित नहीं होने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

देता है, तथा क्रोध, अहंकार आदि दोषों का भी नियमन करता है।

**(३) वृत्तिसंक्षेप**

वृत्ति शब्द के दो अर्थ हैं—जीविका और चैतसिक प्रवृत्तियां। योगशास्त्र चित्तवृत्ति के निरोध का दर्शन देता है। प्रमाद, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पांच वृत्तियां हैं। इनका संपूर्ण निरोध करना योग का चरम लक्ष्य है। वृत्तियों के कारण चित्त शुद्ध नहीं रहता। अशुद्ध चित्त में परमात्मा का अवतरण नहीं होता।

वृत्तिसंक्षेप का अर्थ है—जीविका-निर्वाह (भोजन) को विविध संकल्पों से संक्षिप्त करना। जैसे—अमुक पदार्थ मिले तो आहार करना, अमुक व्यक्ति दे तो लेना, आदि। महावीर का संकल्प प्रसिद्ध है। उन्होंने निर्णय किया कि अगर छह महीनों के भीतर संकल्प पूरा हो तो भोजन करना, अन्यथा छह महीने तक भोजन नहीं करना। भिक्षा के लिए रोज घूमते। पांच महीने पचीस दिन पूरे हो गये। संकल्प नहीं फला। छब्बीसवें दिन सब संयोग मिलने पर प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और तब आहार ग्रहण किया।

**(४) रस-परित्याग**

महावीर ने कहा है—साधक को वैसे रसों-पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, जो काम-वासना को उद्दीप्त करने वाले हों। साधक ने काम-वासना के विजय के लिए प्रस्थान किया है। चेतना की प्रगति के लिए निकला हुआ साधक चेतना के विकास में बाधक तत्वों का आसेवन करे, यह लक्ष्य के निकट पहुंचने की स्थिति नहीं है। निःसन्देह वे उसे दूर ले जाते हैं। रसों के निषेध करने का तात्पर्य यही है कि चित्त बहिर्मुखी न हो।

रस शब्द से यहां वे समस्त पदार्थ ग्राह्य हैं जिनसे वृत्तियां चंचल होती हैं, चित्त अंतर्मुखता से हटता है, ध्यान 'स्व' पर केन्द्रित न होकर 'पर' की तरफ आकृष्ट होता है। इससे समग्र इन्द्रियों के रसों-विषयों की प्रतिध्वनि अभिव्यक्त होती है। किन्तु रसना—जीभ सब में मुख्य है, इसलिए उसी का मुख्यतः उल्लेख किया जाता है। धवला टीका में लिखा है—'रसनेन्द्रिय के निरोध से सकल इन्द्रियों का निरोध संभव है।'

मूलाराधना में आचार्य वट्टकेर कहते हैं—'प्राणी इस अनादि संसार-प्रवाह में रसनेन्द्रिय और उपस्थ के कारण महान् दुःख और जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जो व्यक्ति संसार-दुःख से तप्त है और विषयों को विष के समान समझता है, उसे सरस भोजन के प्रति आसक्त नहीं रहना चाहिए।'

रस-परित्याग का हेतु है—इन्द्रियों की उत्तेजना पर विजय प्राप्त करना, निद्रा-विजयी होना और स्वाध्याय-ध्यान में निराबाध प्रवृत्त रहना। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—'वह जैन शासन को नहीं जान सकता जो आहार-विजयी, निद्रा-विजयी और आसन-विजयी नहीं है।' इससे यह प्रतिफलित होता है कि निद्रा-विजय में रस-परित्याग की भी भूमिका है। रस-विजय से जितेन्द्रियता, तेजस्विता और निराबाध-संयम (साधना) की उपलब्धि में शंका नहीं रहती।

रस शब्द से किन वस्तुओं का ग्रहण करना चाहिए, इसके संबंध में आचार्यों का अभिमत भिन्न-भिन्न है। गौरस, घी, दूध, दही, मक्खन, इक्षुरस, चीनी, गुड़, फलरस, धान्यरस, नमक आदि ये सब रस माने जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वयं अध्ययन करना है कि उसके लिए क्या उपयोगी है? कितना उपयोगी है? अपने आत्म-निरीक्षण से क्रमशः यह बहुत स्पष्ट होता चला जाता है। हम उस सत्य की उपेक्षा न करें, हमारी इच्छा है, किन्तु शरीर अपनी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता की सूचना स्पष्टतया अभिघोषित कर देता है।

रस वस्तुओं में नहीं है, किन्तु वस्तुएं रस का निमित्त बनती हैं, इसलिए रस को बाह्य तप में रखा है। साधना की पूर्व-भूमिका में रस-विजय की अपेक्षा है। साधना की प्रखरता, उच्च भूमिका तथा सिद्धि के पश्चात् उसकी कोई आवंश्यकता नहीं है। जहां कामना—वासना ही शान्त हो जाती है वहां फिर वस्तुओं का क्या महत्त्व रहता है? वस्तुओं में जहां से रस अभिव्यक्त होता है, जीतना उसे है। जैसे बाहर रस है वैसे भीतर भी रस है। बुद्ध ने कहा—अमृत बरस रहा है। कबीर कहते हैं—'इस गगन गुफा में अजर झरै', क्या यह बाहर दिखाई दे रहा है? यह किसी दूसरी दुनिया की झलक है। वह सबसे भीतर है। उसे पाना है। उसके सामने पदार्थों के रस स्वतः तुच्छ हो जाते हैं। गीता में कहा है—**'रसवर्जं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते'**—परम तत्व के दर्शन का रसास्वादन कर लेने के बाद अन्य रसों से साधक निवृत्त हो जाता है।

रस-विजय के लिए रस के केन्द्र पर ध्यान देना चाहिए। इन्द्रियां सिर्फ संवाद सम्प्रेषण करती हैं। वे संवाद मस्तिष्क में पहुंचते हैं। मस्तिष्क का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संबंध किसी अन्य से है। फिर उनमें प्रियता और अप्रियता का भाव प्रकट होता है। जैसा है वैसा जान लेना, प्रिय में राग नहीं करना और अप्रिय से घृणा नहीं करना, सिर्फ शांत होकर देखते रहना, जो-जो तरंगें उठती हैं, उनके उठने और गिरने को बस, देखना है। मन का योग विषयों से नहीं जोड़ना है, किन्तु उसे देखने वाले (द्रष्टा) के साथ जोड़ना है। द्रष्टा की घनीभूत अवस्था में रसों की अनुभूति का महत्त्व नहीं रहता।

रस का अनुभव क्षणिक है, किन्तु उसकी स्मृतियां व्यक्ति को दीर्घकाल तक सताती रहती हैं। कण्ठ से नीचे उतरने के बाद सब कुछ भोजन मिट्टी हो जाता है, इसे सिर्फ दोहराने या कथन करने से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव में उतारना है। जिस दिन यह सत्यता स्पष्ट हो जाती है, उस दिन केवल जीवन-निर्वाह के लिए भोजन रह जाता है। साधक ध्येय को सतत अविस्मृत रखते हुए पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को देखे।

**(५) कायक्लेश**

इसका सीधा सरल अर्थ है—काया-कष्ट। मन शरीर का ही सूक्ष्म अंश है। जितने कष्ट उत्पन्न होते हैं सब काया में होते हैं। उत्पत्ति कष्ट है। उसके पीछे मृत्यु संलग्न है। जो पैदा होता है, वह मरणधर्मा है। हिमालय पर शिवजी के सामने अचानक कोई धमाका हुआ, तब सामने स्थित नन्दी ने पूछा—'भगवन्!' यह किसकी ध्वनि हुई? शंकर ने कहा—'रावण का जन्म हुआ है।' कुछ ही क्षणों बाद फिर वैसी ही आवाज हुई और नन्दी ने फिर प्रश्न किया। शिवजी बोले—रावण की मृत्यु हो गई। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, पूछा, यह कैसे? अभी जन्मा और अभी मृत्यु! शंकर ने कहा—जगत् का यही स्वरूप है। जगत् उत्पत्ति और विनाश से संयुक्त है।

शरीर में अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं। शरीर व्याधि-आधि का मन्दिर है। उसे और क्या क्लेश दिया जाए? इससे बढ़कर और कष्ट हो भी क्या सकता है? किन्तु जो इसे नहीं जानते, देखते, उन्हें दूसरी क्रियाएं कष्टप्रद प्रतीत होती हैं। साधक शरीर को कष्ट नहीं देता, किन्तु शरीर को साधना के अनुकूल बनाता है। शरीर को साधना का अभ्यास नहीं है। उसने जो कुछ देखा है, अनुभव किया है, वह अनुकूल का किया है। प्रतिकूल स्थिति उसे स्वयं कष्टपूर्ण लगती है। कुछ व्यक्ति विवश होकर महीनों तक एक जैसी स्थिति में पड़े रह सकते हैं। वे बहुत दुःख पाते हैं। किन्तु विवशता है। साधना की स्थिति में साधक स्व-वशता पूर्वक वैसा अभ्यास करता है, जिससे संसार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की चंचलता समाप्त हो और आत्म-दिशा में आगे बढ़ा जा सके। काय की अस्थिरता मन को अस्थिर बना देती है। मन के चंचल होते ही धारणा, ध्यान विक्षिप्त हो जाता है। इस दृष्टि से आसन-विजय या काय-क्लेश का स्थान महत्त्वपूर्ण है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा–भंते! काय-क्लेश का प्रतिपादन क्यों किया? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया–'गौतम! सुख-सुविधा की चाह आसक्ति लाती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है। धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता। इसलिए मैंने यथाशक्ति काय-क्लेश का विधान किया है।

गौतम ने पूछा–'भगवन्! काय-क्लेश क्या है?' भगवान् ने कहा–'गौतम! कायोत्सर्ग करना, आसन करना, आतापना लेना, निर्वस्त्र रहना, शरीर का परिकर्म नहीं करना, यह सब काय-क्लेश है।'

शरीर की आदत न होने के कारण यह सब उसे कष्टपूर्ण प्रतीत होता है। इसलिए इसे काय-क्लेश कहा है। ध्यान की स्थिति में सबसे बड़ी बाधा शरीर की होती है। थोड़ी सी देर स्थिर बैठना संभव नहीं है। कभी पैरों में दर्द, सनसनाहट, खुजली आदि विविध प्रकार की सूचनाएं प्राप्त होने लगती हैं। ध्यान निर्विघ्न नहीं होता। शरीर को अभ्यास है विषयों का। ध्यान निर्विषय है, एकाग्रता है। जैसे ही वह एकाग्र होता है शरीर सहन नहीं कर सकता। शरीर का स्वामित्व मन और आत्मा पर सर्वदा चलता रहा। जब उस शासन की स्थिति पैदा होती है तब वह बगावत करना शुरू कर देता है। काय-क्लेश का मूल सूत्र है–देह पर स्वामित्व की स्थापना करना, देह की चुनौती झेलने की क्षमता पैदा करना, स्वयं का मालिक स्वयं होना, इन्द्रिय, मन और शरीर के शासन से मुक्ति पाना। साधना का यही सार है।

**(६) प्रतिसंलीनता**

यह बाहर और भीतर के संक्रमण का द्वार है। इसका अर्थ है–अपनी समस्त वृत्तियों के मुख को बाहर से भीतर की ओर मोड़ना। चेतना की धारा इन्द्रियों के माध्यम से जो प्रतिक्षण बहकर प्रवाहित हो रही है, उसे मोड़कर अन्दर की तरफ गति देना। **'अणुसोयसुहोलोगो'**–अनुस्रोत में चलना सरल है, सारा संसार चल रहा है। किन्तु प्रतिस्रोत मूल उद्गम की ओर नदी का बहना कठिन है। प्रतिसंलीनता उद्गम की ओर प्रयाण है। यह संसार का पार है। अनुस्रोत पार नहीं है, संसार है, चक्र है। अनन्त जन्मों से बाहर जाने का जो अभ्यास है, प्रतिसंलीनता उसे तोड़ती है। यह पुनः

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अपने में संलीन होने का सूत्र है।

चित्त चेतना से जुड़ता है तब सचेतन होता है और बिछुड़ता है तब जड़। हमारा चित्त प्रायः यंत्रवत् है। चेतना से उसका सम्पर्क बहुत कम रहता है। महावीर ने कहा–**'अगेणचित्ते खलु अयं पुरिसे'**–मनुष्य अनेक चित्तवाला है। चेतना से जुड़े रहने वाला चित्त बहुत नहीं होता। एक साथ अनेक काम करना अनेक चित्तता की सूचना है। जीवन में जो कुछ चलता है वह सब यान्त्रिक है। पश्चिम के विचारशील व्यक्ति कोलीन विल्सन ने कहा है–जब हम कुशल हो जाते हैं तो हमारे भीतर जो एक रोबोट–यंत्रमानव है वह काम शुरू कर देता है। चेतना की उपस्थिति अनिवार्य नहीं होती है। हर रोज घर से बाहर और बाजार से घर यातायात करते हैं। कुछ सोचना, विचारना और देखना नहीं पड़ता, किन्तु जैसे ही कहीं अपरिचित स्थान में जाते हैं वहां सतर्क होना पड़ता है। यंत्र-मानव की वहां नहीं चलती। मनोवैज्ञानिकों का कहना है–सात वर्ष में जो आप सीख लेते हैं, आपके पूरे जीवन में ७५ प्रतिशत वही पीछा करता है। क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, प्रेम आदि जीवन भर चलते हैं। क्योंकि वही सीखा हुआ था। प्रतिसंलीनता इन सबको समाप्त करने का एक साहसिक कदम है। अपने घर में प्रविष्ट होने के लिए सतर्क होना होगा। बाहर से संबंध-विच्छेद करना होगा, चेतना को बाहर ले जाने वाले समस्त आलंबनों से दूर हटना होगा। मनोविज्ञान की भाषा में वृत्तियों का मार्गान्तरीकरण, संस्करण, उच्चध्येय में प्रवाहित करना है।

## आंतरिक तप के प्रकार

### (१) प्रायश्चित्त

अन्तर् तप का यह शुभारंभ है। व्यक्ति की दृष्टि दूसरों से हटकर स्व-पर केन्द्रित हो जाती है। वह स्वयं को देखता है, 'मैं कैसा हूं' भला हूं या बुरा, सही हूं या गलत। प्रायश्चित्त का अर्थ है–चित्त-शोधन। जब तक व्यक्ति को स्वयं का बोध नहीं होता, तब तक चित्त-शोधन कठिन है। अनेक व्यक्ति एक ही प्रकार की भूलों को बार-बार दोहराते हैं। एक भूल का प्रायश्चित्त करते हैं और संकल्प करते हैं कि अब फिर नहीं करूंगा, किन्तु कुछ ही समय बाद वे फिर उसी की पुनरावृत्ति कर लेते हैं। महावीर ने कहा–**'बीअं तं न समायरे'**–दुबारा वैसा आचरण नहीं करे।' दुबारा भूल करने का अर्थ है–आप स्वयं में जागृत नहीं हैं। संकल्प को लेकर एक बार तोड़ देने पर मन दुर्बल हो जाता है। संकल्प के प्रति आस्था क्षीण हो जाती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनेक व्यक्ति संकल्प के टूट जाने पर पश्चात्ताप कर संतोष की सांस ले लेते हैं और बहुतों के मन से पश्चात्ताप का भाव भी चला जाता है। किन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिए कि पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त में महान् अन्तर है। पश्चात्ताप क्षणिक शुद्धि है और प्रायश्चित्त सार्वदिक। पश्चात्ताप करने वाला मनःशुद्धि नहीं करता। वह सोचता है—मैं गलत नहीं हूं, मेरे से गलती हो गई। जिसे स्वयं के गलत होने का विश्वास है, वह अपनी भूल सुधार सकता है। भूल का वास्तविक प्रतिकार है—स्वयं को जैसा है वैसा स्वीकार करना। प्रायश्चित्त कर लेने पर भी अनेक व्यक्तियों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसका मूल कारण यही है कि उन्होंने अपनी यथावत् स्थिति का स्वीकरण नहीं किया। केवल भय, प्रलोभन आदि अन्य कारणों से प्रायश्चित्त किया था। प्रायश्चित्त है—स्वयं का स्पष्ट दर्शन और फिर उस दोष-पथ का अस्वीकरण। जो अपने को देखता है वह भूलों का परिमार्जन कर निश्चित ध्येय को प्राप्त कर सकता है और जो अपने को सही मानता है, कार्य में भूल देखता है वह पश्चात्ताप कर स्वयं को पवित्र समझ लेता है। प्रायश्चित्त है अन्तर्-शोधन। प्रायश्चित्त व्यक्ति को बदलता है, पश्चात्ताप नहीं। महावीर आंतरिक तप की बात कर रहे हैं। इसमें पश्चात्ताप से काम नहीं चलता। स्वयं को देखना और रूपान्तरित करना है। **'पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं'** पुरुष! तू ही अपना मित्र है। स्वयं को बदल लेने पर पुरुष अपना मित्र हो जाता है और स्वयं को न बदलने पर शत्रु। भीतर में प्रयाण करने के लिए प्रायश्चित्त का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

### (२) विनय

**'माणो विणयनासणो'। 'माणं मद्दवया जिणे'**—अहंकार विनय का नाशक है। अहंकार को मृदु बनकर जीतो। इससे स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि विनय और अहंकार में कहीं तालमेल नहीं है। दोनों की दो दिशाएं हैं। विनय अहंकार-शून्यता है। अहंकार की उपस्थिति में विनय सिर्फ औपचारिक होता है। बायजीद नामक सूफी संत के पास एक व्यक्ति आया, झुका और बोला—कुछ प्रश्न हैं। बायजीद ने कहा—'पहले तुम झुको तो सही'। वह बोला—आप क्या कहते हैं? क्या आपने नहीं देखा, मैंने आते ही सबसे पहले झुककर आपको नमस्कार किया था? बायजीद हंसा और बोला—'मैं शरीर को झुकाने की बात नहीं कहता। मैं पूछता हूं, तुम्हारा अहंकार झुका या नहीं? उसे झुकाओ।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ऐसा ही प्रसंग बुद्ध के जीवन का है। एक धनी आदमी बहुमूल्य उपहार लेकर आ रहा था। सोचा बुद्ध स्वीकार करें या नहीं, इसलिए एक सुन्दर खिला हुआ पुष्प भी साथ ले लिया। वह उसे बुद्ध के चरणों में चढ़ाने लगा तो बुद्ध ने कहा—गिरा दो इसे। उसने वह कीमती उपहार नीचे गिरा दिया। अब फूल समर्पित करने लगा, तब भी बुद्ध बोले—गिरा दो इसे। उसे भी गिरा दिया। वह अवाक् देखता रह गया। बुद्ध फिर उसी क्षण बोले। इसे भी गिरा दो। वह बोला—भगवन्! अब कुछ नहीं है मेरे हाथ में। बुद्ध ने मन्द मुस्कान के साथ कहा—भले आदमी! मैंने कब इन्हें गिराने के लिए कहा? मेरा संकेत था, अहंकार की ओर। तू धनी है। धन का अहं जो बोल रहा था, उसे गिराने की बात है।

बाहुबलि का इतिहास स्पष्ट है। सब कुछ त्यागकर भी उन्होंने अहं को बचा लिया था। एक वर्ष तक वे प्रतिमा की तरह निश्चेष्ट शांत खड़े रहे। बड़ा दुर्धर्ष तप था। किन्तु अहंकार के कारण वे स्वयं से दूर थे। अहंकार का उपनयन नहीं किया। जैसे ही 'अहं' का भान हुआ और अपने भीतर के इस महान् अविजित शत्रु को देखा तो बाहुबलि को स्वयं पर तरस आया। हा! कैसा विचित्र व्यक्ति हूं मैं! जिसे सबसे पहले छोड़ने का था, मैं पत्थर की तरह उसका भार अब भी ढोये जा रहा हूं। एक क्षण में सर्प जैसे कंचुकी को छोड़ता है, बाहुबलि उससे मुक्त हो गये। अंधकार आलोक में परिवर्तित हो गया।

'मैं'—अहंकार साधना-मार्ग में महान् विघ्न है। महान् साधक स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कहा है, 'अहंकार का त्याग हुए बिना ईश्वर की कृपा नहीं होती।' ईश्वर के घर के दरवाजे के रास्ते में अहंकार रूपी ठूंठ पड़ा हुआ है। इसे पार किये बिना कमरे में प्रवेश नहीं किया जा सकता। अहंकार है इसलिए ईश्वर के दर्शन नहीं होते। कहीं अहंकार न हो जाए, इसलिए 'मैं' का प्रयोग करना भी एक बार किसी के देखा देखी रामकृष्ण ने बन्द कर दिया था। अहंकार बड़ा सूक्ष्म है। साधक अपनी प्रत्येक लघुतम शारीरिक और मानसिक प्रवृत्ति के प्रति अत्यन्त जागरूक रहे तो उसे अनुभव हो सकता है कि कब कैसे अहंकार उठता है? अहंकार के विसर्जन के लिए उसके प्रति सचेष्ट होना पहला चरण है। 'मैं' (अहं) का विसर्जन विनय है. स्वयं को सब तरह से परमात्मा के अवतरण के लिए खाली कर लेना। अहं के शून्य होने से ही मानसिक, वाचिक और कायिक विनय प्रतिफलित हो सकता है। व्यक्ति का रूपान्तरण अन्यथा असंभव है। बाहर से व्यक्ति बड़ा विनम्र बनता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

झुकता है, किन्तु भीतर अहं 'मैं' अकड़ा रहता है। महावीर कहते हैं–'अहंकार को जीते बिना व्यक्ति मृदु–विनम्र नहीं बन सकता।' विनम्रता का अर्थ है–अहं–'मैं' का मिट जाना, शून्य हो जाना। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है–'विनय का वास्तविक अर्थ है–अपने आपको बिल्कुल खाली कर देना, अहं से मुक्त कर देना, केवल अपने स्वरूप की स्थिति में चले जाना, बाहर से जो कुछ भरा हुआ है, उससे मुक्त हो जाना। इतना रेचन करना पड़ता है कि मन खाली हो जाये। विनय की सारी प्रक्रिया रेचन की प्रक्रिया है। विनय में कषाय का विवेक होता है। विवेक का अर्थ है–पृथक् करना। पृथक् करने का अर्थ है–रेचन करना, निकालना। इसी का नाम है 'विनयनम्'। जब तक आदमी खाली नहीं होता तब तक विनय के द्वारा जो समाधि प्राप्त होनी है वह नहीं होती। विनय की चार अपेक्षाएं हैं–

१. गुरु के अनुशासन को सुनना।

२. गुरु जो कहता है उसे स्वीकार करना।

३. गुरु के वचन की आराधना करना।

४. अपने मन को आग्रह से मुक्त करना।

**(३) वैयावृत्य**

वैयावृत्य का अर्थ है–सेवा, शुश्रूषा। गौतम ने महावीर से पूछा–'भंते! सेवा करने से क्या होता है?' महावीर ने कहा–'गौतम! सेवा करने वाला साधक तीर्थंकर गोत्र नाम का उपार्जन कर लेता है।' अस्तित्व–बुद्धत्व की अवस्था को उपलब्ध होकर लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करता है। तपःसाधना विजातीयं तत्त्व से मुक्त करने की साधना है। महावीर ने कहा है–'ऐहिक फल प्राप्ति के लिए तप मत करो, पारलौकिक आकांक्षा रख कर तप मत करो और न यश, प्रतिष्ठा, प्रशंसा के लिए तप करो। तप करो–निर्जरा के लिए। चेतना को आवृत करने वाले कार्मण शरीर को प्रकंपित करने के लिए तप करो।' इससे यह स्पष्ट है कि वैयावृत्य में कोई लिप्सा नहीं रहती। इसने मेरी सेवा की, इसलिए मैं करूं या इसलिए मैं करूं कि जब मुझे जरूरत पड़ेगी, तब यह करेगा, मेरा इसके साथ संबंध है, इसलिए करूं–आदि समस्त विकल्प तथा सकामता वैयावृत्य की विशुद्धता नहीं है। वैयावृत्य ऋण-मुक्ति है। अपने कर्म-मल को शुद्ध करना है। वह पूर्ण निष्काम है। जहां न किसी को अपना बनाने का भाव है और न कोई कामना है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है–'किसी के काम में व्यापृत होना या व्यापार करना ही

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सेवा नहीं है। सेवा का और कुछ रहस्य है। वह रहस्य है–तादात्म्य की स्थापना करना। समग्रता की अनुभूति का प्रयोग है सेवा। दूसरे व्यक्ति के साथ इतना तादात्म्य कर लेना कि उसका दुःख और मेरा दुःख कोई दो चीज न रहे, दोनों एक हो जाये। उसकी अपेक्षा और मेरी अपेक्षा दो न रहे, एक हो जाए। यह जो तादात्म्य की अनुभूति है, समत्व की अनुभूति है, एकत्व की अनुभूति है, यह है सेवा। काम करना और करवाना, यह व्यवहार मात्र है। यह अन्तर् तप कैसे हो सकता है? अन्तर् तप उसमें है कि सेवा करने वाला व्यक्ति, इतना बदल जाता है, उसमें इतनी करुणा आ जाती है, अहं का इतना विसर्जन हो जाता है कि वह यह कभी नहीं मानता कि यह शरीर मेरा है और वह उसका। वह यह कभी नहीं मानता कि यह जरूरत उसकी है और यह मेरी। अभिन्नता की बात सेवा है।

**(४) स्वाध्याय**

स्वाध्याय और ध्यान में सतत अभ्यस्त रहने वाला व्यक्ति पुरातन कर्म-मल को दूर कर देता है, जैसे अग्नि सोने में मिश्रित मल को। इस आर्षवाणी से स्वाध्याय का महत्त्व जाना जा सकता है। तपोयोग में स्वाध्याय का स्थान ध्यान से पूर्व है। स्वाध्याय ध्यान का द्वार है। बीज बोने से पूर्व जैसे खेत को उपयुक्त बनाया जाता है, स्वाध्याय ध्यान के बीज-वपन का आधार है। स्वाध्याय से वृत्तियां शांत हो जाती हैं, चित्त का भटकाव कम हो जाता है, साधक अपने अंतस्तल में उठने वाली तरंगों से सम्यग् परिचित हो जाता है, तब चित्त का किसी विषय पर स्थिरीकरण या निरोध करना सहज हो जाता है।

स्वाध्याय अन्तर् तप होने के कारण केवल पठन-पाठन, श्रवण तक सीमित नहीं है। वह है सत्य का प्रत्यक्षीकरण। सिर्फ पठन-पाठन करने से सत्य का अनुभव नहीं होता। धर्म केवल विश्वासगम्य नहीं है। वह तो जीवन-बोध की निश्चित दिशा देता है। स्वामी रामकृष्ण ने विवेकानंद से कहा–'मैंने वेदान्त आदि शास्त्र पढ़े नहीं, इसका मुझे खेद नहीं है, किन्तु मैं जानता हूं कि वेदांत का सार है–'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या।' उन्होंने कहा है–'शास्त्र का सार श्रीगुरुमुख से जान लेना चाहिए। शास्त्रों का सार जान लेने के बाद पुस्तकें पढ़ने की क्या आवश्यकता?' महावीर ने कहा है–**'छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए'**–सुखी होने का मंत्र है–'राग को दूर करना और द्वेष का छेदन करना।' राग-द्वेष की ऊर्मियां ही संसार है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्वाध्याय की साधना में संलग्न व्यक्ति अपने भीतर इन तरंगों को बहुत सूक्ष्मेक्षिकया देखता है और वृत्तियों के उद्‌गम-स्थल पर ही इनका निवारण कर शांत और सुखी बनता है।

**(५) ध्यान**

तप और योग के समस्त अंगों में ध्यान प्राण है, जीवन है, आत्मा है। ध्यान के अभाव में समस्त अंग निर्जीव हैं। ध्यान ही उन्हें सजीव बनाता है। ध्यान सत्य के निकट ही नहीं अपितु सत्य की अनुभूति और प्रत्यक्षता को साधक के सामने प्रस्तुत करता है। यथार्थ धर्म ध्यान है। शास्त्रोक्त बातों की प्रत्यक्ष उपलब्धि उसके अभाव में असंभव है। धर्म विषयक विचार, भाषण तथा ग्रंथों का पारायण यथार्थ नहीं है, किन्तु यथार्थ की दिशा में प्रेरित करने के उपाय मात्र हैं। बुद्ध ने बड़ी महत्त्वपूर्ण बात अपने शिष्यों से कही–

**'तुम्हेहि किच्च आतप्पं, अक्खातारो तथागता।**
**पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झाणिनो मारबन्धना॥'**

भिक्षुओ! श्रम तो तुम्हें ही करना है। तथागत सिर्फ उपदेश देने वाले हैं। जो ध्यानी उस पथ पर आरूढ़ होते हैं, वे मार (शैतान) के भय से मुक्त होते हैं।

अब हम ध्यान के संबंध में ध्यान का महत्त्व क्या है? ध्यान क्या है? ध्यान का विषय क्या है? ध्याता, ध्येय आदि विषयों पर विचार करेंगे।

**ध्यान का महत्त्व**

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कहा है–'जितने मत हैं उतने मार्ग हैं, सभी उस मंजिल पर पहुंचते हैं।' ध्यान से विरक्त कोई धर्म नहीं है। सभी धर्मों में ध्यान की मुक्तकण्ठ से स्तवना की है। शरीर में जो महत्त्व मेरुदण्ड का है, धर्म में वही स्थान ध्यान का है। कोई भी योग का अभ्यास करे, ध्यान अनिवार्य है। ध्यान के बिना न नाद-श्रवण किया जा सकता है, न मंत्र साधना, न बिन्दु साधना और न आत्म-साधना हो सकती है। ध्यान को किसी भी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैन परम्परा के महान् साधक अर्हद् दगमाली ने कहा है–

**'सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।**
**सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते॥'**

मनुष्य का सिर काट देने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, वृक्ष के मूल को उखाड़ देने पर धराशायी हो जाता है, वैसे ही ध्यान को छोड़ देने पर धर्म

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

निर्जीव हो जाता है। शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, धर्म में वही स्थान ध्यान का है।

ध्यानाध्ययन में आचार्य जिनभद्रगणि कहते हैं–'मोक्ष के दो मार्ग हैं– संवर और निर्जरा। उनका मार्ग है तप और तप का प्रधान अंग है–ध्यान। इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।'

आचार्य शुभचंद्र और आचार्य हेमचंद्र एक ही स्वर में बोलते हैं– 'कर्मक्षय होने से मोक्ष मिलता है और मोक्ष का साधन सम्यग् ज्ञान है। वह सम्यग् ज्ञान ध्यान के द्वारा लभ्य है। इसलिए ध्यान ही आत्मा के लिए हितकर है।'[1]

अग्नि पुराण में लिखा है–**'न हि ध्यानेन सदृशं, शोधनं पापकर्मणाम्'**– ध्यान के समान पापों की शुद्धि करने वाला अन्य कोई नहीं है। ध्यान संसार का उच्छेद करने वाला है। ध्यान के संबंध में बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं–'शिष्यों के हितैषी शास्ता को अपने शिष्यों पर दया करके जो करना चाहिए वह मैंने कर दिया। अब भिक्षुओ! यह वृक्षों की छाया है, ये एकांत घर हैं, ध्यान करो, प्रमाद मत करो, देखो–पीछे मत पछताना, बस यही हमारा अनुशासन उपदेश है।'[2] महावीर ने अपने शिष्यों को स्थान-स्थान पर ध्यान और कायोत्सर्ग का निर्देश दिया है।

भगवती आराधना में आचार्य लिखते हैं–'जो साधक कषायरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करने में सज्ज हुआ है, उसके लिए ध्यान आयुध है।[3] जैसे रत्नों में वज्ररत्न, सुगंधित पदार्थों में गीशीर्षचन्दन, मणियों में वैडूर्यमणि है वैसे ही साधक के लिए ध्यान है।[4]

ज्ञानसार में कहा है–'पत्थर में सोना और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के परिदृष्ट नहीं होती, वैसे ही ध्यान के बिना आत्मा का दर्शन नहीं होता।

ध्यान की अनिर्वायता इन तथ्यों में स्पष्ट अभिलक्षित होती है।

**ध्याता**–गीता में कहा है–'हजारों मनुष्यों में से कोई एक व्यक्ति सिद्धि के लिए तत्पर होता है और उनमें भी कोई एक मुझे प्राप्त होता है। कबीर की वाणी में है–**'लाखिन मध्य क्या देखे कोटिन मध्य देख।'** लाखों में क्या देखता है, करोड़ों में देख। ध्यान का मार्ग कठिन है–**'सूली ऊपर सेज पिया की।'**

---

१. योगशास्त्र ४।११३।
२. अंगुत्तर निकाय ७।७।१०।
३. भगवती आराधना, गाथा १९९१।
४. भगवती आराधना, गाथा १९९६।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मनुष्य का स्वभाव बहिर्मुखी है। ध्यान अंतर्मुखी है। मन, इन्द्रिय, बुद्धि, वाणी आदि का व्यवहार बाहर की ओर चलता है। भीतर इनके लिए कुछ भी नहीं है जो इन्हें तृप्त कर सके। भीतर वही जाने को उत्सुक होता है, जो इनसे तृप्त हो जाता है। वह स्व और पर जीवन के अनुभव से देख लेता है कि बाहर कुछ मिला नहीं, न मुझे मिला और न औरों को मिला है। जो सत्य एक पर घटित होता है वह सार्वत्रिक घटित होता है। अनुभव के बिना उसका यथार्थ बोध नहीं होता। दुःख अतृप्ति ही लाती है। पदार्थों के साथ यह सत्य है कि वह अतृप्ति कभी शांत नहीं होती। कहते हैं–सिकन्दर जब भारत आ रहा था तो किसी ने कहा–वहां एक अमृत कुण्ड है, जिसमें अवश्य नहाकर आना। सिकन्दर को यह याद रहा। अपने अनुचरों से कहा–खोजो, उस अमृत कुण्ड को। जैसे-जैसे पता चल गया। सिकन्दर आया, स्नान करने सीढ़ियों से उतरने लगा तब एक कौवे ने कहा–सिकन्दर मत नहा। देख मैं पछता रहा हूं। सिर फोड़ रहा हूं, चाहता हूं मौत आ जाय, किन्तु आ नहीं रही है। तू भी पछतायेगा। जीवन में दुःख ही दुःख है। सिकन्दर चौंका और सोचने लगा। देखा, कौआ सत्य कह रहा है। वासना कभी तृप्त नहीं होती। वह उन्हीं पैरों वापिस आ गया।

ध्यान के पथ पर वही आरूढ़ हो सकता है जिसने सम्यक् जान लिया कि यहां कोई सार नहीं है। जो सार है उसे खोजो। सार–सत्य को जानने की जिसमें अभीप्सा जागृत होती है, वही ध्याता हो सकता है। आचार्यश्री तुलसी ने मनोनुशासनम् में कहा है–**'स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता'**–जो अपने स्वरूप को (मैं कौन हूं) जानना चाहता है, वह ध्याता होता है। संसार की असारता का, पीड़ा का बोध विरक्ति लाता है, और विरक्त व्यक्ति शक्ति की खोज में निकलता है। जहां विरक्ति न हो और कोई विशेष घटना की अभिप्रेरणा न हो, वहां सामान्यतया इस महान् दुराध्य पथ पर अग्रसर होना कठिन है। कुछ लोग किसी विशेष उपलब्धि के लिए कौतूहल वश निकल पड़ते हैं किन्तु वे मंजिल तक नहीं पहुंच सकते। मंजिल पर वे ही पहुंच पाते हैं, जो साध्य के सिवाय और कुछ भी नहीं देखते, मध्य में नहीं रुकते।

स्वामी रामकृष्ण ने विवेकानंद से कहा–नरेन्द्र! मेरे पास अणिमा आदि आठ सिद्धियां हैं। मेरे जैसे व्यक्ति के लिए उनकी कोई जरूरत नहीं। आज तक उनका कोई उपयोग नहीं किया। मैं चाहता हूं वे तुझे दे दूं। तेरे काम आयेगी। विवेकानंद ने पूछा–क्या ईश्वर-प्राप्ति में वे सहयोगी हैं? कहा–नहीं। विवेकानंद ने कहा–तब मुझे नहीं चाहिए। पहले ईश्वर-प्राप्ति, उसके बाद जरूरत होगी तो वे स्वयं ले लेंगे।' सिद्धियों का प्रलोभन कोई कम लोभ नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। सिद्धियों या चमत्कारों की बात इस तथ्य की सूचना है कि साधक में स्वरूप की जिज्ञासा नहीं है, स्थूल वैभव के आकर्षण को छोड़ वह सूक्ष्म में आसक्त है। आसक्ति बंधन है, संसार है। ध्याता का पहला गुण है—मुमुक्षा, मुक्त होने का तीव्र भाव। मुमुक्षा के अभाव में ध्यान का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। दुःख-मुक्ति, पूर्ण स्वातन्त्र्य ध्यान का कार्य है। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा—भिक्षुओ! दूसरे प्रश्नों में मत उलझो, दुःख से मुक्त होना क्या कम है? उस तीर लगे व्यक्ति की तरह व्यर्थ मूर्खता नहीं करना। किसी व्यक्ति के शरीर में तीर लग गया। कराह रहा है। कोई आदमी निकालने के लिए आया, तब कहा—ठहरो, पहले, मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दो। यह तीर किस दिशा से आया है? किसने बनाया है? किसका है? विषयुक्त है या निर्विष? वह समझदार था। उसने कहा—भले आदमी! ये प्रश्न पीछे भी पूछे जा सकते हैं। पहले इस निकलवा लो।

मुमुक्षा के साथ-साथ स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**—दुर्बल व्यक्ति आत्मा को उपलब्ध नहीं हो सकता। महावीर ने कहा है—**'सरीरमाहु नाव त्ति'**—संसार-सागर को पार करना है तो जीर्ण-शीर्ण नौका से काम नहीं चल सकता। नाव मजबूत चाहिए। शरीर नाव है। जितेन्द्रियता, शान्तचित्तता, स्थिरासन, मनोजयत्व आदि गुण भी ध्याता के लिए अनिवार्य है।

गृहस्थ या मुनि, कोई भी व्यक्ति हो यदि उपरोक्त गुणों से सम्पन्न न हो तो ध्यान का मार्ग उसके लिए अशक्य है। स्वामी रामकृष्ण ने अपने गहरे अनुभवों से कहा है—गृहस्थ में रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति करना कठिन है। ईश्वर की प्राप्ति के बाद कहीं भी रहा जा सकता है, कोई कठिनाई पैदा नहीं होती। प्रारंभ में तो समय-समय पर महीने, दो महीने, छह महीने, वर्षभर उसे सर्वथा गृहस्थ जीवन से मुक्त होकर एकांत में तीव्र भावना के साथ ईश्वर को पुकारना चाहिए।

जीसस ने कहा है—**'द्वार खटखटाओ, अवश्य खुलेगा।'** 'ईश्वर पुकार सुनेगा। आचार्य शुभचंद्र ने गृहस्थ जीवन में विशिष्ट ध्यान की संभाव्यता का बड़े सचोट शब्दों में निषेध किया है। वे कहते हैं—'आकाश में पुष्प और गधे के सींग की किसी तरह संभाव्यता स्वीकार की जा सकती है, किन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि किसी भी देश तथा काल में संभव नहीं है।' इसके अनेक कारण प्रस्तुत किए हैं—

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

(१) सतत स्त्रियों का सम्पर्क रहता है।

(२) व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में वर्तता है।

(३) आजीविका आदि की चिंता रहती है।

(४) प्रमाद—जागरूकता का अभाव है।

(५) मोह-ममत्व से घिरा रहता है।

(६) जीवन क्लेश और कष्ट-बहुल होता है।

**ध्यान और मुनि**

साधक इस संकल्प साधना पथ पर अग्रसर होता है—

**'अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि।**
**अन्नाणं परियाणामि, नाणं उपसंपज्जामि।**
**अबंभं परियाणामि, बंभं उपसंपज्जामि।'**

मैं साधना के प्रतिकूल मार्ग को छोड़ता हूं और सम्यक् मार्ग की संपदा स्वीकार करता हूं। मैं अज्ञान से विरत होता हूं और सम्यक् ज्ञान की आराधना में प्रस्तुत होता हूं। मैं बहिर्भाव को त्यागता हूं और स्वभाव की साधना में प्रवृत्त होता हूं।

इन संकल्पों की सतत स्मृति और तदनुरूप प्रवर्तन ही ध्यान की सिद्धि में उपादेय है। जब साधक स्वभाव से मुंहमोड़, पुनः परभाव की ओर उन्मुख हो जाता है, तब ध्यान का अंकुर मुरझा जाता है, सूख जाता है और जल जाता है। इसके साथ उसकी समस्त वृत्तियां लक्ष्य से विमुख हो जाती हैं। आचार्य शुभचंद्र ने उन्हें आड़े हाथों लिया है। वे कहते हैं—'वह यति-मुनि कैसे ध्यान-सोपान पर आरूढ़ हो सकता है जिसके जो कर्म में है, वह वचन में नहीं है और जो वचन में है, वह मन में नहीं है। जिसकी कथनी, करनी और चिंतन में एकरूपता नहीं है।' 'जो बाह्य परिग्रह को छोड़कर भी विविध परिग्रह में जुड़े रहते हैं, संयम में अधीर हैं तथा कीर्ति, पूजा और अहंकार में आसक्त हैं, लोकरंजन में कुशल हैं, सद्ज्ञानचक्षु विलुप्त हो गया है वे कैसे ध्यान में योग्य हो सकते हैं।' इसके साथ-साथ जो यह कहते हैं कि यह दुःषम-काल है। इस समय ध्यान की योग्यता कहां है? वे ध्यान का अपकर्ष करते हैं। जो भोग से विरत, ज्ञानशून्य चित्तवाले, तथा करुणार्द्रहृदय नहीं हैं, वे ध्यान में सक्षम नहीं हो सकते। वे ही साधक अपने ध्यान की प्राप्ति में सफल होते हैं जो अपने लक्ष्य, निष्ठा और मुमुक्षावृत्ति से विमुख नहीं होते तथा उसे विस्मृत नहीं करते।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पातञ्जल योगदर्शन में धारणा और समाधि को अलग स्थान दिया है। जैन परम्परा में वे दोनों ध्यान के अंतर्गत हैं। धारणा ध्यान का प्राथमिक चरण है और समाधि अंतिम। ध्यान मध्य में है। ध्यान का ही प्रकृष्ट रूप समाधि है। ध्यान को समझ लेने पर यह अविज्ञात नहीं रहेगा। चित्त को किसी एक स्थान पर केन्द्रित करना धारणा है। उसी में लंबे समय तक टिका रहना ध्यान है और समाधि है, अपने स्वरूप के सिवाय किसी अन्य का अवभास नहीं होना। जैनाचार्यों ने ध्यान के संबंध में कहा है–**'एकाग्रचिन्तायोगनिरोधो वा ध्यानम्'**–किसी एक ही विषय का चिंतन, एक विषय पर स्थिरीकरण और योग (काय, वाणी तथा मन के समस्त व्यापारों) का निरोध करना ध्यान है। समग्र प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध ध्यान का उत्कृष्टतम रूप है। वहां शुद्ध चैतन्य– अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। सीधा इसमें प्रवेश सर्वसाधारण के लिए असहज है। ध्येय यही है। किन्तु यहां तक पहुंचने के लिए मन को पहले धारणा–एकाग्रचिंतन के द्वारा तदनुरूप बनाना आवश्यक है। धारणा ध्यान की सहयोगिनी है। इसे सालम्बन या व्यावहारिक ध्यान कहा जा सकता है। निरावलंबन ध्यान पारमार्थिक है। जिसमें ध्येय परमात्मा रहता है। आचार्य जिनभद्र के अनुसार स्थिर चेतना ध्यान और जल चेतना चित्त कहलाता है–

**'जं थिरमज्झवसाण तं झाणं, जं चलं तयं चित्तं।'**

आचार्य रामसेन के विचार से एक आलंबन पर अंतःकरण की वृत्ति का निरोध ध्यान है। उसी प्रकार चिंतन रहित केवल स्व-संवेदन भी ध्यान है–

**'अभावो वा निरोधः स्यात्, स च चित्तान्तरव्ययः।**
**एकश्चिन्तात्मको यद् वा, स्वसंविच्चिन्ततोज्झिता॥'**

आचार्य महाप्रज्ञजी ने लिखा है–'जैन आचार्य ध्यान को अभावात्मक नहीं मानते। इसके लिए किसी न किसी एक पर्याय का आलंबन आवश्यक है। स्व-संवदेन ध्यान को निरालंबन ध्यान कहा जाता है किंतु यह सापेक्ष शब्द है। इसमें किसी श्रुत के पर्याय का आलम्बन नहीं होता–इस दृष्टि से यह निरालंबन है। निरालंबन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न नहीं होते। उसमें शुद्ध चेतना का ही उपयोग होता है। सालंबन ध्यान में ध्येय और ध्याता का भेद होता है। जैन साधकों का यह अनुभव है कि प्रारंभ में सालंबन ध्यान करना चाहिए।

सालंबन और निरालंबन ध्यान को समझने से पूर्व हमें यह जान लेना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चाहिए कि ध्यान प्रशस्त भी होता है और अप्रशस्त भी, शुभ भी होता है और अशुभ भी। यह महावीर की अपनी विशिष्ट देन है। ध्यान प्राणीमात्र में होता है। मनुष्य उसकी अभिव्यक्ति का मुख्य केन्द्र है, जिसमें ध्यान की सर्वोच्च योग्यता है। परमात्मा का द्वार यदि किसी के लिए खुला है तो वह मात्र मानव के लिए है। ध्यान उसका अनन्यतम साधन है। मनुष्येतर प्राणियों में ध्यान की परमोच्चता संभव नहीं है और ध्यान का अप्रशस्तरूप भी इतना स्पष्ट अभिव्यक्त नहीं होता। यहां ध्यान से प्रशस्त-शुभ ध्यान का अभिप्रायः है। लेकिन अप्रशस्त-अशुभ भी ज्ञेय है। अप्रशस्त का त्याग प्रशस्त को स्वतः उजागर कर देता है।

अप्रशस्त–अशुभ ध्यान दो हैं–आर्त्त और रौद्र। आर्त्त का अर्थ है–दुःखित होना। चेतना की बहिर्गामी प्रवृत्ति दुःख उत्पन्न करती है। प्राणियों का बाहर से सम्बन्धित होना दुःख है। ये दोनों अज्ञान-जनित हैं। अज्ञान के कारण ही प्राणी दूसरों को स्व मानते हैं। वियोग और संयोग से प्रसन्न तथा अप्रसन्न बनते हैं। जब जीवन पर-निर्भर हो तब अशांति न हो यह कैसे शक्य हो सकता है? आर्त्त ध्यान के कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है–

(१) प्रिय वस्तु के वियोग से होने वाला मानसिक कष्ट।

(२) अप्रिय वस्तु के संयोग से उत्पन्न चित्त कदर्थन।

(३) रोग-शमन की आकांक्षा।

(३) ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों की लोलुपता।

साधारण तथा व्यक्त या अव्यक्त रूप से समस्त प्राणी-जगत् में इनका दर्शन होता है। वशिष्ठ जैसे ऋषि भी पुत्र-शोक में विह्वल हो जाते हैं। लक्ष्मण ने यह देखकर राम से पूछा–वशिष्ठ को कैसे शोक है? राम कहते हैं–लक्ष्मण इसमें क्या आश्चर्य है? जिसे ज्ञान है उसे अज्ञान भी है। तुम ज्ञान और अज्ञान दोनों के पार जाओ। कांटे से कांटा निकाला जाता है और फिर दोनों को फेंक दिया जाता है। प्रिय-वियोग की यह स्थिति है, वैसे ही अप्रिय-संयोग की है। जो हम नहीं चाहते उसका मिलन भी विषाद उत्पन्न करता है। रोग जीवैषणा पर प्रहार है, अप्रिय है। उसे भी समत्वपूर्वक सहना कठिन है। बड़े-बड़े व्यक्तियों का धैर्य विचलित हो जाता है। विषयों के आकर्षण और विकर्षण–यह चाहिए और यह नहीं चाहिए की व्यथा भी क्या कम है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**रौद्र ध्यान**

रौद्र शब्द का अर्थ है—क्रूरता। जिसका आशय—चित्त क्रूर होता है, जो प्रतिशोध का भाव रखता है, हिंसा की भाव-धारा सतत बहती रहती है, दूसरों को गिराने, कुचलने में जिसे रस रहता है। असत्य, चोरी, संग्रह, दूसरों को ठगने में जो कुशल होता है, वह रौद्र ध्यान का अधिकारी है। इसमें चित्त की भयंकर विलक्षणता रहती है। मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए क्या अकार्य आज नहीं करता? आजीविका के लिए जिन अनैतिक कार्यों की बात सुनते हैं, पढ़ते हैं वह सब धनलिप्सा का क्रूरतम परिणाम है। इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता को बनाये रखने के लिए, तथा उसे समाप्त करने के लिए अनवरत चिंतन और निकृष्टतम उपायों का प्रयोग क्या चित्त की कलुषता के द्योतक नहीं हैं?

असत्य के लिए हिटलर प्रसिद्ध है, जिसने एक सूत्र का प्रयोग किया और कहा—'एक झूठ को बार-बार दोहराने से वह भी सत्य जैसा प्रतीत होने लगता है।' झूठ कैसे बोलना? हिंसा कैसे करनी? चोरी का आयोजन कैसे करना? आदि-आदि प्रवृत्तियों में जो चिंतन, एकाग्रता है वह सब रौद्र ध्यान का परिणाम है। इनमें परिणामों की क्लिष्टता अनवरत चलती रहती है। वह शांत नहीं होती। एक पिता मरणासन्न था। पुत्र पास खड़े थे। उसने कहा बस एक इच्छा है। क्या तुम उसे पूरी करोगे? वचन दो। पिता की प्रवृत्ति से सब परिचित थे। सब मौन खड़े रहे। सबसे छोटे पुत्र ने कहा—पिताजी, कहिए, मैं पालन करूंगा। पिता ने कहा—मेरे मरने पर शरीर के टुकड़े कर थाने में सूचना देना कि अमुक पड़ोसी ने मेरे पिता को जीवित अवस्था में शांति से नहीं रहने दिया और मरने पर भी उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

स्वभाव की खोज में उत्सुक साधक को इन दोनों असद् ध्यानों से सतत सावधान रहना चाहिए। उसे यह जान लेना चाहिए कि ये आत्म-प्रगति में किसी तरह साधक नहीं, बाधक हैं। अपनी वृत्तियों पर सतत प्रहरी बनकर निरीक्षण करते रहना साधक का परम धर्म है। जैसे विचार करते हो वैसा ही बन जाते हो। विश्व का नियम है, जो जैसा सोचता है, करता है, बोलता है वह सब लौटकर पुनः उसमें ही प्रविष्ट हो जाता है। सब गति वर्तुलाकार है। इसलिए सन्तों ने सब तरह से मनुष्य को सावधान करने का प्रयास किया है। तुम अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम अपनी क्रिया के प्रति जागरूक बनो। ऐसा कोई आचरण, व्यवहार मत करो जो अंततः तुम्हारी ही गर्दन काटने वाला हो।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रशस्त ध्यान है–धर्म और शुक्ल। अप्रशस्त से मुक्त होने का अर्थ है प्रशस्त का द्वार खोलना। प्रशस्त खुला है, अनावृत है। आवरण है तो अप्रशस्त का है। जैसे ही व्यक्ति उसे छोड़ता है, प्रशस्त प्रगट हो जाता है। अप्रशस्तता अस्वाभाविक है, वह आगन्तुक है। अतिथि नियतवास कैसे कर सकता है? किन्तु यह सब सम्भव है जब हमें यह पता हो कि यह अतिथि है या शरण्य है। हम यदि उसे अपना ही मान लेते हैं तब असंभव है। प्रशस्त सहज है, स्वाभाविक है स्वास्थ्य की भांति।

अपने घर में आना धर्म है। यात्रा का मुख स्रोत के अभिमुख होता है तब केन्द्र पर पहुंचा जाता है। चेतना का चेतना में लौट आना धर्म का परम पवित्र और सर्वोत्तम पद है। **'अप्पा अप्पम्मि रओ'**–आत्मा में रमण करना–यह शुक्ल-ध्यान का अंतिम चरण है। यात्रा की यहां समाप्ति हो जाती है। किन्तु यह सहज प्राप्य नहीं है। इसलिए आचार्यों ने कहा–साधक स्थूल से सूक्ष्म और अलक्ष्य से लक्ष्य की दिशा में अग्रसर हो, सालंबन और निरालंबन के विभाजन का यही कारण है।

सालम्ब ध्यान में ध्याता और ध्येय का द्वैत बना रहता है। जो आलंबन है ध्याता उस पर अपने चित्त को एकाग्र करता है। विकेन्द्रित मन को सब ओर से समेट कर एक दिशामुखी बना लेना ही इसका कार्य है। जब मन इसमें निष्णात हो जाता है तब निर्विचार, विचारशून्य–अमन No Miud की दिशा में कठिनाई नहीं होती। इसलिए इसका पूर्वाभ्यास सामान्य साधकों की स्थिति को दृष्टिगत रखकर उपयोगी समझा है। इनके अनेक भेद हो सकते हैं। साधारण तथा ध्यान-साधकों ने ध्यान को चार भागों में विभक्त किया है–

(१) पिण्डस्थ ध्यान (३) रूपस्थ ध्यान

(२) पदस्थ ध्यान (४) रूपातीत ध्यान

**(१) पिण्डस्थ ध्यान**

पिंड का अर्थ है–शरीर। शरीर के विविध अवयवों को केन्द्र बनाकर चित्त को एकाग्र करना पिंडस्थ ध्यान है। पिण्डस्थ–पिंड में स्थित होना। शरीर बहुत स्थूल है। शरीर से हमारा परिचय भी बहुत है और यह भी कहा जा सकता है, बहुत कम लोग शरीर से सम्यक् परिचित होंगे। शरीरशास्त्रियों से भी वह अब तक पूर्णतया विज्ञात नहीं हुआ है और हो सकेगा इसमें भी संदेह है। योगियों ने अपने आंतरिक स्थिरीकरण और अनुभवों से जैसा उसे जाना है वह उन लोगों के लिए अति आश्चर्यजनक है। किन्तु हमें यहां स्थूल और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सूक्ष्म विज्ञात और अविज्ञात दोनों ही आलंबनो और उसके परिणामों पर ध्यान देना है। स्थूल दृष्टि से केन्द्रीकरण के माध्यम हैं (१) सिर (२) भ्रू (३) तालु (४) ललाट (५) मुंह (६) नेत्र (७) कान (८) नासाग्र (९) हृदय (१०) नाभि। कुछ अन्य स्थानों का निर्देश भी मिलता है जैसे कंठकूप, जिह्वाग्र, जिह्वामूल जिह्वामध्य, 'त' के उच्चारण का स्थान मेरुदंड आदि।

शरीर के इन स्थानों में चेतना की विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। एकाग्रता से उनका जागरण होता है। ये चैतन्य-केन्द्र हैं। योग में जो षट् चक्र का उल्लेख है वे विशिष्ट चेतना-केन्द्र हैं। ये चक्र स्थूल शरीर में नहीं, किन्तु सूक्ष्म शरीर में है। मूलाधार चक्र सबसे निम्न है और सहस्रार सबसे ऊपर। शक्ति का प्रवाह मूलाधार में केन्द्रित है। कुंडलिनी शक्ति यहीं विराजमान है। यह सुषुप्त है। साधना का व्यक्त या अव्यक्त कार्य इस महाशक्ति को सहस्रार में ले जाने का है। यह नीचे से जब ऊपर की ओर उठती है तब एक-एक चक्र में से होकर प्रवाहित होती है। अनुभवी साधकों ने इसका कहीं-कहीं कुछ वर्णन किया है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने भी इसकी चर्चा की है। उनका कहना है कि कुंडलिनी के जागृत हुए बिना चेतना नहीं आती। कुंडलिनी को चेतन करना आवश्यक है। जब यह चक्रों के मध्य से होकर ऊपर जाती है, तब जो अनुभव होता है, वह इस प्रकार है—'मनुष्य के मन की स्वाभाविक गति नीचे की तीन भूमिकाओं (गुह्य, लिंग और नाभि) में रहती है। जिससे वह भोग-विलास, खाने-पीने आदि की वृत्तियों से ऊपर नहीं उठ पाता। मन इन तीनों भूमिकाओं को पार कर हृदय-भूमि तक आ जाए तो उसे ज्योति-दर्शन होता है। परन्तु यहां से भी पुनः नीचे आने की संभावना रहती है। हृदय सें ऊपर विशुद्धिचक्र तक यदि मन की गति हो जाए तो उसे ईश्वरीय विषय की चर्चा के सिवाय दूसरी बातों में रस नहीं आता। उस समय कोई अन्य इच्छा नहीं रहती। विषयी लोगों के देखते ही डर से छिप कर बैठ जाता है। सम्बन्धी जनों से भी मिलने का मन नहीं होता। उनको देखते ही दम घुटने लग जाता था। कुंडलिनी कंठचक्र तक जाने के बाद भी नीचे की भूमि पर उतरने की संभावना बनी रहती है। साधक को इस समय सावधान रहना चाहिए। कंठचक्र को छोड़कर यदि एक बार भृकुटी—आज्ञाचक्र तक आ जाए तब फिर पतन होने का भय नहीं रहता। वहां पर परमात्मा का दर्शन होकर निरन्तर समाधि-सुख की प्राप्ति होती है। उस भूमि और सहस्रार के मध्य में केवल एक कांच के समान पारदर्शक पर्दा मात्र रहता है। वहां परमात्मा इतने समीप रहता है कि हम परमात्मा के साथ एक रूप से प्रतीत होते हैं, किन्तु

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एकत्व प्राप्त नहीं होता है। यहां से यदि मन नीचे उतरे तो कंठ या हृदय से भी नीचे नहीं उतरता। इक्कीस दिन तक निरन्तर समाधि अवस्था में रहने से यह पर्दा सर्वथा नष्ट हो जाता है, और जीवात्मा परमात्मा के साथ एक रूप हो जाता है। यह सहस्रार कमल ही सप्तम भूमि है।'[1]

इससे हम सहज अंकन कर सकते हैं कि साधना द्वारा व्यक्ति कैसे अपना संपूर्ण विकास साध लेता है। यह शक्ति सबमें है। किन्तु अधिकांश व्यक्ति नीचे की स्थिति में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। ऊर्जा का केन्द्र मूलाधार चक्र सुप्त का सुप्त रह जाता है। शक्ति से परिपूर्ण होकर मनुष्य का अवतरण होता है और वह खाली होकर शक्ति शून्य होकर पुनः जन्म लेने के लिए चल पड़ता है। ऊर्जा का व्यय व्यर्थ के कार्यों में कर सार्थक से वंचित रह जाता है। साधना का अर्थ है—ऊर्जा का सम्यक् उपयोग करना। वह बाहर के अर्थहीन भोग-विलास, घृणा, हिंसा, क्रोध, अहंकार आदि में शक्ति को योजित न होने देकर निर्माण में योजित करती है, मूलाधार से सहस्रार में स्थापित कर देती है। चक्रों पर ध्यान का यही उद्देश्य है। पिंडस्थ के प्रयोग नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो साधकों द्वारा निर्दिष्ट हैं—

(१) मूलाधार चक्र भगाकृति है। इस चक्र में स्वयंभूलिङ्ग में तेजोरूपा कुंडलिनी-शक्ति साढ़े तीन फेरे लपेटे हुए अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्मयी-शक्ति का जीव रूप में ध्यान करने से चित्त लय होता है, एवं मुक्ति मिल जाती है।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र को अवालांकुर जैसे उड्डीयान नामक पीठ (आसन) पर कुण्डलिनी शक्ति का चिंतन करने से भी मनोलय होगा एवं जगत् के आकर्षण की शक्ति आयेगी।

(३) मणिपुर चक्र में पांच फेरे लगाए बिजली जैसे रंग की चित्स्वरूपा भुजंगी शक्ति का ध्यान करने से अवश्य ही साधक सर्वसिद्धि पाता है।

(४) अनाहत चक्र में ज्योति-स्वरूप हंस का ध्यान करने से भी चित्त हो जाता है एवं जगत् वशीभूत होता है।

(५) विशुद्ध चक्र में निर्मल ज्योति का ध्यान करने से सर्व सिद्धियां मिलती हैं।

(६) तालुमूल के ललना चक्र को घण्टिका स्थान और दशम द्वार-मार्ग

---

१. श्रीरामकृष्ण, लीलामृत भाग २, पृष्ठ ३११,३१२।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कहते हैं। इस चक्र पर ध्यान लगाने से मुक्ति मिलती है।

(७) आज्ञाचक्र में वर्तुलाकार ज्योति का ध्यान करने से साधक मोक्ष पद पाता है।

(८) ब्रह्मरन्ध्र में अष्टम चक्र स्थित सूई की नोक जैसा धूम्राकार जालन्धर नामक स्थान पर ध्यान द्वारा चित्तलय करने से निर्वाण पद मिलता है।

(९) सोम-चक्र में पूर्ण सच्चिद्रूपा अर्द्धशक्ति का ध्यान करने से मनोलय होता है। एवं मोक्षपद लाभ होता है।

(१०) परम-आनंद के साथ अपने हृदय के बीच में इष्ट देवता की मूर्ति का ध्यान करने से साधक आत्मलीन हो जाता है।

(११) एकान्त में शववत् (मुरदे जैसा) चित्त लेट कर एकाग्रचित्त से अपने दाहिने पैर के अंगूठे पर दृष्टि स्थिर करके ध्यान करने से शीघ्र ही चित्तलय होता है। यह चित्तलय करने का प्रधान और सहज उपाय है।

(१२) जीभ को तालुमूल में लगा ऊपर उठाये रखें। इससे चित्त एकाग्र होकर परम पद में लीन हो जाता है।

(१३) नाक के ऊपर दृष्टि रखकर बारह अंगुल पीली या आठ अंगुल लाल वर्ण की ज्योति का ध्यान करने से चित्तलय हो जाता है एवं वायु स्थिर हो जाती है।

(१४) ललाट के ऊपर शरद् के चन्द्र जैसी श्वेत वर्ण-ज्योति का ध्यान करने से मनोलय हो जाता है एवं आयु बढ़ती है।

(१५) देह के बीच में निर्वात निष्कम्प दीपकलिका जैसा अष्ट अंगुल ज्योति का ध्यान करने से जीव मुक्त हो जाता है।

(१६) दोनों भौहों के बीच सूर्य जैसे तेजपुञ्ज का ध्यान करने से ईश्वर का सन्दर्शन मिलता है।

**श्वास**—जिसने आनापान (श्वास) स्मृति का सम्यक् अभ्यास कर लिया है वह व्यक्ति बादलों से मुक्त आकाश में चन्द्रमा की भांति लोक को प्रकाशित करता है। आनापान-स्मृति ध्यान का महत्त्व इससे स्पष्ट होता है। श्वास शरीर का वह भाग है जो निरन्तर स्वेच्छापूर्वक गतिशील रहता है। श्वास के सम्बन्ध में विविध विधियां प्रयुक्त हुई हैं। उन सभी का ध्येय है—अपने चैतन्य में प्रवेश कराना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्वरोदय विज्ञान सारा श्वास पर खड़ा है, जिसे शिवजी कहते हैं– **'ज्ञानानां मस्तके मणिः'**–समस्त ज्ञानों के मस्तिष्क पर यह मणि-सदृश है। 'यह स्वरोदय शास्त्र समग्र शास्त्रों में श्रेष्ठ है। यह आत्मारूपी घड़े को प्रकाशित करने के लिए दीप शिखा की तरह है।' साधारण कार्यों के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। यह तो आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में स्वयं ज्ञेय है, जिसमें साधक श्वास-दर्शन में पूर्णतया जागृत रहता है। श्वास से सुख-दुःख, हानि-लाभ, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य, मृत्यु आदि सभी सूचनाएं प्राप्त होती रहती हैं।

श्वास की साधना में प्रस्तुत साधक श्वास के प्रति जागृत रहता है। वह कहां से आता है, कैसे आता है, देखता है। श्वास के साथ कोई श्रम नहीं करता, सिर्फ देखता है और अपने मन को उसके आवागमन के साथ नियोजित कर देता है, शांति और अशांति के साथ उन दोनों के परिणामों को देखता है, केवल तटस्थ भाव से बिना प्रतिक्रिया किये। उसके सहज जो परिणाम आते हैं, उनकी अनुभूति से वह अपरिचित नहीं रहता। श्वास-दर्शन और उस पर एकाग्रता का पहला स्पष्ट प्रभाव तो यह होता है कि उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, लोभ आदि से उत्पन्न उद्वेग–तनावों का अभाव हो जाएगा। ये सब श्वास की उत्तेजना अशांति में होते हैं। शांत श्वास में इनका अस्तित्व असंभव है। श्वास और वृत्तियों का घनिष्ठतम संबंध है। वृत्तियां चंचलता की द्योतक हैं। जैसे कि वृत्ति उत्पन्न होगी श्वास में परिवर्तन आ जायेगा। वृत्तियों का ज्वार नहीं है भीतर, तो श्वास में भी वैषम्य नहीं है। श्वास को शान्त रखेंगे तो वृत्तियां शांत रहेंगी और वृत्तियों को शांत रखेंगे तो श्वास शांत रहेगा। दोनों का अविनाभावी संबंध है।

श्वास पर चित्त को एकाग्र करने का दूसरा फलितार्थ होता है–शरीर और स्वयं–दोनों के पृथक्त्व का बोध। इसके आगे श्वास की पृथक्ता भी प्रतीत होगी। मैं अलग हूं, संसार अलग है और शरीर अलग है। निरालंबन ध्यान में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भेद-विज्ञान साधना का प्रमुख ध्येय है। शरीर और चेतना के पृथक् बोध के पश्चात् आत्म-ध्यान असहज नहीं होता। यदि हम थोड़ी-सी कुशलता संपादन कर लें तो सभी एकाग्रता के साधनों से यह प्रतिफलित हो सकता है। ध्याता और ध्येय यह द्वैत सबमें उपस्थित रहता है। सिर्फ उस दूरी को देखना है। ध्येय पृथक् है, मैं पृथक् हूं, ध्यान को शनैः शनैः बाहर से हटाकर ध्याता की तरफ ले जाने से क्रमशः वह स्पष्ट होने लगता है और बाहर के ध्येय को छोड़ने में भी कठिनाई नहीं होती। केवल

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बाहर को पकड़कर उसमें ही चित्त को नियोजित करने से वह थोड़ा-सा असाध्य बन जाता है। साधना सिर्फ लक्ष्य को साधने के लिए है। वह मात्र साधना है। साध्य-प्राप्ति के बाद उसे पकड़े रखना बुद्धिमत्ता नहीं होती। किन्तु बाहर की एकाग्रता का आनंद इतना प्रिय हो जाता है तब अन्तर् से योग होना सहज नहीं रहता। ध्येय की च्युति न हो, यह स्मृत रहना चाहिए।

**पदस्थ ध्यान**

पदस्थ ध्यान शब्दानुसारी होता है। उसमें वर्षा, मातृका मंत्र तथा बीजाक्षरों का प्राधान्य रहता है। शब्द के माध्यम से अशब्द में प्रवेश का यह द्वार है। इसलिए योग के अंतर्गत इसकी गणना की गई है। तंत्र साहित्य में वर्ण का बहुत बड़ा महत्त्व है। वहां वर्ण के पर्यायवाची शब्द हैं–माता, शक्तियां, देवियां, रश्मि और कला। प्रत्येक वर्ण शक्तियुक्त है। तंत्रों में उनकी शक्तियों का वर्णन किया है। परात्रिंशिका में सकार को तीसरा ब्रह्म कहा है। 'स' वर्ण के द्वारा संसार स्फुट से प्रकाशित होता है, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में यह उल्लेख है। शब्द और अर्थ में अविनाभावी संबंध है। कालीदास ने शब्द और अर्थ को शिव और पार्वती के रूप में वन्दना की है। शब्दों का संहारक और उन्नायक रूप आज के वैज्ञानिक युग में अस्पष्ट नहीं है। शब्दशक्ति का प्रभाव मनुष्य से लेकर पेड़ पौधे तक काम कर रहा है। पौधे और पशुओं पर होने वाली संगीत-लहरियों के प्रभाव की घटनाएं हमने पढ़ी हैं, सुनी हैं। पशु अधिक मात्रा में दूध देने लगते हैं। पौधों का विकास संवर्द्धन शीघ्र होता है। अशुभ शब्दों का प्रभाव इसके विपरीत होता है।

**रंग**–भारतीय मनीषियों ने रंगों के महत्त्व की भी खोज की है। मातृका-विवेक में अकार के संबंध में कहा है–अकार सर्व देवों वाला है, रक्त वर्ण वाला है, सबको वश करने वाला है। स्पर्श संज्ञा वाले 'क' से 'म' पर्यन्त अक्षर विद्रुम के समान वर्ण वाले हैं। 'य' से 'क्ष' तक के पीत वर्ण वाले हैं। किन्तु एक 'क्ष' अरुण वर्ण का है। कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि सभी वर्ण शुक्ल वर्ण वाले होते है।

**ऋषि और छन्द**–प्रत्येक वर्ण का एक-एक मंत्र माना गया है। इसलिए उसका अलग-अलग ऋषि, छन्द, देवता, शक्ति आदि होने का उल्लेख 'शारदा तिलकतंत्र पदार्थादर्श टीका में है।

**मातृका**–वर्णमाला के समुदित रूप को मातृका कहते हैं। तंत्र के अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। मातृका की महिमा का वर्णन भी कम नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। तंत्र में कहा है–**'न विधा मातृका परा'**–मातृका से परे और कोई विद्या नहीं है। महादेवी के रूप में उसकी वन्दना की गई है। **'मन्त्राणां मातृभूता च, मातृका परमेश्वरी'**–यह मातृका मंत्रों की माता के समान परमेश्वरी है। तंत्र शास्त्रों में मंत्र माता के रूप में सम्मानित है। मातृकाओं के सात या आठ वर्ग का उल्लेख अधिकारी व्यक्तियों ने किया है–अ, क, च, ट, त, प, य, श।

जैन साहित्य में भी मातृकाओं के ध्यान की चर्चा है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है–

**'ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।**
**निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम्॥'**

अनादि सिद्धांत में प्रसिद्ध मातृका–'स्वर और व्यंजन' का चिंतन करें। क्योंकि यह वर्णमातृका संपूर्ण शब्द-विन्यास की जन्मभूमि और विश्ववंदनीय है।

**मातृका ध्यान**

आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है–'मातृका का ध्यान करने वाला पुरुष नाभिमंडल पर स्थित सोलह दल के कमल में प्रत्येक दल पर क्रम से फिरती हुई स्वरावली का अर्थात् 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः–इन स्वरों का चिंतन करे। तत्पश्चात् ध्यानी अपने हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रों के कमल का चिंतन करके उसकी कर्णिका तथा पत्रों में क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे। तत्पश्चात् आठ पत्रों से विभूषित मुख-कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह–इन आठ वर्णों का ध्यान करे![1]

**मातृका ध्यान का फल**

इस प्रकार प्रसिद्ध वर्ण-मातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रम-रहित होकर, श्रुतज्ञान रूपी समुद्र के पार को (उत्तर-तट को) प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान करने वाला मुनि श्रुतकेवली हो सकता है।[2] ध्यान करने वाला पुरुष कमल के पत्र और कर्णिका के मध्य में अनादि संसिद्ध (पूर्वोक्त ४९) अक्षरों का ध्यान करता हुआ कितने ही काल में नष्टादि वस्तु संबंधी ज्ञान को प्राप्त करता है। इस वर्णमातृका के जाप से योगी क्षयरोग,

---

१. ज्ञानार्णव ३८/३,४,५।
२. ज्ञानार्णव ३८/६।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अरुचि, अग्निमंदता कुष्ठ, उदररोग, कास तथा श्वास आदि रोगों को जीतता है और वचनसिद्धता तथा महान् पुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम पुरुषों से प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है।[1]

**मंत्र**

वर्ण, मातृका, बीजाक्षर और मंत्रों की पृथक्-पृथक् रूप में जब हम चर्चा करते हैं तब मंत्र की परिभाषा में कुछ भिन्नता हो जाती है। यों तो सभी वर्ण बीजाक्षर मंत्र हैं, शक्ति सम्पन्न हैं और प्रयोक्ता को अपनी शक्ति का परिचय देते हैं, किन्तु जब मंत्र को पृथक् करते हैं उनकी परिभाषा इस रूप में उपलब्ध होती है–'दस से बीस वर्णों के समूह को मंत्र कहा जाता है।' 'इष्टदेव का अनुग्रहविशेष ही मंत्र कहलाता है। देवता के सूक्ष्म शरीर को ही मंत्र कहते हैं। सर जानुवुडरेफ ने शिव, शक्ति और आत्मा के ऐक्यरूप को मंत्र कहा है। **'चित्तं मंत्रं'**–शिवसूत्र विमर्शिनी में चित्त को मंत्र कहा है। तंत्र में शक्ति को मंत्र कहा गया है–

**'मननात् सर्वभावनां, त्राणात् संसारसागरात्।**
**मन्त्ररूपाहि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी॥**

समस्त भावों के मनन और समस्त जगत् के त्राणस्वरूप होने के कारण वह मंत्र रूप शक्ति ही है।'

मनन और त्राणधर्मात्मक जो वर्णसमुदाय होता है उसे मंत्र कहा गया है। डा. शिवशंकर अवस्थी ने मनन और त्राण की तांत्रिक परिभाषा करते हुए लिखा है–'परनाद या परस्फुरणा का परामर्श ही मनन है, मनन पर शक्ति के महान् वैभव की अनुभूति है–उसके परमैश्वर्य का उपयोग है। अपूर्णता अथवा संकोचमय भेदात्मक संसार के प्रशमन को रक्षा अथवा त्राण कहते हैं। इस प्रकार शक्ति के वैभव या विकासदशा में मननयुक्त तथा संकोच या सांसारिक अवस्था में त्राणमयी विश्वरूप विकल्प को कवलित कर लेने वाली अनुभूति ही मंत्र है।'

मंत्रों के स्वल्पाक्षरों की असीमित शक्ति का रहस्य अब स्पष्ट है। प्रत्येक शब्द अपनी ध्वनि से प्रकंपन पैदा करता है और उन प्रकंपनों से जगत् प्रभावित होता है। वह शक्ति निर्माणात्मक और विध्वंसात्मक दोनों रूपों में विद्यमान है। यह प्रयोक्ता पर निर्भर है कि वह कैसा प्रयोग करता है। विद्वेष, उच्चाटन, वशीकरण सम्मोहात्मक आदि सभी प्रकार की शक्तियां शब्दों में

१. ज्ञानार्णव ३८/६ के अंतर्गत श्लोक।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

निहित हैं और यह भी स्पष्ट है कि जो शब्दशक्ति के द्वारा दूसरों का अहित तथा अनिष्ट करता है, अंततोगत्वा वह स्वयं के महापतन का पथ तैयार करता है। इसलिए प्रशस्त साधकों को इनसे बचने की सूचना सर्वप्रथम दी जाती है। मानसिक पवित्रता साधना की आधारभूमि है। इसके अभाव में जीवन की उलझनें न्यून नहीं होतीं और साधक के उत्पथ पर जाने की संभावना भी नकारी नहीं जाती।

मंत्र-ग्रहण के लिए यह भी आवश्यक है कि वह किसी मंत्र-विशेषज्ञ गुरु के द्वारा प्रदत्त होना चाहिए। मंत्र के चुनाव में अनेक शत्रु, मित्र आदि तथ्यों का दर्शन किया जाता है, अन्यथा वह सफल नहीं होता। कुछ मंत्र जैसे–'सोहं, ॐ,' नमस्कार मंत्र आदि अपवाद होते हैं। वे सभी के लिए ग्राह्य हैं। किन्तु उनकी सम्यक् विधि और प्रयोग का प्रशिक्षण अपेक्षित है। सम्यक् प्रशिक्षण के अभाव में भी मंत्र का कार्य असफल देखा जाता है।

**मंत्र और योग**–मंत्र और योग परस्पर संबंधित है। योग चित्तवृत्ति का निरोध तथा एकाग्रता है। एकाग्रता के बिना मंत्र का उच्चारण व्यर्थ चला जाता है। कबीर ने कहा है–

**माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख मांय।**
**मनुवा तो दस दिशि फिरे, यह तो सुमिरण नांय॥**

मंत्र-जप के साथ मानसिक एकाग्रता, श्रद्धा, दृढ़निष्ठा, पवित्रता, शुभ-भावना, उच्चारण का सम्यक् ज्ञान आदि तथ्य नितांत विज्ञेय हैं।

फ्रांस की महिला वैज्ञानिक 'फिनलांग' ने शब्द-विज्ञान पर अद्भुत परीक्षण किया और वह इस परिणाम पर पहुंची कि शब्दों के साथ भावों का गहन संबंध है। हृदय शब्द का प्रतिबिंब है। 'फिनलांग' ने अपने लिए एक वीणा स्वयं तैयार की और नीचे की ओर तारों के साथ एक चाक का टुकड़ा बांध दिया। चाक को एक बोर्ड पर लगा दिया गया। वीणा को बजाने से चाक हिलने लगा और बोर्ड पर कुछ अस्पष्ट रेखाएं खिंच गईं। उसने अनुभव किया कि जिस तरह गाना गाया जाता है और साज बजता है, उसी तरह की आकृतियां बोर्ड पर बन जाती हैं। एक बार उसने रोमन केथोलिक मत के अनुयायी को अपना धार्मिक गीत गाने का निमंत्रण दिया। उसके गाने से बोर्ड पर एक स्त्री की गोद में बालक का चित्र खिंच गया। स्त्री मरियम और बालक ईसा था। गीत में प्रभु ईसा की स्तुति की गई थी। उसे इस पर भी संतोष नहीं हुआ। उसने वहां पढ़ रहे एक भारतीय विद्यार्थी को बुलाया और संस्कृत मंत्रों

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के उच्चारण की प्रार्थना की। विद्यार्थी ने कालभैरवाष्टक के स्तोत्र का गान किया। इससे एक भयंकर मूर्ति और कुत्ते की रेखाएं अंकित हो गई। स्तोत्र में व्यक्त भावना के अनुरूप ही आकृति बन गई। इससे वह इस निर्णय पर पहुंची कि शब्दों का भावों से गहन संबंध होता है और उन पर शब्दों का विशेष प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि मंत्रों द्वारा हृदय और मस्तिष्क विशेष रूप से प्रभावित होते हैं और उनके जप और पाठ से मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का उद्भव होता है।

ध्वनि-विज्ञान के विशारद वैज्ञानिकों ने ध्वनि के आधार पर अनेक आश्चर्यजनक प्रयोग किए हैं। ध्वनि के माध्यम से अनेक व्यक्तियों को असाध्य रोग से मुक्त किया है, सफल ऑपरेशन किया है, हीरे को काटा है। यौगिक ग्रंथियों का जागरण और प्राणों का जागरण भी मंत्र द्वारा किया जा सकता है। इस ध्वनि का मूल स्रोत है अनाहत, जहां से शब्द का जन्म होता है। अजपाजप, अनाहत की बात योग के विद्यार्थियों से अपरिचित नहीं है। आहत शब्द-मंत्र के द्वारा अनाहत को पकड़ना लक्ष्य है। ध्वनि से यह जो कुछ वैशिष्ट्य सम्पादित होता है, अगर अनाहत पकड़ में जा जाये तो उसकी कल्पना क्या की जाए? प्राणाचार्य पुस्तक में लिखा है–'सारे शब्द और अक्षर जो ध्वनिमात्र प्रतीत होते हैं, वे एकनाद के मूर्त रूप हैं। वह नाद जिसे वक्ता के अतिरिक्त कोई नहीं सुन सकता। स्थान और प्रयत्न के बिना भी वह प्रत्यक्ष है। स्थान और प्रयत्न से उच्चारित ध्वनि आहत नाद है। आहत नाद का स्रोत तो अनाहत नाद ही है, जिसे मूल ध्वनि (Voice of the Silence) या आत्मनाद (Spiritual Sound) कह सकते हैं। धारणा, ध्यान, समाधि का साधन अनाहत नाद है, जिससे सारे रोग दूर हो जाते हैं।

**जप और मंत्र**–जप और मंत्र शब्दावलंबी होने से दोनों में भिन्नता नहीं है। एक के साथ दूसरे का योग सहजतया जुड़ जाता है। जप के अनेक प्रकार हैं–

**वाचिक**–जो दूसरों को सुनाई दे।

**उपांशु**–दूसरों को सुनाई न दे।

**मानसिक**–जिसमें होठ और जीभ का प्रयोग न कर जो केवल मन से किया जाए।

**अजपाजप**–जिसमें मन का भी प्रयोग नहीं; जो स्वतः सतत होता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसका अनुभव करना। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर का वाचक 'प्रणव' 'ॐ' कहा है। 'ॐ' मूल शब्द ध्वनि है। इसी से समग्र शास्त्रों का प्रणयन हुआ है। उसका अर्थयुत चिंतन करना जप है। क्रमशः उस 'ॐ' शब्द का जप छोड़कर उसके गुंजन को सुनना और अंत में सहज जो 'ॐ' की सतत धारा प्रवाहित हो रही है उसमें अपने को विलीन कर देना, अनाहत सुनना।

**जप-विधि**—मंत्र शक्तिशाली होता है। किन्तु उसकी शक्ति का उद्घाटन सम्यक् आचरण के बिना संभव नहीं होता। प्रत्येक वस्तु का विधिवत् उपयोग किया जाता है, अन्यथा वह उसके लिए इष्टकर नहीं होती। मंत्रों की विधिवत् आराधना न करने से अनेक दुर्घटनाएं भी घटित हो जाती हैं और वे मंत्र सहजतया सिद्ध भी नहीं होते। इसलिए आचार्यों ने मंत्राराधना की कुछ विधियां प्रयुक्त की हैं। जप के लिए चार बातें आवश्यक हैं—

(१) जप (२) स्मरण (३) विचिंतन (४) ध्यान।

**जप**—विधिपूर्वक मंत्र का अभ्यास। इसके लिए निम्नोक्त चार तथ्य मननीय हैं—

(१) मंत्र के अक्षरों का उच्चारण—एक अक्षर दूसरे अक्षर के साथ संलग्न होना चाहिए तथा बीजाक्षरों के उच्चारण में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मात्राओं का ध्यान रखना चाहिए।

(२) मंत्र का उच्चारण जल्दी-जल्दी नहीं होना चाहिए।

(३) एक अक्षर व दूसरे के बीच बिलंब नहीं होना चाहिए।

(४) सुषुम्ना में जप करना चाहिए।

सूरिमंत्रकल्पसन्दोह के अनुसार जप-विधि इस प्रकार है—

१. चन्द्रनाड़ी द्वारा रेचन भावना—रागरूप लाल रंग की वायु का रेचन हो रहा है।

२. सूर्यनाड़ी द्वारा रेचन भावना—द्वेषरूप काले रंग की वायु का रेचन हो रहा है।

३. राग-द्वेष से मुक्त होकर चन्द्रनाड़ी द्वारा पूरक भावना—सतोगुणरूप श्वेत वायु नाभि में सम्यक् स्थापित हो रहा है।

४. होठ बन्द।

५. दांत ऊपर-नीचे अस्पृष्ट।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

६. नासाग्र पर दृष्टि।

७. अंतर्जल्परूप या अनाहतनादरूप स्मरण करना।

देवभद्रसूरि ने 'कथा रत्नकोष' में मंत्र-स्मरण की विधि का निर्देश इस प्रकार दिया है–

१. आंखें निस्पन्द, नासाग्र दृष्टि।

२. केवल कुंभक।

३. इन्द्रिय-प्रत्याहार।

४. अनाहत नाद में लग्न-स्मरण करना।

५. प्रत्येक अक्षर को चन्द्रकला से युक्त कर उसमें से झरते अमृत-प्रवाह का चिंतन करना।

६. उस अमृत-प्रवाह से तीनों लोकों का दुःख-दावानल शांत हो गया है।

७. मंत्राक्षरों का लाखों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी चिंतन।

८. मंत्र के प्रभाव से विघ्नकारक भूतादि गण दूर हो गए हैं–चिंतन करें।

मंत्र-शास्त्रों में तीन प्रकार के करण का उल्लेख है, जो जप की सफलता में सहयोगी है। दिव्यकरण उसमें महत्त्वपूर्ण है। (१) कुंभकरण (२) दिव्यकरण (३) ऊर्ध्वरिचनकरण। साधक योग व्यापार (क्रिया) और करण से युक्त न हो तो मंत्रोच्चार का कोई मूल्य नहीं। करण में रेचन आदि करणों का समावेश होता है।

पूरक कर कुंभक करना। मूलबंध करना। मूलबंध से समस्त द्वारों का निरोध हो जाता है। उसके बाद ऐसा सोचना कि सुषुम्ना नाड़ी ऊपर बहती है। कुंभक द्वारा अवरुद्ध जो नाड़ियां और ग्रंथियां पहले अधोमुख थीं वे ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होने लगती हैं।

कुंभक के बाद दिव्यकरण करना–

१. दिव्य-जिह्वा को तालु में लगाएं, किन्तु एकदम संयोजित न करें–जीभ और तालु के मध्य कुछ अंतर रहे।

२. मुंह को थोड़ा सा खुला रखें। होठ दोनों एकदम न सटे।

३. दांत परस्पर मिले हुए न हों।

४. दृष्टि को, आंखों में जो 'कीकी' है, उस पर स्थिर करें।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

५. शरीर सीधा रहे।

पूरक-कुंभक-ऊर्ध्व-रेचन द्वारा धीरे-धीरे मंत्रोच्चार करना। इस उच्चारण के साथ-साथ कुंभित प्राण का धीर-धीरे रेचना करना।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जप के लिए इस प्रकार सुझाव देते हैं–

'जप के साथ चार बातें जुड़ी हुई हैं–पद, रंग, स्थान और श्वास की स्थिति।

हम **'णमो अरहंताणं'** को लें। इसका वर्ण है श्वेत और स्थान है मस्तिष्क, सहस्रार चक्र। इस पद का उच्चारण करते समय मन सहस्रार चक्र में स्थित हो और श्वेत वर्ण का चिंतन हो, आभास हो। सहस्रार चक्र अर्थात् ब्रह्मरंध्र, तालु के ऊपर का भाग। हमारी स्थिति कुंभक की हो तो चारों बातें हो गयीं–

पद है–णमो अरहंताणं। रंग है–श्वेत।

स्थान है–सहस्रार चक्र। श्वास की स्थिति है–कुंभक। अन्तर् कुंभक।

**'णमो सिद्धाणं'** को लें। इसका वर्ण है–लाल। इसका स्थान है–ललाट का मध्य भाग–आज्ञा चक्र। श्वास की स्थिति होगी–कुंभक।

**'णमो आयरियाणं'** यह तीसरा पद है। इसका रंग है पीला। इसका स्थान है–विशुद्ध चक्र, गला। यह पवित्रता का स्थान है, चक्र है। हमारी सारी भावनाओं और आवेगों पर नियंत्रण रखने वाला यही स्थान है। श्वास की स्थिति होगी–अन्तर् कुंभक।

**'णमो उवज्झायाणं'** यह चौथा पद है। इसका रंग है नीला। इसका स्थान है–हृदय कमल। श्वास की स्थिति है–कुंभक।

**'णमो लोए सव्वसाहूणं'**–यह पांचवां पद है। इसका रंग है कृष्ण–काला। इसका स्थान है पैरों का अंगूठा। श्वास की स्थिति है–कुंभक।

पांचों पदों में वर्ण भिन्न हैं, स्थान भिन्न हैं। श्वास की स्थिति पांचों में समान है। तो प्रत्येक के साथ पद, वर्ण, स्थान और श्वास की स्थिति–चारों बातें जुड़ी हुई हैं। अब इसके साथ हमारे मन का पूरा योग रहना चाहिए। मन का योग होने से पांच बातें हो गई। पांचों का विधिवत् योग होने से ही जप शक्तिशाली होता है। एक की भी कमी परिणाम में न्यूनता ला देती है।[1]

१. (क) मन के जीते जीत।

(ख) नमस्कार मंत्र की जपविधि के लिए देखें–आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा लिखित पुस्तक 'एसो पंच णमोक्कारो।'

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नमस्कार स्वाध्याय में 'ॐ' के ध्यान के संबंध में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है–'ॐ ह्रीं नमः' 'ॐ' बीजाक्षरों में सम्राट् है। उसका सभी रंगों में पृथक्-पृथक् कार्य के लिए ध्यान किया जा सकता है। शांति और निष्काम के लिए श्वेत वर्णमय 'ॐ ह्रीं नमः' का जप-ध्यान किया जाता है।[1]

मुक्ति के लिए नासाग्र पर 'ॐ अर्हं' इन तीनों वर्णों का ध्यान करें। आचार्य कहते हैं–इस अद्भुत मंत्र से ध्यान की परम शुद्धि प्राप्त होती है, आत्मिक सुख तथा सिद्धजन्य अष्ट गुणों की भी।[2]

यदि तू वस्तुतः संसार-दुःख के अग्नितप से उद्विग्न है तो 'णमो अरहंताणं' इस सप्ताक्षर 'अर्हन्' नाम से उत्पन्न मंत्र का स्मरण कर। इस अनादि मंत्र से साधक सर्वज्ञ-वैभव, विश्व-विजय, मोक्ष और अर्हन् के गुणों को उपलब्ध होते हैं।

'सोहं' का जप–'सो' का कण्ठ चक्र पर 'हं' का आज्ञाचक्र पर और 'म्' का सहस्रार चक्र पर तीनों समय जप करना चाहिए। इससे अंतर्मन और सुषुप्त मन जागृत होते हैं।

इस प्रकार अनेक मंत्र हैं। उन सबका उल्लेख संभव नहीं। साधक स्वयं अपनी रुचि के अनुसार या योग्य व्यक्ति के परामर्श से उन्हें ग्रहण करे।

मंत्र साधना की एक सरल विधि को और अपने ध्यान में रखें। वह इस प्रकार है–समय आधा घण्टे से एक घण्टे, तीनों समय, एकांत में। जिस मंत्र को सिद्ध करना चाहो उसे सुनहरे प्रकाश में हृदय में लिखा हुआ देखो। उच्चारण करना चाहो तो कर सकते हो। दृष्टि लक्ष्य को न छोड़े। एक महीने के पश्चात् मंत्राक्षर मिटते प्रतीत होंगे, दिव्य प्रकाश कभी-कभी सन्मुख आता प्रतीत होगा। कुछ दिन बाद अक्षर लुप्त हो जायेगा, केवल हृदय तेज से भरा जान पड़ेगा। उस तेज में एक मूर्ति की झलक आती जान पड़ेगी। यह मंत्र के देवता का रूप होता है। अभ्यास से और अधिक साफ होगी। देवमूर्ति प्रत्यक्ष सामने आ खड़ी हो तो प्रश्नों का उत्तर देगी, सहयोग करेगी। अनुष्ठान पूरा हो गया।

**रूपस्थ ध्यान**

रूपस्थ ध्यान का विषय है–दृश्य पदार्थ जो रूपवान्-आकृतिवान् है।

---

१. नमस्कार स्वाध्याय, पृ. ५,६।

२. नमस्कार स्वाध्याय, पृ. १०६, १०८।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जिसे साकार ध्यान भी कहा गया है। दृश्य पदार्थ में ध्याता इतना एकाग्र हो जाता है कि वह द्वैत का अनुभव नहीं करता। सुकरात रात में ताराओं को देखने में इतने खो गये कि उन्हें समय का कुछ पता ही नहीं चला। लोग खोजते हुए आये और कहा कब बैठे थे, क्या देखते हो? क्या है इनमें? सुकरात ने कहा—क्या नहीं है इनमें? काश! आंखें होतीं देखने के लिए। लुकमान हकीम के औषधि आविष्कार वृक्षों की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापना की ही घटना है। वृक्ष, वायु, पृथ्वी, जल सभी के पास भाषा है, किन्तु वह संवाद उसी समय हो सकता है जिस समय साधक बाहर से शून्य हो जाता है, उसके साथ एकत्व स्थापित कर लेता है।

एक घर में एक छोटे बच्चे का फोटो था। स्त्री गर्भवती हुई और उसने वैसा ही बच्चा पैदा किया। किसी ने पूछा—यह तो इस फोटो जैसा ही लगता है। मां ने कहा—मैं गर्भावस्था में इसी का ध्यान करती थी। बस यही रहस्य है। यह कोई असंभव घटना नहीं है। सब खेल ध्यान का है। जैसा आप चाहो वैसा बन सकते हो, शर्त है तीव्र ध्यान की।

प्रतिमा, इष्ट आदि पर ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। चित्त की एकाग्रता का यह सरल उपाय है। जैसे-जैसे वीतराग के साथ हमारा तादात्म्य होता चला जायेगा मूर्ति आकार खो जाएगा और उस भावधारा में डूबते चले जायेंगे। किन्तु यह घटना कोई एक क्षण में घटने वाली नहीं है। साधक में तीव्र अभिलाषा चाहिए। समय देना चाहिए और प्रतीक्षा करनी चाहिए। इष्ट साकार होता है।

**रूपातीत**

रूपातीत ध्यान के विषय में आचार्य शुक्लचन्द्र कहते हैं—रूपस्थ ध्यान में जब चित्त स्थिर हो जाता है, विकल्प-विभ्रम क्षीण हो जाते हैं तब ध्याता को अमूर्त, अरूप, अजर और अव्यक्त का ध्यान प्रारंभ करना चाहिए। जो अमूर्त है वह चिदानन्दमय शुद्ध परम अविनाशी है। उस आत्मा का आत्मा के द्वारा ध्यान करना रूपातीत ध्यान है।[1] यह रूपातीत होते हुए भी कल्पना-प्रधान तथा अमूर्त अदृश्य अवलंबन प्रधान है। इसमें ध्येय अन्य कोई न होकर आत्मा ही है। किन्तु यहां भी ध्याता ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी बनी हुई है। जब तीनों की एकात्मकता होती है तब पूर्ण निरालंबन की स्थिति प्रकट होती है।

---

१. ज्ञानार्णव ४०/१४,१६।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यह सालंबन और निरालंबन का संधि स्थान है। एक तरफ आलंबन है और दूसरी तरफ निरालंबन का प्रस्तुतीकरण है। यहां काम की पूर्णाहुति है, समस्त यौगिक विधियां शेष होती हैं। ध्यान के उपक्रमों में थका साधक विश्राम में डूबता है। यह अप्रयत्न होते हुए भी प्रयत्न, अक्रिया होते हुए भी क्रिया का वेग सर्वतः सिमट कर स्वयं की दिशा में गतिशील हो जाता है। इसलिए बहुत अधिक सक्रिय है। दूसरी दिशाओं में होने वाला प्रयास यहां नहीं रहता।

रूपातीत ध्यान का प्रारंभ कल्पना की यात्रा से शुरू होता है, किन्तु समापन वास्तविकता में होता है। यदि केवल कल्पना की सीमा में साधक दौड़ता रहे तो वह निरालंबन, निर्विचार की मंजिल पर नहीं जा पाता। साधक का ध्येय है—आत्म-दर्शन। वह विचार-शून्यता में अभिव्यक्त होता है। अस्तित्व की झलक विचारों से तरंगित झील में प्रतिबिम्बित नहीं होती। इसलिए वास्तविक ध्यान का उद्देश्य रूपातीत की कल्पना से मुक्त होने पर दृष्टिगत होता है। ध्यान की गहराई में डूबे साधकों ने इसे ही ध्यान कहा है। आचार्य शुक्लचन्द्र ने कहा है—वही ध्यान है, वही विज्ञान है और वही ध्येय है जिसके द्वारा मन अविद्या का अतिक्रमण कर अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाता है।[1]

यही ध्यान जब धारणा, ध्यान से मुक्त हो जाता है तब शुक्लध्यान में परिणत हो जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है—'वह शुक्लध्यान है जो क्रिया-मुक्त है, इन्द्रियों से परे है, ध्यान-धारणा से रहित है और चित्तस्वरूप के सम्मुख रहता है।[2]

आचार्य कुंदकुंद कहते हैं—'पुरुष आकार—शरीराकार ज्ञान-दर्शन से संपन्न आत्मा का जो योगी ध्यान करते हैं, वे द्वन्द्वातीत और पापमुक्त हो जाते हैं।

साधक जब अन्य ध्यान के प्रयोगों से सर्वथा प्रयत्नशून्य होकर एकत्व—अस्तित्व को प्राप्त कर लेता है। तब वास्तविक निश्चय ध्यान को उपलब्ध होता है। जिस स्थिति में चिंतन, वाणी और शारीरिक प्रयत्न सब शांत हो जाते हैं, आत्मा आत्मा में रत हो जाती है, वही परम ध्यान है।

आचार्य रामसेन की दृष्टि में यही समाधि है, समरसी भाव है और

१. ज्ञानार्णव २२/२०।
२. ज्ञानार्णव ४२/४।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एकीकरण है। दोनों लोकों में यह फलप्रद है।

बुद्ध ने कहा है—यह पागल मन रुकता नहीं। यदि यह रुक जाय तो वही बोधि है, निर्वाण है। मन का मिट जाना स्वयं का होना है। जे० कृष्णमूर्ति कहते हैं—जहां विचार समाप्त होता है, वहां जीवन का प्रारंभ होता है। जीवन की वास्तविक अनुभूति मरकर ही की जा सकती है और वह ध्यान द्वारा संभव है। इसलिए वे कहते हैं—ध्यान विचार का अन्त है। ध्यान स्वयं एक ध्येय है। यह कोई वस्तु-सिद्ध करने का साधन नहीं हैं। लेकिन ध्यान हो इससे पहले ध्यान करने वाले का अन्त होना चाहिए। बुद्ध ने भी अपने साधकों से यही कहा है—इससे पहले कि तुम परम सत्य को जानने जाओ ऐसे हो जाओ, जैसे कि तुम मर गए हो। कबीर इस प्रकार कहते हैं—जब तक मैं था खोज-खोज कर परेशान हो गया उसे नहीं पाया और अब मैं मिट गया तो मैंने देखा—वह सामने खड़ा है। वह दूर नहीं था, 'मैं' था इसलिए दूर था। वूमिक नामक कवि ने कहा है—जैसे उगना होता है उसे बीज की तरह स्वयं को खोना पड़ता है और जो रेंगते हैं वे रेंगने की अवस्था से पंख निकलने की अवस्था तक पहुंच जाते हैं। ज़ेन साधक ह्वाकूजू इकाई से किसी ने पूछा—संसार में सर्वाधिक चमत्कार की घटना कौन-सी है? बड़ा गहरा उत्तर था ह्वाकूजू का कि 'मैं' अकेला जो यहां बैठा हूं मेरे साथ बस यही घटना है। महर्षि रमण ने कहा है—विचारों को रोक दो और फिर मुझे बताओं कि मन कहां है? किसी ने पूछा महर्षि रमण से कि ईश्वर के दर्शन कैसे हो सकते हैं? नहीं, नहीं ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते, लेकिन चाहो तो स्वयं ईश्वर हो सकते हो। ईश्वर के दर्शन से पूर्व स्वयं ईश्वर जैसी तैयारी करनी होती है। जिसने स्वयं के भीतर ईश्वर को पा लिया हो, उसके लिए ईश्वर कहां नहीं है और जिसे स्वयं के भीतर ईश्वर नहीं मिला, उसके लिए बाहर कहां संभव है।

ध्यान केवल शुद्ध समय है। समयसार में समय का अर्थ आत्मा किया है। समयसार अर्थात् आत्मसार। वर्तमान क्षण में ही आत्मा है। अतीत और भविष्य में आत्मा का अनुभव नहीं होता। जे० कृष्णमूर्ति कहते हैं—ध्यान समय से आगे की क्रिया है। ध्यान में कल्पना और विचार का स्थान नहीं है। ध्यान समय से मुक्ति है। देखने वाला (द्रष्टा), अनुभव और विचार करने वाला समय है और जो समय है वह विचार है। शुद्ध ध्यान—निश्चयात्मक ध्यान में सिर्फ अस्तित्व है और वह काल का सूक्ष्मतम क्षण एक समय है।

एक साधु ने किसी से पूछा—ध्यान क्या है? संत ने कहा जो निकट है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसमें होना ध्यान है। जब मैं कहीं भी नहीं होता हूं तब स्वयं में होता हूं।

ज़ेन साधक लिची अपने गुरु के पास जाकर पूछते हैं कि मैं अपने मन को कैसे बनाऊं ताकि सत्य को जान सकूं? गुरु हंसे और बोले, तुम कैसा भी अपने मन को बनाओ सत्य को नहीं जान सकोगे। बड़ी अभीप्सा लेकर आया था वह। यह सुन कर मन को चोट पहुंची और पूछा कि सत्य को नहीं जान सकूंगा? गुरु ने कहा—यह मैंने नहीं कहा कि तुम सत्य को नहीं जान सकोगे। लेकिन तुम मन से नहीं जान सकोगे। सत्य को जानना है तो मन को दूर छोड़ दो, मन से मुक्त हो जाओ।

महान् योगी साधक श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्म-दर्शन की प्रक्रिया इन शब्दों में प्रस्तुत की है—यह आत्मा वर्तमान शरीरप्रमाण है। शरीर में स्थिति होते हुए भी शरीर से पृथक् है, पुरुषाकार है, चिन्मय है, ऐसा समझ कर देखें तो उसका दर्शन होता है। इन्द्रियों का निरोध कर, श्वास को शांत कर, मन को संयमित कर तथा आंखें बन्द कर सुज्ञान नेत्र द्वारा देखने से यह आत्मा प्रत्यक्ष होती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि निर्विचार, निरालंबन ध्यान ही एक मात्र ध्यान है। सालंबन निरालंबन से संयुक्त होने के कारण वह भी अमान्य नहीं है, किन्तु ध्येय शुद्ध आत्मा है। साधक की दृष्टि से ध्येय विस्मृत नहीं होना चाहिए। यह सर्वदा आंखों के सामने तैरता रहे। सालंबन से निरालंबन की यात्रा पर उसे निकलना है। निरालंबन या निश्चयात्मक ध्यान पर पहुंचने के लिए कुछ प्रयोग हैं, जिनकें माध्यम से सहजतया वह यात्रा सम्पन्न की जा सकती है। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ध्यानशास्त्र ज्ञानार्णव में एकमात्र मनोजय-मन-शुद्धि पर बल दिया है। वे कहते हैं–चित्त शुद्धि न कर जो केवल मुक्त होना चाहता है वह मृगतृष्णा नदी में पानी की इच्छा करता है। जो साधक भेद-विज्ञान की दहलीज पर पैर रखते हैं वे सबसे पहले मन की चंचलता का अवरोध करते हैं। मेन की शुद्धि से ही निःसन्देह मनुष्यों की शुद्धि होती है। उसके अभाव में सिर्फ शरीर को पीड़ित करना व्यर्थ है। मन की शुद्धि केवल ध्यान को ही शुद्ध नहीं करती, अपितु कर्मसमूह को भी विच्छिन्न करती है। चित्तशुद्धि के अभाव में केवल ध्यान की चर्चा करने वाला मूढ़ है। मनःशुद्धि के द्वारा सब साध्य हैं। जिसका चित्त स्थिर हो गया, कलुषता से मुक्त हो गया और ज्ञान से सुवासित हो गया उस ध्याता के साध्य सिद्ध हो गया। उसके लिए काया को कष्ट देना व्यर्थ है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इस समग्र चर्चा का प्रतिपाद्य है—मनोजय और मनःशुद्धि। दोनों निस्संदेह कठिनतम हैं, किन्तु असाध्य नहीं हैं। साधक में साध्य-प्राप्ति की अभीप्सा हो, गहन निष्ठा हो और सतत श्रमशीलता हो तो कठिन नहीं है। मनोजय और मनःशुद्धि दोनों के लिए दो साधन-पद्धतियां नहीं, बल्कि एक ही है। वह है—जागरूकता और विचार-दर्शन। जागरूकता से अशुद्धि का द्वार निरुद्ध होगा और विचार-दर्शन से क्रमशः निर्विचारता का पथ प्रशस्त होगा। यह पद्धति केवल कुछेक के लिए नहीं, अपितु सर्वत्र प्रयोज्य है। रोग सहस्री हों पर सबकी औषधि एक है। अध्यात्म की दृष्टि से देखें तो रोग एक प्रमत्तता ही है। उसे दूर करने पर सब बीमारियां दूर हो जाती हैं। इसलिए विवेक, अप्रमत्तता—जागरूकता पर सबने विशेष बल दिया है। अपनी समस्त वृत्तियों के प्रति सर्वदा सचेत रहना, तटस्थ भाव से देखना, यही सहज-सरल मार्ग है जो चैतन्य के साथ संयुक्त करता है।

मनोनुशासनम् की व्याख्या में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने कुछ प्रयोग निरालंबन-निर्विचार ध्यान के लिए प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

निरालंबन ध्यान की कुछ पद्धतियां हैं। उन्हें जानने पर उसका अभ्यास सहज हो जाता है। उनका पहला अंग है—प्रत्यन की शिथिलता। सालंबन ध्यान में जैसे शरीर, वाणी और श्वास का प्रयत्न शिथिल कर दिया जाता है, उसी प्रकार निरालंबन ध्यान में मन का प्रयत्न भी शिथिल किया जाता है। निरालंबन ध्यान वस्तुतः अप्रयत्न की स्थिति है।

दूसरा अंग—निरभ्र आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाइए। थोड़े समय में चित्त विचारशून्य हो जायेगा।

तीसरा अंग—केवल कुम्भक का अभ्यास कीजिए। मन विचार-शून्य हो जायेगा।

चौथा अंग—मानसिक विचारों को समेट कर हृदय-चक्र की ओर ले जाइए। फिर गहराई तक उतरने का अनुभव कीजिए। ऐसा करते ही चित्त विचारशून्य हो जाएगा।

पांचवां अंग—आत्मा या चैतन्य-केन्द्र की धारणा को दृढ़ कर उसके सान्निध्य का अनुभव कीजिये। वह सहज, शांत और निर्विचार हो जाएगा।

इस प्रकार अनेक पद्धतियां हैं, जिनके द्वारा निर्विचार ध्यान को सुलभ बनाया जा सकता है, किंतु उन सब में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति है—अप्रयत्न—प्रयत्न का विसर्जन, प्रवृत्ति का विसर्जन।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यान के तीन प्रकार और हैं—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान।

**कायिक ध्यान**

शरीर का प्रकंपन पूर्णतः कभी नहीं रुकता। उसकी ऊर्मियों का प्रवाह निरंतर चलता रहता है। जब हम स्थिर होकर बैठते हैं तब भी चलता रहता है। फिर शरीर का अप्रकंपन कैसे हो सकता है? यहां अप्रकंपन का प्रयोग सापेक्ष है। यद्यपि शरीर के प्रकंपन पूर्णतः नहीं रुकते, फिर भी हाथ, पैर आदि अवयवों की चेष्टाएं नहीं होतीं, शरीर बाह्याकार में स्थिर हो जाता है तब अप्रकंपन का एक बिन्दु बनता है। यही कायिक ध्यान है। यह अप्रकंपन का सामान्य बिन्दु है। इसमें मात्रा-भेद होता है। एक व्यक्ति प्रथम अभ्यास में अपने शरीर के प्रकंपनों को रोकता है, वह सामान्य स्थिरता होती है। अभ्यास करते-करते वह अप्रकंपन की सुदृढ़ स्थिति तक पहुंच जाता है। मात्रा-भेद के आधार पर कायिक-ध्यान की अनेक श्रेणियां बन जाती हैं।

**आनापान-ध्यान**

श्वास का प्रकंपन भी पूर्णतः नहीं रुकता। अंतर् में प्राण का प्रवाह चालू रहता है। हमारे शरीर के रोमकूप सूक्ष्म आनापान को ग्रहण करते रहते हैं। उसे मंद किया जा सकता है, रोका जा सकता है। आनापान ध्यान का प्रथम बिन्दु श्वास को मंद करने का अभ्यास है। स्वस्थ मनुष्य का श्वास जिस गति से चलता है उसमें मंदता लाना, उसके प्रकंपनों को कम करना, इस दिशा में पहला प्रयत्न है। इस प्रयत्न में दो बातें मुख्य हैं—

(१) श्वास की संख्या को कम करना।

(२) प्राणवायु की मात्रा को कम करना।

मृदु-मंदता में श्वास दीर्घ हो जाता है। मध्य-मंदता में प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है। अतिमंदता में महाप्राण की स्थिति घटित होने लग जाती है। श्वास-निरोध या कुंभक सहज ही हो जाता है।

**वाचिक ध्यान**—जैसे शरीर और श्वास की ऊर्मियां निरन्तर प्रवाहित रहती हैं, वैसे वाणी की ऊर्मियों का प्रवाह निरन्तर नहीं रहता। हम जब बोलने का प्रयत्न करते हैं तभी उसका प्रवाह होता है। बोलने की आकांक्षा और उसका प्रयत्न नहीं करना ही उन प्रकंपनों को रोकता है। यही वाचिक ध्यान है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**मानसिक ध्यान**–मन के तीन मुख्य कार्य हैं–स्मृति, मनन और कल्पना। अतीत की स्मृति, वर्तमान का मनन और भविष्य की कल्पना होती है। हम जो मनन और चिंतन करते हैं उसकी आकृतियां बनती हैं। ये आकृतियां मनन समाप्त होने पर आकाश-मंडल में फैल जाती हैं। वे हमारे मस्तिष्क के भीतर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाती हैं, जिसे हम धारणा, वासना या अविच्युति कहते हैं। यह धारणा हमारे कोष्ठों में संचित रहती है। जब कभी कोई निमित्त मिलता है तो हमारे स्मृति कोष्ठ जागृत हो जाते हैं, मन गतिशील हो जाता है।

जब हम मनन करना चाहते हैं तब मानसिक ऊर्मियों का प्रवाह चालू हो जाता है। जितने समय तक हमारा मन चलता है, उतने समय तक यह प्रवाह भी चालू रहता है। हम स्मृति और मनन के आधार पर कल्पना करते हैं। उस समय भी मन की ऊर्मियां प्रवाहित हो जाती हैं।

स्मृति को रोककर मानसिक ऊर्मियों को किसी एक विषय में प्रवाहित कर देना मानसिक ध्यान है। इस ध्यान में मानसिक प्रकंपन समाप्त नहीं होते, किंतु उनकी गति एक दिशा में हो जाती है और जब तक वह गति एक दिशा में रहती है तब तक मानसिक ध्यान बना रहता है। जैसे ही मानसिक ऊर्मियों का प्रवाह अनेक दिशाओं में गतिशील होता है, ध्यान भंग हो जाता है।[1]

विमला ठक्कर ने मौन में तथ्य के साक्षात्कार की बात कही है। 'मौन चित्त की निष्क्रम्पन की अवस्था है, जिसमें विचार और भावना की तरंग नहीं है। विचार, भावना, अहंकार में सारी की सारी ऊर्जा जो बिखर गई थी वह सिमट कर अपने आप में इकट्ठी हो जाती है। वह फिर देखती है। उसका देखना द्रष्टा और दृश्य–दोनों को मिटा देता है। तथ्य का साक्षात्कार होना तथ्याकार हो जाना है।'

बौद्धध्यान परम्परा के महान् आचार्य बोधिधर्म ने सत्य में प्रवेश के दो द्वारों का प्रयोग प्रस्तुत किया है–ज्ञान और कर्म।

**ज्ञान**–मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सब प्राणियों में एक ही सत्य निहित है। वे सदैव बाह्य विषयों से अवरुद्ध रहते हैं, इसलिए मैं उनसे असत्य को त्यागकर सत्य के ग्रहण करने का आग्रह करता हूं। दीवार को देखते हुए उन्हें अपने चित्त की वृत्तियों को यह मनन करते हुए एकाग्र करना चाहिए कि अहं

---

१. आचार्यश्री महाप्रज्ञ, 'महावीर की साधना का रहस्य'।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

(मैं) और अपर (दूसरे) का अस्तित्व ही नहीं है। तथा ज्ञानी और अज्ञानी एक समान हैं।

**कर्म**—साधक को सब कठिनाइयों को यह समझ कर सहना चाहिए कि मैं अपने पूर्व जन्म के कुकर्म का फल भोग रहा हूं। उसे अपने भाग्य से संतुष्ट रहना चाहिए, चाहे सुख हो या दुःख, लाभ हो या हानि। उसको किसी वस्तु की तृष्णा नहीं करनी चाहिए। उसको धर्म (सत्य) का अनुसरण करना चाहिए।

एक इसी परम्परा के अन्य ध्यानी साधक ने अपने शिष्य को निम्नोक्त विधि के अनुसरण का निर्देश दिया है—'शास्त्र के प्रवचन और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोड़ो। कुछ दिन के लिए अपने कमरे में बन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर शांत होकर बैठो और अपने विचारों को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोड़कर आंतरिक संसार को देखो। ज्ञान उसके लिए 'प्रत्यात्मवेद्य' होना चाहिए।

**ध्यान और समत्व**

ध्येय मंजिल है और ध्यान उसका मार्ग है। साधक का ध्येय होता है—शुद्ध आत्मा का अनुभव। आत्मा को आवृत करने वाले हैं—राग और द्वेष। चित्त प्रतिक्षण इसके द्वारा प्रकंपित रहता है। चेतना प्रकंपनों के कारण परिलक्षित नहीं होती। ध्यान से साथ जो प्रतिक्रिया-मुक्ति की बात जुड़ी है या कही जाती है वह इसलिए कि प्रतिक्रिया प्रकंपन है और प्रकंपन से हम ध्येय के सन्निकट नहीं पहुंच सकते। आगम की परिभाषा में प्रतिक्रिया-मुक्ति के लिए शब्द है—समता। साधक समस्त अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वों में सतत समतावान् रहे, तटस्थ रहे। **'समयाए समणो होइ'**—श्रमण समता से होता है।

**'जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।**
**तस्स सामाइयं होइ, इ इ केवलिभासियं॥'**

'आत्मद्रष्टा पुरुषों ने कहा है कि सामायिक उसी साधक के होती है जो त्रस, स्थावर, स्थूल और सूक्ष्म चराचर जगत् के प्रति सम रहता है।'

समता के अभाव में ध्यान-साधना अपना कोई प्रतिफल नहीं ला सकती। साधक को प्रारंभ में ही इस सत्य का बोध हो जाना चाहिए कि मेरी प्रत्येक क्रिया में समत्व प्रतिष्ठित रहे। बाहर से होने वाले आघातों के प्रति सतत जागरूक रहना और अपने मन को किंचिदपि आंदोलित नहीं करना, ध्याता के लिए यह नितांत अपेक्षित है। इसलिए ध्यान में प्रतिष्ठित साधकों ने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

समता और ध्यान को भिन्न नहीं माना। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आचार्य हेमचंद्र ने कहा है–

**'समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।**
**विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा बिडम्बति॥'**

'योगी समता का आलंबन लेकर ध्यान के पथ पर अग्रसर बने। समत्व के शुभारंभ के अभाव में वह ध्यान में बैठकर अपने-आपको विडंबित करता है।'

**'न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत्।**
**निष्कम्पं जायते तस्माद्, द्वयमन्योन्यकारणम्॥'**

'समता के बिना ध्यान नहीं है और ध्यान के अभाव में समता नहीं है। दोनों स्थिरता का संपादन करते हैं, इसलिए वे एक-दूसरे से संयुक्त हैं।'

महावीर ने कहा है–**'समया धम्ममुदाहरे मुणी'**–धर्म समता में है। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं–

**'साम्यमेव परं ध्यानं, प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।**
**तस्यैव व्यक्तये नूनं, मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः॥'**

समता ही परम ध्यान है, तत्व-द्रष्टाओं ने ऐसा प्रणयन किया है। समस्त शास्त्रों का यह विस्तार उसी समता की अभिव्यक्ति के लिए है, ऐसा मेरा विश्वास है। आगे कहते हैं–'सूक्ष्म, स्थूल, चेतन और अचेतन पदार्थों पर क्षण-क्षण में राग या द्वेष करने वाला व्यक्ति आध्यात्मिक कैसे हो सकता है?

आत्मा को समता से इस प्रकार भावित कर कि राग-द्वेष से वह किसी भी पदार्थ को ग्रहण न करे।

बुद्ध के साथ आनंद थे। मार्ग में प्यास लगी। बुद्ध ने कहा पानी लाओ। नदी दूर थी। आनंद पानी लाने गये। अभी-अभी गाड़ियों के निकलने से पानी गंदला हो गया था, पीने जैसा नहीं था। वापिस लौटे और कहा–पानी गंदा है। बुद्ध ने कहा–अब फिर जाओ, गन्दा हो तो थोड़ी देर रुक जाना। आनंद गया। थोड़ी देर रुका। देखा, पानी बिल्कुल स्वच्छ है। गाड़ियों के निकलने से गन्दगी ऊपर आयी थी। पानी लेकर लौटा और कहा–आज आपने एक सूत्र दे दिया। मेरे चित्त की भी यही स्थिति है। विचारों की गाड़ियां निकलती रहती हैं। विचारों को शांत करने से सत्य उपलब्ध हो जाता है।

ध्यानसाधक ध्यान और क्षमता के पारस्परिक गहन संबंध को विस्मृत न करे। ध्येय की पूर्ति में दोनों अभिन्न सहयोगी हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

**ध्यान-योग्य आसन**—ध्यान की अपरिपक्व स्थिति में आसन और मुद्राओं का भी अपना महत्त्व है। वे चित्त की एकाग्रता का संपादन करने में सहयोगी हैं। इसलिए इनको सभी ने अपनाया है। ध्यान-सिद्धि के अनन्तर इनका कोई उपयोग नहीं रहता। फिर चाहे जैसी स्थिति में बैठे, सोये, खड़े रहे या चले।

आसनों में ध्यान-योग्य आसन—पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि सामान्यतया प्रचलित रहे हैं। मुद्राओं में बायीं हथेली पर दायीं हथेली को गोद में रखना, तथा ज्ञानमुद्रा—अंगूठे और तर्जनी अंगुली के सिरों का स्पर्श, बाकी तीन अंगुलियां खुली, हाथ घुटनों पर रखना।

आसन और मुद्रा का ध्येय यह रहा है कि साधना-काल में जो ऊर्जा का प्रवाह प्रवाहित होता है, वह बाहर प्रवाहित न हो। वह शरीर की विशेष स्थिति बन जाने के कारण भीतर-ही-भीतर या विशेष आकृति में निर्मित होकर साधक को शक्ति प्रदान करती रहे, व्यर्थ न जाए। चित्त की चंचलता को भी मुद्राएं नियमित करती हैं। शान्त और अशान्त की स्थिति में हाव-भाव बदल जाते हैं। यह यत्किंचित् सबका अनुभव है। हम अपनी शान्त-स्थिति के लिए उस आकृति को अपनाएं जिससे कि चित्त सहज तथा शीघ्र स्थिर हो जाए। चित्त को बदलने के लिए आकृति का बदलना जरूरी है। आज वैज्ञानिक भी इस बात से राजी हैं कि मन की भावना का शरीर के साथ बड़ा संबंध है। जेम्स और लैग, अमेरिका के दो विचारकों ने इस पर गहरा काम किया है। उनका सिद्धांत 'जेम्स-लैग' के नाम से प्रसिद्ध है। भयभीत आदमी भागता है, यह हम सबका अनुभव है। किन्तु वे कहते हैं—भाग रहा है, इसलिए डर रहा है। अगर ठहर जाए तो भय भी न रहे। शरीर और मन जुड़े हैं। दोनों में से एक भी स्थिर और शांत हो तो स्थिति में परिवर्तन निश्चित आ जाता है। आसनों का यथोचित उपयोग कर ध्येय की साधना ही साधक का कर्त्तव्य है।

**ध्यान और स्थान**—यह सुविदित है कि साधना के लिए एकांत, पवित्रता और प्रकृति से सुरम्य स्थान साधना में कितना सहायक होता है। पर्वत, वन, उद्यान, तीर्थ-स्थल, सरिता-सागरतट, श्मशान, वृक्ष-मूल आदि स्थानों का चुनाव ध्यान के लिए किया गया है। जहां प्रकृति का प्रतिपल मौन संगीत चलता रहता है। साधक सहज ही उस पर मौन में एक रस हो जाए। प्रकृति के साथ अभिन्नता साध ले। महावीर, बुद्ध, लाओत्से, जीसस, मुहम्मद आदि महापुरुषों की जीवन-गाथा इसका स्पष्ट प्रमाण है। अपने साधकों को भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उन्होंने वैसे स्थानों में प्रयोग के लिए संप्रेषित किया तथा उनके ठहरने के स्थान भी प्रायः शहर के बाहर के उद्यान, विहार, मठ आदि होते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। साधना और लोक-संपर्क का कोई तालमेल नहीं है। साधना-सिद्धि के बाद लोक-शिक्षण या संपर्क है, न कि साधना के पूर्व। साधना का ध्येय साधना में प्रवेश करके ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए प्राथमिक भूमिका के साधक के लिए स्थान की उपेक्षा किसी भी तरह नहीं की जा सकती। हां, यह तो हो सकता है कि वह शोर-शराबे और एकांत—दोनों को अपने ध्यान में सहायक बनाने के लिए और मन की क्षमता को संपुष्ट करने के लिए यथाशक्य दोनों का प्रयोग करता हुआ अपनी मनःस्थिति को अप्रकंपित रखने में कुशलता उपलब्ध करे।

**ध्यान और समय**—यह प्रश्न भी प्रायः उठता रहता है कि ध्यान कब करे। यह प्रश्न कोई नया नहीं है। इसका उत्तर भी प्रायः एक जैसा मिलता रहा है। ध्यान या साधना के लिए प्रायः सन्ध्या के समय का निर्देश प्राप्त होता है। संध्या का समय अन्य सब कामों के लिए निषिद्ध है, केवल योग, ध्यान, ईश्वर-भजन आदि के लिए मुक्त है। सन्ध्या का अर्थ है—संधिस्थल, जहां दो का कुछ क्षणों के लिए मिलन होता है। रात जा रही है और दिन का आवागमन हो रहा है, दिन जा रहा है और रात आ रही है—दोनों के मध्य का क्षण सन्ध्या कहलाता है। दिन का मध्याह्न और रात्रि का मध्यभाग भी संध्या कहलाता है। इसकी वैज्ञानिकता से साधक परिचित थे। वे जानते थे कि इस क्षण में चेतना शांत होती है, मन शान्त होता है, इस क्षण किया गया संकल्प, भावना, विचार, अचेतन में प्रविष्ट हो जाता है, जो व्यक्ति को रूपान्तरित कर देता है, इसलिए 'सन्ध्या' में आत्मोपासना के अतिरिक्त अन्य समस्त कार्य अकरणीय हैं।

काल-संबंधित संध्या का प्रभाव भी मनुष्य जीवन पर पड़ता है। कोई भी प्राणी स्वतंत्र नहीं है। सब प्रकृति से संयुक्त हैं। सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है। इसके साथ-साथ एक संध्या का दर्शन प्रत्येक शरीर में होता है। आत्म-साधक को उसका उपयोग करना सीखना है। वह संध्या दिन-रात में अनेक बार घटित होती है, जिसे हम सुषुम्ना के नाम से जानते हैं।

शरीर में तीन प्रधान नाड़ियां हैं—ईडा—बायीं नासिका, पिंगला—दांई नासिका और दोनों के मध्य सुषुम्ना है। ईडा को चन्द्र, पिंगला को सूर्य स्वर कहते हैं। एक स्वर से दूसरे स्वर का उदय होता है तब श्वास कुछ क्षण

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सुषुम्ना में प्रवाहित होता है। यह दोनों का संधि-स्थल है। ईडा-पिंगला का संबंध शरीर से है और सुषुम्ना का संबंध आत्मा से है। ध्यान का उपयुक्त समय यही है। साधक के लिए संध्या-विज्ञान नितांत स्पृहणीय है। सुषुम्ना में प्राणधारा का प्रवाह हुए बिना इष्ट-सिद्धि नहीं होती। इसे शून्य स्वर कहा है। इसमें किसी भी कार्य की सफलता नहीं होती, सिवाय योग, ध्यान, प्रार्थना आदि के। इसका समय भी निर्धारित किया है, किंतु वह पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति की दृष्टि से है। अस्वस्थ व्यक्ति का स्वर नियमित नहीं चलता। स्वर का विपरीत चलना कुछ न कुछ अनिष्ट की सूचना है। साधक को सुषुम्ना के संचालन में निष्णात होना है और उसकी प्रक्रिया को जानना है। उसका समय इस प्रकार है–

दिन–६,७/३०,१०/३०,१२,१/३०,३,४/३०,६।

रात–७/३०,९,१०/३०,१२,१/३०,३,४/३०,६।

इसके अतिरिक्त सोने और जागरण का क्षण भी संध्या है। नींद शरीर पर उतरी नहीं है और जागरण गया नहीं है, उस क्षण को पकड़ने और उसके उपयोग में साधक कुशल बने। दृढ़ निष्ठापूर्वक अभ्यास किया जाये तो संभव है कि कुछ ही महिनों में साधक उसे पकड़ सकता है। संकल्प-सिद्धि और भावना-सिद्धि के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। इन क्षणों में किया गया संकल्प स्थायित्व को पकड़ता है, अचेतन में सहजतया प्रविष्ट हो जाता है और जागते ही पहली स्मृति उसकी होती है। संध्या के समय की यही सबसे बड़ी उपादेयता है। सुषुम्ना का जब भी, जैसे भी, समय आये उसे व्यर्थ न खोयें।

**ध्यान का फल**–आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है–साधकों के लिए वही योग्य है, वही करणीय है और वही चिंतनीय है जिससे आत्मा के साथ संयुक्त विजातीय तत्त्व दूर हो, आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो।[1]

ध्यान का मुख्य फल स्वभावोपलब्धि है। जिस ध्यान से स्वभाव–अस्तित्व का जागरण नहीं होता, वस्तुतः वह ध्यान नहीं है। तिलोयपन्नत्ति में कहा है–'जिस साधक को ध्यान में यदि ज्ञानपूर्वक अपनी आत्मा का अवभास नहीं होता है तो वह ध्यान नहीं है, उसे प्रमाद, मोह या मूर्च्छा कहना चाहिए।[2]

---

१. ज्ञानार्णव ४०/११।

२. तिलोयपन्नत्ति ९/४०।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

शुद्ध चैतन्य की उपलब्धि ही ध्यान का फल है। साधक को इसकी संप्राप्ति के पूर्व कहीं रुकना नहीं चाहिए। मंजिल तक पहुंचने में अनेक विक्षेप समुपस्थित होते हैं। विभूतियां, सिद्धियां उनमें प्रमुख हैं। सिद्धियों की चाह वासना है, मोह है और साधक उनसे अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। कबीर ने कहा है–

**'अष्ट सिद्धि नव निद्ध लो, सबहि मोह की खान।**
**त्याग मोह की वासना, कहे कबीर सुजान॥**

ज़ेन साधक लिचि से पूछा–ध्यान का सार क्या है? लिचि ने कहा–विनम्रता, विनम्रता–'मैं-अहं' का मिट जाना। साध्य-प्राप्ति में अंतिम बाधा यही 'मैं' है। लोओत्से ने कहा–'जो स्वयं विनम्र हो जायेगा वह बच जायेगा, जो झुकता है वह सीधा हो जायेगा और जो स्वयं को खाली करता है, वह मर जायेगा। एक व्यक्ति लाओत्से के पास आया और बोला–'मैं मोक्ष चाहता हूं। कृपया मार्ग-दर्शन करें।' लाओत्से हंसने लगे, बोले–'मोक्ष' चाहता है? साधक ने कहा–हां। लाओत्से ने कहा–पहले यह समझ कर आ कि मैं हूं। मैं हो तो मुक्त करने की बात करें। वह चला गया। मैं को खोजने लगा। वर्षों बाद वापिस लौटा। चरणों में सिर रख दिया। लाओत्से ने पूछा.....बोलो, क्या बात है? मोक्ष चाहते हो? उसने कहा–'नहीं।' जब 'मैं' ही नहीं बचा तो मोक्ष किसका? मैं खोजने गया 'मैं' को किन्तु मैं स्वयं खो गया। अहं की मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है। जैन आचार्यों ने कहा है–**'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव**–कषाय की मुक्ति ही मुक्ति है। आचार्य उमास्वाती ने लिखा है–मद-अहंकार और मदन-काम पर जिनका प्रभुत्व स्थापित हो चुका है, मानसिक, वाचिक और कायिक विकार शांत हो चुके हैं और पर-पदार्थों से जो वितृष्ण हो चुके हैं, ऐसे परम साधकों के लिए मोक्ष यहीं है।

विजातीय तत्त्व से विमुख होकर स्वभाव में प्रतिष्ठित होना ही ध्यान का फल है।

**ध्यान कैसे करें?**

ज़ेन ध्यान के साधक कहते हैं–'खोजो मत, अगर खोजना चाहते हो तो ठहर जाओ। ध्यान बस ठहर जाना है। जैन परिभाषा में संवरवान् बन जाना। संवर का अर्थ है–ठहर जाना, प्रकंपनों का बन्द हो जाना है। ध्यान का जीवन चंचलता-मुक्त जीवन है। जीवन की अनुभूति प्रकंपनों में नहीं होती। प्रकंपनों का जीवन दुःख, अशांति का जीवन है। सामान्यतया प्राणी चंचलता में जीते

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हैं। ध्यान के मार्ग में प्रयाण करने का अर्थ है–प्रकंपनों से मुक्त होने का प्रयास करना और उनसे सर्वथा मुक्त हो जाना। प्रकंपन उत्पन्न होते हैं–शरीर, वाणी, मन और श्वास में और उनके कारण हैं–राग-द्वेष। ध्यान इन्हें अप्रकंपित करता है। इसलिए दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जो ध्यान काया के प्रकंपनों का निरोध करे वह कायिक ध्यान, वाणी का निरोध करें वह वाचिक ध्यान, मन का निरोध करे वह मानसिक ध्यान और श्वास-प्रश्वास का निरोध करे वह आनापान–श्वास-प्रश्वास ध्यान।

बुद्ध ने कहा है–ध्यान लग जाय और करुणा का जन्म न हो तो समझना चाहिए कि कहीं भूल रह गई है। करुणा ध्यान का फल है। ध्यान से विरत होने पर साधक को क्या करना चाहिए? आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है–'मन को समाहित रखना चाहिए, विरक्त रखना चाहिए और ऐसा अनुभव करना चाहिए कि मैं अगाध करुणा सागर में निमग्न हूं।' 'इसके बाद स्वयं को परमात्मा के सदृश अनुभव करना चाहिए या शाश्वत 'अजर, अमर, अविनाशी परम स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। स्वयं और परमात्मा में भेद सिर्फ व्यक्ति और शक्ति का है। परमात्मा व्यक्त है, साधक में शक्तिरूप है।'[१]

ध्यान से जो मन समाहित हुआ था वह शीघ्र ही बाहर के प्रकंपनों–राग-द्वेष आदि प्रवृत्तियों से प्रभावित न हो, साधक इसमें पूर्ण सावधान रहे, यह अपेक्षित है। अन्यथा अंधा पीसता है और कुत्ता खा जाता है। इधर चित्त का समाधान और उधर अशांति–दोनों विरोधी आयाम हैं। ध्यान में जिस शुद्ध ध्येय का प्रतिफलन हुआ उसका स्मरण, चिंतन भी आवश्यक है। इसलिए दूसरी बात जो निर्दिष्ट की है वह है–परमात्मा का ध्यान। अस्तित्व का स्मरण और तत्सदृश स्वयं को अनुभव करना, यह ध्यान से उठने के बाद करणीय कार्य है।

### ध्यान करणीय है

किसी ने कहा है–ध्यान-समाधि के विषय में जानना जरूरी नहीं, किन्तु करना जरूरी है। जानना अधिक है भी नहीं और वह समय भी अधिक नहीं लेता। किन्तु करना समय मांगता है। एक ही अभ्यास साधने में वर्षों लग सकते हैं। महर्षि रमण से किसी ने पूछा–सत्य को जानने के लिए मैं क्या करूं? रमण ने कहा–जो जाना हुआ है उसे भूल जाओ। इसी तथ्य को पश्चिमी लेखक रोवर गोंडल ने अपनी पुस्तक 'दी कन्टेम्पोरेरी साईन्सेज एण्ड

१. ज्ञानार्णव ३१/१।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दी लिबरेटिव एक्सपीरियन्स ऑफ योग' में लिखा है–मनुष्य के यह जानने से पहले कि वह क्या है, वास्तव में अब तक के जाने हुए को भूलना होगा।

महर्षि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को, उस जानने वाले को पढ़ा या नहीं, यह प्रश्न सामने खड़ा कर आश्चर्य में डाल दिया। वह सब कुछ विद्याएं प्राप्त कर घर लौटा था। पिता ने कहा–अपने कुल में आज तक कोई ब्राह्मणबंधु नहीं हुआ है। ब्रह्म को जानने वाले हुए हैं, जाओ, उसे पढ़कर आओ। श्वेतकेतु उन्हीं पैरों पुनः लौट चला।

महावीर, बुद्ध आदि सबने यह कहा है कि 'एक को जान लेने पर सबको जान लिया जाता है।' और एक को न जानकर कुछ भी नहीं जाना जाता।

जितना हम अधिक जानते हैं उतना ही वह भारी पड़ता है। कभी-कभी ज्ञानी किनारे खड़े रह जाते हैं और अज्ञानी छलांग लगा लेते हैं। मन पर जितना अधिक संस्कारों का लेप होता है, उसे धोने में उतना ही अधिक समय लगता है। ध्यान के लिए पूर्ण, शुद्ध, स्वच्छ चित्त की अपेक्षा होती है। यूनान के संगीतविशेषज्ञ के पास कोई संगीत सीखने जाता तो वह पूछता–क्या तुमने पहले अभ्यास किया है? वह कहता–हां, तो उसकी फीस दुगुनी लेता और जो कहता, नहीं, उसकी आधी फीस लेता। एक दिन दो व्यक्ति एक ही साथ आ पहुंचे। उसने पूछा–क्या तुम्हें संगीत आता है? एक ने कहा–हां, और एक ने कहा–नहीं। संगीतज्ञ ने कहा–तुम्हारी फीस आधी और उसने सीखा है इसलिए दुगुनी। उसने कहा–यह कैसा आपका न्याय? आप भूल नहीं गये हैं? उसने कहा–नहीं, मैं जानता हूं। तुमने संगीत सीखा है। किन्तु तुम्हें यह भी पता होना चाहिए कि इस व्यक्ति के लिए मुझे कोई श्रम नहीं करना पड़ेगा। यह कोरा कागज है। तुम पर जो लिखा हुआ है, पहले उसे साफ करने में मुझे काम करना पड़ेगा इसलिए दुगुनी फीस है। एक संगीतविशेषज्ञ की दृष्टि में जब संगीत सीखे हुए को प्रशिक्षित करने में कठिनाई होती है तब आत्म-बोध के लिए जो सीखा हुआ है वह कैसे अवरोधक नहीं बनेगा? वहां तो बांसुरी की भांति जो खाली होगा, तभी स्वर प्रस्फुटित हो सकेगा।

ध्यान की बात का उपदेश करना सरल है, किन्तु उसे साधना कठिन है। परम ब्रह्म की बात भारतीय जनमानस के रक्त में मिश्रित है, किन्तु उसका आचरण कहां है? केवल जानकारी और उपदेश के करणीय कार्य में व्यवधान उत्पन्न हो गया। लोग यह मान बैठे कि आत्मा-परमात्मा हमें ज्ञात है। आचार्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

शुभचन्द्र ने लिखा है–अनेक ऐसे महान् विद्वान् हैं जो अपनी वाक् छटा से उस अमेय शक्तिशाली परमात्मा की चर्चा करते हैं, किन्तु उस आनंद सिन्धु में डुबकी लगाकर संसार-संताप से मुक्त होने वाले कितने हैं?[1] अष्टांगयोग-सिद्धि में लिखा है–ध्यान-सिद्धि का कारण वेष-धारण नहीं है और न उसकी बात करना है। सिद्धि का कारण केवल एक ही है और वह है क्रिया। सिद्धि उसे मिलती है जो करता है। नहीं करने वाले को वह नहीं मिलती और न शास्त्रों के पढ़ने से ही मिलती है।[2]

ध्यान साहित्य सभी धर्मों में विपुल है। वह दुरूह और अगाध विषय है। ध्यान के अनुभव के लिए साहित्य सिर्फ सूचनामात्र है। आधारभूत तथ्य है जीवन में अभ्यास करना। जाने हुए को भूलना भी है और स्मरण भी करना है, किन्तु वह स्मरण अनुभूतिपरक और प्रत्यक्ष हो। ध्यान इसका अनन्यतम माध्यम है। कर्तव्य सिर्फ इतना-सा है–मन को खाली करना, निर्विचार करना, विमुक्त करना, एकाग्र करना और राग-द्वेष, घृणा, क्रोध, अहंकार आदि प्रतिक्रियाओं से मुक्त रखना। जिस दिन इसमें सफल हो जाते हैं, कार्य सिद्ध हो जाता है। महावीर ने कहा है–

**'जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।**
**एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥'**

जैसे कमल पानी में उत्पन्न होता है, किन्तु पानी से अस्पृष्ट रहता है, इसी प्रकार जो कामनाओं के मध्य रहकर भी उनसे अस्पृष्ट रहता है उसे साधक कहा जाता है। ध्यान के साधकों ने यही कहा है कि नदी को पार करो, किन्तु पानी तुम्हारे पैरों को न छुए। संसार में रहो, किन्तु संसार की धूल को अपने पर न लगने दो। ध्यान का यही सार है।

**व्युत्सर्ग**–यह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है। इसका अर्थ है–विसर्जन। यह साधना की अंतिम निष्पत्ति है। जो कुछ भी बचा हुआ होता है, यहां सब समाप्त हो जाता है। साधक के पास शेष कुछ नहीं रहता। अहंकार और ममत्व–ये दो ही मंजिल के मध्य विघ्न हैं। साधक इनसे पार हो जाता है, तब शेष जो है वही रहता है। तिब्बत का महान् साधक मारपा गुरु के पास गया, सत्य की उपलब्धि के लिए। गुरु ने कहा–जो कुछ तेरे पास है वह सब दान कर दे। मारपा ने कहा–मेरा कुछ है भी कहां? मैं देखता हूं कि

---

१. ज्ञानार्णव ४/६१।
२. अष्टांगयोगसिद्धि १/२७,२९।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कुछ भी मेरा नहीं है। गुरु ने कहा—तू तो है। कम से कम उसी को समर्पित कर दे। मारपा ने कहा—क्या कहते हैं आप, मैं भी तो उसी का हूं। गुरु ने कहा—जा, भाग यहां से। सब कुछ मिला हुआ है, अब फिर मत आना। जहां मैं भी नहीं बचता, तब परमात्मा के लिए द्वार खुलता है।

ध्यान में भी जिन्हें बचा लिया जाता है, व्युत्सर्ग उनको मुक्त करता है। ममत्व शरीर का धर्म है और अहंकार मन का। अहं पर चोट पहुंचती है, वह मन पर पहुंचती है और ममता की चोट शरीर पर। आत्मा का निवासस्थान शरीर है। अनन्त जन्मों के कारण शरीर और आत्मा का इतना सघन तादात्म्य हो गया कि आत्मा शरीर को ही 'आत्मा' मान बैठी। शरीर के सुखी-दुःखी होने पर अपने को सुखी-दुःखी मानना, यह अविद्या है, मिथ्यात्व है। साधना का प्रथम प्रहार इस अद्वैत पर होता है। काया के विसर्जित हो जाने पर भी मैं पूर्ण हूं, जिस दिन यह अनुभव हो जाता है आधी साधना हमारी सिद्ध हो जाती है। आधी जो शेष रहती है, वह है अहंकार-विसर्जन की। मैं 'अहं' यह सूक्ष्मतम है। इसे तो तोड़ना होता है। जहां भी मैं खड़ा होता है, साधक उसे देखता है और उससे पृथक् होने का प्रयास करता है।

ध्यान और विसर्जन दो हैं, किन्तु साधना पृथक्-पृथक् नहीं है। ध्यान के साधक को प्रारंभ में ही इन दोनों के प्रति सचेत होना है। जब ध्यान में मृत्यु की घटना घटे तो स्वयं को बचाना नहीं है, उसमें स्वयं को छोड़ देना है। अहंकार नहीं चाहता। उसकी मृत्यु होती है। उसका आधार-बिन्दु तो शरीर ही है। बोधिप्राप्ति के अनन्तर बुद्ध ने मन को संबोधित कर कहा है—'मेरे मन! अब तुझे विदा देता हूं। अब तक तेरी जरूरत थी, शरीररूपी घर बनाने के लिए, अब मुझे अपना परम निवास मिल गया।' यह सब ध्यान के द्वारा लभ्य है।

यहां ध्यान की स्थिति सिर्फ दर्शन की स्थिति बनती है। दर्शन की कला महान् तप है। देखना है—शरीर को, इन्द्रियों को। इनके संवेगों को देखना है तटस्थतापूर्वक। ये क्या कहते हैं? क्या हैं इनकी अतृप्त इच्छाएं? किन्तु सहयोग नहीं करना है। इसके बाद देखना है—चेतन मन को। अचेतन का द्वार चेतन की स्थिरता के बाद खुलता है। जो जन्मों-जन्मों का संग्रहालय है, जिसमें बहुत कुछ भरा है, उसमें आसक्त नहीं होना है, पकड़ना भी नहीं है, सिर्फ देखना है। भीतर आकाश है, स्पर्श है, रस है, गंध है, रूप हैं, शब्द है। संतों ने इन अनुभवों की चर्चा की है। राबिया से किसी ने कहा—'बाहर आ,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

देख, कितना सुनहला प्रभात है।' राबिया ने भीतर से कहा, यह क्या सुन्दर है, सुन्दर तो वह बनाने वाला है। तू भीतर आ, उसे देख। कबीर ने कहा है—

**'पेठि गुफा मंह सब जग देखे, बाहर कछु अन सूझे।' 'बाजत अनहद ढोल।'** इन अनुभवों के पार पहुंचने में कठिनाई होती है और वह यही कि मन आसक्त हो जाता है। साधक समझ लेता है कि मंजिल आ गई, अब कुछ नहीं बचा। किन्तु द्रष्टा और दर्शन, ध्याता, ध्येय और ध्यान का द्वैत वहां भी है, उसे मिटाना है।

ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी सिमट कर एक हो जाय, यही मंजिल है।

अहंकार और ममत्व के विसर्जन के पश्चात् कुछ है या नहीं इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। नहीं है तब भी आनंद है और है तब भी, क्योंकि अपना कुछ नहीं है। दुःख अपनेपन में है। ध्यान और विसर्जन की सिद्धि के बाद साधक सर्वदा समाधिस्थ और स्वस्थ रहता है। तपोयोग का यह अंतिम पड़ाव है। यहां तप-साधन समाप्त हो जाता है। साधन साध्य में परिवर्तित हो जाता है, द्वैत मिट जाता है और अद्वैत का स्वर मुखरित हो उठता है।

● ● ● ●

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

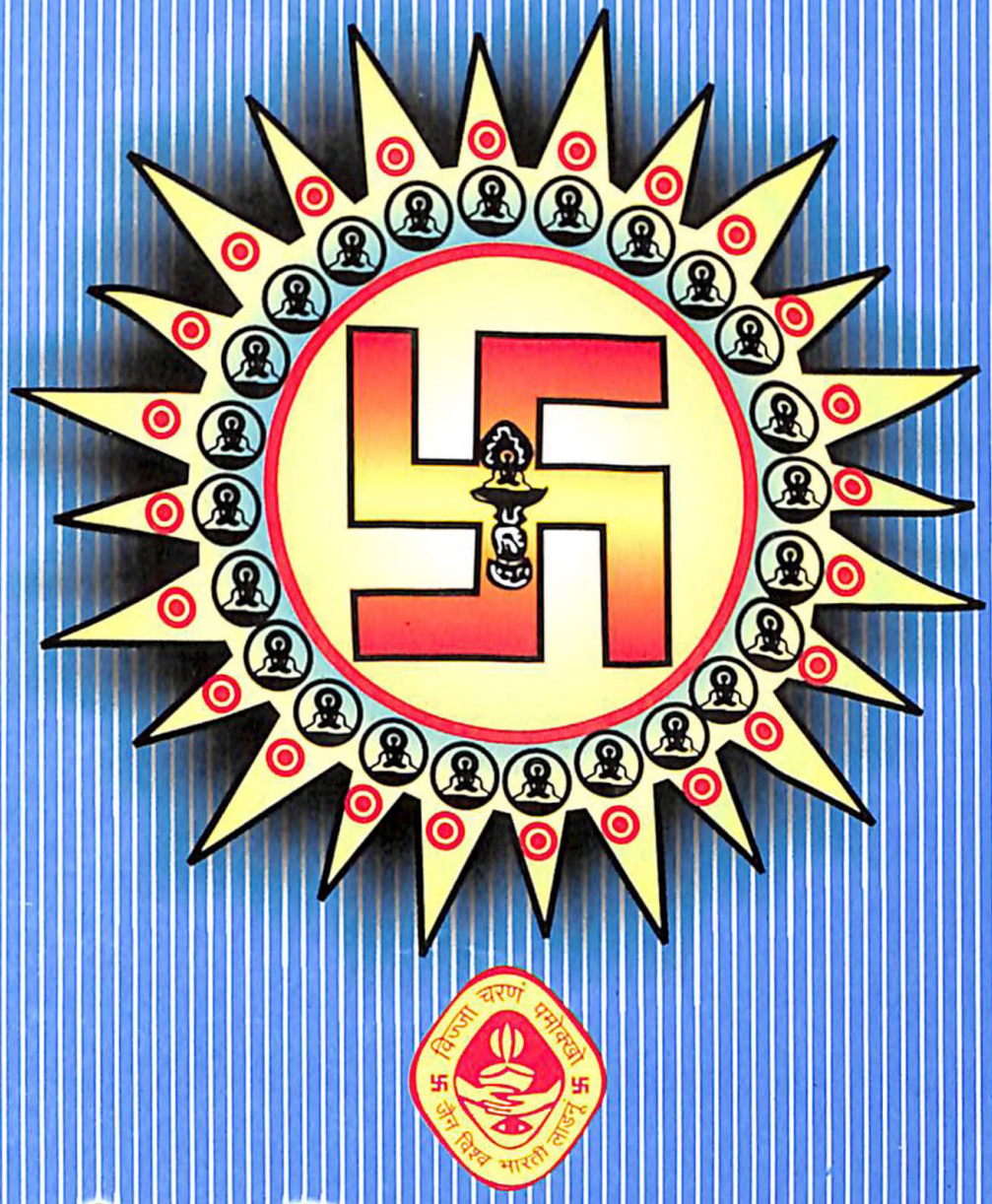




# जैन विश्व भारती

लाडनूं-३४१३०६ (राज.)

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org